अप्रेल १९६२

अनेकान्त

अहिंसक समाज की
नवरचना का पोषक
द्विमासिक

सम्पादक
डा० आ० ने० उपाध्ये
श्री रतनलाल कटारिया

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मंदिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

अनेकान्त के स्तम्भ

१. ऐतिहासिक महापुरुष

स्तम्भ में तीर्थंकर, आचार्य, त्यागी, भक्तजन, राजा, मंत्री, शूरवीर, धर्मवीर, कर्मवीर, दानवीर और ग्रन्थकारों के परिचय रहेंगे।

२. अनुसन्धान

इतिहास और साहित्य सम्बन्धी शोध- खोज के लेख रहेंगे।

३. गौरवगाथा

जैन पूर्वजों के द्वारा की गई लोकसेवा और गौरव-गाथा के लेख रहेंगे।

४. तीर्थ, मन्दिर और गुफा

प्राचीन जैन तीर्थों, मंदिरों, गुफाओं और मूर्तियों आदि के परिचय दिये जायंगे।

५. कथा-कहानी

सुरुचि और भावपूर्ण पौराणिक, ऐतिहासिक तथा मौलिक कहानियां रहेंगी।

६. नारी समुत्थान

स्त्रियों को ऊंचा उठाने और कर्तव्यनिष्ठ बनाने वाले लेख रहेंगे।

७. सुभाषित मणियां

जीवन ज्योति जगाने वाली सूक्तियों का संकलन रहेगा।

व्यवस्थापक
'अनेकान्त'
वीर सेवा मंदिर
२१, दरियागंज, देहली-६

अनेकान्त के सहायक

श्री मिश्रीलालजी जैन कलकत्ता —सुप्रसिद्ध उद्योगपति, समाजसेवी और उदारदाता
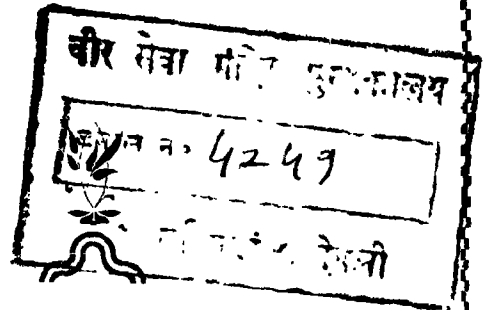
श्री धर्मचन्दजी जैन —आप खान उद्योग के विशेषज्ञ हैं, अपने फर्म की उड़ीसा और बिहार प्रान्तों की समस्त खानों के निर्देशक हैं। श्री मिश्रीलालजी के ज्येष्ठ सुपुत्र हैं। व्यवसाय की वृद्धि के लिये कई बार सफल विदेश-यात्रा कर चुके हैं।

अनेकान्त के सहायक

श्री जुगमन्दिरदासजी जैन कलकत्ता—आप उच्चकोटि के मूक सेवक, कई संस्थाओं के प्रमुख कार्यकर्ता हैं। वर्तन-उद्योगपति हैं।

सेठ अमरचन्दजी पहाड़या कलकत्ता—श्री दि० जैन सम्मेलन के अध्यक्ष और सुप्रसिद्ध व्यवसाई हैं।

सेठ बाबूलालजी छिल्हा कलकत्ता—आप मुख्यातिप्राप्त वंशीधर जुगलकिशोर फर्म के मालिक और धर्मात्मा सज्जन हैं।

श्री ऋषभचन्दजी (B.R.C) जैन—आप अनुभवी विद्वान, प्रभावशाली वक्ता और सफल व्यवसाई हैं।

अनेकान्त के सहायक

सेठ गजराजजी सरावगी कलकत्ता- अनेक संस्थाओं के ट्रस्टी, अध्यक्ष, सदस्य। लाडनू के भव्य-कलापूर्ण जिन-मन्दिर के निर्माता। पाकिस्तान के "जूटकिंग"। सुप्रसिद्ध-दानी

सेठ नथमलजी सेठी कलकत्ता—आप सुप्रतिष्ठित जूट व्यवसाई हैं। प्रमुख संस्थाओं से सम्बन्धित होते हुए भी आप मूक समाजसेवी हैं।

श्री रतनलालजी झांझरी कलकत्ता—आप सच्चे सुधारक हैं, विजातीय-विवाह और विदेश-यात्रा के समर्थन के कारण जाति बहिष्कृत तक हुए। चर्चा-सागर ग्रन्थ के बहिष्कार-आन्दोलन में सफलता प्राप्त की। युवकों को जागृत किया।
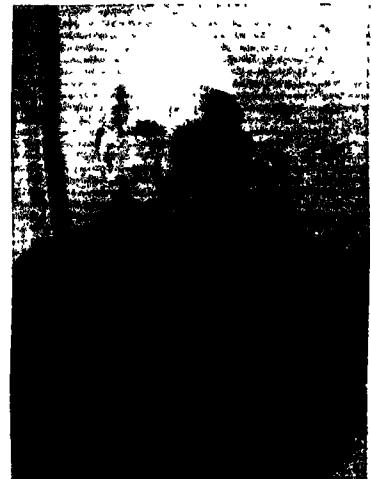
सेठ बैजनाथजी सरावगी कलकत्ता—आप जैन समाज के पुराने कार्यकर्त्ता हैं। सराक (प्राचीन श्रावक) जाति के उद्धार के लिये स्व० जैन-धर्मभूषण ब्र० शीतल प्रसादजी के साथ आपने बहुत काम किया था। अब भी समाज-सेवा के कार्यों में तन, मन, धन से सहयोग देते रहते हैं।

अनेकान्त के सहायक

सेठ मदनलालजी पांड्या कलकत्ता—आप श्री अहिंसा प्रचार सोसाईटी के अवै० मन्त्री और कुशल व्यवसाई हैं।

श्री मालीरामजी सरावगी कलकत्ता—आप बंगाल-बिहार-उड़ीसा दिगम्बर जैन तीर्थ-क्षेत्र कमेटी के अवै० मन्त्री हैं।

श्री बाबूलालजी जैन—कलकत्ता आप जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान हैं।

सेठ कस्तूरचन्दजी विनायका कलकत्ता—आप प्रमुख गजी व्यवसाई तथा फर्म कस्तूरचन्द आनन्दीलाल के मालिक हैं।

अनेकान्त के पन्द्रहवें वर्ष की विषय-सूची

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनय विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १५ किरण, १ | वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६ | चैत्र शुक्ला १३, वीर निर्वाण सं० २४८८, विक्रम सं० २०१९ | अप्रैल सन् १९६२

श्री ऋषभस्तुतिः

ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः ।
ततोऽतातिततोतोते ततता ते ततोततः ॥

—स्वामी समन्तभद्राचार्य

अर्थ—हे भगवान् ! आपने, विज्ञान वृद्धि को प्राप्ति को रोकने वाले इन ज्ञानावरणादि कर्मों से अपनी विशेष रक्षा की है—ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञानादि विशेष गुणों को प्राप्त किया है। तथा आप परिग्रहरहित-स्वतन्त्र हैं। इसीलिए पूज्य और सुरक्षित हैं। एवं आपने ज्ञानावरणादि कर्मों के विस्तृत-अनादिकालिक सम्बन्ध को नष्ट कर दिया है अतः आपकी विशालता प्रभुता स्पष्ट है। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं।

❋

महावीर के महावाक्य

लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन एम. ए. पी-एच. डी·

संसार में समय-समय पर महान् पुरुषों का प्रादुर्भाव होता आया है। महापुरुषों ने जन कल्याण के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया और भूली-भटकी जनता को सुमार्ग पर लगाया। महावीर वर्धमान भी ऐसे ही महान व्यक्ति थे।

उनका उपदेश था--

१. मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है इस लिये दूसरों को दुख पहुँचाने वाला कर्म नहीं करना चाहिए।

२. दूसरों को दुख पहुंचाने वाले हिंसात्मक कर्म से दूर रहना चाहिये—इसे अहिंसा कहते हैं।

३. हिंसात्मक कर्मों का त्याग करने के लिए संयम द्वारा अपनी इच्छाओं पर अंकुश रखना आवश्यक है। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम दूसरों को उनके हक से वंचित रखते हैं।

संक्षेप में भगवान् महावीर के यही मूल सिद्धांत हैं।

महावीर के सिद्धांतों को ठीक तरह समझने के लिए हमें आज से लगभग अढाई हजार वर्ष पहले के भारत की ओर जाना होगा। उन दिनों सामंतशाही का बोलबाला था क्षत्रिय शासक ब्राह्मण पुरोहितों के साथ गठबंधन करके राज्य का संचालन करते थे। इन दोनों वर्गों के हाथ में सारी सत्ता थी जिससे समाज का नियंत्रण होता था। तरह तरह के धार्मिक आडम्बरों में तत्कालीन समाज जकड़ा हुआ था। क्षत्रिय शासक और ब्राह्मण पुरोहितों का यह वर्ग अपनी खुशी और सुख-सुविधा के लिए जन-समाज का भरपूर शोषण कर हीन कहे जाने वाले लोगों से हर प्रकार का काम लेता और दास वृत्ति करने के लिए उन्हें बाध्य करता। इसके फलस्वरूप धार्मिक, और सामाजिक और जात-पाँत के आडंबरों में फँसकर जन-साधारण अपना मान ही खो बैठा और पशु से भी बदतर जीवन बिताने के लिए बाध्य हो गया। शोषण की यह व्यवस्था सैकड़ों-हजारों वर्ष तक लगातार चलती रही। नतीजा यह हुआ कि सामंत सामंत बने रहे और साधारण वर्ग गुलामी की चक्की में पिसता रहा। और तारीफ़ की बात यह कि सामंतों ने अपने दुष्कर्मों से छुटकारा पाने के लिए ब्राह्मणों का आश्रय ढूंढा, और ब्राह्मणों ने भी यज्ञ, त्याग, जप, तप आदि कर्म-कांड के विधान द्वारा सामंतों को उनके पाप कर्म के बंधन से मुक्त करने का फ़तवा दे दिया।

ऐसी विषम परिस्थितियों से पूर्ण समाज को गुलामी के पाप से छुड़ाना कितना दुष्कर होगा? ऐसे अव्यवस्थित और अस्त व्यस्त समाज में ज्ञातृ पुत्र महावीर और गौतम बुद्ध नामक दो महान् शक्तियों का आविर्भाव हुआ; दोनों ने मनुष्य मात्र की समानता पर ज़ोर देते हुए अच्छे और बुरे कर्म के आधार पर ही ऊँच-नीच को स्वीकार किया।

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान का जन्म विहार राज्य की उस वैशाली नगरी में हुआ था जहाँ लिच्छवि लोग गणतंत्र द्वारा अपना शासन चलाते थे। भगवान महावीर के कर्म सिद्धांत की जड़ इन्हीं लिच्छवियों की गणतंत्र की भावना से आरम्भ हुई जान पड़ती है। उनका प्रथम महा वाक्य है—

जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहि लुप्पति पाणिणो,
सयमेव कडेहि गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्ज ऽपुट्ठयं ॥

—अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं। संसार में जितने भी प्राणी हैं सब अपने कर्मों के कारण दुखी हैं।

भगवान महावीर ने बार-बार इस बात को कहा है कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है; जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है। मनुष्य चाहे जो कर सकता है, चाहे जो बन सकता है और वह अपने भाग्य का विधाता स्वयं है। इसीलिये महावीर के निर्ग्रन्थ प्रवचन में ईश्वर को जगत् का कर्त्ता स्वीकार नहीं किया गया; तप आदि सत्कर्मों द्वारा आत्मविकास की सर्वोच्च अवस्था को ही ईश्वर बताया गया है। जैनधर्म की भारतीय दर्शन को यह बहुत बड़ी देन है।

ऐसी स्थिति में जो लोग जाति-पाँति के भेद के कारण कर्म के बंधन में फँसकर अपने को इन्सान समझना ही छोड़ देते थे, उनके लिए महावीर का यह सिद्धांत कितना प्रेरणादायक रहा होगा और उन्हें तत्कालीन सामंती समाज के खिलाफ़ कितना विद्रोह करना पड़ा होगा। मनुष्यमात्र में आत्मविश्वास की दृढ़ भावना पैदा कर देना उसमें पुरुषार्थ की चिनगारी फूंक देना—इससे बढ़कर भला जनकल्याणकारी सिद्धांत और कौन-सा हो सकता है ?

इसी कर्म सिद्धांत को ध्यान में रखकर वेदों को मानने वाले ब्राह्मणों को लक्ष्य करते हुए महावीर भगवान ने दूसरा महावाक्य कहा है।

उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसत्ता,
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि।

—सुबह और शाम स्नान करने से यदि मोक्ष मिलता हो तो पानी में रहने वाले सभी जीव-जन्तुओं को मोक्ष मिल जाना चाहिए। इसीको स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

न वि मुडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण ण तावसो ॥

सिर मुडा लेने से कोई श्रमण नही होता, ओम् का जाप करने से ब्राह्मण नही होता, जंगल में रहने से मुनि नहीं होता, और कुश के वस्त्र पहनने से तपस्वी नही होता।

ता फिर किससे होता है ?

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

—मनुस्य अपने कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है।

महावीर भगवान ने यज्ञ, याग, जप, तप और दान धर्म आदि कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए कहा है कि इन सब बातों से कर्म का नाश नहीं हो सकता, कर्म फल तो भोगना ही पड़ेगा। इसलिए यदि हम समाज को आदर्श की ओर ले जाना चाहते हैं, उसमें शांति और व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं तो हर हालत मे बुरे कर्मों और बुरे विचारों का त्याग करना पड़ेगा। तथा मनुष्य अपने विचारों और कर्मों में पूर्ण स्वतंत्रता तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह स्वप्न में भी दूसरे की धन-सम्पत्ति पर नजर डालने और दूसरे का हक़ हड़प लेने की मनोवृत्ति को छोड़ दे। इस प्रकार की सदिच्छा को महावीर ने अहिंसा कहा है। उनका महावाक्य है—

समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥

सब जीवों के प्रति चाहे वह शत्रु हो या मित्र समभाव रखना और जीव हिंसा का त्याग करना बहुत कठिन है।

सत्य होने पर भी, कठोर वचन बोलने को महावीर भगवान् ने हिंसा कहा है—

तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो।

दूसरों को दुख पहुँचाने वाली कठोर भाषा यदि सत्य भी हो तो उसे न बोले—इससे पाप का आश्रव होता है।

इस उपदेश से बढ़कर जनहित की भावना और क्या हो सकती है ? बुद्ध के उपदेशों में इसे ही बहुजनहित कहा है।

लेकिन अहिंसा को पालना, उसके सिद्धांत को अपने जीवन में उतारना आसान काम नहीं है। उसके लिए आत्मदमन, इन्द्रियजय, कायक्लेश और कष्ट सहन करने की आवश्यकता होती है। महावीर ने कहा है कि मनुष्य की इच्छा आकाश के समान अनन्त है, ऐसी हालत में कैलाश पर्वत के समान सोने-चांदी के असंख्य पर्वत भी उसकी इच्छा को तृप्त नही कर सकते। इसलिए भगवान् ने सच्चे त्यागी का लक्षण बताते हुए कहा है—

जे य कंते पिये भोए, लद्धे वि पिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥
वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुजंति, से चाइ त्ति वुच्चइ ॥

जो सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है, और सामने आए हुए भोगों का त्याग कर देता है, वही त्यागी है। वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री और शयन आदि वस्तुओं का जो लाचारी के कारण भोग नहीं कर सकता, उसे त्यागी नहीं कहते।

निष्कर्ष यह है—

१. भगवान महावीर का कथन था कि यदि संसार में सुख और सुख के साधन परिमित हों तो उपभोग की

भगवान महावीर का शासन

लेखक—पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ

अभी तक आधुनिक मानव जगत् में भगवान महावीर की देशना का मूल्यांकन ठीक रूप से नहीं हो सका है इसका कारण है मौलिक जैन साहित्य के प्रचार की कमी। आज भी बहुत से लोग जैनधर्म की मौलिक शिक्षाओं से परिचित नही हैं और इसका कारण है जैनों की अकर्मण्यता। मनुष्य के आचार और विचार को परिष्कृत एवं संतुलित रखने के लिए भगवती अहिंसा और निराग्रहवाद का जो उन्होंने लोकोतर विवेचन किया उससे तो अब लोग कुछ परिचित होने लगे हैं। पर उनका कर्म-सिद्धान्त भी एक अनोखा विवेचन है। इस विवेचन का सार है कि मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। उसे स्वावलम्बी, कर्मठ और कर्मवीर एवं निर्वन्ध बनने के लिए न केवल इस कर्म-सिद्धान्त को समझ लेने की जरूरत है; अपितु उसे जीवन में उतारने की भी आवश्यकता है। कर्म-सिद्धान्त मनुष्य को उसकी प्रत्येक स्थिति के लिए उत्तरदायी ठहराता है। वह कर्मकर्ता और फलभोक्ता में सामंजस्य स्थापित करता है। जब तक हम कर्म-सिद्धान्त को न समझें तब तक धर्म का वास्तविक स्वरूप नहीं समझ सकते। अतीत से शिक्षा लेना और उसके आधार पर भविष्य का निर्माण करना यह कर्म-सिद्धान्त के यथार्थ परिज्ञान से ही हो सकता है। जो अपने प्रति और दूसरों के प्रति उत्तरदायी होना चाहता है वह सबसे पहले अपने कर्त्तव्य को समझे। 'स्व' को समझे बिना कोई अपने कर्त्तव्य को नहीं समझ सकता। भगवान् महावीर ने आत्मा को ही परमात्मा बनने की दिशा बतलाई है। परमात्मा ही ईश्वर है। यहाँ ईश्वर नाम का कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। कोई भी पुरुषार्थी अपने मानव एवं लोकोत्तर कर्तव्यों के आधार पर परमातमत्व को प्राप्त कर सकता है।

यहाँ पण्डे, पुजारी, पुरोहित एवं महन्त आदि धर्मगुरुओं द्वारा स्वर्ग या मुक्ति का प्रमाण-पत्र नहीं दिया जाता। स्वर्ग या मुक्ति अथवा किसी भी शुभ स्थिति को पाने के लिए मनुष्य को स्वयं पुरुषार्थ करना पड़ेगा। यही महावीर-शासन का अन्तस्तल है। 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' अर्थात् काशी में मरने से मनुष्य को मुक्ति मिलती है। पिण्डदान से ही मनुष्य का उद्धार हो जाता है। पत्नी मृतपति के साथ चिता में जल जाये तो वह स्वर्ग चली जायगी—जैसे अनेकों तर्क-हीन मान्यताओं का महावीर के शासन में कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार की परम्पराओं को भगवान ने लोक-मूढ़ता बतलाया है। ऐसे अन्ध-विश्वास जीवन में धर्मतत्व को कभी नहीं उभरने देते। लोकमूढ़, देवमूढ़ और गुरुमूढ़ मनुष्य स्वयं पथभ्रष्ट हैं और दुनिया को भी पथभ्रष्ट करता है। कोई चीज केवल पुरानी होने से अच्छी नहीं होती और नई होने से बुरी नहीं होती।

वस्तुओं का बँटवारा करने के लिए किसी न किसी को त्याग अवश्य करना पड़ेगा। इस प्रकारकी मूल भावना के सिद्धांत को ही अहिंसा कहा है।

अहिंसावृत्ति का पालन करने के लिए अपनी इन्द्रियों पर अंकुश रखते हुए भोग-उपभोग की सामग्री का त्याग करना अत्यंत कठिन है जो मानसिक संतुलन के बिना संभव नहीं।

३. श्रमण भगवान् महावीर को हुए अढ़ाई हजार वर्ष गुजर चुके, फिर भी हम जहाँ के तहाँ हैं। हमारी आजकल की दुनियाँ में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक मात्रा में ही आर्थिक-शोषण, वर्गभेद, वर्गीकरण और ऊँच-नीच की भावना विद्यमान है; आणविक शक्ति और सैन्यबल के द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को पददलित कर उसे अपना गुलाम बनाकर रखना चाहता है—त्याग के बजाय संचय करने और दूसरे के हक को हड़प जाने की प्रवृत्ति विद्यमान है।

ऐसी स्थिति में यदि हमें विश्व में शांति और व्यवस्था स्थापित रखना है तो अहिंसा के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं और अहिसा का उपदेश महावीर के वाक्यों में मौजूद है। (आल इण्डिया रेडियो बम्बई के सौजन्य से)

मिथ्यात्व भी अनादि है और सम्यक्त्व भी अनादि। फिर भी एक हालाहल है और दूसरा अमृत। अमृत और विष को पहचानने के लिए विवेक की जरूरत है; इसलिए भगवान ने भेदक बुद्धि पर बहुत जोर दिया है। उन्होंने धर्म की जो व्याख्या की है वह त्रिकालाबाधित है। यह धर्म अहिंसा रूप है। वह धर्म जब मनुष्य के मन में उतर जाता है तब वह मारने वाले को भी नहीं मारता। आचार्य गुणभद्र कहते हैं :—

> धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद्—
> हंता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथत्ति तस्मिन्॥
> दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानाम्।
> रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव॥
>
> —आत्मानुशासन २६

धर्म मन में नही रहने से पुत्र पिता को और पिता पुत्र को मार डालता है किन्तु यदि धर्म मन में हो तो वह मारने वाले को भी नहीं मारता इस प्रकार के धर्म को यदि कोई महज क्रिया-काण्डों में खोजे तो उसे निराश ही होना पड़ेगा।

आज तक मनुष्य ने मनुष्य पर जितना अत्याचार किया उतना किसी अन्य ने नहीं किया। स्त्री और शूद्रों पर किये गये उसके अत्याचारों की कहानी बड़ी ही रोमाञ्चकारी एवं लम्बी है। आश्चर्य तो यह है कि उसने ये अत्याचार धर्म के नाम पर किये। भगवान् के युग में ये अत्याचार पराकाष्ठा को पहुँचे हुए थे। उन्होंने इन अत्याचारों के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई और लोगों को 'स्त्रीशूद्री नाधीयेताम्' अर्थात् स्त्री और शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नही है—की निरर्थकता बतलाई। उनकी इस दिव्य देशना को काफी सफलता मिली तथा स्त्री एवं शूद्रों ने आराम का श्वांस लिया। यह एक ऐसी क्रांति थी जिसे महावीर ही कर सकते थे। महावीर ने स्त्रियों और शूद्रों को मानवता की दृष्टि से देखा। स्त्रियों को इतनी उदारता के साथ महावीर के अतिरिक्त शायद ही किसी ने देखा हो। उन्होंने स्त्रियों को भी अपने संघ में आदरणीय स्थान दिया। यह एक ऐसी घटना थी जिसकी चर्चा भगवान् बुद्ध और उनके अनुयायियों ने आश्चर्य के साथ सुनी और इस पर उन्होंने प्रश्नोत्तर भी किये। यह बात बौद्ध धर्म के शास्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होती है।

इसमें कोई शक नहीं कि भगवान् महावीर का शासन सभी दृष्टियों से अद्वितीय एवं लोक हितकारी था। यदि उसका मूल रूप आज तक मानव-मानस में प्रकाशित होता रहता तो देश का प्राचीन इतिहास न रक्त रंजित होता और न उसे घोर अत्याचारों का सामना ही करना पड़ता। भगवान् महावीर के शासन में साम्प्रदायिकता, हिंसा और जाति कुल आदि के अभिमान को भी कोई स्थान नहीं है। जैन वाङ्मय में इनकी स्थान-स्थान पर हेयता बतलाई गई है। ये ही वे बुराइयाँ है जिनसे भूतकाल मे भारतीय राष्ट्र का पतन हुआ और दुःख की बात तो यह है कि आज स्वराज्य मिल जाने के बाद भी ये बुराइयां हमारे देश में नाम शेष नहीं हुई। वास्तव में भगवान् महावीर का तीर्थ सर्वोदय तीर्थ है और इस तीर्थ के प्रचार होने की आज सर्वाधिक आवश्यकता है; क्योंकि इसी तीर्थ में आधुनिक सभी समस्याओं का समाधान है। चाहे फिर वे राष्ट्रीय हों या अन्तर्राष्ट्रीय अथवा सामाजिक।

प्रश्न यह है कि महावीर का शासन इतनी विशेषता एवं क्षमता-वाला होने पर भी केवल थोड़े से जैनों तक ही सीमित क्यों है? वह अपनी ओर साधारण जन को क्यों आकृष्ट नही करता? उसकी उपयोगिता की सुरभि क्यों नहीं लोगों के लिए मोहक बनती और वह आज ह्रास की ओर क्यों जा रहा है? निःसन्देह ये प्रश्न ऐसे हैं जो जैनत्व के लिए खुली चुनौती है। क्या महावीर के अनुयायी इस चुनौती का उत्तर देने को तैयार है? इसका सही उत्तर तो हम भगवान् महावीर के सिद्धान्तों को अपने जीवन में व्यक्तिगत उतार कर इनकी वास्तविकता को और लोक मानस को आकृष्ट करके ही दे सकते है।

आज से करीब अठारह सौ वर्ष पहले प्रख्यात तार्किक जैनाचार्य स्वामी समन्तभद्र के सामने भी यह प्रश्न था। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध स्तोत्र युक्त्यनुशासन में इसका उत्तर भी दिया है। वे भगवान् महावीर को लक्ष्य करके कहते हैं :—

> कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा
> श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा।

क्या व्याख्या प्रज्ञप्ति षट्खण्डागम का टीका ग्रंथ था?

लेखक—श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में सिद्धान्त-ग्रन्थ-षट् खण्डागम और कषायप्राभृत तथा उनकी टीकाओं के निर्माण का प्रामाणिक इतिवृत्त दिया गया है। तदनुसार ये दोनों ही सिद्धान्त ग्रंथ कुण्डकुन्दपुर में श्री पद्मनन्दि मुनिको (कुन्द-कुन्दाचार्य को) ज्ञात हुए और उन्होंने षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। उसके पश्चात् कितना ही काल वीतने पर शामकुण्डाचार्य ने दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों को जानकर महाबन्ध नामक छठे खन्ड को छोड़कर शेष षट्खण्डागम तथा कषायप्राभृत पर प्राकृत संस्कृत और कर्णाटक भाषा में पद्धति रूप टीका रची।

फिर तुम्बलूराचार्य ने छठे महाखण्ड को छोड़ कर दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों पर कर्णाटक भाषा में चौरासी हजार श्लोक प्रमाण चूड़ामणि नामक व्याख्या रची और छठे खण्ड पर सात हजार श्लोक प्रमाण पञ्चिका रची। फिर समन्तभद्राचार्य ने षट् खण्डागम के आद्य पांच खण्डों पर ४८ हजार श्लोक प्रमाण संस्कृतटीका रची। उसके पश्चात् बप्पदेव गुरु हुए। उनके सम्बन्ध में श्रुतावतार में इस प्रकार लिखा है—

> अपनीय महाबन्धं षट् खण्डाच्छेष पञ्च खण्डे तु।
> व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं ततः च संक्षिप्य ॥१७४॥
> षण्णां खण्डाना मिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य।
> प्राभृतकस्य च षष्ठि सहस्रग्रंथ प्रमाण युताम् ॥१७५॥
> व्यलिखत् प्राकृतभाषारूपां सम्यक् पुरातनव्याख्याम्।
> अष्टसहस्रग्रंथां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबन्धे ॥१७६॥

इन श्लोकों का अर्थ इस प्रकार किया जाता है—'बप्पदेव ने महाबन्ध को छोड़कर शेष पांच खण्डों पर 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम की टीका लिखी। तत्पश्चात् उन्होंने छठे खण्ड की सँक्षेप में व्याख्या लिखी। इस प्रकार छहों खण्डों के निष्पन्न हो जाने के पश्चात् उन्होंने कषाय-प्राभृत की भी टीका रची। उन पाँचों खण्डों और कषाय-प्राभृत की टीका का परिमाण साठ हजार और महाबन्ध की टीका का पांच अधिक आठ हजार था और इस सब रचना की भाषा प्राकृत थी'। (षट् खण्डागम १ पु० की प्रस्तावना पृ० ५२।)

साधारणतया उन श्लोकों का भाव ठीक प्रतीत होता है किन्तु आरम्भ के श्लोकों से उक्त अर्थ व्यक्त नहीं होता पहले और दूसरे श्लोकों का अर्थ इस प्रकार होता है—(षट् खण्डात्) षट् खण्ड रूप आगम से (महाबन्धं अप-नीय) महाबन्ध को अलग करके (शेष पंच खण्डेतु) शेष पाँच खण्डों में (ततः व्याख्या प्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं संक्षिप्य) उसके वाद व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक या व्याख्याप्रज्ञप्ति रूप छठे खण्डों को उसमें मिलाकर (इति निष्पन्नानां षण्णाँ खण्डानाम्) इस प्रकार से तैयार हुए छहों खण्डों की (तथा कषायाख्य प्राभृतकस्य च) और कषाय प्राभृत की (षष्ठि सहस्र ग्रन्थ प्रमाणयुताम्) साठ हजार श्लोक प्रमाण सहित (प्राकृत भाषा रूपां पुरातन व्याख्यां सम्यक् व्यालि-खत्) प्राकृत भाषा रूप प्राचीन व्याख्या को सम्यक् रूप

> त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी—
> प्रभुत्व · शक्तेरपवादहेतुः ॥

अर्थात् हे भगवन् तुम्हारे शासन का दुनिया में एक छत्र आधिपत्य क्यों नहीं होता। उसके तीन कारण हैं। एक कारण कलिकाल, दूसरा श्रोताओं का कलुष आशय और तीसरा वक्ताओं का अच्छी तरह तुम्हारे शासन का प्रतिपादन न कर सकना।

हमें आज आचार्य समन्तभद्र के अंतिम हेतु पर ध्यान देना है; क्योंकि जैन शासन के प्रसार के लिए यही हमारे वश की चीज है। स्वयं आचार्य महाराज का जोर भी इसी पर है। हमें आज ऐसे वक्ता एवं लेखक तैयार करने की जरूरत है जो जैनत्व का मौलिक रूप जन-मानस के सामने रख सकें; जिनकी वाणी में उनका आत्मा भी बोल रहा हो और जो तप दृष्टि की यथार्थता को स्वयं समझते हुए निर्भयतापूर्वक तत्व-प्रतिपादन कर सकें। इस महान् कार्य की ओर जितना जल्दी हमारा ध्यान जाय उतना ही अच्छा है।

से लिखा (महाबन्धे) महाबन्ध पर (पंचाधिकां अष्ट सहस्र ग्रंथां व्याख्यां) पाँच अधिक आठ हजार ग्रंथ प्रमाण व्याख्या को लिखा।

अतः पाँच खण्डों की टीका का नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है यह बात तो उक्त श्लोकों से व्यक्त नहीं होती। बल्कि उनसे तो यही व्यक्त होता है कि बप्पदेव ने पाँच खण्डों में व्याख्याप्रज्ञप्ति को सम्मिलित न करके पहले छैं खण्ड निष्पन्न किए और फिर इन पर टीका रची।

श्रुतावतार में ही आगे जो श्लोक वीरसेन स्वामी से सम्बद्ध हैं वे भी इस दृष्टि से विचारणीय हैं। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

"व्याख्या प्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्व पट खण्डत स्तत स्तस्मिन्।
उपरितमबन्धनाद्य धिकारै रष्टादश विकल्पैः ॥१८०॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य।
इति षण्णां खण्डानां ग्रंथ सहस्रैर्द्वि सप्तत्या ॥१८१॥
प्राकृत संस्कृत भाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्।"

इन श्लोकों का भाव इस प्रकार लिया जाता है— 'वहाँ वीरसेन स्वामी को व्याख्याप्रज्ञप्ति (बप्पदेव गुरु की बनाई हुई टीका) प्राप्त हो गई। फिर उन्होंने ऊपर के बन्धादि अट्ठारह अधिकार पूरे करके सत्कर्म नामका छठवाँ खण्ड संक्षेप से तैयार किया और इस प्रकार छह खण्डों की ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित धवला टीका लिखी।

(पट् खण्डागम १ पु० की प्रस्तावना पृ० ३८।)

जिस प्रकार की भूल बप्पदेव सम्बन्धी श्लोकों को समझने मे की गई है वैसी ही भूल इन श्लोकों को भी समझने में की गई है।

इनका अर्थ इस प्रकार होता है—

(षट् खण्डत पूर्व) पट् खण्डागम से पहले (व्याख्या प्रज्ञप्तिमवाप्य) व्याख्या प्रज्ञप्ति को पाकर (ततः तस्मिन्) फिर उसमें (उपरितमवन्धनाद्यधिकारैः अष्टादशविकल्पैः) ऊपर के बन्धन आदि अट्ठारह अधिकारों के द्वारा (सत्कर्मनामधेयं पष्ठ खण्डं विधाय) सत्कर्म नामक छठे खण्ड की रचना करके (संक्षिप्य) और उसे उसमें मिलाकर (इति षण्णां खण्डानां) इस प्रकार छहों खण्डों की (ग्रन्थ सहस्रैर्द्विसप्तत्या) ७२ हजार श्लोक प्रमाण संस्कृत प्राकृत भाषा मिश्रित धवला टीका लिखी।

उक्त दोनों ही उदाहरणों से यही प्रकट होता है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक ग्रंथ का सम्बन्ध षट् खण्डागम के छठे खण्ड से था। बप्पदेव ने उसे षष्ठ खण्ड के रूप में पांच खण्डों में मिलाकर पट खण्डों की निष्पत्ति की और फिर षट् खण्डागम पर टीका लिखी। इसी तरह वीरसेन स्वामी ने भी पहले व्याख्या प्रज्ञप्ति को प्राप्त कर उसके आधार पर बन्धनादि अट्ठारह अधिकारों के द्वारा सत्कर्म नामक छठे खण्ड की रचना की और तब उन षट् खण्डों पर धवला टीका रची।

अतः व्याख्या प्रज्ञप्ति को षट् खण्डागम के आद्य पांच खण्डों की टीका समझना भूल है। इसी तरह उसके रचयिता बप्पदेव थे यह भी अभी विचारणीय है। बप्पदेव ने कषाय प्राभृत पर उच्चारणा वृत्ति रची थी, जब धवला टीका में उनके नाम के साथ उसका उल्लेख मिलता है। किन्तु धवला में व्याख्या प्रज्ञप्ति के केवल दो उल्लेख होने पर भी उसे बप्पदेव कृत नहीं लिखा है। दोनों उल्लेख भी बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं। एक उल्लेख तो द्रव्य प्रमाणानुगम में हैं जिसमें बतलाया है कि 'लोक[१] वातवलयों से प्रतिष्ठित है' ऐसा व्याख्याप्रज्ञप्ति का वचन है। दूसरा उल्लेख वेदना खण्ड में है वह कुछ बड़ा है और आयुबन्ध से सम्बद्ध हैं। उसे देकर कहा गया है कि इस व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र के साथ पट् खण्डागम सूत्र में कैसे विरोध न होगा। उसका उत्तर देते हुए वीरसेन स्वामी ने कहा[२] है कि इस सूत्र से उक्त व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र भिन्न आचार्य के द्वारा बनाया होने के कारण पृथक है, अतः उन दोनों में एकता नहीं हो सकती।

वीरसेन स्वामी के इस समाधान से भी यही व्यक्त होता है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र भिन्न कर्तृक कोई ग्रन्थ हैं और वह षट् खण्डागम का टीका ग्रन्थ नहीं है। 'व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र' शब्द से भी यही प्रकट होता है इसमें व्याख्या प्रज्ञप्ति को सूत्र कहा है टीका नहीं कहा। अतः व्याख्या प्रज्ञप्ति षट् खण्डागम का टीका ग्रन्थ प्रतीत नहीं होता।

---

१ 'तं कधं जणिज्जदि ? लोगो वाद पदिट्ठिदो त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो।'—पु० ३, पृ० ३५

२ 'एदेण वियाह पण्णत्ति सुत्तेण सह कहं ण विरोहो ? ण, एदम्हादो तस्स पुधभूदस्स आइरियभेदेण भेदमावण्णस्स एयत्ताभावादो।—षट् खण्डागम, पु० १०, पृ० २३८।

जैन संत रत्नकीर्ति : जीवन एवं साहित्य

ले०—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम. ए. पी. एच. डी.

वह विक्रमीय १७वीं शताब्दी का समय था। भारत में बादशाह अकबर का शासन होने से अपेक्षाकृत शान्ति थी किन्तु बागड़ एवं मेवाड़ प्रदेश में राजपूतों और मुसलमानी शासकों में अनबन रहने के कारण सदैव ही युद्ध का खतरा तथा धार्मिक संस्थानों एवं सांस्कृतिक केन्द्रों के नष्ट किए जाने का भय बना रहता था। लेकिन बागड़ प्रदेश में भ० सकलकीर्त्ति ने १५वीं शताब्दी में धर्म एवं साहित्य प्रचार की जो लहर फैलाई थी वह अपनी चरम सीमा पर थी। यद्यपि उस लहर को प्रचलित हुए सौ वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत हो गया था फिर भी उसमें धार्मिक वातावरण के अतिरिक्त जनसाधारण के हृदयों में उत्साह और वात्सल्य का प्रवर्तन एक प्रकार का प्रोत्तेजन दे रहा था, परिणामस्वरूप चारों ओर नये-नये मन्दिरों का निर्माण एवं प्रतिष्ठा विधानों की भरमार थी। भट्टारकों, मुनियों, एवं सन्तों का यत्र-तत्र विहार होता रहता था और वे अपने सदुपदेशों द्वारा जन-मानस को पवित्र किया करते थे। गृहस्थों की उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी। जहां उनके चरण पड़ते थे वहां वे अपनी पलकें बिछाने को तैयार रहते थे। ऐसे ही वातावरण में घोघा नगर के हुँबड जातीय श्रेष्ठी देवीदास के यहां एक बालक का जन्म हुआ। माता सहजलदे विविध कलाओं से युक्त बालक को पाकर फूली नहीं समायी। बचपन में उसको किस नाम से पुकारा जाता इसका कहीं कोई उल्लेख नही मिलता। वह बालक बड़ा होनहार था "होनहार विरवान के होत चीकने पात" वाली कहावत उसमें पूरी तरह चरितार्थ हो रही थी। बड़ा होने पर वह विद्याध्यन करने लगा।

शिक्षा और पद प्राप्ति

एक दिन उसका भट्टारक अभयनन्दि से साक्षात्कार हो गया। वे उसकी योग्यता तथा वाक् चातुर्य्यसे प्रभावित होकर बड़े प्रसन्न हुये और उसे अपना शिष्य बना लिया। भ० अभयनन्दि ने उसे सिद्धान्त, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष एवं आयुर्वेद आदि विषयों के ग्रन्थों का अध्ययन कराया। शिष्य व्युत्पन्नमति था। अतः शीघ्र ही उसने उन पर अधिकार कर लिया। अध्ययन समाप्त कराने के बाद अभयनन्दि ने उसे अपना पट्ट शिष्य घोषित कर दिया। ३२ लक्षणों एवं ७२ कलाओं से सम्पन्न विद्वान् युवक को कौन अपना शिष्य बनाना नहीं चाहेगा। संवत् १६४३ में एक विशेष समारोह में उसका पट्टाभिषेक भी कर दिया गया और उसका नाम रत्नकीर्ति रखा गया। रत्नकीर्ति, इस पट्ट पर संवत् १६५६ तक रहे। इसलिए इनका काल लगभग संवत् १६०० से १६५६ तक का माना जा सकता है।

युवाकाल

सन्त रत्नकीर्ति उस समय पूर्ण युवा थे। उनकी शारीरिक सुन्दरता देखते ही बनती थी। जब वे धर्म प्रचार के लिए विहार करते थे, तो उनके अनुपम सौदर्य एवं विद्वत्ता से सभी मुग्ध हो जाते थे। तत्कालीन विद्वान् गणेश कवि ने भ. रत्नकीर्त्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

अरध शशिसम सोहे शुभ भाल रे।
वदन कमल शुभ नयन विशाल रे॥
दशन दाड़िम सम रसना रसाल रे।
अधर बिंबाफल विजित प्रवाल रे॥१॥
कंठ कंबूसम रेखात्रय राजे रे।
कर किसलय-सम नख छवि छाजे रे।

वे जहां भी विहार करते सुन्दरियाँ उनके स्वागत में विविध गीत गाती। ऐसे ही अवसर पर गाये हुये गीत का एक भाग देखिए—

कमल वदन करुणालय कहीये,
कनक वरण सोहे कांत मोरी सहीये।
कमल दल लोचन पापना मोचना,
कलाकार प्रगटो विख्यात मोरी सहीये।

बलसाढ़ प्रतिष्ठा

बलसाढ़ नगर में संधपति मल्लिदास ने जो विशाल प्रतिष्ठा करवायी थी वह रत्नकीर्ति के उपदेश से ही सम्पन्न हुई थी। मल्लिदास हूँबड़ जाति के श्रावक तथा अपार सम्पत्ति के स्वामी थे। इस प्रतिष्ठा में सन्त रत्नकीर्ति अपने संघ सहित सम्मिलित हुए थे इसका विस्तृत वर्णन तत्कालीन कवि जयसागर ने अपने एक गीत में किया है। जल यात्रा का एक बर्णन देखिये—

राग सामेरी

जलयात्रा जुगले जाय, त्याहाँ माननी मंगल गाव।
संधपति मल्लिदास सोहत, संघवेण मोहणदे कंत॥
सारी शृंगार सोलमुसार, मन धरयो हरष अपार।
च्याला जल यात्रा काजे, वाजित्र बहु विध बाजे॥
वर ढोल नीशाण नफेरी, दडगडीं दमाम सु भेरी।
सणाई सरुणा साद, झल्लरी कसाल सुनाद॥
वधूक नीसाण न फार, बोले विरद बहु विध भार।
पालखी चामर शुभ छत्र, गजगामिनी नाचे विचित्र॥
घाट चुनडी कुभ सोहावे, चंद्राननी ओढीने आवे।

शिष्य परिवार

अब तक उपलब्ध रचनाओं से ज्ञात होता है कि—भट्टारक रत्नकीर्कि के अनेक शिष्य थे[1]। वे प्रायः विद्वान् एवं साहित्यसेवी रहे होंगे। किन्तु उनमें कुमुदचन्द्र, गणेश जयसागर एवं राघव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुमुदचन्द्र को संवत् १६५६ में इन्होंने अपने पट्ट पर बिठलाया। ये अपने समय के समर्थ भट्टारक एवं साहित्य सेवी थे। इनके द्वारा रचित अनेक पद, गीत एवं रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। कुमुदचन्द्र ने अपनी प्रत्येक रचना मे प्रायः अपने गुरु रत्नकीर्त्ति का स्मरण किया है। गणेश ने भी इनके स्तवन में अनेक पद लिखे है—एक वर्णन पढ़िये—

वदने चंद हरावयो, सीग्रले जीत्यो अनंग।
सुंदर नयणा नीरखा मे लाजा मीन कुरंग।
जुगल श्रवण सुभ सोभतारे नास्या शुकनी चंच।
अधर अरुण रंगे ओमता दंतमुक्त परपंच।
जुहवा जतीणी जाणे सखी रे, अनोपम अमृतवेल।
ग्रीवा कंबु कोमलनी रे, उन्नत भुजनीबेल।

इसी तरह इनके एक शिष्य राघव ने इनकी प्रशंसा में लिखा है कि वे खान मलिक द्वारा भी सम्मानित किये गये थे—

लक्षण बत्तीस कला अंगि वहोत्तरि,
खान मलिक दिए मान जी।

कवि के रूप में

रत्नकीर्त्ति को अपने समय का एक अच्छा कवि कहा जा सकता है। अभी तक इनके ३८ पद प्राप्त हो चुके हैं। पदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये सन्त होते हुए भी रसिक थे। इसीलिए इन्होंने अपने पदों का विषय मुख्यतः नेमिनाथ का विरह है। वे विरह की तड़पन से बहुत कुछ परिचित थे। किसी भी बहाने राजकुल और नेमि की संयोग कल्पना को मूर्तिरूप देना चाहते थे। कवि ने लिखा है कि राजुल बहुत चाहती है कि उसके नयन नेमि के आगमन की इन्तजार न करें, लेकिन लाख मना करने पर भी वे आगमन की बाट जोहना नहीं छोड़ते इसी भाव को अङ्कित करने वाला कवि का एक पद देखिए—

बरज्यो न माने नयन निठोर।
सुमिरि-२ गुन भये सजल घन, उमंगी चलेमति फोर॥१॥
चंचल चपल रहत नहीं रोके, न मानत जु निहोर।
नित उठि चाहत गिरि को मारग, जे ही विधि चंद्र चकोर॥२॥
तन मन धन योवन नही भावत, रजनी न जावत भोर।
रतनकीरति प्रभु वेग मिलो, तुम मेरे मन के चोर॥३॥

एक अन्य पद में राजुल कहती है कि नेमि ने पशुओं की पुकार तो सुन ली लेकिन उसकी पुकार क्यों न सुनी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वे दूसरों का दर्द जानते ही नही हैं—

सखी री नेमि न जानी पीर।
बहोत दिवाजे आये मेरे घरि, संग लेई हलधर वीर॥१॥
नेमि मुख निरखी हरपीयन सुं, अब तो होइ मन धीर।
तामे पसूय पुकार सुनी करी, गयो गिरिवर के तीर॥२॥

(१) इनकी एक शिष्या वीरमति ने संवत् १६६२ में एक महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी, देखो भट्टारक सम्प्रदाय। —संपादक

चंद वदनी पोकारती डारती, मंडन हार उर चीर।
रतनकीरति प्रभू भये वैरागी, राजुल चित कियो धीर ॥३॥

एक पद में राजुल अपनी सखियों से नेमि से मिलाने की प्रार्थना करती है। वह कहती है कि नेमि के वियोग में योवन, चंदन, चन्द्रमा ये सभी फीके लगते हैं। मात, पिता सखियां एवं रात्रि सभी दुख उत्पन्न करने वाली हैं इन्हीं भावों को रत्नकीर्त्ति के पद में देखिये—

सखी ! को मिलावे नेमि नरिंदा।
ता विन तन मन यौवन रजत हे चारु चंदन अरु चंदा ॥१॥
कानन भुवन मेरे जीया लागत, दुःसह मदन को फंदा।
तात मात अरु सजनी रजनी, वे अति दुख को कंदा ॥२॥
तुम तो शंकर सुख के दाता, करम अति काए मंदा।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु, सोवत अमर नरिंदा ॥३॥

अन्य रचनायें

इनकी अन्य रचनाओं में नेमिनाथ फाग एवं नेमि-बारह मासा के नाम उल्लेखनीय है। नेमिनाथ फाग में ५७ पद्य हैं। इसकी रचना हांसोट नगर में हुई थी। फाग में नेमिनाथ एवं राजुल के विवाह, पशुओं की पुकार सुनकर विवाह किये बिना ही वैराग्य धारण कर लेना और अन्त में तपस्या करके मोक्ष जाने की अति संक्षिप्त कथा दी हुई है। राजुल की सुन्दरता का वर्णन करते हुए कवि ने एक स्थान पर लिखा है—

चंद्रवदनी मृगलोचनी मोचनी खंजन मीन।
वासग जीत्यो वेणिइं, श्रेणिय मधु कर दीन॥
युगल गल दाये शशि, उपमा नाशा कीर।
अधर विद्रुम सम उपता, दंतनू निर्मल नीर॥
चिबुक कमल पर षट पद, आनंद करे सुधापान।
ग्रीवा सुंदर सोभती, कंबु कपोल ने वान ॥१२॥

नेमि बारह मासा इनकी दूसरी बड़ी रचना है। इसमें १२ त्रोटक छंद हैं। कवि ने इसे अपने जन्म स्थान घोघा नगर के चैत्यालय में लिखा था। इसमें राजुल एवं नेमि के १२ महीने किस प्रकार व्यतीत होते हैं यही वर्णन करना रचना का मुख्य उद्देश्य है। ज्येष्ठ मास का वर्णन करते हुये कवि ने लिखा है इस मास में काम इतना सताने लगता है कि चंदन का लेप एवं केवड़ा जल का स्नान भी उसके काम वृद्धि में सहायक होते हैं। न भोजन अच्छा लगता है और न वदन पर आभूषण ही सुहाते हैं। इसे कवि के शब्दों में पढ़िये—

राग असावरी

आ जेष्ट मासे जग जलहरनो उमाह रे।
काई बाप रे वाय विरही किम रहे रे॥
आररते आरत उपजे अङ्ग रे।
अनंग रे संतापे दुख केहे रे॥

केहनें कहे किम रहे कामिनी आरति अगाल।
चारु चंदन चीर चिते माल जाणे व्याल॥
कपूर केसर केलि कुंकम केवड़ा उपाय।
कमल दल जल छांटणा वन रिपु जांणे वाय।
भावे नहीं भोजन भूषण, कर्ण केरा माप।
परी नग में पान नीको, रालि करें कर माप॥
गिरिनारि केरो गिरितपे, सखि जेष्ट मास विसेष।
दुःसह दीन दोहिला लागे, कोमला सलेषि॥ ॥

इस प्रकार सन्त रत्नकीर्त्ति अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक एवं साहित्य सेवी विद्वान् थे। इनकी अभी और भी रचनाएँ उपलब्ध होने की आशा है। इनके द्वारा रचित पदों की (जो अभी तक हमें उपलब्ध हुये है) प्रथम पंक्ति निम्न प्रकार है—

१. पद—सारंग ऊपर सारंग साहे सारंगत्यासार जी
२. „ —सुण रे नेमि सामलीण साहेब क्यों बन छोरीजाय।
३. „ —सारंग सजी सारंग पर आवे
४. „ —वृषभ जिन सेवो बहु सुखकार
५. „ —सखीरी सावन घटाई सतावे
६. „ —नेमि तुम कैसे चले गिरिनार
७. „ —कारण कोउ पिया को न जाणे
८. „ —राजुल गेहे नेमी जाप
९. „ —राम ? सतावे रे मोही रावन
१०. „ —अब गिरि वरज्यो न माने मेरो
११. „ —नेमि तुम आपो घरिय घरे
१२. „ —राम कहे अवरं जपा मोही भारी
१३. „ —दशानन ? वीनती कहत होइ दास
१४. „ —वरज्यो न माने नयन निठोर
१५. „ —झीलते कहा करयो यदुनाथ

राजा हरसुखराय

लेखक—श्री परमानन्द शास्त्री

दिल्ली के धर्मपुरा का विशाल जैन मन्दिर राजा हरसुखराय के उदात्त परिणामों का फल है। यह मन्दिर कलात्मक सुन्दर और ऐतिहासिक दृष्टि से दिल्ली के उपलब्ध सब मन्दिरों से महत्वपूर्ण है। वेदी की नक्कासी का कार्य अनुपम है।

एक समय था जब दिल्ली के बादशाह ने हिसार से लाला हुकूमतराय को (जो उस समय वहाँ प्रतिष्ठित नागरिक और शाहीश्रेष्ठी कहे जाते थे) दिल्ली बुलवाया, और उन्हें स-सम्मान रहने के लिए शाही मकान प्रदान किया। लाला जी के पांच पुत्र थे, हरसुखराय, मोहनलाल संगमलाल, सेवाराम और तनसुखराय। इनमें हरसुखराय सब में ज्येष्ठ, गंभीर और बात बनाने की कला में अत्यन्त निपुण, मिठबोला एवं कम बोलते थे। दिल्ली में आबाद होने के थोड़े ही दिन बाद उनकी केवल श्री वृद्धि ही नहीं हुई; किन्तु लोक में उनकी प्रतिष्ठा और गौरव भी बढ़ा। उनका गौर वर्ण, लम्बा कद और पतला दुबला बदन, पायजामा, कुर्ती और पगड़ी शाही लिबास में जिन्हें पहिचानना कठिन हो जाता था। उनकी दरबारी पोशाक उन्हें जैन बताने के लिये सर्वथा असमर्थ थी। वे अधिक बोलना भी पसन्द नहीं करते थे, पर जो कुछ भी बोलते थे उसमें इतनी सावधानी जरूर रखते थे कि उससे किसी का अहित न हो जाय।

उत्कर्ष के दिन

इन्होंने सन् १७६१ वि० सं० १८४८ में साहूकारे की एक कोठी लाला सन्तलाल जी के साझे में खोली। लाला सन्तलाल जी अग्रवाल पानीपत के निवासी थे, वहां से आकर वे किसी समय दिल्ली में बसे थे। बादशाह की ओर से उन्हें भी शाही मकान दिया गया था, जो आज भी उनके कुटुम्बियों के पास सुरक्षित है।

कोठी खुलने के कुछ ही समय बाद ला० हरसुखराय श्री सन् १७६५ (वि० सं० १८५२ मे) शाही खजांची बना दिये गए। खजाची का कार्य इन्होंने बड़ी दूरदर्शिता और

---

१६ पद —शरद की रयनि सुन्दर सोहात
१७. ,, —सुंदरी सकल सिंगार करे गोरी
१८. ,, —कहा थे मंडन करूं कजरा नेन भरूं
१६. ,, —सुनो मेरी सयनी धन्य या रयनी रे
२०. ,, —रथडो नीहालती रे पूछति सहे सावननी बाट
२१. ,, —राखी ? को मिलावे नेमि नरिंदा
२२. ,, —सखीरी ? नेमि न जानी पीर
२३. ,, —वदेहं जनता शरण
२४. ,, —श्रीराग गावत सुर किन्नरी
२५. ,, —श्रीराग गावत सारंग धरी
२६. ,, —आजू आली आये नेमि नो साउरी
२७. ,, —बली बंधोका न वरज्यो अपनो
२८. ,, —आजो रे सखि सामलियो, वहालो रथ परि रूडो भावेरे।
२९. पद—गोखि चडी जू ए राजुल राणी नेमिकुमर वर आवेरे।
३०. ,, —आवो सोहामणी सुदरी वृन्द रे, पूजिये प्रथम जिणंदरे।
३१. ,, —ललना समुद्र विजय सुत साम रे, यदुपति नेमि कुमार हो।
३२. ,, —सुणि सखि राजुल कहे हडे हरप न माप लालरे
३३. ,, —सशधर वदन सोहाणी रे, गजगामिनी गुणमालरे
३४. ,, —वाणारसी नगरी नो राजा अश्वसेन गुण धार रे
३५. ,, —श्री जिन सनमति अवतरया ना रंगी रे
३६. ,, —नेमि जी दयालु रे तू तो यादव कुल सिंणगाररे
३७. ,, —कमल वदन करुणा निलयं
३८. ,, —सुदर्शन नाम के मैं वारि

जैन साहित्य शोध-संस्थान की ओर से प्रकाशित।

तत्परता से किया, उससे साहूकारी करने में विशेष सफलता मिली, और बादशाह के हृदय में उनके प्रति आदर उत्पन्न हो गया। इतना ही नहीं; किन्तु बादशाह आपके काम से इतना खुश हुआ कि उसने आपको राजा की उपाधि से भी अलंकृत किया। वे बादशाह आलमशाह द्वितीय के नवरत्नों में से एक थे। उनका चित्र नवरत्नों के साथ, दिल्ली के लालकिले के पुरातत्व संग्रहालय में लगा हुआ है।

लाला हरसुखराय को शाही खजांची होने के नाते सरकारी सेवाओं के उपलक्ष्य में तीन जागीरें, सनदें और सार्टिफिकेट आदि भी प्राप्त हुए थे। जो उनके कुटुम्बियों के पास आज भी सुरक्षित है। आप भरतपुर राज्य के कौंसिलर (Councilor) भी थे। तथा राजस्थान के कोषाध्यक्ष होने से आपका सम्बन्ध अच्छे-अच्छे अंग्रेजों और विभिन्न राज्यों के दीवानों, राजाओं, नवाबों और सेठ-साहूकारों से था। और समाज में भी आपकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। खजाँची होने के साथ आपकी सूझ-बूझ और योग्यता इतनी अच्छी थी कि आप से एक बार परिचित होने पर आप उनके सदैव शुभचिन्तक और हितैषी बने रहते थे। बड़े पुण्यात्मा और भद्र प्रकृति मानव थे। सौजन्य और भद्रता पूर्ण व्यवहार आपकी महत्ता के द्योतक थे। लक्ष्मी पति होने पर भी अभिमान छू भी नहीं गया था। वे आन पर मिटना जानते थे, और बात के धनी थे, जो कह देते थे वह कर गुजरते थे। अन्य साधर्मी भाइयों के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त सौहार्द पूर्ण, दयालुता और साधर्मी वात्सल्य से भरा हुआ था। वे धन को धार्मिक कार्यों में कोड़ियों की तरह बखेरते थे, और गरीबों का सदा सन्मान करना अपना कर्तव्य मानते थे। और इस बात का सदा ध्यान रखते थे कि मेरी वजह से किसी के स्वाभिमान में कोई ठेस न पहुँच जाय। और कोई बुरा मानकर यह न कह बैठे कि हम तो गरीब ही भले है, पर आप तो अपनी धन्ना-सेठी प्रकट कर रहे है। अस्तु, वे अपनी सम्पत्ति का अनेक धार्मिक और लौकिक कार्यों में खुलकर विनिमय करते थे, परन्तु बदले में सम्मान की कोई भावना नहीं रखते थे। उन्होंने कभी यश के लिये धन खर्च नहीं किया और न उससे नाम पाने का कभी स्वप्न में विचार ही किया। वे परिग्रह को पाप समझते

राजा हरसुखराय*

थे, अतएव उसे धार्मिक कार्यों एवं परोपकार मे लगाकर उसका प्रायश्चित्तमात्र करते थे और देने के बाद उससे वे अपना मोहभाव सर्वथा हटा लेते थे। यदि वे ऐसा न करते तो उससे रागभाव बना रहता, और वह अहंकार तथा ममकार की वृद्धि का कारण बनता, जिससे आत्मा अनन्त दुःखों का पात्र होता। अतः उन्होंने विवेक से कार्य किया और वे सदा के लिए निःशल्य बन गये। वे 'नेकी कर और कुए में डाल' की नीति का चरितार्थ करते थे। उनका यह त्यागभाव जैनधर्म के अनुकूल था; किन्तु खेद है कि अब समाज दान की यथार्थता और महत्ता को भूल गया है। इसी कारण वह थोड़ा सा दान करके भी अपनी यशोलिप्सा का संवरण नहीं कर सका, इसी कारण वह धार्मिक कार्यों में धन लगा कर अपना और अपने कुटुम्बियों का नाम उत्कीर्ण कराता है।

जीवन-घटना

आपके जीवन-सम्बन्ध में अनेक घटनाएं प्रचलित हैं, उनमें कुछ का सम्बन्ध जीवन के साथ हो सकता है और

*लालकिला पुरातत्त्व विभाग संग्रहालय के सौजन्य से प्राप्त

कुछ केवल उनके प्रभाव को ही सूचित करती हैं। यहाँ एक ऐसी जीवन-घटना दी जा रही है, जिससे उनके साहस और परद्रव्य से निस्पृहता का भाव अंकित हुए बिना नहीं रहता।

उन पर लक्ष्मी की अतिशय कृपा थी, पुण्योदय से वैभव में पर्याप्त वृद्धि हो रही थी, फिर भी भावों में अत्याशक्ति और इंद्रिय-विषयों में लोलुपता नहीं थी। उस समय रुपया बाहर से गाड़ियों में आता-जाता था। आने पर वह रायजी के चौक के मकान में उसका ढेर लगा दिया जाता था (कहा जाता है कि रुपया मकान में समाता नहीं था)। शाही खजांची होने के कारण बड़े-बड़े नवाबों, राजाओं आदि को रुपये की आवश्यकता होने पर निश्चित व्याज पर दे दिया जाता था और सरकारी खजांची होने के कारण उसकी वसूली में देर नहीं लगती थी।

सन् १८५७ में जब राज विप्लव (गदर) हुआ, दिल्ली और उसके आस-पास भय और आतंक का साम्राज्य छाया, तब आपने अपने कुटुम्बीजनों को सुरक्षा की दृष्टि से हिसार भेज दिया और आप एकाकी निर्भय हो अपने नौकरों के साथ दिल्ली में ही रहे। उस समय लूट-खसोट और डाकेजनी आदि की भीषण घटनाएं हो रही थी। कुछ डाकू लोग अपने सरदार के साथ आपके मकान पर भी आये, राजा जी ने डाकुओं को देखते ही अपने मकान को खोल दिया और स्वयं तिजोड़ियाँ खोल दीं और डाकुओं के सरदार से कहा कि आपको जितने धन की जरूरत हो ले जाइये। डाकुओं का सरदार समझदार था, उसने सोच विचार कर अपने साथियों से कहा कि यह बड़ा भला आदमी है, इसका यह माल अपने को हज़म नही हो सकता। आप अपना माल सम्हाल कर रक्खें—हमें उसकी जरूरत नहीं और हम आपकी रक्षा के लिये अपने पाँच आदमी छोड़े जाते है जिससे आपको अन्य डाकू लोग तंग न करें। राजा साहब डाकुओं के सरदार की बात सुनकर अवाक् रह गए और आश्चर्य से उनकी ओर देखने लगे।

जिनमन्दिर निर्माण

सन् १८०१ (वि० सं० १८५८) में राजा साहब के मन में रात्रि मे सोते समय मन्दिर-निर्माण का विकल्प साकार हो उठा और स्वप्न में ही प्रसन्नता के साथ मन्दिर-निर्माण कराने का विचार भी पक्का हो गया। उस समय दिल्ली में इतने जैन मन्दिर न थे और जो थे वे इतने सुन्दर विशाल एवं चित्ताकर्षक भी न थे, जिनमें जनता सुविधा के अनुसार वात्सल्य के साथ धर्म-साधन कर सके। साथ ही उसमें उनकी इच्छा एक विशाल शास्त्र भंडार को संग्रहीत करने की थी; क्योंकि सर्वसाधारण को स्वाध्याय करने के लिए शास्त्र सुलभ नही होते थे। इन्हीं सद्विचारों से प्रेरित हो आपने मन्दिर बनवाने का निश्चय किया और प्रातःकाल ही अपनी उस योजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिये अपने मकान के पास ही धर्मपुरा में विशाल जमीन खरीद की और बादशाह से 'मन्दिर-निर्माण' करने की आज्ञा भी ले ली। आज्ञा मिलते ही आपने शुभ मुहूर्त में विशाल मन्दिर की नींव डाल दी और उसकी चिनाई का काम तत्परता के साथ होने लगा और सात वर्ष के कठोर परिश्रम के द्वारा मन्दिर बनकर प्रायः तैयार हो गया। जब शिखर में दो-तीन दिन का काम अवशिष्ट रह गया, तब राजा साहब ने तामीर बन्द कर दी, जो राजा साहब सर्दी-गर्मी और बरसात में हर समय मिस्त्री मजदूरों में खड़े होकर काम कराते थे, वे अब वहाँ नहीं है।

विरोधी जनों को अटकल (अनुमान) लगाने देर न लगी और एक महाशय बोले—'हमने पहले ही कहा था कि इस मुसलमानी राज्य मे जब पुराने मन्दिरों का संरक्षण दूभर है, तब नये मन्दिरों का निर्माण बादशाह कैसे सहन कर सकता है?

इतने में दूसरे सज्जन अपनी बुद्धि का कौशल दिखलाते हुए बोल उठे, खैर भाई, राजा साहब बादशाह के खजांची हैं, मन्दिर बनवाने की अनुमति ले ली होगी। मगर शिखरबन्द मन्दिर कैसे बनवा सकते हैं? शिखर बन जाने पर मंदिर और मस्जिद में अन्तर ही क्या रह जायगा।

ये बातें परस्पर हो ही रही थी कि इतने में एक वृद्ध सज्जन अपने अन्य दो साथियों के साथ उधर आ निकले, उनमे एक ने मंदिर की ओर देखते हुए कहा। राजा साहब ने मन्दिर बनवाया तो है, बहुत सुन्दर पर मुसलमान इसे कब सहन कर सकते थे। मैं तो यह पहले ही जानता

था; परन्तु मैंने किसी से कुछ कहा नहीं था, अब देखो ना, तामीर बन्द करनी ही पड़ी है। इस राज्य ने सहस्त्रों मंदिर धराशायी करा दिये हैं, मूर्तियां तुड़वा डाली हैं। ऐसी स्थिति में भला इसकी तामीर कैसे चल सकती थी? इसीसे बन्द करनी पड़ी जान पड़ती है। इतने में दूसरे सज्जन, जो राजा साहब के व्यक्तित्व से प्रभावित थे, एवं उनके प्रेमी थे, बोले आपलोग जो तरह-तरह के अनुमान लगाकर व्यर्थ की बातें कर रहे हैं। राजा साहब के पास जाकर ठीक हाल क्यों नहीं मालूम कर लेते। यदि बादशाह की आज्ञा तामीर बन्द करने की हुई है तो राजा साहब से उसका ठीक पता चल सकेगा। बिना किसी निर्णय के वे शिर-पैर की बातें कर दिल के फंफोले क्यों निकाल रहे हो। चलो, तुम्हें डर लगता है तो मैं राजा साहब से मालूम कर दूंगा। इतने में वृद्ध महाशय पुनः कह ही बैठे, इसमें राजा साहब का क्या बिगड़ा, पर हमारी नाक तो नीची हो ही गई। उन्हें चिन्ता भी क्या, शाही खजांची जो ठहरे। घर में चैन से बैठे होंगे, उन्हें उसका पता जरूर चल गया होगा; अन्यथा तुम्हीं बताओ, एकदम तामीर बन्द होने का क्या कारण है? इतने में तीसरे साथी ने कहा बाबु साहब ने ठीक ही कहा, राजा साहब से मालूम कर अपना संशय क्यों नहीं दूर कर लेते, व्यर्थ की अटकल बाजियों से कोई काम नहीं होता और न दोषारोपण से कोई भला हो सकता है। यहाँ व्यर्थ का विसंवाद करने से क्या प्रयोजन है? वहाँ जाने में आप लोगों को भय और संकोच क्यों हो रहा है, यह उचित मालूम नही होता। केवल छिद्रान्वेषी होने से काम नहीं चल सकता। राजा साहब चतुर व्यक्ति हैं, साथ ही धर्मनिष्ठ हैं वे धर्म पर आए हुए संकटों को कैसे सहन कर सकते हैं।

जब अन्य मित्रों और साधर्मीजनों को मन्दिर की तामीर बन्द होने के समाचार ज्ञात हुए, तो खेदखिन्न हो (और आहार-पानी का परित्याग कर) राजा साहब के पास दौड़े हुए आए और आँखों से अश्रुधारा डालते हुए, एवं अपनी आन्तरिक वेदना व्यक्त करते हुए बोले, राजा साहब, 'आपके होते हुए मन्दिर अधूरा रह जाय, तब तो हमारा दुर्भाग्य ही है। आपने तो कहा था कि बादशाह सलामत ने शिखरबन्द मन्दिर बनवाने के लिए खुद ही इच्छा व्यक्त की थी, फिर न मालूम यह क्यों आपत्ति आई।

राजा साहब ने बहुत कुछ टाल-मटूल की, पर अन्त में वे सकुचाते हुए बोले, भाइयों के आगे अब पर्दा रखना भी ठीक मालूल नहीं होता—जो कुछ थोड़ी सी पूंजी थी वह सब समाप्त हो गई। मैं कर्ज लेने का आदी नहीं हूँ, सोचता हूँ बिरादरी से चन्दा कर लूं, पर कहने की हिम्मत ही नहीं होती। अतः मजबूर होकर तामीर बन्द करनी पड़ी। इतना कहना था कि मित्रों का हृदय-कमल खिल उठा, बस, इतनी सी बात पर आपको चिन्ता करने की जरूरत नहीं थी आपको किसी से कर्ज लेने की आवश्यकता नहीं और न चन्दा मांगने की ही जरूरत है और न हम लोगों के होते हुए इतनी परेशानी उठाने की। अन्यथा धिक्कार हैं हमारे इस मानव जीवन को। आपको जितने धन की आवश्यकता हो सेवा में हाजिर है।

राजा साहब किंचित् मुस्कुराहट के साथ कुछ लज्जा का अनुभव करते हुए बोले—मुझे अपने साधर्मी भाइयों से इसी उदारता की आशा थी, किन्तु मुझे इतनी रक़म की आवश्यकता नहीं है। दो-तीन दिन की तामीर खर्च के लिए जितनी रकम की आवश्यकता है उसे यदि मैं लूगा तो सारी बिरादरी से, अन्यथा किसी से भी नहीं लूगा।

राजा साहब के समक्ष किसी किस्म का आग्रह करना उचित नहीं था, अतः प्रत्येक घर से नाममात्र का चन्दा किया गया और मन्दिर के शिखर का काम पूरा हो गया। उस समय मन्दिर की शोभा अद्वितीय थी और वह देखते ही बनती थी। पक्की रंगीन सुवर्णांकित चित्रकारी, बारीक बेल-बूटा, प्रांगण का (आंगनका) सुन्दर डिजायन, खुला हुआ सहन और चारों ओर अलंकृत कमनीय दृश्य, कलात्मक वेदी का निर्माण और उसकी पच्चीकारी की अनूठी कला। जो मन्दिर को देखता, गद्गद् हो जाता। हृदय प्रसन्नता से भर जाता और यह कहे बिना नहीं रहता कि धन्य है राजा साहब को, जो इतना सुन्दर और विशाल मन्दिर बनवाकर तय्यार किया है।

जब मन्दिर की प्रतिष्ठा का समय आया, तब आपने उसे बड़ी भारी तय्यारी और महोत्सव के साथ सम्पन्न कराया। (उसके लिए एक विशाल पण्डाल बनवाया गया)

और प्रतिष्ठा का कार्य उत्साह के साथ सम्पन्न किया गया और सन् १८०७ वि० सं० १८६४ में वैशाख शुक्ला तीज। (अक्षयतृतीया) के दिन शुभ मुहूर्त में अभिषेक के साथ जय-जय शब्दों के नादपूर्वक श्री आदिनाथ की प्रशांत मूर्ति विराजमान की गई।

आकस्मिक दुर्घटना

प्रतिष्ठा महोत्सव का कार्य सम्पन्न हो ही रहा था कि महोत्सव के कार्य में सहसा एक विघ्न आ गया, जिसने रंग में भंग कर दिया, उस दिन उत्सव का अन्तिम दिन था, पंडाल जनता से खचा-खच भरा हुआ था और नृत्य-गान, भजन हो रहा था। इतने में बदमाशों की कुछ टोली में मंडप के चारों ओर आग लगा दी, तथा चाँदी-सोने का सामान लूटना शुरू कर दिया, सभी लोग घबड़ाए हुए मडप से घर की ओर भागे। स्त्री बच्चों को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया। आग बुझाने का भी प्रयत्न किया गया। राजा साहब सचिन्त्य दशा में खड़े हुए उसकी रक्षा का प्रबन्ध कर रहे थे। फिर भी गुन्डे लोग चाँदी-सोने का बहुतसा कीमती सामान लेकर भाग गए। आग बुझा दी गई, अगले दिन प्रातः काल राजा साहब दरबार में पहुँचे राजा साहब का चेहरा कुछ उदास और गम-गीन-सा दिखाई देता था। यद्यपि उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त करने का काफी प्रयत्न किया; किन्तु सब बेकार, कारण अन्तर्मानस में वेदना जो थी। बादशाह को जब हाल मालूम हुआ, तब गुन्डों को बुलवाया और आज्ञा दी, कि राजा साहब का जो कुछ भी सामान लाये हो, वह सभी वापिस करो। इस प्रकार की हरकत तुम्हें नही करनी चाहियें थी और यदि तुमने आइन्दा ऐसी हरकतें की तो तुम्हें उसकी सख्त सजा दी जावेगी। अस्तु, गुण्डों ने तत्काल चोरी किया हुआ सब सामान लाकर खजाँची साहब को दे दिया। और प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न हुआ और श्री नये मन्दिर जी में श्री आदिनाथ की प्रशान्त मूर्ति विराजमान की गई और मंदिर आदिनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

राजा साहब का अन्तः विवेक

जब कलशारोहण का समय आया और पंचायतने राजा साहब से निवेदन किया कि राजा साहब कलशारोहण कीजिए। तब राजा साहब पगड़ी उतार कर बोले —भाइयों, मन्दिर मेरा नहीं, पंचायत का है सभी ने चंदा दिया है। अतः पंचायत ही कलशारोहण करे और वही आज से मन्दिर का प्रबन्ध करे। जब लोगों ने राजा साहब की बात सुनी, तो अवाक् रह गए और तब उन्हें उस थोड़े से चन्दा देने का रहस्य समझ में आया और ला० हरसुखराय जी के अन्तः विवेक का पता चला। उस समय राज को चार आना और मजदूर को दो आना मजदूरी के मिलते थे। तब इस मन्दिर में ७-८ लाख रुपया लगा है। दशहजार में तो केवल वेदी के ऊपर का कमल बना था और सवा लाख में संगमर्मर की वेदी, राजा साहब का विवेक अत्यन्त मूल्यवान था, यद्यपि वे विशेष शास्त्र-ज्ञानी नहीं थे; परन्तु ममता को बुरी समझते थे। इसीसे उन्होंने पर वस्तु से अपने अहंभाव को दूर कर अपनी विवेक जागृति का परिचय दिया था, इतना ही नहीं किन्तु मन्दिर की सुरक्षा और उपासना आदि के लिये काफी जमीन जायदाद दे गए थे, जो आज भी मन्दिर के पास मौजूद है। इस जीव को अहंकार-ममकार ही तंग करते हैं और वही मानव को पतन की और ले जाते है। पर विवेकी मनुष्य उनके फंदे में नहीं आते। राजा हरसुखराय का ममकार-अहंकार का त्याग उन के आदर्श जीवन की महत्ता का द्योतक है, और जैन समाज के लिये अनुकरणीय आदर्श, जो धार्मिक कार्यों में अल्प द्रव्य लगाकर अपनी महत्ता प्रकट करते हैं उन्हें राजा साहब के अपूर्व त्याग और अन्तः विवेक पर ध्यान देना चाहिये। जीवन अल्प, लक्ष्मी चंचल और विनाशीक है, नहि मालूम ये कब विघट जाये। अतः विवेक को सबल करने प्रयत्न का करना चाहिये।

शाही समय में दिल्ली में प्रथम जैन रथोत्सव

संवत् १८६७ में राजा साहब के हृदय में रथोत्सव निकालने का विचार हुआ, साथ ही, आपके मित्रों ने भी रथोत्सव के निकलने की प्रेरणा की। अतः अपनी चतुराई से सुनहरी मस्जिद का जो सुवर्ण-लेप खराब हो गया था उसे पुनः करवा दिया। जब चाँदनी चौक से शाही सवारी गुजरी, तब बादशाह ने देखा कि मस्जिद का गुम्बज ऐसा चमक रहा है जैसे उस पर अभी ही सुवर्ण-लेप कराया

महाकवि रइधू द्वारा उल्लिखित खेल्हा ब्रह्मचारी

लेखक—प्रो० राजाराम जैन एम. ए.

अपभ्रंश साहित्य के इतिहास में महाकवि रइधू का व्यक्तित्व एवं कृतित्व अपना विशेष स्थान रखता है। उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेकों रचनाएं की, लेकिन अभी तक उनकी कुल २३ रचनाओं का पता चल सका है, उनमें भी अभी २-३ रचनाएं अनुपलब्ध ही है। उपलब्ध रचनाओं में से ३-४ रचनाओं को छोड़कर बाकी की प्रायः सभी रचनायें विशाल है। कृतियों में अन्तरंग एवं बहिरंग स्वरूप के निरीक्षण-परीक्षण करने से विदित होता है कि वे एक महान भावुक एवं उदार महाकवि थे। कुछ रचनाएं तो उन्होने स्वान्तः सुखाय लिखी, लेकिन कुछ को उन्होंने अपने परम भक्तों के अत्याग्रह पर लिखीं। महाकवि की कृतियों में उल्लिखित प्रशस्तियों एवं प्रेरक तथा आश्रय-दाताओं के भरे-पूरे मण्डल तथा उनके कथनोपकथनों को पढ़कर यह विदित होता है, कि ग्रन्थ रचना के पूर्व महा-कवि के हृदय की तरंगों एवं प्रतिभा के महत्वपूर्ण तन्तुओं को झंकृत करना आवश्यक होता था। उनके परमभक्तों में क्या राजा-महाराजा, क्या राजपुरुष और क्या भट्टारक या अध्यातमक-रस-मधुप ब्रह्मचारी, प्रायः सभी उन्हें रिझाना भी खूब जानते थे, जिनकी कुशल सूझ-बूझ से महाकवि रइधू अपने दो विशाल एवं अमूल्य ग्रन्थरत्न हमें प्रदान कर सके।

ब्रह्मचारी खेल्हा का व्यक्तिगत जीवन-परिचय रइधू

गया हो, जब बादशाह ने पूछा तब किसी ने कह दिया कि खजांची साहब ने कराया है। इसे सुनकर बादशाह बहुत खुश हुआ। अगले दिन दरबार में जब राजा हरसुख राय जी गए, तब बादशाह ने कहा, आज आप जो मांगना चाहें सो मांगलें। तब उन्होंने कहा कि जहापनाह—आप की कृपा से मेरे पास सब कुछ है, परन्तु मेरे मित्र और समाज वाले सब यह प्रेरणा करते है कि रथोत्सव कैसे निकाला जा सकता है? इसी चिन्ता में मैं हूँ। बादशाह ने कहा रथोत्सव निकालिये, शाही लवाजिम और जो चाहे सो राज्य से मिलेगा- तब हरसुखराय जी ने कहा, जहांप-नाह, आपकी कृपा से ही रथ निकल सकता है। अब मैं आपकी आज्ञानुसार रथोत्सव निकालने का प्रयत्न करूंगा। पश्चात् उत्साह के साथ दिल्ली में प्रथम रथोत्सव निकाला गया।

अन्य मन्दिर निर्माण कार्य

आपने केवल मन्दिर निर्माण ही नहीं कराया, किन्तु नये मन्दिर में विशाल शास्त्रों का संकलन भी कराया, जो आज भी अच्छी अवस्था में मौजूद है। और जिस मे अनेक प्राचीन प्रतियाँ ग्रन्थ सम्पादन में उपयोगी हैं और वे बाहर विद्वानों के पास भेजी जाती हैं। दिल्ली के अतिरिक्त आपने हस्तिनापुर, करनाल, सुनपत, हिसार, सांगानेर और पानीपत आदि स्थानों पर भी मन्दिर निर्माण कराये थे। और वे सब उसी समय पंचायत को सौप दिये गए थे।

आप गुप्तदानी और दयालु भी थे, जब किसी की हीन स्थिति का पता चलता, तो अपने आदमियों के हाथ उनके घर लड्डुओं में मुहरें रखक रभिजवा देते थे, पर इस बात को कभी प्रकट नही करते थे। यदि कोई वापिस करने आता तो कह देते थे हमारी नहीं है, वे तो आपकी ही है आपको अपने भाग्य से ही प्राप्त हुई हैं। इस तरह वे समदत्ति और दयालुता के विवेक को जानते थे।

सन् १८०३ (वि० स० १८६०) में अंग्रेजो ने दिल्ली पर कब्जा किया, तब उनके कार्यों में भी सहायोग दिया और खजांची का कार्य करते रहे। उस समय हुकम तो बादशाह का चलता था किन्तु अधिकार अंग्रेजों का था। बाद में उन्होंने बादशाह को भी हटा दिया, और वे एक मात्र शासक रह गये।

इस तरह धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए आपने स० १८७९ के लगभग कोठी का साझा परस्पर बांट दिया और निःशल्य बन गये। उसके एक वर्ष बाद सं० १८८० में उन्होंने अपने शरीर का परित्याग किया।

साहित्य में विस्तृत रूप से नहीं मिलता, किन्तु उनकी प्रेरणा से रइधू द्वारा लिखे गये "सम्मइ जिण चरिउ" एवं "णेमि-चरिउ" नामक दो ग्रन्थों की प्रशस्तियों में उनके सम्बन्ध में अवश्य ही कुछ सूचनायें मिलती हैं। उन्हीं के आधार से यह विदित होता है कि वे महान् साधक एवं व्रती तपस्वी तो थे ही, साथ ही साहित्य-रसिक, साहित्य-प्रेरक एवं साहित्य प्रेमी भी। व्यावहारिक दृष्टि से भी वे बड़े चतुर एवं साहित्य की श्री-वृद्धि में तत्पर रहते थे। खेल्हा ने महाकवि रइधू से किस प्रकार ग्रंथ-रचनाएं कराईं उसकी चर्चा यहां की जाती है।

णेमिचरिउ—णेमिचरिउ महाकवि रइधू की सभी रचनाओं में एक विशाल कृति है। इसमें १४ सर्ग एवं ३०२ कड़वक अथवा लगभग १६०० पद्य हैं। कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण इस रचना के निर्माण करा सकने के लिए खेल्हा ब्रह्मचारी को अथक एवं अनवरत परिश्रम के साथ ही साथ बड़ी कुशल सूझ-बूझ से काम लेना पडा। खेल्हा के मन में इच्छा जाग्रत होती है कि रइधू उनके निमित्त (ग्राम्य-अपभ्रंश में) "णेमिचरिउ की रचना करें अतः वे उनसे निवेदन में कहते हैं :—

भो रइधू पंडिय सुह भावण। पइं बहु सत्थरइय सुह दावण।।
सिरि तेसट्ठि पुरिम गुण मंदिरु। रइउ महापुराण जय चंदिरु।।
तह भरहहु सेणावइ चरिय। कोमुइ कह पवंधु गुण भरियउ।।
जसरह चरिउ जीवदय पोसणु। वित्तसारु सिद्धंत पयासणु।।
जीवंधरहु वि पासहु चरियउ। विरइवि भुवण त्तउ जस भरियउ
भो कइ तिलय महागुण भूसणु। सिरि अरिट्ठनेमिहु जणपोसणु।
विरइय चरिउ मज्झ उवरोहे। सोउं वंछमि पयणिय मोहें।।
(णेमि० १।३।५-११)

लेकिन उक्त कवि-प्रशंसा एव ब्र० खेल्हा के निवेदन ने कवि के मन पर कोई भी गहरा प्रभाव नहीं डाला और वह चुप ही बना रहा। इससे खेल्हा के मन में बड़ी निराशा हुई, फिर भी अपनी चतुराई से कवि को पुनः रिझाने का प्रयत्न करते हुए वह कहता है :—

तं सुणि तणिउ अणुव्व धारें। भो पंडिय किं बहु वित्थारें।।
पइं सम्मइ वरुलद्ध विसेसें। कवणु असुहु पयणइं उवहासें।।

असि कईस मणि वियरंतहं। जिण समय सुत्तु पयडंतहं।।
किंचिण दोसु संक णउ किज्जइं। सकइत्तणि सत्तिण लोविज्जइं।। (णेमि० १।४।६-६)

उक्त वक्तव्य के अन्तिम पद "सकइत्तणि सत्ति ण लोविज्जइं" पद ने कवि की हृत्तंत्री को झंकृत कर दिया और इस प्रकार खेल्हा के मनोरथ की पूर्ति के हेतु कवि तैयार होने की सोचने लगता है किन्तु फिर भी उसने कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया। खेल्हा की कुशल-दृष्टि से कवि का यह गूढ़ रहस्य भी छिपा न रह सका और उसने लगे हाथ झुंनझुंनपुर के लोणासाहु की कवि के प्रति श्रद्धा-भक्ति का परिचय देते हुए कह ही दिया—

अच्छइ सो तुम्हहं भत्तिल्लउ। मण कमलंतरि सरइ अतुल्लउ।।
(णेमि १।७।८)

तब खेल्हा ने देखा कि उक्त कथन से कवि के ललाट की रेखाएं कुछ कुछ खिल रही हैं तब फिर उसने पुनः निवेदन किया—

तुहु पुणु सावयजण उवयारिउ।
विरयहिं मत्थु मिग्धु महु पेरिउ।।
सो णिव्वाहइं चरिय (चरिउ) महातरु।
तुम्हहं सेव करइ कय आयरु।।
(णेमि० १।७।५-६)

"तुम्हहं सेव करइ कय आयरु" सुनते ही कवि भावावेश से भर उठता है और खेल्हा द्वारा इच्छित "णेमिचरिउ'

के रचने की वह अपनी स्वीकारता प्रदान कर देता है।

सम्मइजिण चरिउ—१० सर्ग एवं २४६ कड़वक अथवा लगभग १२०० पद्यों वाले "सम्मइजिण चरिउ" के लेखन की कथा भी कम रोचक नहीं। प्रस्तुत रचना में ब्र० खेल्हा अपने धर्मगुरु यशकीर्ति भट्टारक से संसार की असारता का वर्णन करते हुए तथा अपने को इस असारता से संतप्त बताते हुए चित्रपट पर आते हैं (सम्मई० १।४।६-११) वे चन्द्रप्रभा एवं महावीर स्वामी के परमभक्त थे। उनके मन में इच्छा होती है कि यदि कोई कवि (जैन भाषा में) 'सन्मति चरित" की रचना कर दे तो उसका स्वाध्याय कर उनके मन को बड़ी शान्ति प्राप्त हो। लेकिन वह कहें किससे? महाकवि रइधू का नाम खेल्हा ने सुना अवश्य था लेकिन सम्भवतः उन्हें ऐसा आत्मविश्वास न था कि उनके निवेदन पर महाकवि सम्मइजिण चरिउ' की रचना के लिए तैयार हो जावेंगे, यद्यपि खेल्हा के मन में इच्छा यही थी कि रइधू ही उक्त रचना करें। खेल्हा यह बात भी अच्छी तरह जानते थे कि रइधू भट्टारक यशकीर्ति का अनुरोध नहीं टाल सकते। अतः ऐसे अवसर पर भ० यशकीर्ति को ही मध्यस्थ बनाना उचित समझ बड़ी कुशलता पूर्वक उन्होंने भ० यशकीर्ति के समक्ष निम्न भूमिका बांधी।

सिरि चरमिल्ल जिणिदहु केरउ।
चरिउ करावमि सुक्ख जणेरउ॥
जइ कुवि कइयणु पुण्णे पावमि।
ता पुण्णहं फलु तुम्हहं दावमि॥
(सम्मइ० १।५।५-६)

"ता पुण्णहं फलु तुम्हहं दावमि" कहकर खेल्हा ने गुरुदेव के गम्भीर नेत्रों की ओर आधेक क्षण तक झांका और फिर उनसे कुछ आशाजनक संकेत भाँपकर लगे हाथ उन्होंने अपने गुरुदेव को कवि की अन्तरंग एवं बहिरंग सभी परिस्थितियाँ खूब अच्छी तरह से समझाते हुए उन्हें अपने मन की बात सुनाई :—

तइया इममाइ (इमाइ?) तासु पउत्तउ,
तेणजि अणुमण्णियउ णिरुत्तउ॥
तं जि सहलु करि भो मुणि पावण,
एत्थु महाकइ णिवसइ सुहमण॥
रइधूणामें गुणगणधारउ,
सो णो लँघइ वयण तुम्हारउ॥
(सम्मइ० १।५।७-६)

इसके बाद भ० यशःकीर्तिने ब्र० खेल्हा की ओर से जो वकालत की वह भारतीय साहित्य में अद्भुत है। वस्तुतः यह सभी खेल्हा की ही परोक्ष करामात थी। देखिए यशःकीर्ति किस प्रकार रइधू को तैयार करते हैं:—

भो मुणि कइयण कुल तिलय सारू।
णिव्वाहियणिच्च कइत्त भारु॥
जिण सासण कुल वित्थरण दच्छ।
मिच्छत्त परम्मुह भाव सच्छ॥
महु तणउं वयण आयण्णिवण्ण।
अवगणहिं बहुविह मण वियप्प॥
(सम्मइ० १।६।१-३)

भट्टारक यशःकीर्ति ने कवि को अपनी ओर से कुछभी बोल सकने का अवसर न देकर तुरन्त ही 'अवगणहिं बहुविह मण वियप्प' कहकर हिसार के महाउदार चरित श्री तोसउ साहू की दानवीरता एवं साहित्य रसिकता का परिचय देते हुए कहा :—

तुहुँ पुण तहो भव्वहुँ वियलिय गव्वहुँ णामु चडावहिं कव्वुणिरु॥ (वही १।८।१४)

इसके बाद भी कवि को अपनी ओर से कुछ भी बोलने का कोई अवसर नहीं। यशःकीर्ति ही कवि की प्रतिभा, सहृदयता एवं अखंड विद्वत्ता की प्रशंसा करते हैं, जिससे कवि की भावुकता उभड़े बिना नहीं रहती। फिर भी कवि सात्विक एवं निश्छल मन से यशःकीर्ति के चरणकमल पकड़कर अपनी असमर्थता व्यक्त करते है :—

गुरुपय कमल हत्थ धारेप्पिणु।
कइणा बोलिउता पणवेप्पिणु॥
हउं तुच्छमइं कव्वु किह कीरमि।
विणु बलेण किम रणमहि धीरमि॥
णो आयण्णिय वायरण तक्क।
सिद्धंत चरिय पाहुड अवक्क॥
मुद्धायम परम पुराण गंथ।
माणस संसय तम तिमिर मंथ॥

किह कव्वुरयमि गुणगण समुद्द ।
को उग्घाडइं जिण समय मुद्द ॥
अम्हारिसेहिं णियघर कईहिं ।
बुहकुलहं मज्झि उज्झिय मईहिं ॥
णामस्स वि धारणि गहणु भव्वु ।
भो कि कीरिज्जइं चारुकव्वु ॥
(सम्मइ० १।८।१२-१८)

तब यशःकीर्ति ने इसके उत्तर में कहा :—

ता सूरि भणइ सुणि कइ ललाम ।
भो रइधू लक्खिय छंद गाम ॥
तुहुँ बुद्धि तरंगिणिए समुद्द ।
मिच्छावाइय मयरुह रउद्द ॥
इय परियाणिवि मा होहि मंदु ।
अगुराएँ थुणिज्जइ तिजयवंदु ॥
(सम्मइ० १।९।१९-२१)

गुरु का ऐसा आश्वासन सुनकर कवि उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर लेता है (१।९।२२), फिर भी वह सोचता है कि चतुर्मुख स्वयम्भू, पुष्पदन्त, वीर प्रभृति कई महाकवियों ने विशाल रचनाएँ की है, जिनकी सर्वत्र प्रशंसा भी हो चुकी है। अतः उनके आगे मै क्या लिख सकता हूँ? इस पर यशःकीर्ति पुनः उन्हें उत्साह दिलाते है :—

पुणु विहसेप्पिणु सूरि पयंपइं । गहचिंतमणि भावहि संपइं ॥
जइं खगेसु णहयलि गमु सज्जइं ।
ता मउरु कि णियकमु वज्जइं ॥
जइ सुरतरु इच्छिय फल अप्पइं ।
ता कि इयरु चयइं फलसंपइं ॥
जं रवि किरणहि तमभरु खंडइ ।
ता खज्जोउ सपह कि छंडइ ॥
जइ मलयाणिलु भुवण बहु वासइ ।
ता किं इयरु म वहउं स आसइं ॥
जसु मइ पसरु अत्थि इह जेतउ ।
दोसु णत्थि सो पयडउं तेत्तउ ॥
(सम्मइ० १।१०।१-६)

यशःकीर्ति का यह सम्बोध-प्रतिबोध यहीं तक सीमित नहीं, आगे भी धाराप्रवाह रूप से चलता चला है। यहाँ भाषा का सौष्ठव, भावों की मार्मिकता, विषय की गरिमा तथा शैली की सरसता साथ ही गुरु का आत्मवेदन कवि को मर्माहत एवं उत्तेजित किए बिना न रहा और कवि को अन्ततः निर्विकल्प होकर अपनी स्वीकरता देते हुए कहना पड़ा :—

खेल्हण बंभ पयज्ज पुण्ण केरसमि हउं तुरिया ॥
(वही० १।११।१४)

अब प्रश्न यह उठता है कि जिसने इतनी कुशल सूझ-बूझ एवं चतुराई से यशःकीर्ति भट्टारक को भी अपने काम के लिए उकसाया ही नहीं बल्कि उनसे पूरी-पूरी वकालत करा कर सैलानी तबियत के एक महाकवि से अपना सम्पूर्ण कार्य करा लिया, वह खेल्हा ब्रह्मचारी आखिर था कौन? खेद की बात है कि उसका पूर्ण एवं सन्तोषजनक उत्तर तत्काल ही आसानी से नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इसके लिए पर्याप्त साधन एवं सामग्री मेरे सम्मुख नहीं। हाँ, रइधू-साहित्य के अथाह सागर में डुबकी लगाकर यत्किञ्चित् जो कुछ भी हाथ लग सका उसके आधार पर उनका व्यक्तिगत परिचय निम्न प्रकार है :—

व्यक्तिगत जीवन परिचय—खेल्हा योगिनीपुर की पश्चिम दिशा मे स्थित हिसार पिरोज (संभवतः फिरोज-शाह द्वारा बसाये गये हिसार नामक नगर) के निवासी अग्रवाल वंश के गोयल गोत्र मे उत्पन्न श्री तोसउ साहू के ज्येष्ठ पुत्र थे (सम्मइ० १।३१-३४।१६)। स्वाध्याय-प्रेमी होने के कारण वे सिद्धान्त एवं आगम ग्रंथों के जानकार हो गये थे (१।३।२)।

उनका विवाह कुरुक्षेत्र के जैन धर्मानुरागी सेठियावंश के श्री सहजा साहू के पुत्र श्री तेजा साहू की जालपा नामक पत्नी से उत्पन्न खीमी नामक पुत्री से हुआ था (सम्मइ० १०।३४।१८-२७)। सम्भवतः इनके कोई संतान न थी अतः उन्होने अपने भाई के पुत्र हेमा को गोद ले लिया तथा गृहस्थी का भार उसे सौंपकर मुनि यशःकीर्ति के पास अणुव्रत धारण कर लिए (सम्मइ० १०।३४।२८-३४) और फिर तभी से वे ब्रह्मचारी कहलाने लगे।

खेल्हा ब्रह्मचारी साहू तोसउ के सुपुत्र थे अतः इससे उनकी सम्पन्नता में कोई सन्देह नहीं। वे निस्सन्तान थे अतः सम्भवतः उन्हें इसी कारण संसार से निराशा होने लगी थी। वे बड़े ही उदार, धर्मात्मा एवं गुणज्ञ थे।

उन्होंने ग्वालियर के किले में चन्द्रप्रभ भगवान् की एक विशाल मूर्ति का निर्माण कराया था (सम्म इ० १।४।११-१२)। ग्वालियर के सुप्रसिद्ध संघपति श्री कमलसिंह के भी ये सुपरिचित एवं घनिष्ट मित्र थे; क्योंकि उनके सहयोग एवं सहायता से इन्होंने चन्द्रप्रभ भगवान् की मूर्ति की एवं एक विशाल शिखरबन्द मन्दिर की प्रतिष्ठा भी कराई थी (वही १।४।१६-१८)। मूर्ति निर्माण के आसपास ही वे एकादश प्रतिमा के धारी हो गये थे (वही (१।४।६)।

इस प्रकार रइधू० साहित्य में खेल्हा० ब्रह्मचारी का जो भी संक्षिप्त वर्णन मिलता है उसके आधार पर हम उनके निम्न विशिष्ट गुण पाते हैं: —

(१) प्रत्युत्पन्नमतित्त्व

खेल्हा ब्रह्मचारी की प्रतिभा विलक्षण थी। योजना-निर्माण, उनका विस्तार एवं उन्हें रचनात्मक रूप देकर सफल बनाना; प्रश्नों के सुन्दर उत्तर देना आदि उनकी तर्कणात्मक प्रतिभा के परिचायक हैं। यशः कीर्ति भट्टारक को रइधू को प्रेरित करने के लिये उन्होंने उकसाया और पूर्ण सफलता प्राप्त की।

(२) जनभाषा अपभ्रंश के प्रति आस्था एवं अभिरुचि

संस्कृत एवं प्राकृत में विविध लेखकों के कई प्रकार के "नेमिचरित" तथा "सन्मतिचरित" आदि के उपलब्ध होते हुए भी महाकवि रइधू से अपभ्रंश में उक्त रचनायें लिखने के लिये उन्होंने अनुरोध किया।

(३) प्रेरक के रूप में

अलंकार-शास्त्र में कवि के गुणों का निरूपण करते समय आचार्यो ने आश्रयदाता या प्रेरक व्यक्ति को भी उन्नत स्थान प्रदान किया है। अतः खेल्हा ब्रह्मचारी स्वयं कवि न होने पर भी कवि तुल्य माना जा सकता है।

(४) आत्म-साधना एवं साहित्य-साधना का समन्वय

खेल्हा ब्रह्मचारी की ज्ञान-पिपासा अद्भुत थी। संस्कृत के पौराणिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करने के उपरान्त भी उनकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती। वे उस समय की लोक-प्रचलित भाषा में पौराणिक ग्रन्थों की रचनाओं का अध्ययन करना चाहते थे, यद्यपि महाकवि रइधू के पूर्ववर्ती महाकवि पुष्पदन्त ने अपने "तिसट्ठि पुरिस गुणालंकार में अरिष्टनेमि स्वामी एवं महावीर स्वामी के चरितों का वर्णन किया था पर महाकवि पुष्पदन्त की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा थी और खेल्हा ब्रह्मचारी ग्राम्य-अपभ्रंश में भी पौराणिक रचनाओं का दर्शन करना चाहते थे। यही कारण है कि उन्होंने रइधू को ग्राम्य-अपभ्रंश में पौराणिक रचनाएं लिखने को प्रेरित किया।

इस सत्य से कोई इंकार नहीं कर सकता कि रइधू में साहित्यिक कल्पना की अतिशय उड़ान भले ही न हो पर १५-१६ वीं सदी की भाषा के विभिन्न रूप अवश्य ही सुरक्षित हैं। खेल्हा ब्रह्मचारी को भाषा की इन विभिन्न प्रवृत्तियों का अध्ययन करना था, अतः उन्होंने महाकवि से परिनिष्ठित मिश्रित ग्राम्य-अपभ्रंश में पौराणिक कृतियाँ लिखवाईं। इस दृष्टि से महाकवि तो यश का भागी है ही लेकिन खेल्हा का योगदान भी उसे कम यशस्वी नहीं बनाता।

(५) प्राचीन भारत में अध्ययन की एक परम्परा थी कि कोई नया जिज्ञासु शिष्य अपने लिए एक नवीन रचना लिखने का अनुरोध करता था और उस रचना का अध्ययन करके वह विद्वान बनता था। यही प्रवृत्ति हमें खेल्हा में भी मिलती है।

(६) खेल्हा की साहित्य-रसिकता का परिचय उस समय अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचता प्रतीत होता है जब एकादश प्रतिमाधारी होने की प्रतिष्ठा को भी भूलकर वह एक सामान्य अणुव्रती कवि रइधु का अपने को सेवक मान लेता है। इससे प्रतीत होता है कि समाज में विद्वान् कवियों को यथेष्ट सम्मान प्राप्त होता था।

एक रहस्योद्घाटन—

रात्रि भोजन त्याग : छठा अणुव्रत

लेखक—पं० रतनलालजी कटारिया

उमास्वामी कृत "तत्वार्थसूत्र" अध्याय ७ सूत्र १ की निम्नांकित टीकाओं में रात्रि भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत के विषय में इस प्रकार लिखा है :—

(१) पूज्यपाद कृत—'सर्वार्थ सिद्धि' :—

ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम् न, भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रत भावना हि वक्ष्यन्ते तत्र आलोकितपानभोजन भावनाकार्येति ।

(२) अकलंक देव कृत 'राजवार्तिक'—

स्यान्मतमिह रात्रिभोजन विरत्युपसंख्यानं कर्तव्यं तदपि षष्ठ मणव्रतमिति तन्न, किं कारणं, भावनान्तर्भावात् ।

(३) भास्करनंदि कृत 'सुखबोधवृत्ति'—

रात्रिभोजनवर्जनाख्यं तु षष्ठमणुव्रतमालोकितपान भोजन भावनारूपमग्रेवक्ष्यते ।

श्रुतसागर कृत 'तत्वार्थवृत्ति'—

ननुरात्रिभोजन विरमण षष्ठ मणुव्रतं वर्तते ... (सर्वार्थ सिद्धिवत्)

इन सब टीकाग्रन्थों में बताया है कि—

"रात्रि भोजन त्याग नामक छठा अणुव्रत है उसकी यहां परिगणना होनी चाहिए। नहीं, क्योंकि आगे अहिंसा व्रत की आलोकित पान-भोजन भावना में उसका अन्तर्भाव हो जाता है।

भास्कर नंदि ने—'रात्रि भोजन-त्याग, को 'आलोकित-पान भोजन, का पर्याय वाची ही बताया है। ऐसा ही आचार्य विद्यानंद ने—'श्लोक वार्तिक, में बताया है देखो-

आलोकितपानभोजनाख्या भावना रात्रिभोजन विरतिरेवेति नासावुपसंख्येया ।

अर्थात्—आलोकित पान भोजन नाम की भावना रात्रि भोजन त्याग ही है अतः उसकी अलग गणना करने की जरुरत नहीं होती।

छठे अणुव्रत का यह सब कथन सामान्य (Common) है अतः मुनि और श्रावक दोनों की अपेक्षा से कहा गया है। इसके सिवा आलोकितपानभोजन को लेकर जो विवेचन है वह तो खास तौर से मुनियों की अपेक्षा से ही है ऐसी हालत में यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि—'रात्रि भोजन त्याग को फिर 'अणुव्रत, संज्ञा क्यों दी गई है? उसे 'व्रत, सामान्य से ही अभिहित करना चाहिये था 'अणु, कहने से वह सिर्फ श्रावकों के लिए ही जाना जाता है।" इस प्रश्न का समाधान तत्वार्थ की किसी भी टीका में कहीं भी नहीं पाया जाता है।

इसी तरह--

(५) मुनियों के 'दैवसिक रात्रिक प्रतिक्रमण, और 'पाक्षिक प्रतिक्रमण, में पंच महाव्रतों के बाद ही रात्रि भोजन विरमण नामक छठा अणुव्रत बताया है देखो :—

"छट्ठं अणुव्वदं राइ भोयणादो वेरमण" (षष्ठमणुव्रतं रात्रि भोजनाद्विरमणं)

--"क्रिया कलाप,, पृष्ठ ५२, ८७, ८०, १०२-१०३

(६) आशाधर कृत 'नित्य महोद्योत, (श्लोक १६) की श्रुतसागर कृत टीका में लिखा है :—

"पंचमहाव्रतानि रात्रि भोजन वर्जनाभिधानाणुव्रत षष्ठानि प्रतिपादितानि भवन्तीति अर्थात्—५ महाव्रत और रात्रिभोजन त्याग नाम का छट्ठा अणुव्रत मुनियों के होता है। देखो—'अभिषेक पाठ संग्रह, पृ० १२६।

(७) वीरनंदि कृत 'आचारसार, (मुनियों का आचार ग्रन्थ) पृष्ठ ३५ में पंच महाव्रतों के बाद लिखा है —

व्रत त्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजन वर्जनम् ।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत्प्रोक्तं षष्ठ मणुव्रतम् ॥७०॥
अधिकार ५

अर्थ :—(मुनियों को) व्रतों की रक्षा के लिए रात्रि

में सब प्रकार से भोजन का त्याग करना चाहिये इसे रात्रि भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत कहा है।

इन सब प्रमाणों मे खास तौर से मुनियों के भी छठा अणूव्रत बताया है किन्तु मुनियों के साथ अणुव्रत शब्द की संगति किसी तरह बैठाती नहीं इस पर मैने एक शंका "जैन संदेश,, साप्ताहिक में समाधानार्थ भेजी थी जिसका समाधान भाग २१ अंक १६ पृष्ठ ६ पर प्रकाशित हुआ है किन्तु उसमें शंका का कुछ भी समाधान नहीं हुआ—समाधान का कोरा प्रपंच किया गया है। अस्तु

दूसरे भी कुछ विद्वानों के साथ मैने इस पर ऊहापोह किया परन्तु किसी से कुछ भी समाधान प्राप्त नहीं हुआ। एक रोज मै भी आशाधर कृत सटीक अनगार धर्मामृत देख रहा था यकायक उसमें कुछ मुझे इसका सुन्दर और युक्ति युक्त समाधान मिल गया आज उसे विज्ञ पाठकों के लिए नीचे प्रकट किया जाता है :—

अनगार धर्मामृत (पृष्ठ ३०३) अध्याय ४ श्लोक १५० में—रात्रि भोजन त्याग नाम के छट्ठे अणुव्रत को पंचमहाव्रतों का प्रधान बताते हुए 'नक्तमशनोज्झाणु व्रताग्राणि,, पद की टीका में लिखा है :—

"नक्तं रात्रावशनस्य चतुर्विधाहारस्योज्झा वर्जनम्। सैवाणुव्रतं तस्या श्चाणुव्रत त्वं रात्रावेव भोजन निवृत्ते दिवसे यथाकालं तत्प्रवृत्तिसंभवात्।,,

अर्थात्—"रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना (छठा) अणुव्रत है उसे अणुव्रत इसलिए कहा है कि रात्रि में ही भोजन का त्याग बताया है दिन में तो यथा समय भोजन करने की छूट है"। अतः आहार का त्याग सिर्फ रात्रि में ही होने से यह काल की अपेक्षा अणु=लघु व्रत है। अगर सदा के लिए रात और दिन के आहार का त्याग बता दिया जाता तो यह व्रत भी अन्य ५ व्रतों की तरह व्यापक हो जाता 'अणु, नहीं रहता किन्तु धर्म के साधन भूत इस शरीर को चलाने के लिए भोजन की जरुरत होती है उसका सर्वथा त्याग शक्य नही और भोजन दिन में ही निरवद्य संभव है रात्रि में नहीं अतः दिन की छूट दी गई है और रात्रि का सर्वथा त्याग कराया गया है। इस तरह 'रात्रि भोजन त्याग, में रात्रि शब्द इसके काल कृत अणुत्व को सूचित करता है। यह अणु=लघु व्रत गृहस्थों के एक देश त्याग रूप से और मुनियों के सर्व देश त्याग रूप से होता है। दोनों के लिए इसका उल्लेख ग्रन्थों में "अणुव्रत,, इस सामान्य नाम से ही किया गया है।

पं० आशाधर ने भगवती आराधना की अपनी मूलाराधना दर्पण, नाम की टीका में भी इस छठे अणुव्रत पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :—देखो—आश्वास ६ गाथा ११८५—८६ पृष्ठ ११७६

"ततो महाव्रत संपूर्णतामिच्छ-रात्रि भोजन विरमणं षष्ठमणुव्रतमनुतिष्ठे देव। अणुव्रतत्वं चास्य दिवाभोजनस्यापि करणात्। यदाहु :—छठे अणुव्वदे राइ भोयणादो वेरमण मिति।,,

अर्थ :—महाव्रतों की सम्पूर्णता चाहने वाले (मुनियों) को रात्रि भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत पालन करना ही चाहिए। इस व्रत की 'अणु, संज्ञा दिन में भोजन करने की अपेक्षा से है। अति त्याग सिर्फ रात्रि भोजन का ही है इस कालिक अपूर्णता की दृष्टि से यह अणु=लघु व्रत है।

यह छठे अणुव्रत का रहस्य है। इस रहस्य को नहीं समझने से अच्छे-अच्छे पंडितों ने इस विषय में अनेक गलत असंगत और भ्रांत कथन किए है जिनके कुछ उदाहरण मय समीक्षा के नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं :—

(१) पं० लालरामजी ने वीर सं० २४६२ में 'आचार सार, की हिन्दी टीका में उसके निम्नांकित श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है :—

व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजन वर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृत्ति स्तत्प्रोक्तं षष्ठ मणुव्रतम्॥

अ० ५—७०

अर्थ :—"इन व्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए रात्रिभोजन का त्याग करने से व्रतों की रक्षा होती है इसी लिए रात्रि में अन्न का सर्वथा त्याग करने को गृहस्थों के लिए छठा अणुव्रत कहा है।"

समीक्षा :—यह मुनियों का आचार ग्रंथ है इसमें गृहस्थों का अणुव्रत बताना साफ़ गलत है इसके सिवा उक्त श्लोक के पहिले, ग्रंथ में पंच समितियों का कथन हैं फिर बीच में ही गृहस्थों के छठे अणुव्रत का कथन बताना भी स्पष्ट असंगत है। इसीतरह चार प्रकार के आहारों में से

सिर्फ 'अन्न, आहार का त्याग बताना भी भ्रांत है यहाँ 'अन्न, का अर्थ भोजन (आहार) सामान्य से है और 'सर्वथा, शब्द मुनियों के लिए नव कोटि से त्याग करने के अर्थ में दिया गया है अर्थात् यह सारा कथन मुनियों के लिए बताया है गृहस्थों का यहां कोई प्रसग ही नही है। इसके लिए ऊपर प्रमाण नं० ७ देखिए।

(२) विक्रम सं० १९८५ में पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार कृत 'जैनाचार्यों का शासन भेद,,[१] नाम का एक महत्वपूर्ण ट्रेक्ट प्रकाशित हुआ है उसमें पृष्ठ २१ से ४१ तक रात्रि-भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत के विषय में काफी ऊहा-पोंह किया है[२] परन्तु इस व्रत के 'अणु, शब्द को मात्र गृहस्थों का समझ लेने से सारा विवेचन अनेक भुल-भ्राँतियों व आपत्तियों से भरा हुआ है और कुछ मान्य ग्रन्थकारो पर अन्यथा-दोषारोपण को लिए हुए है मूल में ही भूल होने से यह सारा प्रकरण आमूल चूल सदोष है जिसकी नीचे संक्षेप में कुछ समीक्षा की जाती है।

मुख्तार सा०—"गृहस्थों का व्रत एक देशत्याग से अणुव्रत और मुनियों का व्रत सर्व देशत्याग से महाव्रत कहलाता है। गृहस्थों के ५ अणुव्रत होते हैं। किन्तु कुछ आचार्यों ने रात्रिभोजन विरति नाम का छठा अणुव्रत भी उनके बताया है जैसा कि निम्नांकित प्रमाणों से प्रकट है :—

(ख)—व्रतत्राणाय कर्त्तव्यं रात्रिभोजन वर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृत्ते स्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रत्तम्॥
५—७०॥ "आचार सार,'

यह विक्रम की १२वीं शती के आचार्य वीरनंदि के वाक्य है इसमें कहा गया है कि (मुनि को) अहिंसादिक व्रतों की रक्षा के लिए सर्वथा रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए और अन्न की निवृत्ति से वह रात्रिभोजन का त्याग छठा अणुव्रत कहा जाता है,।

चारित्र सार में चामुंडराय ने श्रावक के रात्रि भोजनत्याग में चारों प्रकार के आहार का त्याग माना है उसी तरह अगर यहां 'अन्न' पद को उपलक्षण मानकर उससे चारों प्रकार के आहार का त्याग लिया जाय तो इस विषय में फिर व्रत प्रतिमाधारी श्रावक और मुनियों के त्याग में कोई अन्तर नहीं रहेगा दोनों का त्याग एक ही कोटि का हो जायगा यह खटकने की बात है,,।

समीक्षा—विक्रम सं० १९७४ में माणिक चन्द्र ग्रंथमाला, बम्बई से प्रकाशित आचारसार के पृ० ३५ पर तथा वीर सं० २४६२ में लालारामजी कृत हिन्दी टीका वाले आचारसार पृ० १२१ पर उक्तश्लोक नं ६० में 'निवृत्ति' पाठ दिया हुआ है किन्तु मुख्तार सा० ने उसकी जगह मन. कल्पित 'निवृत्ते' पाठ बनाकर उक्तश्लोक का अर्थ मुनि और श्रावक दोनों के लिए अलग-अलग विभक्त कर दिया है—यह ठीक नहीं है। वीरनंदि आचार सार एकमात्र मुनियों का आचार ग्रंथ है उसमें कहीं भी श्रावकों के आचार का व्याख्यान नहीं है। जब श्रावकों के ५ अणु-व्रतों का ही कोई नामोल्लेख तक वहां नहीं है तब श्रावकों के छठे अणुव्रत का कथन उसमे कैसे हो सकता है? यह सोचने की बात है। अणुव्रत शब्द से उसे श्रावकों का ही व्रत समझ लिया गया है जो सबसे बड़ी भूल है जिसका विशेष स्पष्टीकरण पूर्व में कर आये है उससे पाठक वास्त-विक तथ्य को भलीभांति हृदयंगम कर सकते है।

व्रती श्रावक के रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग आशाधर ने भी सागार धर्मामृत मे बताया है। आशा-धर ने वह त्याग मन वचन काय इन तीन कोटि से ही[१] बताया है जब कि मुनियों के वह नव कोटि से होता है यह व्रत प्रतिमाधारी श्रावक और मुनियों के रात्रिभोजन-त्याग में खास अन्तर है अतः इस विषय में दोनों एक कोटि में नहीं आ सकते। श्रावकों के नवकोटि त्याग होने में अनेक आपत्तियां है जिसका एक उदाहरण यह है कि—फिर व्रती स्त्रियां रात्रि में शिशु को स्तनपान नहीं करा

१. इस ट्रेक्ट के पृ० ६४ पर लेख समाप्ति काल सन् १९२० दिया है इससे लेखन काल और प्रकाशन काल में करीब ९ वर्ष का अन्तर पड़ता है। यह अन्तर वास्तविक है या लेखन काल मे कोई भूल है कुछ निश्चित नही।

२. इसके बाद वि० सं० १९८७ में 'अनेकांत, वर्ष १ पृ० ३२७-३२८ में परिशिष्ट रूप से इस पर कुछ थोड़ा और विचार किया है।

१. अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रत विशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धापि सदा धीरस्त्रिधात्यजेत्॥४-२४॥

सकतीं इसलिए आशाधरादि ने उसे गृहस्थों के लिए तीन कोटि से ही विहित किया है। इस तरह व्रती श्रावकों के रात्रिभोजन त्याग में चारों प्रकार के आहार का त्याग बताने में कोई खटकने जैसी बात नहीं है वह समुचित ही है।

इसके सिवा अगर (गृह विरत या छठी प्रतिमाधारी) श्रावक और मुनि का रात्रि भोजन त्याग एक कोटि का भी मान लिया जाय तो कोई आपत्ति या बाधा जैसी बात नहीं है; क्योंकि जब साधारण श्रावक तक का सम्यग्दर्शन और सातवीं प्रतिमा वाले गृह विरत श्रावक का ब्रह्मचर्य मुनि के सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य के समकक्ष हो सकता है तो रात्रि भोजनत्याग के एक कोटि का होने मे क्या बाधा है? अगर यह कहा जाय कि—सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य एक कोटि का होते भी मुनि के संयम की प्रकर्षता से उसमें तरतम भेद है तो यही बात रात्रि भोजनत्याग के साथ भी लागू हो जायगी इस तरह श्रावक और मुनि दोनों के लिए रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग बताने में कोई खटकने जैसी बात नही है और न इससे दोनों का अन्तर बाधित होता है।

मुख्तार सा०—

"पूज्यपाद और अकलंक देवादि ने तत्वार्थ की अपनी अपनी टीका में रात्रि भोजन विरमण नाम के इस छट्ठे अणुव्रत (श्रावक व्रत) का उल्लेख किया है और उसे अहिंसा व्रत की आलोकित पान भोजन भावना में अन्तर्भूत बताया है किन्तु रात्रि भोजन में संकल्पी हिंसा नही होने से अहिंसाणुव्रत की प्रतिज्ञा में रात्रि भोजन का त्याग नहीं आता तब उसकी भावना में ही उसका समावेश कैसे हो सकता है? अतः यह एक पृथक व्रत जान पड़ता है और उक्त आलोकित पान भोजन नाम की भावना में इसका अन्तर्भाव नहीं होता। हां महाव्रतियों की दृष्टी से आलोकित पान भोजन नाम की भावना में रात्रि भोजनत्याग का समावेश जरूर हो सकता है इसी दृष्टी से पूज्यपाद अकलंक देव ने उसका समावेश किया है किन्तु ऐसा करते हुए उनकी दृष्टि अहिंसाणुव्रत के स्वरूप पर नहीं पहुँची उनके सामने अहिंसा महाव्रत और मुनियों का चरित्र ही रहा है इसी से आलोकित पान भोजन के विषय में जो राजवार्तिक में विशेष विकल्प उठाये हैं वे सब मुनियों से ही सम्बन्ध रखते हैं जिन सब से यह स्पष्ट हो जाता है कि—मुनिधर्म को लक्ष्य करके ही रात्रि भोजन विरमण का आलोकितपानभोजन नाम की भावना में अन्तर्भाव किया गया है श्रावक धर्म अथवा उक्त छठे अणुव्रत को लक्ष्य करके नहीं।

यहां मैं अपने पाठकों पर इतना और प्रकट किए देता हूँ कि—श्री विद्यानन्द आचार्य ने श्लोक वार्तिक में इस रात्रि भोजन-त्याग को (छठा अणुव्रत, नही कहा है किन्तु रात्रि भोजन विरति इसनाम से ही प्रतिपादन किया है और उसे उन्हीं विकल्पों के साथ आलोकितपानभोजन भावना में अन्तर्भूत किया है इससे मालूम होता है कि—विद्यानन्द आचार्य की दृष्टि श्री पूज्यपाद और अकलंक देव की उस सदोष उक्ति पर पहुँची है जिसके द्वारा उन्होंने उक्त छठे अणुव्रत (श्रावक व्रत) को आलोकित पान भोजन भावना में अन्तर्भूत किया था और इस लिए विद्यानन्द ने उसका उपर्युक्त प्रकार से संशोधन करके ('अणुव्रत, नाम न दे करके) कथन के पूर्वापर सम्बन्ध को एक प्रकार से ठीक किया है वास्तव में वार्तिककारों का काम भी प्रायः यही होता है। वे अपनी समझ और शक्ति के अनुसार दुरुक्तार्थों का संशोधन करते हैं,,।

समीक्षा :—पूज्यपाद और अकलंकदेव ने किसी दुरुक्तार्थ का प्रतिपादन नही किया है न विद्यानन्द ने ही वैसे किसी दुरुक्तार्थ का संशोधन किया है। 'अणु' शब्द प्रयोग के रहस्य को नहीं समझने से मुख्तार सा० स्वयं उलझ गए हैं और मान्य आचार्यो पर दोषारोपण कर बैठे है।

जिस तरह कोई लक्ष्मण को राम का छोटा भाई कहे और कोई राम का भाई ही कहे दोनों ठीक हैं उसी तरह पूज्यपाद और अकलंक देव ने रात्रिभोजन विरमण को छठा अणुव्रत कहा है और विद्यानन्द ने उसे व्रत (विरति) ही कहा है। पहिला कथन विशेषात्मक है और दूसरा सामान्यात्मक। पहिले कथन में कोई दुरुक्तार्थता नहीं है अगर होती तो विद्यानन्द स्वयं उसे प्रकट करते, परन्तु विद्यानन्द ने ऐसा कुछ नहीं किया है अतः दोनों कथनों में कोई अंतर नहीं है विवक्षामात्र है।

'अणु' शब्द से मुख्तार सा० ने उसे मात्र गृहस्थों का

व्रत समझ लिया है किन्तु अणु शब्द वहाँ कालकृत अल्पता से लघु- छोटे के अर्थ में प्रयुक्त है वह एक देशत्याग से श्रावकों और सर्व देशत्याग से मुनियों दोनों के होता है दोनों के लिए उसका उल्लेख 'अणुव्रत' इस सामान्य नाम से ही किया गया है इसी सामान्य दृष्टि से पूज्यपाद अकलंक देवादि ने उसे आलोकितपानभोजन भावना में अन्तर्भूत बताया है लेकिन आलोकितपान भोजन का कथन अन्यव्रत भावनाओं की ही तरह मुनियों की प्रधानता से किया है किन्तु इससे श्रावक विवक्षा का निषेध नहीं किया है और इसीलिए आलोकित पान भोजन भावना को अहिंसा व्रत की ही भावना बताई है अहिंसा महाव्रत की नहीं। इस तरह आलोकित पान भोजन भावना श्रावकों के अहिंसाणु व्रत की भी भावना है और उसे श्रावकों के रात्रि-भोजन विरति रूप में मानने मे कोई बाधा नहीं है।

आशाधर ने सागार धर्मामृत अ० ४ श्लोक २८ तथा सोमदेव ने यशास्तिलक उत्तरखन्ड पृ०३३८ में रात्रिभोजन त्याग को अहिंसाणुव्रत का रक्षक और मूलगुणों का विशुद्धक बताया है ऐसा ही यशः कीर्ति कृत प्रबोधसार अ० २ श्लोक ५१ में लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि रात्रि भोजन का त्याग किये बिना न तो अहिंसाणुव्रत बन सकता है और न मूलगुण ही, इसीलिए रात्रिभोजन को २२ अभक्ष्यो मे माना है और आचार्य कुन्दकुन्द ने रयणसार ग्रंथ में श्रावक की ५३ क्रियाओं में अनस्तमित दिवाभोजन–'रात्रिभोजनत्याग, बताया है।

इसके सिवा उत्तरगुण—मूलगुणों के रक्षक होते है और आशाधर ने उत्तरगुणों में अहिंसादि १२ व्रतों को और मूलगुणों में रात्रिभोजनत्याग बताया है इस दृष्टि से अहिंसाणुव्रत उल्टा रात्रिभोजनत्याग का रक्षक हो जाता है यह सब कथन दोनों की एकात्मकता को सिद्ध करता है ऐसी हालत में अहिंसाणुव्रत और उसकी भावना मे रात्रि-भोजनत्याग के अन्तर्भाव का निषेध करना कोई अर्थ नहीं रखता। अहिंसा से रात्रिभोजनत्याग ही क्या सभी व्रत-नियम अन्तर्भत हो जाते है आचार्यों ने जो अलग अलग १२ व्रत, रात्रिभोजनत्याग, जलगालन, मद्य-मांस-मधुत्याग आदि भेदों का उल्लेख किया है वह सब मंदबुद्धियों के लिए सरलता की दृष्टी मे किया है।

ऐसी हालत में मुख्तार सा० का यह लिखना कि—'मुनियों की दृष्टि से ही रात्रिभोजन विरमण का आलोकित पानभोजन में अन्तर्भाव होता है श्रावकों के वास्ते वह *पृथक व्रत बताया गया है,* बिल्कुल बेजां है; रात्रिभोजन-त्याग को पृथक व्रत श्रावकों के लिए ही नही बताया है बल्कि मुनियों के लिए भी बताया है देखो 'क्रिया कलाप' पृ० ८०, १०२ "आहावरे छट्ठे अणुव्वदे राइ भोयणादो वेरमणम्,,।

इसके सिवा यह कहना कि—'अहिंसाणुव्रत में सिर्फ संकल्पी हिंसा का ही त्याग होता है' और रात्रिभोजन में कोई संकल्पी हिंसा नही होती अतः रात्रिभोजनत्याग अहिंसाणुव्रत में नही आता, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है बल्कि भ्रान्त और सदोष है।

संकल्पी हिंसा के त्यागी अहिंसाणुव्रती के—जीव मारने का परिणाम नहीं होता वह आरभादि हिंसा बिना प्रयोजन नहीं करता, अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति नही करता, जानबूझ कर हिंसा कर्म में प्रवृत्त नहीं होता परन्तु रात्रिभोजी के यह सब होता है अतः उसके स्पष्टतः संकल्पी हिंसा का दोष आता है। रात्रिभोजन में स्थावर और त्रसजीवों का प्रचुर घात और रागभाव की अधिकता होने से द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की तीव्र हिंसा होती है इससे रात्रिभोजन महा हिंसा यज्ञ है इसका त्याग करना अहिंसाणुव्रत में गर्भित नहीं होगा तो फिर क्या सत्य अचौर्याणुव्रतादि में होगा? यह यह सोचने की बात है। रात्रिभोजन और हिंसा का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। रात्रिभोजन में महाहिंसा ही नहीं स्पष्टतया मास भक्षण का दोष भी आता है और उससे मूलगुणों का ही विघात हो जाता है अतः अहिंसाणुव्रती के वह किसी तरह नही बन सकता 'अहिंसाणुव्रती' संतोषी, सम्यग्दृष्टि, जाग्रतबुद्धि[१] होता है अत उसके रात्रिभोजन जैसी महा अयत्नाचार प्रवृत्ति और प्रचुर जीवों का होमकर्म कभी नही बन सकता। इसीलिए लिखा है:—

अर्कालोकेन बिना भुजानः परिहरेत्कथं हिंसा।
अपि बोधितप्रदीपो भोज्यजुषा सूक्ष्मजीवानाम्॥

अर्थ:—भोजन करने वाले के, बिना सूर्य के प्रकाश

१. सागार धर्मामृत अध्याय ८ श्लोक १८। अमित गति श्रावका_चार अध्याय ६० श्लोक १३

के हिंसा का परिहार कैसे हो सकता है? अर्थात् दीपक जला लेने पर भी रात्रिभोजी के सूक्ष्म जीवों की हिंसा का निराकरण नहीं बन सकता।

शायद 'महाहिंसा का त्याग महाव्रत में और अल्पहिंसा का त्याग अणुव्रत में होता,—समझकर अहिंसाणुव्रत में रात्रिभोजन का त्याग असंभव बताया जाता हो तो यह भी ठीक नहीं है। महाव्रत में तो लघु से लघु हिंसा का त्याग होता है और अणुव्रत में महाहिंसा का त्याग अहिंसाणुव्रत में समाविष्ट हो जाता है अहिंसाणुव्रत में उसका समावेश किसी तरह असंभव नहीं है।

इस तरह यह संक्षिप्त समीक्षा है। इस लेख का सार यह है कि रात्रिभोजन त्याग के[२] विकालाशनवर्जन, अनस्तमित, दिवाभोजन, छट्ठा अणुव्रत, आलोकित पानभोजन आदि अनेक नामान्तर हैं वैदिकों में जो सूर्य दर्शन करके भोजन करने का व्रत है वह भी इसी का एक प्रकार है। यह रात्रि भोजनत्याग : छठा अणुव्रत मुनि और श्रावक दोनों के होता है इसे "अणुव्रत सिर्फ रात्रि में ही भोजन के त्याग की अपेक्षा से अर्थात् कालकृत लघुता की दृष्टि" से कहा है। इसका अन्तर्भाव अहिंसाणुव्रत—आलोकित पानभोजन भावना में हो जाता है। यह मुनि और श्रावक दोनों ही के अलग भी बताया है।

मेरा पाठकों से निवेदन है कि वे मुख्तार सा० के ट्रेक्ट के एतद् विषयक प्रकरण को आद्योपान्त पढ़ें उन्हें मालूम हो जायगा कि—उक्त समीक्षा कितनी उपयोगी आवश्यक और समुचित है। इसी तरह की गलतियां इस विषय में अनेक विद्वानों ने की है और करते जाते हैं उनके प्रतीकार के लिए ही मैंने आशाधर के इस रहस्योद्घाटन को प्रकट किया है किसी की व्यक्तिगत आलोचना या मान-प्रतिष्ठा को गिराने की दृष्टि से नहीं।

मुख्तार सा० मेरे आदरणीय हैं। मैं यह मानता हूँ कि उन जैसे युक्ति-युक्त और प्रामणिक लिखने वाले जैन समाज में बहुत कम हैं उन्होंने बहुत-सा साहित्य प्रणयन कर हमारे युगों के अज्ञानांधकार और अन्धश्रद्धा को मेटा है उन जैसे साहित्य तपस्वी पर समाज को गर्व है किन्तु "को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे" अर्थात् शास्त्र समुद्र अथाह है उसमें कौन नहीं चूकता।

अन्त में मैं एक बात और कहना चाहता हूं कि—वीर सेवा मन्दिर से "जैनलक्षणावली" के प्रकाशन का प्रयत्न हो रहा है उसमें—अणुव्रत या षष्ठ अणुव्रत शब्द के लक्षण में आशाधर के इस रहस्योद्घाटन का अवश्य संग्रह किया जाय।

२. आदि पुराण पर्व २० श्लोक १६०

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य ब्योरे के विषय में—

प्रकाशन का स्थान	वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागंज दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्विमासिक
मुद्रक का नाम	प्रेमचन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१ दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	प्रेमचन्द मंत्री वीर सेवा मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१ दरियागंज दिल्ली
सम्पादक का नाम	आ० ने० उपाध्ये M. A. D. Litt. कोल्हापुर रतनलाल कटारिया, केकड़ी (अजमेर)
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	C/o वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज दिल्ली
स्वामिनी संस्था	वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज दिल्ली

मैं, प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी पूरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१७-४-६२ ह० प्रेमचन्द
प्रकाशक

देवगढ़ की जैन-प्रतिमाएं

लेखक—प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, सागर विश्वविद्यालय

प्राचीन भारत के कलाकेन्द्रों में देवगढ़ का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ ई० पाँचवीं शती से लेकर मुगल काल तक वास्तु एवं मूर्तिकला का विकास होता रहा। इतने लम्बे समय तक किसी एक स्थान को संस्कृति एवं कला का केन्द्र बने रहने का बहुत कम सौभाग्य मिलता है। देवगढ़ में वैष्णव एवं जैन धर्म का साथ-साथ कई शताब्दियों तक विकास हुआ, यह भी उल्लेखनीय है। इससे यहाँ के सहिष्णुतापूर्ण वातावरण का पता चलता है।

देवगढ उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले में ललितपुर से लगभग १९ मील पश्चिम-दक्षिण की ओर है मध्य रेलवे के जाखलौन स्टेशन से उसकी दूरी केवल आठ मील है। सुरम्य पहाड़ी पर देवगढ़ के बहुसंख्यक जैन मंदिर स्थित हैं। नीचे कलकल नादिनी बेतवा (प्राचीन वेत्रवती) बहती है। दूसरी ओर नीचे प्रसिद्ध दशावतार मंदिर है, जिसका निर्माण गुप्त युग मे हुआ था।

सौभाग्य से देवगढ़ की स्थिति घने जंगल के बीच मे होने के कारण यहाँ की कलाराशि प्रायः सुरक्षित रह सकी। विध्य क्षेत्र के दूसरे प्रसिद्ध स्थान खजुराहो की कलाकृतियां भी इसी कारण बच गई। बड़े नगरों से दूर एकांत स्थानों में ही प्राचीन काल मे स्तूपों, विहारों, मंदिरों आदि के निर्माण की परिपाटी थी।

देवगढ़ की पहाड़ी पर चढ़ते समय क्रमश. तीन कोट-द्वार मिलते हैं। सबसे ऊपर 'किले' के उत्तर-पूर्वी भाग पर जैन मन्दिर स्थित है। देवगढ तथा वहाँ निर्मित इन मदिरों के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। सौभाग्य से यहाँ अब तक विभिन्न मंदिरों एवं प्रतिमाओं पर ३०० से ऊपर लेख मिल चुके हैं, जो देवगढ़ के इतिहास पर बड़ा प्रकाश डालते हैं। जिस प्रकार शुंग-सातवाहन कालीन बौद्ध धर्म की जानकारी के लिए भरहुत और साची की कलाकृतियाँ एवं शिलालेख उपयोगी है उसी प्रकार मध्यकालीन जैन धर्म एवं कला के विकास का परिचय बहुत कुछ हमें देवगढ़ के इन अवशेषों से ज्ञात होता है।

देवगढ़ के उक्त अभिलेख ९वीं से लेकर १८वीं शती तक के हैं। प्रमुख मंदिर संख्या १२ में सं० ९१९ का लेख मंदिर के एक द्वारस्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस लेख की विशेषता यह है कि इस पर शक संवत् भी दिया है। कन्नौज के यशस्वी प्रतीहार शासक मिहिरभोज के समय में यह लेख लिखा गया। इस मंदिर के एक दूसरे लेख में १८ लिपियों और भाषाओं के नमूने सुरक्षित हैं। भारत में यह लेख अपने ढंग का अनोखा है। जैन परम्परा में भगवान् ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियों का आविष्कार करने वाली कहा गया है। जो लिपियां इस शिलापट्ट पर हैं वे तत्कालीन भारत में प्रचलित विभिन्न शैलियों की परिचायक है।

अन्य लेखों के द्वारा विभिन्न दाताओं, उनकी वंशावलियों, जैनाचार्यों, श्रावक-श्राविकाओं आदि के नामों का पता चलता है। स्थानों के भी कई नाम आए है। साँची एवं भरहुत के अभिलेखों की तरह देवगढ़ के इन लेखों का भी महत्व है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल में देवगढ़ जैन एवं जैनेतर समाज की श्रद्धा का केन्द्रविन्दु बन गया था और सभी वर्ग के लोग यहाँ आकर इस तीर्थ की अभिवृद्धि में अपना योगदान करते थे। विभिन्न वंशों के शासकों का संरक्षण तो इस तीर्थ को प्राप्त था ही।

देवगढ़ में लगभग ३१ जैन मंदिर विद्यमान है। अन्य कितनों के भग्नावशेष ही अब बचे है। ये अवशेष विविध प्रतिमाओं, इमारती पत्थरो, अभिलिखित शिलापट्टों आदि के रूप में है।

देवगढ़ की अगणित जैन प्रतिमाएं पूर्व एवं उत्तर मध्य काल की हैं। इन्हें देखने से पता चलता है कि इनके निर्माता कलाकार कितने दक्ष थे! मंदिर संख्या १२ में स्थित भगवान् शांतिनाथ की प्रतिमा विशालता एवं भव्यता का समन्वित रूप है। गुर्जर-प्रतिहार काल में निर्मित इस प्रतिमा में वे सभी विशेषताएं मौजूद है जो इस काल में

(शेष पृष्ठ ३० पर)

भगवान महावीर का जीवन-चरित

महत्वपूर्ण पत्र

[हिन्दी के सुविख्यात लेखक तथा ओजस्वी पत्रकार श्रद्धेय बनारसीदास चतुर्वेदी उन व्यक्तियों में से है, जो लोकोपयोगी विचारों के बीज बराबर भूमि में डालते रहे हैं उनके बहुत-से बीज अंकुरित ही नहीं, पल्लवित भी हुए हैं। जैन समाज तो उनका विशेषरूप से ऋणी है। बड़े आकार में साढ़े आठ सौ पृष्ठों के प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ की कल्पना उन्होंने ही दी थी, उसकी तैयारी में भी उनका महत्वपूर्ण योग-दान रहा; वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ के बुन्देलखण्ड विभाग का उन्होंने स्वयं सम्पादन किया; जैनसमाज के महान् कवि स्व० बनारसीदास के आत्मचरित 'अर्द्ध कथानक' तथा कविवर छत्रपति-रचित 'श्री ब्रह्मगुलाल-चरित' की सारगर्भित भूमिकाएँ लिखीं; अतिशय तीर्थ अहार और पपौरा पर पुस्तिकाएँ तैयार कराई है; आहार की ऐतिहासिक मूर्तियों के संरक्षण के लिए वहाँ एक विशाल संग्रहालय के निर्माण में सहायता दी और 'महावीर-डायरी' का प्रकाशन कराया और भी बहुत से काम उनकी प्रेरणा से हुए हैं और आज भी हो रहे हैं, यह सारा कार्य उन्होंने निस्वार्थ सेवा भावना से किया है।

चतुर्वेदी जी की बड़ी इच्छा है कि भगवान महावीर का एक ऐसा विस्तृत जीवन-चरित लिखा जाय, जो सरल-सुबोध होने के साथ-साथ सबके लिए सुपाठ्य और उपादेय हो, इस कार्य को उन्होंने स्वयं आरम्भ कर दिया था, लेकिन वह पूरा नहीं हो सका। नीचे हम उनका एक पत्र दे रहे हैं, जिसमें उन्होंने अपनी उसी भावना को व्यक्त किया है।

हम आशा करते हैं कि चतुर्वेदी जी के विचारों पर पाठक मनन करेंगे और ऐसे साधक सामने आवेंगे, जो उनकी इच्छा की पूर्ति कर सकें। —यशपाल जैन]

९९ नार्थ ऐवेन्यू, नई दिल्ली।
३-४-६२

प्रिय यशपालजी,

आप जानते ही हैं कि मैं भी कभी हिन्दी में भगवान महावीर का जीवनचरित लिखना चाहता था और उसके लिए साहू शान्तिप्रसादजी ने ६०) मासिक पर एक सहायक—साहित्याचार्य श्री राजकुमारजी—का प्रबन्ध भी कर दिया था। पर वह क्रम छः-सात महीने से अधिक न चला और यद्यपि उस बीच में कुछ कार्य तो हुआ ही। श्री राजकुमारजी ने 'महावीर डायरी' तैयार की, पपोरा क्षेत्र पर पुस्तिका लिखी गई और उस क्षेत्र के परीक्षार्थी विद्यार्थियों की शिक्षा भी चलती रही। तथापि मुख्य कार्य में अधिक प्रगति नहीं हुई। उसमें मैं मुख्यतया अपना ही दोष मानता हूँ। अव्यवस्था, असंयम और प्रमाद—ये तीनों मेरे पुराने मित्र है और इन्हीं के कारण वह यज्ञ पूर्ण नहीं हो सका और अब ऐसे श्रमसाध्य कार्य को हाथ में लेने की सम्भावना ही नही रही। फिर भी उस पुण्य कार्य के बारे में अपने विचार मैं आपको लिख देना चाहता हूँ।

मैं जानता हूँ कि भगवान के अनेक जीवनचरित मौजूद है और वे अपनी-अपनी योग्यता तथा श्रद्धा के द्वारा लिखे गए हैं। पर महापुरुषों तथा जगत् की विभूतियों में अनन्त गुण होते हैं और उनको श्रद्धांजलि अर्पित करने का अधिकार भी सभी को है। रिसर्च या अन्वेषण करने की कोई योग्यता मुझ में नहीं और मेरे द्वारा किसी महत्वपूर्ण ग्रंथ के लिखे जाने की सम्भावना भी नही थी। हां मेरी कार्य-पद्धति में शायद कोई विशेषता हो सकती है।

मेरा यह विश्वास है कि जो भी व्यक्ति भगवान महावीर का जीवनचरित लिखना चाहे, उसे कम-से-कम उतने वर्षों या महीनों तक, जब तक कि वह इस यज्ञ में भाग ले, संयमपूर्वक रहना ही चाहिए। भगवान के पवित्र

जीवनचरित का लेखनकार्य और निज के जीवन का असंयम, ये दोनों चीजें साथ-साथ कदापि नही चल सकतीं। मैं उक्त जीवनचरित को किसी परोपकार की भावना मे नहीं लिखना चाहता था। महाकवि अकबर की वे पंक्तियां मुझे बहुत पसन्द हैं जिनमें उन्होंने लिखा था—मैं अपने और दूसरे शायरों में कुछ अन्तर पाता हूँ, वे कविता का साज-शृंगार करते है और मैं कविता द्वारा अपने को संवारता हू।

"सकुन उनसे संवरता है, सकुन से मैं संवरता हूँ"

मुझे भगवान के जीवनचरित में जो बातें अत्यन्त आकर्पक जंचती हैं वे है उनकी हद दर्जे की अहिंसा, नितान्त अपरिग्रह और स्वावलम्बन की असीम भावना। एक बार मैंने अपने एक बौद्ध बन्धु से कहा था—"भगवान गौत्तम बुद्ध ने यह आदेश देकर कि जो मांस खासतौर पर तुम्हारे लिए न पकाया गया हो, उसे तुम ग्रहण कर सकते हो, एक ऐसा समझौता किया कि जिसके परिणामस्वरूप हिंसा बढ़ी ही, घटी हर्गिज नही।" मैंने यह बात आलोचना की दृष्टि से नहीं कही थी। भगवान गौतम बुद्ध के प्रति मेरी अत्यन्त श्रद्धा रही है। पर अपनी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार अपनी स्पष्ट सम्मति न कहना भी कायरता है, एक प्रकार का अधर्म है।

परिग्रह तो आज के युग का सबसे बड़ा पाप है और दुर्भाग्य की बात यही है कि हम लोग विशेषतः जैन समाज—इस पाप की भयंकरता को नहीं समझते।

आध्यात्मिक स्वावलम्बन ही भगवान की सबसे बड़ी देन है। अपनी साधना मे उन्होने देवताओं की मदद को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया था। सहिष्णुता की तो उनमें पराकाष्ठा थी ही और आज का पंचशील आखिर है क्या? अनेकान्त या स्याद्वाद की आधुनिक राजनैतिक भापा में विस्तृत व्याख्या ही तो है।

महावीर के जीवन की मूल शिक्षाओं को अपने जीवन में यथाशक्ति उतारने की उत्कट अभिलाषा यदि किसी लेखक के मन में हो तो उसे इस यज्ञ के प्रारम्भ करने की प्रथम परीक्षा में पास होने लायक नम्बर तो मिल ही सकते है। संस्कृत तथा अर्द्धमागधी के विद्वानों का सहयोग ऐसे महान कार्य में लेना ही पड़ेगा। मैंने कभी कल्पना की थी कि चार-पांच श्रद्धालु व्यक्तियों के साथ उन तीर्थस्थानों की पैदल-यात्रा करूंगा, जहां भगवान ने विहार किया था। आज वायुयान और मोटर के युग मे ऐसी यात्रा का मजाक भी उठाया जा सकता है, पर यह तो अपनी-अपनी भावना का प्रश्न है। ऐसी यात्रा में आठ-आठ मील पर पड़ाव डाला जा सकता है और वायु-सेवन के साथ-साथ अहिंसा, अपरिग्रह इत्यादि विषयों पर बातचीत हो सकती है। उन संवादों को फिर सीधी-साधी जबान में लिखा जा सकता है।

भापा की सादगी के मामले में महावीर सबसे प्रथम क्रान्तिकारी थे। बहुत बरस पहले श्री महेन्द्रकुमारजी का लेख इस बारे में मैंने पढ़ा था। पर दिल्लगी की बात यह है कि जैन पंडितों की भाषा सबसे ज्यादा मुश्किल होती है। पांडित्य का प्रदर्शन तो हमें करना नही—पांडित्य अपने पास है ही नही, इसलिए उसका प्रदर्शन भी एक प्रकार का दंभ ही होगा—अपने मन की बात ईमानदारी के साथ ज्यों-की-त्यों लिख देनी है।

आप जानते ही है कि मेरा यह स्वप्न नया नही। न जाने कितने बरसो से यह मेरे मन में चक्कर काटता रहा है, पर मैं जैनियों के "काललब्धि" के सिद्धान्त का कायल हूं। बरसों का यह स्वप्न अभी तक पूरा नहीं हो सका, इसमें मै अपनी साधना की कमी ही मानता हूँ। मेरा यह दृढ विश्वास है कि कोई-न-कोई साधक कभी-न-कभी इसे अवश्य पूरा करेगा।

धर्म संस्थापकों की स्मृति की रक्षा वही लोग करते है, जो उनके सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारते है और इस दृष्टि से उन महानुभावों के भी रेखाचित्र तैयार करने चाहिए, जिन्होंने अपना समय और शक्ति महावीर के सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणित करने में खपा दिया, फिर वे चाहे जिस मुल्क के हों, चाहे जिस मजहब के मानने वाले हों, चाहे आचार्य हरिभद्र सूरि हों या खान अब्दुल गफ्फारखां।

विस्तृत जीवनचरित की बात छोड़कर फिलहाल एक ट्रेक्ट—सौ सवा सौ पन्नों का—अहिंसा की परम्परा—पर क्यों न निकाला जाय।

भगवान महावीर, राजचन्द्र तथा महात्मा गान्धी, इन तीन भारतीयों और विलियम लायड गैरिसन, टालस्टाय तथा एलबर्ट स्वाइटज़र इन तीन विदेशी अहिंसा-प्रेमियों के रेखाचित्र साथ-साथ छपाये जा सकते हैं। पुस्तक को चित्रित तो करना ही होगा।

जैन-समाज लाखों रुपये प्रतिवर्ष दान में खर्च करता रहता है और मेलों पर भी लाखों का ही व्यय होता है, पर उच्चकोटि के प्रचारकार्य की आयोजना उसके द्वारा प्रायः नहीं होती। ऐसे पवित्र कार्य अर्थलोलुप लेखकों से या भाड़े के टट्टुओं से नही कराये जा सकते और न महीने दो महीने में एक बृहद् ग्रंथ तैयार करने वाले जादूगरों से। उनके लिए एक खास साधना और एक विशेष श्रद्धा की जरूरत है और ये चीजें बाजार में किसी भाव नही मिलतीं कि कोई मनचला खरीद लावे। बड़ा ग्रन्थ भले ही देर में तैयार हो पर छोटे-छोटे ट्रेक्ट तो प्रकाशित किये ही जा सकते हैं।

विनीत,
बनारसीदास चतुर्वेदी

देवगढ़ की जैन प्रतिमाएं

(पृष्ठ २७ का शेष)

निर्मित कनौज तथा पूर्वी राजस्थान की प्रतिमाओं में मिलती हैं। बाहुबलि की ११वीं शती की प्रतिमा भी अत्यंत प्रभावोत्पादक है।

उत्तर मध्यकाल में अलंकरण के साथ सौम्यता एवं मृदुलता का जो समन्वय भारतीय कला में हुआ उसका जीता-जागता रूप हमें देवगढ़ की बहुसंख्यक तीर्थंकर एवं अन्य प्रतिमाओं में मिलता है। सरस्वती, अंबिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी आदि अनेक देवियों के मूर्त रूप भी यहाँ दर्शनीय हैं। विभिन्न जिन प्रतिमाओं एवं शासन देवियों के नाम भी उत्कीर्ण मिले हैं। ये सूचना पट्ट बहुत उपयोगी हैं।

मंदिरों में गंगा-यमुना, पत्रावली, पशु-पक्षी आदि के जो बहुसंख्यक अलंकरण मिलते हैं उनसे इस बात का पता चलता है कि अलंकरण के विभिन्न भारतीय अभिप्रायों को सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रदर्शित करने में यहां के कलाकार कितने पटु थे।

देवगढ़ की मूर्तिकला को देखकर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ धर्म को निष्प्राण या जटिलरूप में दिखाने की बात नही है, बल्कि उसे जीवंत रूप में प्रकट किया गया है। विविध मनोरंजक अलंकरणों, आकर्षक भाव-भंगिमाओं एवं आनन्दपूर्ण अभिव्यक्तियों द्वारा धर्म एवं कला को यहाँ शाश्वतरूप प्रदान किया गया है। इन प्रतिमाओं के देखने से दर्शक के सामने धर्म का प्राणमय, उदात्त एवं आनन्दमय रूप उपस्थित हो जाता है।

भारतीय विविध राजवंशों गुप्त, गुर्जर प्रतीहार, चंदेल, बुन्देला आदि एवं जनसाधारण के द्वारा संरक्षित प्रवर्द्धित देवगढ़ की यह अपार कलाराशि हमारे लिए एक अत्यन्त गौरव की वस्तु है। इस कलाराशि का समुचित अध्ययन अनुसंधान आवश्यक है। लेखक के द्वारा इस सम्बन्ध में एक विस्तृत विवरण तैयार किया जा रहा है, जो निकट भविष्य में ही प्रकाशित होगा। आशा है इससे एक कमी की पूर्ति कुछ अंशों में सम्भव हो सकेगी।

देवगढ़ की जैन मूर्तियां

नीर्थंकर

यक्षिणी

सरस्वती की मूर्ति का शिलालेख
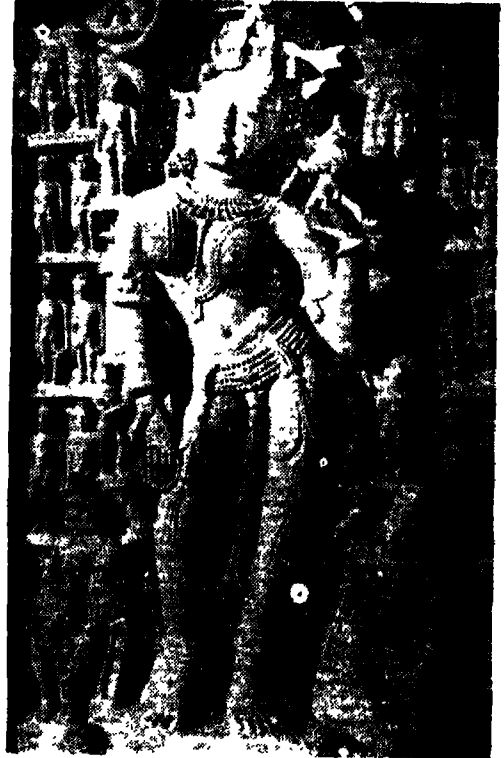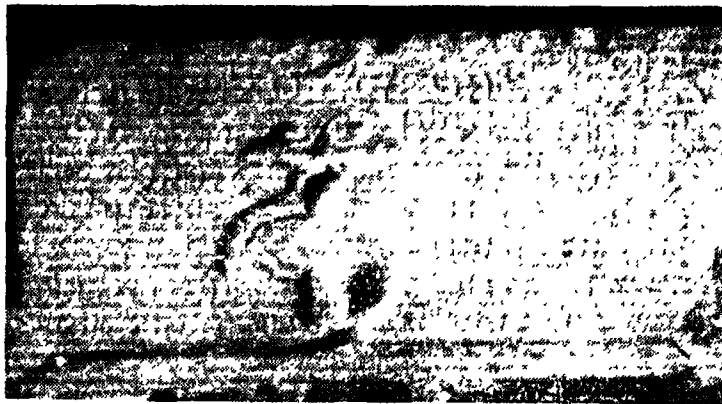
रा० ब० हरखचन्दजी जैन, रांची,
बिहार प्रान्त के यशस्वी जैन नेता और
कार्यकर्ता, कई संस्थाओं के अध्यक्ष,
सरल प्रकृति और उदार मना

स० सि० धन्यकुमारजी जैन, कटनी
मध्य प्रान्त के ख्यातिप्राप्त दानी, धर्मात्मा
और प्रतिष्ठित व्यापारी और बैंकर

श्री शिखरचन्दजी सरावगी, कलकत्ता
शिक्षित, उत्साही, मननशील युवकरत्न

श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
मुनि संघ को यात्रा कराने वाले,
किराना बाजार के प्रतिष्ठित व्यापारी

जैन साहित्य का अनुशीलन

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम. ए., पी. एच-डी.

कलकत्ता निवासी बाबू छोटेलालजी से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि वे 'अनेकांत' तथा साहित्य योजना को पुनः प्रारम्भ कर रहे हैं। इस दिशामें मैं कुछ सुझाव उपस्थित करना चाहता हूँ।

जैन समाज का क्षेत्र कितना ही सीमित हो किन्तु साहित्य की दृष्टि से यह परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। यह साहित्य जैन समाज की ही नहीं समस्त भारत की सम्पत्ति है उसमें जीवन के लिए वह प्रेरणा विद्यमान है, जिसकी वर्तमान मानवता को अत्यन्त आवश्यकता है। दुख की बात यह है कि साम्प्रदायिकता के संकुचित वातावरण में उस महती प्रेरणा को भी भुला दिया जाता है। हमें प्रकाश की आवश्यकता है किन्तु ऐसी मनोवृत्ति बन गई है कि दूसरे से प्रकाश लेने की अपेक्षा अंधकार में पड़े रहना अच्छा प्रतीत होता है। दूसरी ओर वह प्रकाश जिनके आधिपत्य में है, वे भी उसकी प्रत्येक किरण पर अपना नाम पट्ट लगाकर अहंकार एवं अस्मिता के पोषण में लगे हुए हैं। उन्हे प्रकाश के व्यापक प्रसार की इतनी चिन्ता नहीं है, जितनी नामपट्ट की। वर्तमान युगकी आवश्यकता है कि एक ओर प्रकाशप्राप्त करने के लिए उसके स्रोत को महत्व देने की संकुचित वृत्ति का परित्याग किया जाय और दूसरी ओर जिनके पास प्रकाश है वे नामपट्ट की अपेक्षा अन्धकार दूर करने की अधिक चिन्ता करें।

स्वस्थ मानवता के निर्माण के लिए धर्म का जो संदेश है वह किसी एक परम्परा में सीमित नही है। भारत की जैन बौद्ध तथा वैदिक परम्पराओं में वह समान रूप से प्रवाहित हुआ है। तीनों में उसका विकास भी हुआ है और दुरुपयोग भी। हम अपने विकास को सामने रखते है और दूसरे के द्वारा किए गए दुरुपयोग को नहीं इसी मनोवृत्ति ने मानवता को छिन्न-भिन्न कर रखा है और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति संदेह भरी दृष्टिसे देखने लगा है। हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो इस मनोवृत्ति को दूर करके सभी के स्वस्थ रूप को सामने रख सके। इस विषय में मैं नीचे लिखे कार्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

१—महाभारत भारतीय चेतना का विश्वकोष है। उसके गम्भीर अध्ययन से पता चलता है कि हमारी संस्कृति का मूल स्रोत त्याग तथा सर्व-मैत्री रहा है। जैन एवं बौद्ध परम्पराओं ने भी उसी पर बल दिया है। महाभारत के एक हजार श्लोकों को चुनकर उनके साथ तुलनात्मक दृष्टि से जैन एवं बौद्ध आगमों से उद्धरण दे दिये जाएँ, तो वह मूल स्रोत सामने आ जाएगा, जो भारत की सांस्कृतिक त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित हुआ है। इतना ही नही ईसाई तथा मुस्लिम परम्पराओं के साथ भी यथास्थान तुलना की जा सकती है। महाभारत का शान्तिपर्व जैनियों के उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिकसूत्र तथा ज्ञानार्णव एवं बौद्धों का धम्मपद इस दिशा में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

२—जैन चरित्र का आधार अहिंसा सत्य आदि पाँच महाव्रत हैं। योग दर्शन में वे पाच यमो के रूप में बताए गए हैं और बौद्ध साहित्य में शील के रूप में। तीनों परम्पराओं में इनका पर्याप्त विकास हुआ है किन्तु दृष्टिकोण मे थोड़ा सा भेद भी है। उदाहरण के रूप में योगदर्शन का बल मानसिक पवित्रता पर है, बौद्ध दर्शन अहिंसा को करुणा के रूप में उपस्थित करता है और उसके विधि पक्ष पर बल देता है। जैन दर्शन मनवचन और काया तीनों के अनुशासन पर बल देता है। इन सब का तुलनात्मक अध्ययन भारतीय आचार की आधारशिला को उपस्थित कर सकना है जो साम्प्रदायिकता से परे हैं और जहां सबका एकमत है।

३—भारतीय कथा विश्व के प्राचीन साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अनेक कथाएँ व्यापारियों द्वारा अरब, तुर्किस्तान, यूनान, रोम तथा विश्व के अन्य महाद्वीपों में पहुँची और उनके साहित्य की सम्पत्ति बन गई। बहुत सी कथाएँ सैकड़ों भाषाओं में मिलती हैं। इस क्षेत्र

में जैन कथाओं का विशिष्ट स्थान है। मधु बिन्दु वाली जैन कथा विश्व की चालीस से अधिक भाषाओं में रूपान्तरित हो चुकी है। विन्टरनिट्ज ने अपनी पुस्तक 'Some Problems of Indian Literature' तथा टोनी ने 'जैन कथा रत्नकोष' की भूमिका में इस ओर संकेत किया है। उन कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक संबंधों की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

४–जैन साहित्यके अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। जो मुद्रित हुए थे उनमें से भी बहुत से अब नहीं मिलते। इस दिशा में कुछ संस्थाएँ कार्य कर रही है, फिर भी काम बहुत बड़ा है। प्राकृत साहित्य का कार्य प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी ने उठाया है अब संस्कृत ग्रन्थो के विवेचनात्मक संस्करणों की आवश्यकता है। यदि उनका अंग्रेजी अनुवाद निकल सके तो और भी अच्छा होगा। विदेशों में इसकी बड़ी मांग है।

५—एक ऐसी पत्रिका की आवश्यकता है जो प्रकाशित एवं अप्रकाशित समस्त जैन साहित्य का परिचय देती रहे। पत्रिका वार्षिक हो या अर्धवार्षिक। विश्व में आज तक जितना जैन साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसका प्रामाणिक परिचय उसमें रहे। उसके "अप्रकाशित जैन साहित्य" १९६० से पहले का प्रकाशित जैन साहित्य एवं "नवीन जैन साहित्य" आदि स्तम्भ हो सकते हैं। इसी प्रकार विभिन्न-भाषाओं एवं विषयों के लिए अलग-अलग उपस्तम्भ हो सकते हैं। पत्रिका अंग्रेजी में रहे तो उसका प्रचार और भी व्यापक रूप से होगा।

६—जैन परम्परा के विषय में अनुशीलन सम्बन्धी जहाँ-जहाँ कार्य हो रहा है, उस सबके संयोजन की भी परम आवश्यकता है, जिससे यह पता लग सके कि कहाँ क्या कार्य हो रहा है और पुनरावृत्ति न होने पाये। इसी प्रकार नवीन कार्य के लिए मार्ग दर्शन भी प्राप्त हो सके।

कुछ अप्रकाशित जैन कथा ग्रंथ

लेखक—श्री कुन्दनलाल जैन, एम० ए० एलं० टी०, साहित्यशास्त्री

प्राचीन विश्व साहित्य में जैन साहित्य का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु आज के इस वैज्ञानिक विकास शील युग में जैन साहित्य का प्रचार एवं प्रसार सबसे अधिक कम है। यह हमारे पिछड़ेपन की जबर्दस्त निशानी है। आज प्रसारएवं प्रचार और मुद्रणके इतने अधिक आधुनिकतम साधन सुलभ हैं फिर भी हमारा साहित्य प्राचीन ग्रंथागारों में पड़ा सड़ रहा है, अनेकों बहुमूल्य ग्रंथ दीमक देवी निगल गई है। पठन-पाठन तो दूर उनके दर्शन भी किसी समय दुर्लभ थे, यही कारण है कि जैन साहित्य की महत्ता एवं प्रचुरता से लोग सर्वथा अनभिज्ञ रहे और इसीलिए लोगों ने जैनधर्म और साहित्य के विषयों में अनेकों भ्रांतिपूर्ण बातें लिखी हैं। इस सब का उत्तरदायित्व हमारे अन्धविश्वास और अदूर दर्शिता पर है।

अब लोग कुछ सचेत हो रहे हैं, उन्हें अपनी भूल के भयंकर परिणाम प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे है। जिससे प्राचीन साहित्य और ग्रन्थों के मुद्रण एवं प्रसारण की ओर प्रत्यनशील हो रहे हैं। पुराने ग्रंथ भंडारों की वैज्ञानिक ढंग से सूचियां तैयार हो रही हैं और उनमें उपलब्ध महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन होने लगा है। लेखक भी दिल्ली के भंडारों में उपलब्ध लगभग पाँच हजार पांडुलिपियों की विधिवत् सूची तैयार करनेमें लगा हुआ है। वर्तमानमें नया मंदिर-धर्मपुरा के सरस्वती भंडार के ग्रन्थों की सूची तैयार की जा रही है। यह भंडार ला० हरसुखराय जी ने ही समृद्ध किया था। यहाँ पर सभी विषयों के बहुमूल्य ग्रंथ उपलब्ध हैं। बहुत से अजैन ग्रंथ भी हैं। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह कि उस समय में ऐसे ग्रंथ आसानी से उपलब्ध नहीं हो पाते थे, इनके तैयार कराने में अथवा एकत्रित करने में कितना द्रव्य तथा समय व्यय हुआ होगा

यह सब आज तो कल्पना लोक जैसी बातें लगती हैं इतने बड़े भण्डार का तैयार करना कराना साधारण व्यक्ति के वश की बात न थी, यह तो कोई विशेष प्रभावशाली व्यक्ति ही करा सकता था, ला० हरसुखराय जी ऐसे ही प्रभावशाली व्यक्ति थे। मुगल-शासन में उनका महत्वपूर्ण स्थान था और इसलिए वे इतना महत्वपूर्ण विशाल सरस्वती यज्ञ संपन्न कर सके।

यहां मैं कुछ कथा साहित्य के ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। जो मेरी शोध के पश्चात् अप्रकाशित सिद्ध होते हैं। मैंने सभी उपलब्ध संभव साधनों से जानने का प्रयास किया है फिर भी यदि किसी विद्वान् कृपालु पाठक को इनसे किसी ग्रथ के प्रकाशित होने की सूचना उपलब्ध हो तो कृपया वह ग्रन्थ कब ? और कहाँ ? से प्रकाशित हुआ है कि सूचना मुझे देकर अनुग्रहीत करें मैं उनका अत्यधिक आभार मानूगा।

श्री मुनि सुव्रतनाथ पुराण

इसके लेखक ब्र० कृष्णदास जी हैं जो हर्ष के पुत्र तथा मंगल के भाई उल्लिखित हैं। यह ग्रंथ २३ सर्ग मे समाप्त होता है। यह मूल संस्कृत श्लोकों में है इस पर कोई टीका नही है। इसका रचना काल कार्तिक शुक्ला १३ संवत् १६८१ है। इसकी श्लोक संख्या ४ हजार २५ है। ब्र० कृष्णदास जी कल्पवल्ली नगर के रहने वाले थे। लेखक ने अन्तिम आठ श्लोकों मे अपनी प्रशस्ति भी लिखी है जो जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह (मुख्तार सा०) पृ० ६७ और प्रशस्ति संग्रह (काशलीवाल) पृ० ४७ पर प्रकाशित है। इस ग्रन्थ मे ६३ पत्र हैं तथा इसका विवरण जिन रत्नकोष पृ० ३१२ प्रथम आमेर भण्डार की सूची पृ० ११३ पर मिलता है। आमेर की प्रति का लिपि काल सं० १८५० है। राज० सू० २ पृ० १३.

हरिवंश पुराण

इसके लेखक श्री ब्र० जिनदास जी हैं जो श्री सकलकीर्ति के शिष्य (छोटे भाई) थे। यह ग्रन्थ ३९ सर्ग में समाप्त होता है। यह मूल संस्कृत श्लोकों में हैं। इसकी तीन प्रतियां उपलब्ध है। 'क' प्रति में १६७ पत्र हैं तथा लिपि काल ज्येष्ठ शुक्ला ११ सं० १७७३ हैं। इसके ३९वें सर्ग के ३२वें श्लोक से ४७वें श्लोक तक गुरु परम्परा वर्णित हैं। 'ख' प्रति में २९६ पत्र हैं, लिपि काल असौज शुक्ला १२ भौमवार सं० १८१३ शाके १६७८ हैं ग्रन्थ के अन्त में लिपिकार ने अपनी प्रशस्ति लिखी है जो जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह पृ० १०० तथा प्रशस्ति संगह पृ० ७० पर प्रकाशित प्रशस्ति से सर्वथा भिन्न है। इनके प्रथम १४ सर्ग जिनदास जी के गुरु सकलकीर्ति द्वारा लिखे हैं। 'ग' प्रति में २६९ पत्र हैं, २६८वां पत्र नहीं है जिस पर प्रशस्ति तथा लिपिकाल आदि के होने की संभावना है। इन प्रतियों का उल्लेख जि० र० कोश पृ० 46VIII तथा आमेर भंडार सूची पृ० १६१ पर मिलता हैं राज० सू० २ पृ० २१८ सूची ३ पृ० २२४.

वृषभनाथ चरित्र

इसके लेखक भ० सकलकीर्ति हैं जो भ० पद्मनन्दी के शिष्य थे। यह ग्रंथ २० सर्गोंमें समाप्त होता है मूलसंस्कृत श्लोकों में है। इसकी तीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं। 'क' प्रति के २१२ पत्र हैं लिपि काल बैसाख कृष्णा ८ रविवार सं० १८२५ है। इसमें ४६२८ श्लोक हैं यह ग्रंथ मुलतानी लाला लिल्लियन के पुत्र राजाराम उनके पुत्र गोकुलचन्द के पठनार्थ आत्माराम, अनन्दीराम, दीपचन्द ने लिखा था।

'ख' प्रति में १६५ पत्र है प्रति अत्यधिक जीर्ण है। विशेष विवरण कुछ नही मिलता।

'ग' प्रति में १२९ पत्र है तथा लिपिकाल कार्तिक वदी ७ सं० १६६८ है। प्रति अत्यधिक जीर्ण है। इसका उल्लेख जि० र० को० मे पृ० ३६५ पर मिलता है। राज० सू० २ पृ०, १५, २१०, सूची ३ पृ० ६३.

हनुमान चरित्र

इसके लेखक श्री वीरसिंह के सुपुत्र ब्र० अजित हैं इसे 'अंजना चरित्र' भी कहते हैं। इसमें ८० पत्र तथा २००० संस्कृत श्लोक हैं। प्रारम्भ के २१ श्लोकों में विभिन्न आचार्यों को नमस्कार किया गया है। यह ग्रंथ भृगुकच्छ (भडौच) के नेमि जिन मन्दिर में लिखा गया था। इसका उल्लेख जि० र० कोश पृ० ४५९II (हनुमच्चरित) आमेर सूची पृ० १६० पर मिलता है। राज० सू० २ पृ० २०, २३४, सूची ३ पृ० २२१.

श्रीपाल चरित्र

इसके लेखक भ० सकलकीर्ति है। इसकी पत्र संख्या ३६ लिपिकाल फागुन सुदी २ रविवार सं० १६४३ हैं और ७ परिच्छेदों के ८०४ श्लोकों में समाप्त होता है। इसकी दो प्रतियां हैं 'क' प्रति में ४८ पत्र हैं लिपि काल आदि कुछ भी उल्लिखित नहीं है। इसका विवरण जि० र० को० ३६८ आमेर सूची पृ० १५६ पर मिलता है।

राज० सू० २ पृ० १६, २३३

श्रीपाल चरित्र

इसके लेखक श्री श्रुतसागर हैं, इसकी पत्र संख्या १५ है। अन्त में लेखक ने प्रशस्ति लिखी है जो जै० ग्र० प्र० पृ० १६ पर प्रकाशित है। दूसरी सूचियों में इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

धन्यकुमार चरित

इसके लेखक भ० सकलकीर्ति है इसकी पत्रसंख्या ३६ है यह ६ अधिकारों के ८५० श्लोकों में लिखा गया है इसका लिपि काल आसौज सुदी १ सं० १६२१ है यह आ० अनंतकीर्ति देव के शिष्य ब्र० रायमल्ल ने अपने पढने के लिए लिखी थी इसका विवरण जिनरत्न कोश पृष्ठ १८७ Y तथा आमेर भंडार सूची पृ० ७५ पर मिलता है।-? इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो गया है पर मूल अप्रकाशित है।

धन्य कुमार चरित

इसके लेखक का नामोल्लेख नहीं है यह संस्कृत गद्य में ३७ से ५१ पत्र अर्थात् १३ पत्रों में लिखा गया था ऐसा प्रतीत होता है इसके साथ कोई और ग्रन्थ लिखा गया होगा जिसकी पत्र संख्या इसी में चली आई। अंतिम प्रशस्ति में भ० लक्ष्मीचन्द तत्पट्टे श्री अभयचन्द्रैः ब्रह्म मतिसागर पठनार्थ दत्तं। भ० देवेन्द्रकीर्ति श्री धर्मचन्द श्री धर्मभूषण भ० देवेन्द्रकीर्ति संबंधि भ० श्री कुमुदचन्द्र संबंधि इत्यादि लिखा है।

यशोधर चरित्र

इसके लेखक सरस्वती गच्छ में रामसेन के उत्तराधिकारी भीमसेन के शिष्य "श्री सोमकीर्ति" है इसका रचनाकाल पौष कृष्णा ५ रवौ सं० १५३६ है तथा लिपिकाल श्रावण वदी १२ रविवार सं० १६६५ है। इसके २१ पत्र तथा १०१८ श्लोक हैं। यह प्रति चतुर्मुनि के शिष्य जीवण ऋषि ने "योगेपछा नगर में लिखी थी। जिन० कोश पृ० ३२० आमेर सूची पृ० ११६ अन्त में लेखक की प्रशस्ति है जो जै० ग्र० प्र० सं० में पृ० १०६ पर प्रकाशित है।

यशोधर चरित्र

इसके लेखक श्री वासवसेन हैं जिन्होंने इसे सं० १५८५ में समाप्त किया था। इसमें आठ सर्ग हैं। देखो जिन० र० कोश पृ० ३२० (इसका रचनाकाल विचारणीय है?)

यशोधर चरित्र मूल

इसके लेखक श्री भ० सकलकीर्ति हैं। इसमें ६६ पत्र तथा ८ सर्ग है। इसका लिपिकाल मगसिर सुदी १० बुधवार सं० १७४७ है। श्लोक ७६० हैं इस प्रति में लिपिकाल की निम्न प्रशस्ति है।" श्री मूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे कुन्दकुंदाम्नाये भ० जगत्भूषण तत्पट्टे विश्वभूषण तत्पट्टे गोलालारान्वय ब्रह्म श्री विनयसागर तच्छिष्य प० हरिकिशन स्वयमेव लिखापितं धर्मोपकरणं" इसका विवरण निम्न प्रतियों मे मिलता है। जिन रत्नकोष पृ० ३२० xvii आमेर सूची १ पृ० ११६ प्रशस्ति संग्रह पृ० ५३ राज० सूची ३ पृ० ३६,७५,२१७ राज० सूची २, २२८, २८८।

पद्म चरित्र-टिप्पण

इसके लेखक मुनि श्रीचन्द है। यह आचार्य रविषेण के संस्कृत पद्मचरित के पद्यों का टिप्पण है जो संस्कृत गद्य के ५८ पत्रों में लिखा गया है, इसका रचनाकाल सं० १०८७ है और लिपिकाल पौष वदी ५ रविवार सं० १८७४ है। ग्रंथ के अंत में टिप्पणकार की निम्न प्रशस्ति है।

"लाट(ड)वागडि श्री प्रवचनसेन पंडितात्पद्मचरितस्सकर्ण्या बलात्कारगण श्री श्रीनंद्याचार्य सत्कवि शिष्येण श्री श्रीचन्द्र मुनिना, श्रीमद्विक्रमादित्य संवत्सरे सप्तशीत्यधिक वर्ष सहस्रे श्रीमद्धारायां श्रीमतो भोजराजे भोजदेवस्य पद्म चरिते तस्य टिप्पणं (श्रीचन्द्रमुनिना कृतं समाप्तम्)।" लिपिकार की निम्न प्रशस्ति हैं "श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुदाम्नाये लिखी लसकर मध्ये लेखक दोष शोधनात् पंडितस्य"। इसकी प्रशस्ति "जै० ग्र० प्र० स० में पृ० १६३ पर प्रकाक्षित है इसका विवरण "जि० र० को० के पृ० २३३.ix पर मिलते हैं। [क्रमशः]

जयसेन प्रतिष्ठापाठ की प्रतिष्ठाविधि का अशुद्ध प्रचार

लेखक—श्री मिलापचन्द कटारिया,, केकड़ी, (राजस्थान अजमेर)

जब से स्व० ब्र० शीतलप्रसाद जी ने इस जयसेन प्रतिष्ठापाठको आधार बनाकर उसमें कहीं-कहीं नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा पाठ के कुछ अंशों का समावेश करके तथा कुछ बातें अपनी तरफ से और मिलाकर एक नये प्रतिष्ठा-पाठग्रथ का प्रकाशन किया है तब से बहुत करके उसी के आधार से कई बिम्बप्रतिष्ठायें हुई हैं और हो रही है। उसमें उन्होंने याग मण्डल पूजा आदि कुछ प्रकरणों को हिन्दी छन्दों मे भी लिख दिया है जिससे उनका उपयोग हिन्दी के ज्ञाता भी गा-बजा कर कर लेते हैं; साथ ही उन्होंने उसमें पंचकल्याणकों के दृश्य ऐसे नाटकीय ढंग से लिखे हैं कि तदनुसार दृश्य दिखा देने से साधारण जनता का खूब मनोरंजन होता है; फलतः दर्शक लोग अधिक संख्या में एकत्रित होते है और मेले की रौनक बढ़ जाती है उससे धन खर्च करने वाला यजमान भी अपने को धन्य समझने लगता है और उससे प्रतिष्ठाचार्य की भी महिमा बढ़ जाती है। अगर कोई प्रतिष्ठाचार्य इस ढंग से काम न करे तो उसकी प्रतिष्ठा लोगों को फीकी-फीकी सी प्रतीत होती है; लोगों को मजा नही आता इससे प्रतिष्ठापक का दिल भी मुरझा जाता है और बिचारे वैसे प्रतिष्ठाचार्य को तो आयंदे किसी प्रतिष्ठा मे बुलाना भी कोई नहीं चाहता है। उधर नाटकीय ढग से प्रतिष्ठा करने वाले प्रतिष्ठाचार्यो की भी अब कोई कमी नही रही है और न रहेगी; क्योंकि स्व० ब्रह्मचारी जी ने प्रतिष्ठा की सब विधि हिन्दी में लिख दी है। अतः अब तो इसके लिये संस्कृत भाषा के ज्ञान होने की भी ऐसी कोई खास जरूरत नहीं रही है और न किसी गुरु की खुशामद की। एक दो नाटकीय ढंग की प्रतिष्ठा ब्रह्मचारी जी के प्रतिष्ठा ग्रन्थ से करा दीजिए; नाम हो जायगा, फिर तो जगह-जगह से निमन्त्रण ही निमन्त्रण है।

प्रतिष्ठाचार्य का पद एक बड़ा सम्मान का पद है और इसको कोई-कोई तो अर्थोपार्जन का साधन भी बना लेते हैं। इस पद की प्राप्ति के लिए कई संस्कृत के अच्छे-अच्छे पंडित भटकते थे। अब ब्रह्मचारीजी के इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ की बदौलत उनको भी भटकने की जरूरत नहीं रही है। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि प्रतिष्ठाचार्य का पद जितना ही गौरवपूर्ण है उतना ही वह भारी जोखम का भी है। जो प्रतिष्ठाचार्य अंटसंट प्रतिष्ठाविधि करते हैं वे अपना बहुत ही अहित कर रहे है। धातु पाषाण की निराकार मूर्ति में जिनेन्द्र की प्रतिष्ठा करना कोई हँसी खेल नहीं है। प्रतिष्ठा जैसे गुरुतर कार्य के लिये पल्लवग्राही पांडित्य से काम नहीं चला करता है। इसके लिये मंत्र, तंत्र, वास्तु विद्या, शकुन, निमित्तज्ञान, ज्योतिष आदि विविध विषयों का परिज्ञान होना चाहिये। साथ ही प्रतिष्ठाचार्य खुद भी जितेन्द्री, सुलक्षण, सदाचारी, देशकाल का ज्ञाता, नम्र, मंदकसायी, देव-शास्त्र-गुरु का अनन्य भक्त, मान्य, प्रभावक आदि लक्षणों का धारी होना चाहिये। इसी वजह से पुराने जमाने में दूर-दूर तक कोई विरले ही प्रतिष्ठाचार्य मिलते थे। आज की तरह वे सुलभ नहीं थे। उस वक्त के प्रतिष्ठापक-यजमान भी विचारवान् होते थे। वे भी ऐसे ही प्रतिष्ठाचार्यो से प्रतिष्ठा विधि कराना योग्य समझते थे और उन्हें बड़े ही आदर-मान से लाते थे। उस आदर-सन्मान का वर्णन प्रतिष्ठा शास्त्रो में भी लिखा मिलता है।

ब्रह्मचारी जी के इस प्रतिष्ठा ग्रंथ में प्रतिष्ठा विधि सम्बन्धी कुछ ऐसे कथन भी मिलते हैं जो न तो जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में है और न अन्य किसी प्रतिष्ठा ग्रंथ में ही। केवल ब्रह्मचारी जी के प्रतिष्ठा ग्रन्थ में लिखे होने से ही इदानी उनका प्रचार हो रहा है। नीचे हम इसी का दिग्दर्शन कराते है—यहा हम उन्ही अशुद्धियों पर विचार करते है जो खास प्रतिष्ठा विधि से सम्बन्ध रखती है।

(१) पृ० १८१ में मुख वस्त्र विधि का वर्णन करते हुए ब्रह्मचारी जी ने लिखा है कि—"एक शुद्ध वस्त्र में सात प्रकार अनाज बांध कर प्रतिमा के मुख पर ढक कर लपेट दे। तथा आगे जौ की माला रख दे।" एक प्रसिद्ध

प्रतिष्ठाचार्य को थोड़े अरसे से पहले एक प्रतिष्ठा महोत्सव में हमने इसी तरह करते देखा है। किन्तु जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में जहाँ यह विधि लिखी है वहाँ के विवेचन से तो ऐसा अर्थ कदापि नहीं निकलता। वहाँ जैसा कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—

नूत्नं निरावृतिचमत्कृतिकारितेजो,
नोशक्यमीक्षितवतामपि भावुकानाम्।
इत्येवमर्पितनयानयनेन शंभो—
रग्रेमुखाग्रमद्वस्त्रमुपाकरोमि ॥८५५॥

इसकी वचनिका इस प्रकार की है—

"अरु नवीन और निरावरणता का चमत्कार करने वाला प्रभु का तेज है सो देखने वारे भव्यनिकू शक्य नहीं है। ऐसे या प्रकार अर्पितनयका अवलंबन करि श्री भगवान् का मुख के अग्रभाग में वस्त्र से परदा करूँ हूँ।"

"ओंह्रीं अर्हते सर्वशरीरावस्थिताय समदनफलं सप्तधान्ययुतं मुखवस्त्रं ददामि स्वाहा।" इति मुखाग्रे वस्त्रयवनिकां दत्वा यवमालावलयं जिनपादाग्रतः स्थापयेत्।' अर्थात् "ओं ह्रीं अर्हते······मुखवस्त्रं ददामिस्वाहा" इस मन्त्र को बोलकर भगवान् के मुंह के आगे वस्त्र का परदा देकर जपमाला को जिनचरण के आगे रक्खे। यहाँ वचनिकाकार ने और भी स्पष्ट किया है—

"ऐसे मुखवस्त्र अग्ररोपण। अर मुखनामअग्रभाग का है तातैं बिंब के आड़ा एक परदा भगवान् को आड़ देना ऐसा अभिप्राय है। इसहीकू मूलपाठ मे "यवनिकां दत्वा" ऐसा कहा है।"

आगे श्लोक ८६६ में भी इस मुखवस्त्र को हटाने का कथन करते हुये "यवनीं दूरमुदयेत्" पाठ दिया है जिसका अर्थ होता है" "वस्त्र की यवनिका को दूर कर दे।" यहां 'यवनीं" शब्द से परदा ही बताया है। ब्रह्मचारी जी ने जो सात प्रकार के अनाज की पोटली को प्रतिमा के मुख पर बाँधने को कहा है सो ऐसा कथन ऊपर लिखे मन्त्रों में "सप्तधान्ययुतं मुखवस्त्रं" वाक्य में सप्तधान्य को मुखवस्त्र का विशेषण समझ लेने की भूल से हुआ है। तथा इस मंत्र के "समदनफलं" वाक्य का तो अर्थ ही ब्रह्मचारी जी साफ उड़ा गये हैं। दरअसल में इस मन्त्र में केवल तीन क्रियाओं का संकेतमात्र किया है—यवमाला, सप्तधान्य का स्थापन, और मुखवस्त्र प्रदान। इन तीनों क्रियाओं की प्रयोग विधि अलग लिख दी है। यही मंत्र इसी रूप में आशाधर प्रतिष्ठापाठ पत्र १०६ में भी लिखकर उसकी प्रयोगविधि वहाँ इस प्रकार बताई है—

"मुखवस्त्रदानपूर्वकं यवमालामारोप्य जिनस्य पादाग्रतः सप्तधान्यान्युपहरेत्।" अर्थात् पहिले मुखवस्त्र देकर फिर यवमाला का आरोपण करे और फिर जिनचरणों के आगे सप्तधान्य भेंट करे। आशाधर जी ने यहां मदन फल (मैणफल) को यवमाला के साथ लगाने को कहा है जैसा कि उनके निम्न श्लोक से प्रगट है—

भक्तर्द्धिवृद्धिकृदनुक्षणभाविशर्म-
संपत्फलामितगुणावलिमुद्गिरंत्या।
राठर्द्धिवृद्धियवमालिकयार्चितोऽर्हन्
गोः सप्तधान्यकमदोर्हतु सप्तभंगीम् ॥अध्याय ४–१६२॥

अर्थ—क्षण भर के बाद होने वाली सुख-संपदा के फलों की प्रचुर गुणावली को बतलाने वाली, और मदनफल व ऋद्धि-वृद्धि (ये दोनों जड़ी बूटियाँ हैं) युक्त ऐसी जयमाला से जो पूजे गये हैं और जो भक्तों की ऋद्धि-वृद्धि के करने वाले है ऐसे अर्हत भगवान् सप्तधान्यरूपी वाणी की सप्तभंगी को प्राप्त होवे। अर्थात् उनके आगे भेंट किये सप्तधान्य मानों उनकी वाणी के सप्तभंग रूप होओ।

नेमिचन्द्रप्रतिष्ठापाठ पृ० ५६३ में मुखवस्त्र के लिए ऐसा लिखा है—"मुखवस्त्रमेवं कुर्यात् वेदिकायामंतगृहे च।" मुखवस्त्र ऐसा करे—वेदी पर और भीतरी गृह पर। यहाँ भी मुखवस्त्र का अर्थ परदा ही व्यक्त किया है। वह परदा वेदी और निजमंदिर (गर्भ गृह) दोनों पर होना चाहिए नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के पूजामुख प्रकरण में लिखा है कि—प्रभात ही जिन मंदिर जावे तो मंदिर के किवाड़ खोल कर पाँव· हाँथ धोके निजमंदिर में प्रवेश करे वहाँ परदा हटाकर भगवान् के दर्शन करे ऐसा वर्णन करते हुये "उद्घाटयवदनवस्त्रं" इत्यादि श्लोक लिखा है। इसमें भी मुख-वस्त्रं' शब्द का प्रयोग परदा के अर्थ में किया है।

और ऊपर उद्धृत जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के श्लोक में भी जिस उत्प्रेक्षा से कथन किया है उससे भी 'मुखवस्त्र' का भाव परदा करना ही झलकता है। यहाँ भी भी समझना चाहिए कि—तिलकदान के बाद मूर्ति की अष्टद्रव्य से पूजा

लिखी है। इससे सिद्ध होता है कि तिलकदान-विधि के बाद ही मूर्ति पूजनीय होती है। पूजनीय मूर्ति के अंग मुख पर कपड़ा लपेटना अयुक्त है। इसी ख्याल से तो जयसेन ने तिलकदान के बाद अधिवासना विधि में बिंब के कंकण बाँधने का कथन नहीं किया है यह एक खास ध्यान देने योग्य बात है।

इसलिए ब्रह्मचारीजी ने जो मुखवस्त्र विधि मे सात-धान्यों को वस्त्र में बाँधकर उससे प्रतिमा के मुख को लपेटना लिखा है और उसी के मुताबिक आजकल के प्रतिष्ठाचार्य जो विधि करते हैं वैसा विधान जयसेन प्रतिष्ठा पाठ आदि किसी भी प्रतिष्ठाग्रंथ में नहीं है। यह हम ऊपर बता चुके हैं।

(२) पृष्ठ १८२ पर ब्रह्मचारीजी ने नयनोन्मीलन क्रिया की विधि इस प्रकार लिखी है "एक रकाबी में कपूर जलाकर सुवर्ण की सलाई को रक्खे। और दाहिने हाथ में लेकर फिर 'सोहं' मंत्र को ध्याता हुआ १०८ दफे "ओं ह्री श्री अर्हंनमः" मंत्र पढ़े। फिर निम्नलिखित श्लोक व मंत्र पढ़कर नेत्र में सलाई फेरे।" ब्रह्मचारीजी के इस कथन का यही आशय है कि कपूर के काजल को सलाई में लेकर उसको भगवान् की आँखों में आंजे। किन्तु इस प्रकार का कथन जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे तो क्या? अन्य किसी भी प्रतिष्ठा पाठ में नही है। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में यह कथन दो जगह आया है पृ० १३२ पर और २८८ पर। पृ० १३२ पर मूल मे जो लिखा है उसकी वचनिका ऐसी है—

"सुवर्णशलाका करि कुंकुमकरि (नेत्रोन्मीलनयंत्र को) लिखि, लवंग अर रक्त पुष्पनिकरि 'ओं ह्री श्रीं अर्ह नम.' ऐसा मंत्र एकसौ आठ बार जपि चादी के पात्र में मिश्री दूध घृत स्थापनकरि तिह गंध करि सुवर्णशलाका करि मूर्ति के नेत्र में फेरि इन्द्र है सो पूरकनाड़ी वहतां नेत्रोद्घाटन करे।

पृ० २८८ पर ऐसा लिखा है—"तदनंतरमेव रुक्मपात्र स्थित कर्पूरयुक्त सुवर्णशलाकां दक्षिणपाणौ विधृत्य 'सोहं स' इति ध्यायन्नाचार्यो नयनोन्मीलन यंत्रं प्रदर्श्य श्लोक मिमं पठेत्।" आगे श्लोक और मंत्र लिखकर फिर लिखा है—"इति स्वर्णशलाकया नेत्रोन्मीलनं कुर्यात्।" इसकी वचनिका नहीं की है। अर्थ इसका यह है—मुखोद्घाटन के बाद ही सोने के पात्र में रक्खे कर्पूरादि गंधद्रव्य से युक्त की हुई सुवर्णशलाका को दक्षिण हाथ में लेकर "सोहंस" का ध्यान करता हुआ आचार्य नयनोन्मीलनयंत्र को दिखा कर आगे लिखे श्लोक और मंत्र को पढ़े और सोने की शलाका से नेत्रोन्मीलन करे।" पृ० १३२ की वचनिका में लिखे "तिह गंधकरि सुवर्णशलाकाकरि" इस वाक्य से भी यही बताया है कि जिस कुंकुमादिगंध से नेत्रोन्मीलन मंत्र लिखा गया है उस गंध को सलाई में लेकर नेत्र में फेरे। इसीसे बहुत कुछ मिलता-जुलता कथन नेमिचन्द्र-प्रतिष्ठापाठ पृ० ५५८ और ५७४ में लिखा है। वहां देख सकते हैं।

इस विषय में आशाधरजी ने अपने प्रतिष्ठापाठ के चौथे अध्याय में इस प्रकार लिखा है—

येनोन्मील्य समस्तवस्तुविशदोद्भासोद्भटं केवल—
ज्ञानं नेत्रमदर्शि मुक्तिपदवी भव्यात्मनामव्यथा।
तस्यात्रार्जुनभाजनार्पितसिताक्षीराज्यकर्पूरयुक्—
वक्त्रस्वर्णशलाकया प्रतिकृतौ कुर्वेदृगुन्मीलनम्॥१८४॥

अर्थ—समस्त पदार्थों को स्पष्ट देखने की है उद्भटता जिसमें ऐसे केवलज्ञानरूप नेत्र को खोलकर जिन्होंने भव्य-जीवों को बाधारहित मुक्ति पदवी दिखाई उन भगवान् की प्रतिमा में यहाँ चाँदी के पात्र में रक्खे मिश्री, दूध घृत कपूर इनमें सोने की सलाई का अग्रभाग डुबोकर उससे नेत्र खोलता हूं।

इस प्रकार जयसेन प्रतिष्ठापाठ आदि किसी भी प्रतिष्ठापाठ में कपूर जलाकर उसके काजल से नेत्रोन्मीलन करना नही लिखा है। न मालूम ब्र० शीतलप्रसादजी ने ऐसा कथन किस आधार पर किया है? अच्छे २ प्रतिष्ठाचार्य ब्रह्मचारीजी की इसी विधि से काम करते आरहे हैं। इस अशास्त्रीय विधि से अबतक सैकड़ों प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हो चुकी है।

ब्रह्मचारी जी तो इस विधान मे आये मिश्री घृत दूध आदि का भी कोई उल्लेख नहीं करते हैं। ब्रह्मचारीजी ने तो जो कुछ उनकी समझ में आया सो लिख दिया, किंतु इन प्रतिष्ठाचार्यों का तो कर्तव्य था कि जिन शास्त्रों के आधार पर से ब्रह्मचारी जी ने प्रतिष्ठाग्रंथ लिखा है उनसे इसका मिलान करके यथार्थता का पता लगाते।

(३) पृष्ठ १३४ पर भगवान् को आहार देने का वर्णन करते हुए जो मूर्ति को मस्तक पर धरकर आचार्य का आहार के लिये जाना, काल्पनिक राजा सोम और श्रेयांस का अपनी राणियों को साथ में लेकर उन्हें पड़गाहना आदि कथन किया है सो ऐसा नाटकीय ढंग तो ब्रह्मचारी जी के इस सारे ही प्रतिष्ठा पाठ में पाया जाता है किन्तु इस नाटकीय ढंग की धुन में भगवान् के हाथ में जो इक्षु रस की धारा डालने की बात कही है वह जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के अनुकूल नहीं है। एक प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठाचार्य जी ने भगवान् के आहारदान की जो विधि कराई थी वह भी सुन लीजिये—अनेक व्यंजनों से भरा थाल प्रतिमा जी के सामने रखकर उसमें से अनेक नरनारी बारी-बारी से आकर भोजन का ग्रास बना बना कर प्रतिमा के हाथों पर ही नहीं मुंह पर रखते जाते थे। यह हमारा आंखों देखा हाल है। धन्य है इन प्रतिष्ठाचार्यों की लीलाओं को। नाटकीय ढंग की भी तो कोई हद होनी चाहिए।

भगवान् के आहारदान के विषय में जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में जैसा कुछ लिखा है उसे देखिये—

तत्रोपवासं मघवा तथार्यो यज्वा शची चान्यमहे नियुक्ताः।
विदध्युरुर्ध्वे विधिना हि मध्यंदिने जिनाग्रे चरुपूजनानि ॥ ८४२॥

तदैव पं चाद्भुतवृष्टिरग्रे बिंबस्य पुष्पांजलिना समेता।
योज्या ध्वनिं तूर्यगणै विधाय भुजीयुरन्यानपि भोजयित्वा ॥ ८४३॥

अर्थ—भगवान् के उस दीक्षादिन में इन्द्र, आर्य-यजमान इन्द्राणी और अन्य पुजारी उपवास रक्खें। अगले दिन के मध्याह्न में विधि के साथ भगवान् के आगे नैवेद्य भेंट करें और तब ही बिंब के आगे पुष्पांजलि के साथ पंचाश्चर्यों की वर्षा करे और अनेक बाजे बजवा कर इन्द्रादि आप पारण करें तथा अन्य साधर्मी जनों को भी जिमावें।

यहां भगवान् का आहार करने का भाव दिखाने को प्रतिमा के आगे नैवेद्य भेंट करना मात्र लिखा है। अतः प्रतिमा के हाथ में आहार धरना योग्य नहीं है।

ब्रह्मचारी जी ने भगवान् के उक्त आहारदान के प्रकरण में प्रतिमा जी को पड़गाहकर उनकी दातार के द्वारा अष्टद्रव्य से पूजा करने को भी लिखा है सो यह भी अयुक्त है। इस प्रकार का विधान लिखने का इस प्रकरण को नाटकीय ढंग का रूप देने से हुआ प्रतीत होता है वर्ना प्रतिष्ठा ग्रंथों में तो ऐसा कुछ लिखा नहीं हैं। अभी तो प्रतिमा की तिलक दान विधि ही नहीं हुई, तो उसके पहले उसकी अष्ट द्रव्य से पूजा कैसे की जा सकती है? माना कि इस वक्त भगवान् मुनि अवस्था में हैं पर यहाँ साक्षात् भगवान् तो नहीं हैं यहाँ तो उनकी मूर्ति है। अष्टद्रव्य से पूजने के योग्य मूर्ति प्रतिष्ठाविधि में कब होती है यह तो विचार करना ही हो पड़ेगा। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में भी पृष्ठ २७८ पर तिलकदान विधि के बाद "अत्राष्टकं देयं" वाक्य देकर तिलकदान के बाद ही अष्टद्रव्य से पूजा करना बताया है। यहीं पर वचनिकाकार ने तिलकदान को प्रतिष्ठा का मुख्य कार्य बताया है। अर्थात् तिलकदान यह प्रतिष्ठा की मुख्य क्रियाविधि है। इसके पहले मूर्ति की अष्टद्रव्य से पूजा नहीं हो सकती है। इसी तिलकदान विधि में अत्रावतरावतर आदि आह्वानादि मंत्रों का प्रयोग कर भगवान् को मूर्ति में स्थापन करने की भावना की जाती है। आशाधर जी ने भी अपने प्रतिष्ठापाठपत्र १०८ में तिलकदान विधि के हो चुकने बाद ही "तत्काल प्रतिष्ठितार्हत्प्रतिमां नमस्कुर्यात्" ऐसा लिखा है। अर्थात् उसी समय प्रतिष्ठित हुई अर्हतप्रतिमा को नमस्कार करे।

बिब प्रतिष्ठा में तिलकदान विधि कितनी मुख्य और महत्व की है इसके लिए आशाधर जी अपने प्रतिष्ठापाठ अध्याय ४ में लिखते हैं कि—

द्रव्यैः स्वैः सुनयार्जितैर्जिनपते बिंबं स्थिरं वा चलं।
ये निर्माप्य यथागमं सुदृषदाद्यात्मनान्येन वा ॥
लग्ने वल्गुनि लंभयंति तिलकं पश्यंति भक्त्या च ये।
ते सर्वोऽप्य महोदयांतमुदयं भव्याः लभंतेऽद्भुतम् ॥५॥

अर्थ—न्यायोपार्जित स्वद्रव्य से जो शास्त्रानुसार उत्तम पाषाण आदि की स्थिर व चल जिनप्रतिमा को बनाकर अपने या प्रतिष्ठाचार्य के द्वारा उत्तम लग्न में तिलकविधि करते हैं और उस विधि को जो भक्ति से देखते है वे सब ही भव्य जीव महोदयांत कहिये मोक्ष है अन्त में जिसके ऐसे अद्भुत उदय को—अहमिंद्रादि पद को प्राप्त होते है।

मुद्रित जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में अशुद्धियां

आगे हम छपा हुआ जयसेन प्रतिष्ठापाठ जो इस वक्त प्रचार में आ रहा है उसके बाबत लिखते हैं—

आज से ३६ वर्ष पहले इस पाठ को सेठ हीराचंदजी नेमीचंदजी दोशी सोलापुर वालों ने छपाया था। इसके यागमंडल पूजविधान में अन्य प्रतिष्ठा ग्रथों की तरह रागी द्वेषी देवों की कतई आराधना नहीं है। उसमें पंच परमेष्ठी सम्बन्धी पूजविधान लिखा है। अन्यत्र भी जहां तहां इसमें देव शास्त्र गुरु की ही आराधना लिखी है तथा इसमें अन्य प्रतिष्ठा ग्रंथों की तरह किसी भी विधान में गोमय गोमूत्र का उपयोग नहीं किया है इत्यादि कारणों से यह प्रतिष्ठा पाठ अपनी खास विशेषता रखता है और अधिकतया श्रद्धा का पात्र बना हुआ है। किन्तु इस प्रतिष्ठा पाठ में कही-कही हमें अशुद्धियाँ नजर आती हैं। खासकर वे अशुद्धियाँ जो मुख्यतया प्रतिष्ठा विधि से सम्बन्ध रखती है उन पर अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिये इसलिये यहां हम दूसरी अशुद्धियों को छोड़कर प्रतिष्ठा विधि सम्बन्धी अशुद्धियों का ही उल्लेख करते हैं—

(१) पृष्ठ ११७ के श्लोक ३७८ में कहा है—

आचार्येण सदा कार्यः क्रियां पश्चात् समाचरेत्।
श्रीमुखोद्घाटने नेत्रोन्मीलने कंकणोज्झने ।।

अर्थ—आचार्य को श्रीमुखोद्घाट, नेत्रोन्मीलन और कंकणमोचन में सदा मातृकान्यास करना चाहिये। फिर अन्य क्रिया करनी चाहिये।

तथा पृष्ठ १३६ में मंत्र नं० २५ वां इस प्रकार है—"ओंनमोर्हते भगवतेऽर्हते सद्यःसामायिकप्रपन्नाय कंकणमपनयामि स्वाहा।" दीक्षास्थापनमंत्रः। यही मंत्र आशाधर प्रतिष्ठा पाठ मे भी भगवान् के दीक्षाग्रहण में लिखा है। इस प्रकार जयसेनप्रतिष्ठापाठ में उक्त दो स्थानों में कंकण दूर करने का उल्लेख किया है। परन्तु ग्रंथ भर मे कहीं भी किसी भी विधान में जिनबिंब के कंकण बांधना नहीं बताया है तथा पृष्ठ १३६ में "अट्ठविहकम्ममुक्का" आदि ३८ वां मंत्र मुखोद्घाटन का दिया है जिसे अन्य प्रतिष्ठा ग्रंथों में कंकणबंधन का मंत्र लिखा है। मगर जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के पृष्ठ २८३ में जहां कि मुखोद्घाटन क्रिया का वर्णन किया है वहां यह मंत्र न देकर अन्य ही वह मंत्र लिखा है जो अन्य प्रतिष्ठा ग्रंथों में पाया जाता है। इस प्रकार इस विषय में जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में खास गड़बड़ नजर आती है।

(२) पृष्ठ १३५ पर नं० ३०, ३१, ३२ के तीन मंत्र दिये हैं दरअसल ये तीन मंत्र नहीं है। तीनों का मिलकर एक ही मत्र है और उसका नाम जियमंत्र है। यही जिनमंत्र आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के पत्र ९६ पर लिखा है। इस मंत्र का उपयोग जन्म कल्याणक में किया जाता है। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ पृ० २५६ में इसे जन्म कल्याणक की विधि में लिखा भी है वहां इसके दो मंत्र बना दिये हैं। इस तरह एक ही मंत्र जिनमंत्र को कहीं ३ मंत्रों में विभाजित कर लिखना, कहीं दो मंत्रों में लिखना साफ ग्रंथ प्रति की अशुद्धता को प्रकट करता है।

(३) पृ० १३६ में नं० ३६ और ३७ के दो तिलक मंत्र लिखे है। किन्तु पृ० २७८ में जहां कि तिलक विधि का वर्णन किया है वहां जो तिलक मंत्र लिखा है वह उक्त दोनों ही तिलक मंत्रों से भिन्न है। यह भी इस ग्रंथ की अशुद्धि को सूचित करता है।

(४) दीक्षा कल्याणक में एक संस्कार मालारोपण की विधि की जाती है। इस विधि का मतलब ऐसा हैं कि भगवान् की मुनि अवस्था में पंचाचारों के पालन करने से उत्पन्न होने वाली आत्मा की विशुद्ध-अवस्था विशेष के ४८ भेद करके उन भेदों को ही यहाँ अलग-२ अड़तालीस संस्कार बना दिये हैं। उन संस्कारों को प्रतिमा में आरोपण करना यही पंचसंस्कारारोपण विधि कहलाती है। इन संस्कारों में से ११वां संस्कार जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में पृ० २७२ पर 'शीलसप्तक' नामका लिखा है। यह नाम बिल्कुल गलत मालूम देता है। क्योंकि तीन गुण व्रतों और चार शिक्षाव्रतों को 'शीलसप्तक' कहते हैं जो श्रावक व्रतों के अन्तर्गत है। यहाँ मुनि अवस्था में यह संस्कार कैसा? आशाधर-प्रतिष्ठा-पाठ में इस नामका कोई अलग संस्कार नहीं है। वहाँ ९वें संस्कार का नाम "त्रियोगासंयमच्युतेः शीलन" है जिसका अर्थ होता है त्रियोग के द्वारा असंयम से अलग रहने का स्वभाव। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में इसी को दो नामों से लिख दिया है—त्रियोगेनसंयमाच्युति और शीलसप्तक ऐसा लिखने

की गलती से हुआ जान पड़ता है। इसी तरह इसमें जो ४४वां ४५वां संस्कार लिखा है वे भी आशाधर-प्रतिष्ठा पाठ में नहीं हैं इन दोनों का अन्तर्भाव ४३वें संस्कार में हो जाता है अतः ये निरर्थक हैं कुछ संस्कार लिखने से रह गये हैं। इस तरह जयसेन प्रतिष्ठापाठ का यह प्रकरण कुछ अशुद्धियों को लिए हुए ज्ञात होता है। अफसोस है कि इस छपी हुई अशुद्ध प्रति से जितनी प्रतिष्ठाएँ अब तक हुई उन सब में संस्कारों का आरोपण अशुद्ध रूप से ही हुआ।

(५) जयसेन प्रतिष्ठा पाठ पृ० २७८ पर तिलकदान विधि लिखी है। उसके श्लोक ८४६ के चौथे चरण के "निजाभिषिक्त्यै" वाक्य से यहां दही, दूब, सरसों, कपूर अगर आदि से मिश्रित जल से यजमान की स्त्री को स्नान करने को कहा गया है। किन्तु वचनिकाकार ने "निजाभिषिक्त्यै" की जगह "जिनाभिषक्त्यै" पाठ मानकर अर्थ किया है "जिनका अभिषेक के अर्थि।" किन्तु यह अर्थ भी यहाँ ऐसा कुछ बैठता नहीं है। तथा यहाँ की मूल गद्य में यजमान की पत्नी के द्वारा आचार्य के तिलक करने का विधान किया है किन्तु वचनिका में इस गद्य का और यहां के श्लोक ८५०-५१ का कतई अर्थ नहीं है। सम्भव है जिस प्रति से वचनिका बनाई गई है उसमें ऐसा मूल पाठ नही हो। यहाँ के श्लोक ८५१ में यह तिलक विघ्नसमूह के नाश करने के लिए बताया है। आचार्य के तिलक करने से विघ्नसमूह का नाश मानना भी अटपटा सा ही है। और इस श्लोक में 'विदधातु' क्रिया के स्थान में 'विधातु' प्रयोग भी अशुद्ध किया है।

इस तरह यह प्रकरण इसमें अजीबसा हो गया है और ग्रंथ की अशुद्धता को जाहिर करता है। शायद इसी से ब्रह्मचारी जी ने भी अपने प्रतिष्ठा पाठ में इस प्रकरण के इस प्रकार के कथन को नहीं अपनाया है।

(६) पृ० २८२ में अधिवासना विधि के बाद "सर्वान् जनानपसृत्य दिगंबरत्वावगत आचार्यः..." आदि गद्य पाठ दिया है जिसमें सब लोगों को हटाकर प्रतिष्ठाचार्य के नग्न हो जाने को कहा है। किन्तु वचनिका में ऐसा कुछ भी नहीं लिखा है। इससे यही अनुमान होता है कि वचनिकाकार के सामने मूल प्रति में यह पाठ नहीं था और इस कथन का आगे के विवेचन के साथ कुछ मेल भी नहीं बैठता है क्योंकि आचार्य के नग्न हुए बाद आगे यहाँ मुखोद्घाटन, नयनोन्मीलन इन दो विधियों का करना बताकर फिर आगे सूरिमंत्र देने का विधान किया है। मुखोद्घाटन में परदा हटाए बाद प्रतिष्ठाचार्य का नग्न रहना कैसे हो सकेगा? वैसे भी उसके लिए नग्नता का विधान अटपटा सा ही नजर आता है और यहाँ यह भी स्पष्ट नहीं किया है कि मुखोद्घाटन, नयनोन्मीलन और सूरिमंत्र इन तीन क्रियाओं से कौनसी क्रिया नग्न होकर की जावे। बल्कि आचार्य के नग्नता का कथन किये बाद, आगे वह कब वस्त्र धारण करे? ऐसा कुछ कथन ही नहीं किया है। इससे साफ प्रगट है कि यह कथन मूल में प्रक्षिप्त है। यह तो पहिले ही विचारणीय था ही फिर तुर्रा यह है कि ब्रह्मचारीजी ने अपनी तरफ से इसके साथ और नमक मिर्च लगा दिया है। वे अपने प्रतिष्ठा पाठ में लिखते हैं कि—"फिर आचार्य नग्न हो जावे व ऐलकादि भी नग्न हो जावे (पृ० १४१) फिर आचार्य और मुनि आदि जो हो वह मिलकर सूरिमंत्र पढ़े। दोनों कानों में पढ़कर सर्वज्ञपना प्रगट करे (पृ० १४२) जयसेनप्रतिष्ठा पाठ में तो कही मुनि ऐलक का नाम नही है, फिर न जाने ब्रह्मचारीजी इस काम में मुनि ऐलक को क्यों ले आये? साथ ही प्रतिमा के कानों में पढ़े जाने की बात भी बड़ी विचित्र है। प्रथमानुयोग आदि किसी भी प्राचीन शास्त्र में ऐसा उल्लेख देखने में नहीं आया कि जहाँ किसी मुनि ने प्रतिमा को सूरिमंत्र दिया हो। वस्त्रधारी भट्टारकों ने ऐसा कहीं किया हो तो बात दूसरी है। आजकल जो सूरिमंत्र दिया जाता है जिस किसी को बताते नहीं हैं उसका भी हाल सुनिए—"ओं भूर्भुवः स्वः ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" यह ब्राह्मण मत का गायत्री मंत्र है। इसी मन्त्र के साथ असिआउसा आदि जैन मंत्र जोड़कर किसी ने मनघड़ंत सूरिमंत्र बना डाला है।

इस तरह जयसेन प्रतिष्ठापाठ की मुद्रित प्रति में यत्र तत्र अशुद्धियाँ नजर आती हैं। अतः इसकी पुरानी हस्तलिखित प्रति की किन्हीं शास्त्र भण्डारों से खोज होना बहुत ही जरूरी है। इस दिशा में प्रतिष्ठाचार्यों को प्रयत्न करना चाहिए ताकि जिन बिंब प्रतिष्ठा की विधि सही रूप

दौलतरामकृत जीवंधर चरित्र : एक परिचय

लेखक—श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, जयपुर

दौलतराम जी १८ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्य सेवी हो गए है। ये राजस्थानी विद्वान् थे। स्व० पं० श्रीप्रकाश शास्त्री ने अपने लेख में इनकी १० रचनाओं के नाम गिनाये थे। जिनमें श्रीपाल चरित्र एवं परमात्मा-प्रकाश को उन्होंने अतिरिक्त लिखा था। इधर जब राजस्थान शास्त्र भण्डारों की विस्तृत खोज हुई है तभी से हिन्दी की सैकड़ों नवीन रचनाएं उपलब्ध हुई है। पंडित प्रवर दौलतरामजी की राजस्थान के इन शास्त्र भण्डारों में अब तक हमें निम्न रचनाएं प्राप्त हो चुकी हैं—

१ पुण्याश्रव कथा कोश	हि० गद्य	र० काल	सं०	१७७७
२ क्रिया कोश भाषा	हि० पद्य	,,	,,	१७९५
३ अध्यात्म बारहखडी	,,	,,	,,	१७९८
४ पद्मपुराण भाषा	हि० गद्य	,,	,,	१८२३
५ आदिपुराण भाषा	,,	,,	,,	१८२४
६ हरिवंश पुराण	,,	,,	,,	१८२४
७ पुरुषार्थ सिध्युपाय	,,	,,	,,	१८२७
८ वसुनन्दिश्रावकाचार	,,	,,	,,	१८१८
९ परमात्म प्रकाश	,,	,,	,,	—
१० श्रीपाल चरित्र	,,	,,	,,	—
११ श्रेणिक चरित्र	,,	,,	,,	—
१२ तत्वार्थ सूत्र (टव्वा टीका)	,,	,,	,,	—
१३ सारसमुच्चय	,,	,,	,,	—

उक्त १३ रचनाओं के अतिरिक्त अभी हम लोगों ने जब अक्तूबर मास के प्रथम सप्ताह में साहित्य एवं पुरातत्व की खोज में एक १६ दिवसीय भ्रमण किया था तब जयपुर के अग्रवाल दि० जैन मन्दिर में इनकी एक रचना "जीवंधर चरित्र" और उपलब्ध हुई है जिसका परिचय यहां लिखा जा रहा है।

जीवंधर चरित्र की प्राप्ति की घटना

डा० कासलीवाल, मैं तथा सुगनचन्द जी जब रात्रि को ८॥ बजे अग्रवाल मन्दिर के शास्त्र भण्डार को देख रहे थे तब एक गट्ठर में कुछ बिखरे हुए पत्र दिखाई दिये। सभी बिखरे हुए पत्रों को इकट्ठे कर उन्हें क्रम से लगाया गया तब ज्ञात हुआ कि यह पं० दौलतरामजी कृत जीवंधर चरित्र की मूल पाण्डु लिपि है। यह प्रति स्वयं ग्रंथकार के द्वारा स्थान स्थान पर संशोधित की हुई है। इस ग्रंथ की रचना उदयपुर मे इसी मन्दिर में बैठकर की गई थी।

रचना क्योंकर हुई

पं० दौलतराम जी बसवा (जयपुर) के निवासी थे। इनके पिता का नाम आनन्दराम था एवं इनका गोत्र कासलीवाल था। ये आरम्भ में वकील (मुख्तार) थे तथा जयपुर महाराज के सेवक थे। इनकी रुचि धर्म की ओर अच्छी थी अतः महाराजा जयपुर ने इन्हें महाराणा उदयपुर की सेवा में कुछ दिनों के लिए भिजवा दिया[1]। ये महाराणा के पास रहने लगे तथा वहाँ इनका धान मन्डी के अग्रवाल मन्दिर में शास्त्र प्रवचन होने लगा। इन्होंने वहां महापुराण (संस्कृत) की स्वाध्याय भी की। उसमें जीवंधर स्वामी का वर्णन आया। उसे सुनकर कालाडेहरा के श्री चतुरभुजदास अग्रवाल, पृथ्वीराज एवं सागवाड़ा निवासी सेठ बेलजी हुँबड ने इनसे हिन्दी में जीवंधर कथा लिखने का अनुरोध किया। उन्हीं की प्रेरणा से आषाढ़ सुदी २

१ जैन साहित्य संस्थान जयपुर की ओर से प्रकाशित

२ देखिये बीर वाणी वर्ष २ अंक २-३

में की जा सके। जयसेन प्रतिष्ठापाठ के अशुद्ध छपने के कारण उसमें प्रतिष्ठा विधि का कोई स्थल संदेहजनक प्रतीत हो और वह स्थल अन्य प्रतिष्ठा ग्रन्थों में योग्य दीखे तो उसका उपयोग अन्य प्रतिष्ठाग्रन्थों से कर लेने में भी कोई हर्ज नही है ऐसी हमारी समझ है।

मैंने यह लेख विचारशील विद्वान् प्रतिष्ठाचार्यों के परामर्श के अर्थ प्रस्तुत किया है। आशा है, वे गंभीरता से इस पर विचार करेंगे। मैंने यहाँ जो कुछ लिखा है वह सुझाव की दृष्टि से लिखा है। यदि इसमें मैंने कहीं भूल की हो तो वे मुझे बताने की कृपा करेंगे।

गुरुवार संवत् १८०५ में यह नवरस युक्त ग्रंथ पूर्ण किया जैसा कि निम्न पंक्तियों से ज्ञात होता है—

"बांच्यो महापुराण बीस हजार सिलोका
जाकै अन्ति अनूप वीर चरित जु गुण थोका"
जामैं कथा रसाल स्वामि जीवंधर केरी
सुनिकर हरषे भव्य स्तुति कीनीजु घनेरी ॥
तबै बोलियो अग्रवाला वासी काशी डहर को
चतुर चतुरभुज नाम चरंची ग्रंथ पं६ सिव सहरको
जो ह्वै ग्रंथ अनूप देश भाषा के माहीं
बांचै वहुतहि लोक या महैं संसै नाहीं ॥
सब गिरँथ की बनिन आवै तो इह जीवंधर तनी
अवसिमेव करनी सूभाषा प्रथीराज इह भनी।
सुनी चतुरमुख बात सोहि दौलत उरधरी
सेठ बेलजी सुघर जाति हूँमड हितकारी ॥
सागवाड है वास श्रवण की लगन घनेरी
सब साधरमी लोक धरै श्रद्धा श्रुत केरी ॥
तिन नैं आग्रह करि कहि फुनि दौलत के मन बसी
संस्कृत तैं भाषा कीनी, इह कथा है नौ रसी ॥
ठारह सै जु पंच आषाढ़ सुमासा।
तिथि दोइज गुरुवार पक्ष सुकल जुसुभ भासा ॥
तीजै पहर सु एह ग्रंथ सुभ पूरण हुओ।
श्री जिनधर्म प्रभाव सकल भव भ्रम तै जूवो ॥

अन्य रचनाएं तथा इस रचना की विशेषता

अन्य महापुरुषों के जीवन की तरह जीवंधर कुमार का जीवन चरित्र भी जैन समाज में अपनी अनेक विशेषताओं के कारण महत्वपूर्ण एवं जनप्रिय रहा है। उनका जीवन श्मसान में जन्म होने से लेकर अनेक कौतूहल पूर्ण घटनाओं के साथ मानवता की चरम सीमा पर पहुँचता है तथा वे अन्त में केवल ज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करते हैं। इसलिये ऐसे महान पुरुषों का जीवन चरित्र संस्कृत, अपभ्रंश हिन्दी आदि कितनी ही भाषाओं में निबद्ध किया हुआ मिलता है। अब तक जीवन्धर के जीवन से सम्बन्धित राजस्थान के भण्डारों में निम्न रचनाएं प्राप्त हो चुकी है।

१. जीवंधरचम्पू	हरिचन्द्र	संस्कृत
२. जीवंधर चरित्र	शुभचन्द्र	,,
३. क्षत्र चूड़ामणि	वादीभसिंह	,,
४. जीवंधर चरित्र	रइधू	अपभ्रंश
५. जीवंधर चरित्र	नथमलविलाला	हिन्दी
६. जीवंधर चरित्र	पन्नालाल	,,

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त डा० वेलंकर ने अपने जिनरत्नकोश में निम्न रचनाओं के नाम और गिनाये हैं :-

१. जीवंधर चरित्र	भास्कर कवि
२. जीवंधर चरित्र	ब्रह्मय्या
३. जीवंधर चरित्र	सुचन्द्राचार्य

पंडित दौलतराम कासलीवाल ने गुणभद्राचार्य कृत संस्कृत के उत्तरपुराण में वर्णित जीवंधर की कथा के आधार पर जीवनधर चरित्र लिखा है। यह ग्रन्थ किसी का अनुवाद नहीं है बल्कि कवि की स्वतंत्र मौलिक रचना है। इसे हिन्दी का प्रबन्धकाव्य कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। इसमें घटनाओं का अच्छा क्रम है तथा नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश है इस काव्य में ७२५ पद्य हैं तथा दोहा, चौपाई, वेसरीछन्द, अरिल्ल, बडदोहा भुजंगप्रयात आदि अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण काव्य ५ अध्यायों में विभक्त है जिनमें विरह, मिलन, युद्ध वर्णन, नगरवर्णन आदि सभी प्रकार के वर्णन हैं। इस कथा का नायक जीवधर कुमार है जो धीरोदात्त प्रकृति का है तथा प्रतिनायक काष्टांगार है। कथा में नायक प्रतिनायक का विरोध बराबर चलता रहता है। नायक जीवंधर प्रतिनायक काष्टांगार को मार कर अपने पिता का खोया हुआ राज्य प्राप्त करता है और अन्त में संसार से विरक्त होकर सम्पूर्ण कर्मो को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करता है। सम्पूर्ण काव्य की कथा बड़ी रोचक है तथा पाठकों की उसे पढ़ने की जिज्ञासा बनी रहती है। इसका कथानक सजीव होने के साथ २ जीवन को स्पर्श करने वाला भी है।

कवि ने हृदय को छूने वाली सीधी-साधी जन-साधारण की भाषा में जीवंधर के जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं का रोचक वर्णन किया है। पूरे काव्य में ऐसा लगता है मानों कवि पाठकों से कविता में साधारण बातचीत करता चलता है—साधारण से साधारण पढ़ा-लिखा भी कवि के अभिप्राय को समझने में सफल होता है।

राजा रानी एवं पुरोहित का परिचय देखिये :—

चौपाई—

तहां राजपुर नगर अनूप, राज करै सत्यंधर भूप ॥
पटरानी विजया गुण खानि, जा समान रति रूप न मानि ॥
मंत्री काष्ठांगारिक एक प्रोहित रुद्रदत्त अविवेक ।

कवि की भाषा साहित्यिक कलाबाजियों से कोसों दूर है। काव्य की रचना कवित्व शक्ति दिखाने को नहीं अपितु सत्यं शिवं सुन्दरम् को ध्यान में रखते हुए स्वपर कल्याणार्थ—धार्मिक पुरुषों के चरित्र को कथा के बहाने से कहने के लिए की गई है। सारे काव्य में ढूंढारी (जयपुरी) भाषा के साथ २ व्रज भाषा का मिश्रणहै किन्तु कहीं भी कवि ने शब्दों में क्लिष्टता नहीं आने दी है।

कवि ने बाल लीला का अच्छा वर्णन किया है। बालक जीवंधर अपने अन्य साथियों के साथ लाख की गोली से खेलते दिखाई देते हैं।

"एक दिवस या पुर कैं पासा, कंवर करत है केलि किलासा
लाख तनी गोली करि वाला, खेलत है रस रूप रसाला।"

जीवंधर कुमार प्रारम्भ से कुशाग्र बुद्धि एवं तत्काल उत्तर देने वाले थे। उन्हें गोली खेलते देख एक साधु ने पूछा कि लाला नगर कितनी दूर है? इस पर उनका उत्तर देखिये--

"बोले कंवर सबै इह जानै, बालक चेलक पंथ पिछाणें।
तू अति वृद्ध ज्ञान न तोकौं, किती दूर पुर पूछत मोकौं ॥
तरवर सरवर बाग विसाला, बहुरि देखिये खेलत बाला।
तहां क्यों न लखिये पुर नीरा, संसै कहा राखिये वीरा ॥
ज्यों लखि धूम अगनि ह्वै जानै,तौ बालक लखि पुर परवानै॥"

बालक जीवंधर की बातों पर प्रसन्न हो तापसी उनके साथ भोजन करने घर आता है। माता बालक को गर्म-गर्म भोजन परोसती है। बालक माता से रूठ जाता है तथा रोने लगता है और कहता है—गर्म भोजन कैसे किया जावे। माता को परेशान होती देख तापसी बालक को न रोने तथा धैर्य रखने के लिये समझाता है। इस पर बालक जीवंधर का उत्तर देखिये—

"सुनि तापस के वचन विवेकी, बोले आप भाव कर एकी।
रोबे के गुन तुम नहि जानो, मेरी बात हिये परवानो ॥
जाय सलेषम जो दुखदायी, नेत्र विमल ह्वै अति अधिकाई।
तितै अहार हू सीतल होई, यामैं तो औगुन नहि कोई ॥"

घर में विवाह योग्य कन्या माता-पिता के लिये कितनी चिन्ता की वस्तु होती है तथा विवाह के पश्चात् उनका कितना भार कम हो जाता है—

दोहा—"रहै कंवारी कन्यका ब्याह जोगि घर मांहि।
माता तात को दूसरी ता सम चिंता नांहि ॥
पुत्रि परणावन समा, नहि निचितता और।
तातै भयो निचित अति गरुड वेग खग मौर ॥"

माता और पुत्र का दंडक वन में मिलन होता है उस समय माता की दुर्दशा तथा स्नेह का चित्रण देखिये—

"तहाँ लखी विजया गुण खानी, अति विलाप जुत सोक निधानी।
सुत सनेहतैं आंचल जाके, भरि आये पै करि अति ताके ॥
अश्रुपात परिपूरण नैना, अति दुरबल तन सखलित बैना।
जहु चिंता जुत है संतप्ता, जटी भूत सिर केस विक्षिप्ता ॥
नित्य निरंतर उश्न निशासा, तिन करि विवरण अधर उदासा।
अति मलीन जाके सब दंता, सर्वाभरण रहित दुखवंता ॥
चितवंति निज चित्त मझारा, सुत वियोग को दुख अति भारा।
तब ही आय परयो सुन पावां, हाथ जोरि सिर नमि सुभभावा।
दई असीस ताहि तब माता, होहु पुत्र तुम्हरे सुख साता ॥"

कवि ने ग्रन्थ में धार्मिक सिद्धान्तो तथा चारित्र संबंधी बातों का भी अच्छा विवेचन किया है—

"अनन्तानुबंधी महा क्रोध मान मद लोभ।
बहुरि तीन मिथ्यात ए सात प्रकृति मति क्षोभ ॥
इन को उपशम क्षय बहुरि अर खय उपसम होइ।
तब प्रकटै सम्यक् त्रिविधि मूल व्रत को सोय ॥
सात उपसमा उपसमी क्षयतै क्षायक जान।
एक उदै ह्वै सातमी सो वेदक परवानि ॥
हिंसा मिथ्या वचन अर चोरी नारी संग।
परिग्रह त्रिस्ना पंच ए पाप कुमति के अंग ॥
सकल पाप को सर्वथा त्याग महाव्रत जानि।
किंचित त्याग अणुव्रता इह निश्चै परवानि ॥"

इस तरह उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि दौलतराम जी ने जीवंधर चरित्र के रूप में एक श्रेष्ठ काव्य की रचना की है जिसे भाव-भाषा एवं शैली आदि सभी दृष्टियों से उत्तम कृति कहा जा सकता है। इस रचना की उपलब्धि से हिन्दी भाषा की प्राचीन रचनाओं में एक और रचना की वृद्धि हुई है।

अहिंसा के पुजारी एल्बर्ट स्वाइटज़र

लेखक—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी एम. पी.

"सुबह हम दोनों स्टेशन की ओर रवाना हुए। रास्ते में मैंने उनकी अहिंसा का प्रत्यक्ष उदाहरण देखा। हम दोनों मिलकर उनका एक भारी बंडल और एक छड़ी लिये हुए थे बंडल का एक-एक सिरा दोनों जने पकड़े थे। बर्फ की वजह से सड़क बहुत फिसलनी हो रही थी। हम दोनों झपटते हुए चले जा रहे थे। एकाएक वह रुक गये। झटके की वजह से मैं प्रायः गिर-सा पड़ा। उन्होंने इसके लिए मुझसे माफ़ी मांगी और सड़क से एक कीड़े को उठाया। कीड़ा सर्दी और बर्फ से अधमरा हो रहा था। उन्होंने उसे उठाकर सड़क के किनारे, एक झाड़ी के नीचे सूखी भूमि में रख दिया और बोले, "यहां यह हिफाजत से रहेगा। सड़क पर पड़ा रहेगा तो मर जायगा।"

उपर्युक्त घटना सन् १६२३ में घटी थी और यह दीनबन्धु सी. एफ. ऐण्ड्रूज द्वारा अहिंसा के पुजारी एल्बर्ट स्वाइटज़र के विषय में लिखी गई है। स्वाइटज़र का जन्म १४ जनवरी सन् १८७५ को हुआ था और इस समय वह ८७ वर्ष के युवक हैं। भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञाता होने के कारण उनकी गणना संसार के अद्भुत महापुरुषों में की जाती है। जिस प्रकार दक्षिण अफ्रीका के जनरल स्मट्स बड़े भारी सेनाध्यक्ष और फौजी विज्ञान के आचार्य थे, और साथ-ही-साथ बड़े राजनीतिज्ञ और दार्शनिक भी, और जिस तरह आयरलैंण्ड के जार्ज रसल (ए० ई०) उत्कृष्ट कवि होने के साथ-साथ बड़े अच्छे चित्रकार और समाज-सेवक भी थे, उसी प्रकार एल्बर्ट स्वाइटज़र भी पियानो बजाने में दुनियां के सर्वश्रेष्ठ कलाकार होने के साथ-ही-साथ अति उच्चकोटि के समाजसेवक और धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विश्वविख्यात आचार्य भी हैं।

जब एल्बर्ट स्वाइटज़र पांच बरस के थे तभी से उनके पिताजी ने उनको गान-विद्या की शिक्षा देनी शुरू कर दी थी। आठ बरस की उम्र में वह पियानो बजाने लगे थे। १८९३ में उन्होंने स्कूल लीविंग परीक्षा पास करली। १८९८ में उन्होंने धर्म-विज्ञान की परीक्षा पास की और १८९९ में दर्शनशास्त्र की डिग्री ली। इस प्रकार धर्म-विज्ञान और दर्शन-शास्त्र में उन्होंने ऊंची-से-ऊंची परीक्षाएं पास कर लीं।

उनकी बाल्यावस्था की कई मधुर घटनाएं प्रसिद्ध हैं। एक बार उनकी माताजी ने उनके लिए ओवरकोट सिलवा दिया, जो उनके पिता जी के पुराने ओवरकोट से बनाया गया था और उनसे कहा, "देखो एल्बर्ट, मैंने तुम्हारे लिए एक ओवरकोट बनाया है और वह बिल्कुल नया मालूम होता है।" एल्बर्ट के गाल लाल हो गये और उन्होंने कहा' "माताजी, आज तो ज्यादा सर्दी नहीं है, मुझे ओवरकोट की जरूरत नहीं।" माताजी ने कहा, "देखो, काफी कोहरा पड़ा हुआ है, तुम इसे पहन लो।" एल्बर्ट ने कहा, "माताजी, और किसी बच्चे के पास तो ओवरकोट है ही नहीं, फिर भला अकेला मैं उसे क्यों पहनूं ?" माताजी ने कहा, "अच्छा, इसकी चर्चा कल हम फिर करेंगे।" दूसरे दिन इसी सवाल पर अपने पादरी पिता जी से उनका झगड़ा हो गया! पिताजी ने उन्हें काफी डाट बताई और कहा "तुम जिद क्यों करते हो ? देखो, तुम्हारी माताजी कितना परिश्रम करके तुम्हारे लिए कपड़े तैयार कराती है। तुम्हारा फर्ज है कि उन्हें खुश करने के लिए कम-से-कम पहन तो लो!" पर एल्बर्ट इस बात से राजी नहीं हुए, क्योंकि वह नही चाहते थे कि ऐसी कोई चीज पहनें, जो दूसरे विद्यार्थियों को मुयस्सर नही। दूसरे दिन उनके पिताजी ने उन्हें धक्का देकर घर से निकाल दिया और कहा, "जाओ, बाहर जाओ और जबतक तुम अपनी यह ज़िद नहीं छोड़ते, बाहर रहो। एल्बर्ट घर के बाहर बैठे हुए अपने घुटनों पर हाथ रख कर रोते रहे! यह घटना उनके समस्त जीवन पर प्रकाश डालती है।

एल्बर्ट स्वाइटज़र अहिंसा के समर्थक के नाम से मशहूर है। सत्याग्रह- सिद्धान्त की खूबी उन्हें कैसे ज्ञात हुई, वह भी सुन लीजिये। एक दिन उन्होंने देखा कि सड़क पर एक अपमानित यहूदी जा रहा था। गांव के लड़के उसके

पीछे पीछे उसपर आवाजें कसते हुए उसे और तंग करते हुए आ रहे थे, मगर वह उनके तानों के उत्तर में मन्द-मन्द मुस्करा रहा था। उसके चेहरे पर एक विचित्र प्रकार की उदारता और शराफत के भाव थे।

स्वाइटजर ने अपने संस्मरणों में लिखा है—"उसकी इस मुस्कराहट ने मुझे वश में कर लिया। मैंने उसी यहूदी से पहले-पहल यह बात सीखी कि दूसरों के उत्पीड़न को किस तरह शांतिपूर्वक बर्दाश्त किया जाता है। वह यहूदी ही मेरा सबसे बड़ा गुरु है।"

उनकी अहिंसा का एक उदाहरण और भी सुन लीजिये एक बार वसंत ऋतु में वह अपने एक साथी विद्यार्थी हेनरी के साथ वन-यात्रा के लिए गए हुए थे। वहां एक पेड़ पर बहुत सी चिड़ियां उन्होंने देखीं। हेनरी ने कहा, देखो कैसी सुन्दर चिड़ियां इस वृक्ष पर हैं, जिनकी चोटी लाल है, पर पीले। और एक चिड़िया को तो मैं अभी-अभी गिरा सकता हूँ।"

ज्योंही हेनरी ने अपनी गुलेल के लिए एक पत्थर उठाया और एल्बर्ट से कहा कि तुम भी एक पत्थर उठाओ, उसी समय गिरिजाघर के घन्टे बजने लगे। एल्बर्ट के दिमाग में बिजली की तरह एक विचार कौंध गया। बाइबिल में लिखा है—"तुम किसी की हत्या मत करो।" बस तुरन्त ही वह बड़े जोर से चिल्लाये और हाथ से तालियां भी बजाई ? इस शोर-गुल को सुनते ही तमाम चिड़ियां पेड़ पर से उड़ गईं और उनका साथी हेनरी भौंचक्का-सा रह गया। हेनरी ने उन्हें बहुत फटकारा, पर एल्बर्ट ने उसका कोई भी जवाब नहीं दिया। उस दिन से एल्बर्ट ने यह सबक सीख लिया कि चाहे कोई कुछ भी कहता रहे, मैं उसकी परवा न करके अपनी बात पर दृढ़ रहूंगा। उस दिन के बाद वह किसी भी मछली पकड़ने या शिकार करने की पार्टी में शामिल नहीं हुए और न किसी ऐसे खेल में, जिसमें किसी जीव की हिंसा हो।

धर्म-विज्ञान और दर्शनशास्त्र में ऊँची से-ऊँची डिग्री पाने पर भी उन्होंने यह निश्चय किया कि मैं डाक्टर बनकर अफ्रीका के नीग्रो लोगों के बीच में काम करूंगा, और उन्होंने एक मेडिकल कालेज में शिक्षा प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। उनके संगी-साथियों ने उन्हें बहुत-कुछ मना किया और जब वह मेडिकल कालेज में दाखिल होने के लिए गए तो वहां के आचार्य ने उनकी इस बात पर यकीन ही नहीं किया कि उनके विश्वविद्यालय का एक महान शिक्षक मामूली विद्यार्थियों के साथ डाक्टरी के प्रथम वर्ष में दाखिल होने आ रहा है ! उन्होंने समझा कि स्वाइटजर विक्षिप्त हो गए हैं और उन्होंने स्वाइटजरसाहब से कहा, "मालूम होता है कि आप बहुत परिश्रम करते रहे हैं, आप छुट्टी क्यों नहीं ले लेते ? अगर आप चाहें तो इस बारे में मनोवैज्ञानिक डाक्टर से कुछ बातचीत कर लें।" यह सुनकर स्वाइटजर साहब बड़े जोर के साथ हंसे और बोले "नहीं-नहीं मैं कोई पागल थोड़ा ही हो गया हूँ। मैं सचमुच डाक्टरी पढ़ना चाहता हूँ।" और तीस बरस की उम्र में वह डाक्टरी के प्रथम वर्ष में दाखिल हो गए। छः बरस तक वह घोर परिश्रम करते रहे और इस प्रकार उन्होंने डाक्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। उसके बाद वह साल भर तक अस्पतालों में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहे। सन १९१३ में वह अफ्रीका के लिए रवाना हो गये और तबसे लेकर अब तक उनन्चास वर्ष तक वहीं निरन्तर काम करते रहे हैं। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज ने उनके बारे में लिखा है।

"इस प्रकार तीस वर्ष की अवस्था में इस व्यक्ति के पैरों पर सारा संसार दिखाई देता था, परन्तु उसी समय स्वाइटजर ने एकाएक यह निर्णय किया कि वह समस्त ख्याति और ऐश्वर्य को त्याग कर, अफ्रीका की जंगली जातियों में रहकर, उनका इलाज करके उनकी सेवा करेंगे और अपना सारा जीवन उनकी सहायता करने और उन्हें आराम पहुँचाने में लगायेंगे। गत सत्ताईस वर्षों से वह अकथनीय कठिनाइयों का सामना करते हुए कांगों नदी के तट पर रहते है और जंगली जातियों की सेवा में निरत हैं। उनकी वीर और विदुषी पत्नी उनके इस कार्य में उनकी सहायता करती है। उन्होंने सब प्रकार की विपत्तियां झेली हैं और अनेक बार उनका स्वास्थ्य भंग हुआ है। उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का भी कुछ कम सामना नही करना पड़ा, क्योंकि उन्होंने यह ठान रक्खा है कि सरकार या किसी सोसाइटी से पैसा नहीं लेंगे, बल्कि स्वयं अपने परिश्रम पर निर्भर रहेंगे। उन्होंने अफ्रीका की

दो-तीन आदिम जातियों के सम्बन्ध में किताबें लिखी हैं, जिसमें उन्होंने अफ्रीका के जंगलों में अपने जीवन की कथा सुनाई है। ये पुस्तकें मानव-प्रकृति और विज्ञान के गंभीर रहस्यों से परिपूर्ण हैं। इन पुस्तकों की बिक्री से तथा जब कभी—बहुत दिनों बाद—वह यूरोप आते हैं, तब वहां संगीत का कन्सर्ट बजाकर जो पैसा कमाते हैं, उसमें अपना, अपने परिवार का तथा अस्पताल का खर्च चलाते हैं।"

प्रथम महायुद्ध के दिनों में वह बन्दी बना लिए गए थे।

१६१५ की वसंत ऋतु में वह एक छोटे-से स्टीमर द्वारा नदी की यात्रा कर रहे थे। आस-पास वन का दृश्य था और उन्होंने देखा कि प्रकृति में चारों ओर संघर्ष चल रहा है। पेड़-पौधे तथा जंगल के जीव अपने जीवन को कायम रखने के लिए परस्पर संघर्ष कर रहे हैं। उसी समय एक विचार उनके मन में आया—"क्या हम लोग एक-दूसरे का विनाश करके ही जीवित रह सकते है ?" उस समय उनके हृदय में बड़ी दुविधा उत्पन्न हो गई। वह इस प्रश्न को हल नहीं कर पा रहे थे। दो दिन तक उनका स्टीमर चलता रहा और उनका दिमाग भी चक्कर काटता रहा। तीसरे दिन शाम को, जबकि सूर्यास्त का बड़ा सुन्दर दृश्य उनके सामने उपस्थित था, एक साथ उनके मस्तिष्क में एक उज्जवल विचार उत्पन्न हुआ—'सर्व जीव दया' (रेववेंस फॉर लाइफ) मानों उन्हें जीवन-दर्शन की कुंजी ही मिल गई ! तबसे वह समस्तसंसार में अपने सिद्धांत के लिए प्रसिद्ध हो चुके हैं। उन्होंने इस सिद्धांत का गम्भीर मनन किया है और वह कुछ निश्चित परिणामों पर भी पहुँचे है। उनके सिद्धांत का सार यह है—"प्रत्येक प्राणी का जीवन पवित्र है और उसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है।" पर क्या हम हिंसा से पूर्णतया बच सकते हैं ? एल्बर्ट स्वाइटजर का मत है—"कभी-कभी हिंसा हमें करनी ही पड़ती है। अपने मरीजों को बचाने के लिए हमें कीटाणुओं को नष्ट करना पड़ता है। लेकिन बिना किसी कारण के हमें यह अनाचार हरगिज नहीं करना चाहिए। दुनियाँ में कोई चीज इतनी छोटी नहीं हैं कि जो हमारी प्रेम पात्र न बन सके। सच्चा अहिंसावादी किसी पेड़ की पत्तियों को भी नहीं काटेगा। मार्ग में चलते हुए वह कीड़ों-मकोड़ों को अपने पैर के नीचे आने से बचावेगा, यहाँ तक कि वह रात को खिड़कियां बन्द करके लैम्प की रोशनी में काम करना पसंद करेगा, बजाय इसके कि खिड़की खोलकर परवानों को लैम्प पर आकर जलने दे।" एक बार एक पालतू हिरन ने उनके वर्षों के परिश्रम से लिखित एक ग्रंथ को ही चबा डाला, पर स्वाइटजरसाहब उस पर बिलकुल नाराज न हुए। सिर्फ इतना ही कहा—"अरे भलेमानस, तू नहीं जानता कि तूने यह क्या कर डाला है !"

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज ने अपने एक लेख में लिखा है—"जब मेरी स्वाइटजर से भेंट हुई तो उन्होंने फौरन ही मेरे समस्त हृदय पर अधिकार कर लिया। मैंने कभी उनके समान बच्चों की-सी स्वाभाविक सरलता का आदमी नहीं देखा। सबसे बड़ी मुश्किल यह थी कि वह अंग्रेजी नहीं जानते है और मेरा जर्मन अथवा फ्रेंच का ज्ञान बहुत अल्प है। खैर, किसी तरह हम लोगों ने इस मुश्किल को हल किया। हम लोगों की बातचीत शुरू से आखिर तक गांधीजी के सम्बन्ध में ही थी।

"भारत की परिस्थिति ने उन पर गहरा प्रभाव डाला था। उन्होंने मुझसे कहा—'आपका और मेरा देश बहुत-कुछ एक-सा है। हम दोनों के देशों को पराजय उठानी पड़ी है और दोनों ही के देश आजकल पीड़ित है।"

"मैंने उन्हें महात्मा जी के आश्चर्यजनक अस्त्र अहिंसा की बातें बताई। स्वाइटजर के वैज्ञानिक भाव जाग्रत हो गये और उन्होंने **'जैन-धर्म और अहिंसा'** शब्द के वास्तविक अर्थ आदि के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने यह भी पूछा कि भारत के धार्मिक जीवन में इस सिद्धांत का प्रभाव कितना है ?

"मगर थोड़ी ही देर बाद हम लोग घूम-फिरकर पुनः महात्मा जी के विषय पर पहुँच गये। सवाल पूछते-पूछते उनकी तबीयत ही नहीं भरती थी। वह बराबर प्रश्न-पर-प्रश्न करते जाते थे। हमारे दुभाषिया महाशय को मेरी बात उन्हें समझाने में विशेष कठिनाई होती थी। स्वाइटजर को इस बात की बड़ी खुशी थी कि मैं महात्मा जी के साथ रह चुका हूँ और उनके निजी मित्र की हैसियत से उनकी बातें बता सकता हूँ। बार-बार वह यही कहते थे—हम बड़े भाग्यवान हैं।"

'अनेकान्त' का प्रकाशन

लेखक—श्री वंशीधर शास्त्री एम० ए०

४० वर्ष पूर्व की बात है, स्व० श्रीमान् साहू सलेखचन्दजी रईस नजीबाबाद ने भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के २५वें अधिवेशन (कानपुर) के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि "जैन इतिहास, जैनधर्म के गौरव का प्रधान चिन्ह है। जैन धर्म और जैनों के महत्व का परिचय जैन पुरातत्वों के अनुसंधान से बहुत कुछ मिल सकता है। अभी तक जैनियों का पुरातत्व इतस्ततः पड़ा

"हम लोग बड़ी रात तक बैठे हुए अहिंसा की बातें करते रहे। उन्होंने मुझसे कहा कि उनके जीवन का भी सबसे गम्भीरतम सिद्धांत यही रहा है और महात्मा ने भारत के राष्ट्रीय संग्राम का इसे मूल सिद्धात बनाकर बहुत ही अच्छा किया।"

कुछ दिन हुए स्वाइटजर साहब को शाँति पुरस्कार मिला था।

जैसा कि हम कह चुके है, वह उन्चास बरस से अफ्रीकियों की सेवा कर रहे हैं। सहस्रों ही आपरेशन उन्होंने इस बीच मे किए है और शायद कई लाख रोगियों का इलाज किया है और सबसे बड़ी खूबी की बात यह है कि यह कर्तव्य उन्होने किसी परोपकार की भावना से नही किया, बल्कि वह समझते है कि गोरे लोगों ने काले आदमियो पर जो अत्याचार किए है, उनके प्रायश्चित्त स्वरूप ही मै उनकी कुछ सेवा कर रहा हूं।

कुछ वर्ष पहले मैंने पढ़ा था कि संसार में प्रभु ईसामसीह के तीन अनुयायी सबसे महान् माने जा सकते हैं—एल्बर्ट स्वाइटजर, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज और कागावा। इनमें से दीनबन्धु ऐण्ड्रूज के साथ वर्षो तक काम करने का मौका मुझे मिला था और जापान के गांधी कागावा के दर्शन भी मैंने किए थे। मेरे मन में अभी एक लालसा बाकी है—यानी कभी-न-कभी अहिंसा के पुजारी एल्बर्ट स्वाइटजर के चरणस्पर्श करने की।

(सस्ता साहित्य मंडल न्यू देहली द्वारा प्रकाशित सेतुबन्धु पुस्तक से साभार)

हुआ है। प्राचीन पर्वत, गुफायें, प्राचीन मन्दिर ताम्रपत्र, शिलालेख, प्राचीन मूर्तियां, प्राचीन किले आदि बातों के अनुसंधान से जैनियों का कितना साम्राज्य कहां रहा है, जैन धर्म का कितना प्रचार तथा प्रभाव था, इन बातों का परिचय अच्छा मिल सकता है। कौन आचार्य कब हुये, उन्होंने किन-किन ग्रंथों की कब रचना की, ये बातें भी उसी विभाग से सम्बन्ध रखती हैं। इसलिये ऐसी खोज के लिये एक पुरातत्व विभाग भी आवश्यक है।

"आजकल मन्दिरों का रुपया पूजन, उपकरण और, इमारत के काम में ही लगता है। जिन मन्दिरों में अधिक रुपया हो उन्हें अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाना चाहिये। उस द्रव्य को जीर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपि कराने, जहां जो ग्रन्थ नहीं है वहां उन्हें मंगाकर स्थानीय सरस्वती भवन की वृद्धि कराने, तथा अन्य स्थानों के मन्दिरों के जीर्णोद्धार कराने में जहां आवश्यकता हो लगा देना चाहिये। एक मन्दिर का रुपया दूसरे मन्दिर के कार्य में लगाना शास्त्र विरुद्ध नही है। जिन स्थानों में जैनों का निवास है परन्तु भाइयों की असमर्थता के कारण मन्दिर नहीं बन सका है वहाँ अधिकाश रुपये वाले मन्दिरों को वहा मन्दिर बनवा देना चाहिये।'

"जैन साहित्य प्रकाश और उसका प्रचार भी जैनधर्म की उन्नति मे परम सहायक है। इसलिये उसकी रक्षा वृद्धि करना हमारे लिये आवश्यक है। कर्म सिद्धान्त, जीव सिद्धान्त, भाव विवेचना, कथाक्रम से चारित्र निरुपण आदि जैन धर्म के सभी अंगो का यदि प्रचार किया जाय तो जैन धर्म से जगत् की बहुभाग जनता का हित हो सकता है। परन्तु जितना साहित्य आज हमारे सामने उपलब्ध है वह अभी अपर्याप्त है परम पूज्य जैनाचार्यों की अभी बहुत सी कृति यत्र तत्र भंडारो में छिपी हुई है। ईडर, नागौर आदि स्थानो में अनेक उत्तम ग्रन्थों का भन्डार है। उन सब ग्रन्थों को प्रकाश में लाने की बड़ी जरूरत है। यदि ये ग्रंथ प्रकाश में न आये तो बड़े दुःख का विषय होगा कि

बहुत से अमूल्य तत्व रत्न यों ही नष्ट भ्रष्ट हो जायेंगे। फिर तो आचार्यों की कृति के लोप से हमारा विनय भाव कहां तक बढ़ा हुआ एवं प्रशंसनीय समझा जायगा इसे आप लोग ही सोचें।"

इसके बाद देहली में 'समन्तभद्राश्रम' नाम के सेवा-श्रम को खोलने और उसका संचालन करने के लिये सन् १९२९ की महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर जैन समाज द्वारा **'वीर सेवक संघ'** स्थापित किया गया और **समन्तभद्राश्रम** ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये **'अनेकान्त'** पत्र निकाला।

अनेकान्त चिरस्थायी बने

मुझे यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई कि जैनपुरातत्व का प्रमुख पत्र 'अनेकान्त' का पुर्नप्रकाशन प्रारम्भ हो रहा है। इस अवसर पर इसकी पुरातन गति-विधियों पर प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूँ।

अनेकान्त दिगम्बर जैन समाज का तो प्रमुख साहित्यिक गवेषणात्मक पत्र रहा ही है किन्तु इससे हिन्दी साहित्य की भी कम सेवा नहीं हुई। इसके द्वारा बहुत से प्राकृत हिन्दी, संस्कृत, अपभ्रंशके अज्ञात लेखक एवं ग्रन्थ प्रकाश में आए।

इस पत्र का इतिहास जहाँ हमें इसकी गौरव-गाथा से अवगत कराता है वहां हमें कुछ शिक्षा भी देता है कि गवेषणात्मक पत्र चालू रखना, विशेषतः दिगम्बर जैन समाज में असाध्य नहीं तो अति श्रम साध्य अवश्य है।

आज से ३२ वर्ष पूर्व वीर नि० सं० २४५६ में देहली के समन्तभद्राश्रम से अनेकान्त का प्रथम अङ्क निकला था।

प्रथम वर्ष में पत्र को ९२२≡) का घाटा रहा और संस्था के सदस्यों से प्राप्त सदस्यता सहायता आदि की आमदनी जोड़ने पर १२५२≡) का घाटा रहा[1]।

समन्तभद्राश्रम एवं अनेकान्त के संचालन के लिए देहली उपयुक्त नहीं समझा गया, अतः वीर सेवक संघ की कार्यकारिणी ने ता० २९-१०-१९३० को समन्तभद्राश्रम एवं अनेकांत को सरसावा ले जाने का निर्णय किया और नवम्बर सन् १९३० में वहाँ ले भी गए। अनेकान्त का सरसावा से प्रकाशन करना तो इसलिए तय किया गया था कि वहां कम खर्च में इसका प्रकाशन हो सकेगा किंतु दुःख यही है कि वहाँ जाकर भी पत्र का आठ वर्ष तक प्रकाशन नहीं हो सका।

पत्र के वर्ष २ की प्रथम किरण में आठ बर्ष के अंतराल के सम्बन्ध में श्री मुख्तारसाहब ने लिखा है कि "जनवरी सन् १९३४ में बाबू छोटेलाल जी ने अनेकान्त को पुनः प्रकाशित करने की इच्छा व्यक्त की और पत्र द्वारा सूचित किया कि मैं अनेकान्त के ३ साल के घाटे के लिए इस समय ३६००) रु० एक मुश्त भेंट करने के लिए प्रस्तुत हूं आप उसे अब शीघ्र ही निकालें। उत्तर में मैंने (मुख्तारसा०) ने लिख दिया कि मैं इस समय वीर सेवा मन्दिर के निर्माण कार्य में लगा हूँ—जरा भी अवकाश नही है।

तत्पश्चात् लाला तनसुखरायजी जैन देहली ने पत्र के दो वर्ष का घाटा सहन करने का आश्वासन दिया तब आठ वर्ष बाद पत्र १-११-१९३८ से निकलना प्रारम्भ हुआ। चौथे वर्ष में १० सज्जनों ने ८२६) रु० सहायतार्थ प्रदान किए।

सन् १९४८ में अनेकान्त के नवें वर्ष में भारतीय ज्ञानपीठ काशी ने पत्र को काफी घाटे में प्रकाशित किया और एक वर्ष बाद पत्र ज्ञानपीठ से पृथक् होकर ७ माह तक नही निकला तत्पश्चात् जुलाई १९४९ में देहली से प्रकाशित हुआ पत्र को बराबर घाटा लगता रहा और १० वें वर्ष के अन्त में कि० ११-१२ में मुख्तार सा० ने सूचना दी कि १५ माह के अर्से में पत्र को ढाई हजार के करीब घाटा रहा। समाज से केवल २६८।।।≡) की सहायता प्राप्त हुई ··· ऐसी स्थिति में जब तक इस घाटे की पूर्ति नहीं हो जाती तब तक आगे के लिए कोई विचार ही नहीं किया जा सकता।"

इस पर भी कोई घाटे को वहन करने के लिए तैयार नहीं हुए अतः डेढ़ वर्ष तक पत्र बन्द रहा। इस बीच में बहुत से भाई मुख्तार सा० को अनेकांत को प्रकाशित करने के लिए प्रेरित करते रहे किन्तु किसी भी प्रकार से श्री मुख्तार सा० पत्र को प्रकाशित करने के लिये तैयार नहीं हुए। अक्टूबर सन् १९५४ में श्री मुख्तार सा० कलकत्ता

(१) अनेकान्त वर्ष १ कि० १२ पृ० ६६८-६६९

गए। "वहीं अनेकान्त को स्थायित्व प्रदान करने एवं सुचारु रूप से चलाने के लिए संरक्षकों और सहायकों का आयोजन करना और उन्हें पत्र सदा भेंट स्वरूप दिया जाना तय हुआ। बाबू नन्दलाल सरावगी (श्री छोटे लाल जी के अनुज) की १५००) रु० की सहायता ने इस आयोजनको विशेष प्रोत्साहन दिया। कलकत्ता मे १३ संरक्षक एवं ६ सहायक बन गये।

संरक्षकों एवं सहायकों से प्राप्त स्थायी फण्ड के लिए सारी रकम ६५६६)रु० १० वें, ११ वे एवं १२ वें वर्ष के घाटे में पूरी कर दी गई और फिर भी ६८६॥-)॥। का घाटा पूरा नही हो सका। स्थायी फण्ड की रकम चालू खर्च में लगाकर पत्र का स्थायित्व समाप्त कर दिया गया। चालू खर्च न तो वीर सेवा मन्दिर ने ही और न मुख्तार सा० के ट्रस्ट ने ही वहन किया। १३ वें वर्ष में १४६२॥।-)॥ एव १४ वर्ष मे ५५००) रु० से अधिक का घाटा रहा। अतः जुलाई सन् ५७ से पत्र बन्द ही हो गया।

इस प्रकार पत्र ने अपने १४ वर्ष का समय २८ वर्षो मे पूर्ण किया है। पत्र मे लगातार घाटा लगना रहा जिस के कारण पत्र चालू नही रखा जा सका फिर भी यह तथ्य सत्य है कि इस पत्र ने दिगम्बर जैन समाज में इतिहास और साहित्यान्वेषण को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। किन्तु फिर भी समाज की साहित्यिक अभिरुचि बनाने मे इसके संचालक असमर्थ रहे। इसी कारण न तो पत्र के ग्राहक ही बढ़े और न इसको लेखकों का ही सहयोग मिला।

वर्तमान में प्राचीन साहित्यान्वेषण को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा है एवं समाज में विभिन्न स्थानों पर—जयपुर, आगरा, वाराणसी एटा आदि—अनेक विद्वान अन्वेषणकार्य में लगे हुये है उनकी शोधपूर्ण रचनाओं—लेखों एवं प्रबन्धों—के प्रकाशन के लिए समाज में साधन सम्पन्न संस्थाओं एवं पत्रों का प्रायः अभाव ही है अतः ऐसी स्थिति में वीर सेवा मंदिर (समंतभद्राश्रम) द्वारा अनेकांत का पुन. संचालन स्वागत योग्य ही है।

अन्त मे श्री मुख्तार सा० की उन सेवाओं को याद करना जरूरी है जो उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा पत्र को की। बाबू छोटेलाल जी जैन ने भी समय २ पर न केवल स्वयं आर्थिक सहायता दी अपितु औरों से भी दिलाई एवं पत्र का सम्पादन भी कुछ समय वहन किया। अब बाबू छोटेलाल जी की ही प्रेरणा और उनके अध्यवसाय का परिणाम है कि "अनेकांत' का पुनः दर्शन हो रहा है।

अंत में इस भावना के साथ लेख समाप्त कर रहा हूँ कि यह पत्र स्थायित्व प्राप्त करे एवं जैन समाज ही नही अपितु, भारत के शोध पत्रों मे अग्रगण्य बने एवं जैन साहित्य एवं संस्कृति की पुरातन सामग्री को प्रकाश में लाता रहे। एव मौलिक साहित्य-सृजन का स्रोत बने।

वीर सेवा मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवनदास जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री बैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड़या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५०) श्री वशीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिघई कुन्दनलाल जी, कटनी
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल, कलकत्ता
१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) श्री प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री प्रतापमल जी मदनलाल जी पाड्या, कलकत्ता
१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ, कलकत्ता
१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता

वीर सेवा मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रंथों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थ उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डाक्टर कालीदास नाग, एम. ए, डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा. ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादि का मूल्य अलग से पाँच रुपये है) १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर सरस सजीव विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादि से युक्त, सजिल्द। ... ... ८)

(३) न्याय दीपिका तथा समाधितंत्र और इष्टोपदेश—ये तीनों अब अनुपलब्ध है ... ...

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का विश्लेषण करती हुई महत्व की गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठ की प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगल-किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्ल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी अनुवाद सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोर की ७८ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना से भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥।)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) -मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित ॥।)

(१०) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्यानार श्री जुगल-किशोरजी के विवेचनात्मक हिंदी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(११) जैनग्रंथ प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृतके १७१ अप्रकाशित ग्रंथों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्दशास्त्री की इतिहास-साहित्य विषयक परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(१२) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१३) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१४) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र १)

(१५) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१६) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡)।

(१७) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर शासन संघ प्रकाशन) ... ४)

(१८) जैन ग्रथ प्रशस्ति सग्रह भा० २ अपभ्रंश के ११२ अप्रकाशित ग्रंथों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण सग्रह इतिहास ७४ ग्रंथकारों के परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। सम्पादक पं० परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १०)

(१९) कसाय पाहुड सुत्त—मूल ग्रथ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यति-वृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धांत शास्त्री उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साईज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज, और कपड़े की पक्की जिल्द ... २०)

प्रकाशक—प्रेमचन्द, वीर सेवा मन्दिर के लिये नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

जून १९६२

द्वै मासिक

अनेकान्त

सम्पादक

डॉ० आ० ने० उपाध्ये,

श्री रतनलाल कटारिया

डॉ० प्रेमसागर जैन,

श्री यशपाल जैन

सत्साहित्य का निर्माण उन्हीं व्यक्तियों द्वारा संभव है, जिन्होंने अपने जीवन को संयम और साधना से पवित्र कर लिया है।

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मंदिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिये सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है।

अनेकान्त के स्तम्भ

१. ऐतिहासिक महापुरुष

स्तम्भ में तीर्थंकर, आचार्य, त्यागी, भक्तजन, राजा, मंत्री, शूरवीर, धर्मवीर, कर्मवीर, दानवीर और ग्रन्थकारों के परिचय रहेंगे।

२. अनुसन्धान और सिद्धान्त

इतिहास और साहित्य सम्बन्धी शोध- खोज के और सैद्धान्तिक लेख रहेंगे।

३. गौरव-गाथा

जैन पूर्वजों के द्वारा की गई लोकसेवा और गौरव-गाथा के लेख रहेंगे।

४. तीर्थ, मन्दिर और गुफा

प्राचीन जैन तीर्थो, मंदिरों, गुफाओं और मूर्तियों आदि के परिचय दिये जायगे।

५. कथा-कहानी

सुरुचि और भावपूर्ण पौराणिक, ऐतिहासिक तथा मौलिक कहानियां रहेगी।

६. नारी समुत्थान

स्त्रियों को ऊँचा उठाने और कर्तव्यनिष्ठ बनाने वाले लेख रहेंगे।

७. सुभाषित मणियां

जीवन - ज्योति जगाने वाली सूक्तियों का सकलन रहेगा।

—समालोचना के लिये साहित्य निम्न पते पर भेजें।

व्यवस्थापक
'अनेकात'
वीर सेवा मंदिर
२१, दरियागंज, देहली-६

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनय विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १५ किरण, २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६ | ज्येष्ठ शुक्ला १२, वीर निर्वाण सं० २४८८, विक्रम सं० २०१९ | जून सन् १९६२

वर्धमान-जिन-स्तुतिः

प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे,
जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे ।
मांगल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वां स्तुते,
ते ज्ञा ये प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते ।

—स्वामी समन्तभद्राचार्य

अर्थ—हे देवाधिदेव ! बुद्धि वही है जो कि आपको स्मरण करे—आपका ध्यान करे, मस्तक वही है जो कि आपके चरणो में नत रहे—झुका रहे, जन्म वही सफल और श्रेष्ठ है, जिसमे संसार परिभ्रमण को नाश करने वाले आपके चरणों का आश्रय लिया गया हो, पवित्र वही है जो कि आपके मत मे अनुरक्त हो, वाणी वही है जो कि आपकी स्तुति करे और बुद्धिमान पण्डितजन वे ही है जो कि आपके दोनों चरणों मे नत रहें ।

*

'दर्शन' का अर्थ 'मिलना'

लेखक--श्री रतनलाल कटारिया

संस्कृत में दर्शनार्थक जितनी भी धातुएँ हैं, उनका अर्थ 'मिलना' भी होता है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पद्य पर दृष्टि दीजिए--

"रिक्तपाणिर्न पश्येत् राजानं देवता गुरु"

यहाँ 'पश्येत्' क्रिया है, जिसका अर्थ अगर 'देखें' किया जाय तो ठीक नहीं लगता और निर्दोष भी नहीं रहता है; उसकी जगह 'मिलें' अर्थ किया जाय तो ज्यादा अच्छा लगता है और निर्दोष भी रहता है। उपर्युक्त पूरे पद्य का ठीक अर्थ इस प्रकार होगा—

"खाली हाथ राजा, देवता और गुरु से नहीं मिले"। कोशों में भी दर्शनार्थक धातुओं और शब्दों का अर्थ— "मिलना, साक्षात्कार, मुलाकात" भी दिया है।

अंग्रेजी में भी दर्शनार्थक 'See' धातु का प्रयोग Visit, Meet -मिलना, भेंट करना के अर्थ में भी पाया जाता है। यह तथ्य दृष्टि में न होने से कुछ विद्वान् संपादकों—अनुवादकों ने इस विषय में गलतियाँ की हैं; उदाहरण के तौर पर उनके २-३ नमूने नीचे दिए जाते है—

(१) षट्खंडागम धवला टीका पुस्तक १ पृष्ठ ७१ (प्रस्तावना पृष्ठ १६, परिशिष्ट पृष्ठ २७) मे लिखा है—

"जिणपालियं दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवासविसयं गदो"--

अर्थ—जिनपालित को देखकर अथवा देखने के लिए पुष्पदंत आचार्य वनवास देश गए।

समीक्षा—यहाँ 'दट्ठूण' का अर्थ जो 'देखकर' या 'देखने के लिए' किया है वह ठीक नही है। इसकी जगह 'मिलकर' या 'मिलने के लिए' करना चाहिए।

'देखने के लिए' अर्थ मे यह भाव झलकता है कि -- 'जिनपालित' या तो कोई छोटे से शिशु थे या बीमार थे जिन्हें देखने के लिए पुष्पदंताचार्य वनवास देश गए। किन्तु दोनों बातें नही थीं। अगर दोनों बातें हों भी तो किसी मुनि के लिए ऐसा करना उचित नहीं है, यह उसकी पदचर्या के विरुद्ध है। अत 'दट्ठूण' का अर्थ 'देखने के लिए' करना समुचित नही है, उसका अर्थ 'मिलने के लिए' करना चाहिए। यह अर्थ फबता हुआ है और इससे अभिव्यक्ति भी ठीक होती है।

पुष्पदंताचार्य का जिनपालित से मिलने का उद्देश्य उन्हें दीक्षा देकर सिद्धांतसूत्र पढ़ाने का था, यह धवला टीका के उसी प्रकरण में आगे बताया है।

(२) उपर्युक्त प्रकरण इंद्रनंदि कृत श्रुतावतार में इस प्रकार है—

वर्षाकालं कृत्वा विहरन्तौ दक्षिणाभिमुखं।१३१॥
जग्मतुरथ करहाटे तयोः स यः पुष्पदंतनाम मुनिः।
जिनपालिताभिधान दृष्ट्वासौ भागिनेयं स्वं॥१३२॥
दत्त्वा दीक्षां तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासम्।
तस्थौ च भूतबलिरपि मथुरायां द्रविडदेशेऽस्थात्।१३३।
(तत्वानुशासनादि संग्रह पृ० ८५)

'जैन सिद्धात भास्कर, भाग ३ किरण ४' मे पं. वर्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने धवलादि के आधार पर "श्रुतावतार कथा" लिखी है, उसके पृ० १३० पर मुख्तार सा० ने लिखा है—

"वर्षायोग को समाप्त करके तथा जिनपालित को देखकर पुष्पदंताचार्य तो वनवास देश को चले गए और भूतबलि भी द्रविड देश को प्रस्थान कर गये।

इन्द्रनंदिश्रुतावतार मे जिनपालित को पुष्पदत का भानजा लिखा है और दक्षिण की ओर विहार करते हुए दोनों मुनियों के करहाट पहुँचने पर उसके देखने का उल्लेख किया है।"

समीक्षा—मुख्तार साहब ने भी जो 'देखकर' और 'देखने का' शब्द प्रयोग किया है वह ठीक नही है, उसकी जगह 'जिनपालित से मिलकर' और उससे 'मिलने का' शब्द प्रयोग होना चाहिए।

हरिभद्र द्वारा उल्लिखित नगर

लेखक—डा० नेमिचन्द जैन

जैन साहित्य में ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मडम्ब, पट्टण, द्रोण सवाहन और दुर्गाटवी का उल्लेख आता है। जिस गांव के चारों ओर दीवालें रहती है वह ग्राम कहलाता है। जिसके चारों ओर दीवालें हों तथा जो चार दरवाजों से भी युक्त हो वह गांव नगर कहलाता है। नदी और पर्वतों से वेष्टित रहने वाले गांव को मडम्ब; जहां रत्न उत्पन्न होते है उसे पट्टण; नदी वेष्टित ग्राम को द्रोण; उप-समुद्र तट से वेष्टित को संवाहन और पर्वत पर रहने वाले ग्राम को दुर्गाटवी कहते है। हरिभद्र ने अपनी "समराइच्चकहा" नामक रचना मे ग्राम[1], नगर[2], पट्टण[3], आकर[4], मडम्ब[5] और द्रोण[6] का उल्लेख किया है।

हरिभद्र ने बताया कि नगर बहुत सुन्दर होता था। उसके चारों ओर प्राकार रहता था। परिखा भी नगर के चारों ओर रहती थी। नगर मे प्रधान चार द्वार रहते थे, जिनमे कपाट लगे रहते थे। यातायात के लिए नगर मे सड़कें होती थी। त्रिक[7], चतुष्क[8] और चत्वर[9] नगर के मार्गो की संज्ञाएँ आती है। जहां तीन सड़के मिलती हों, उसे त्रिक; चार सड़के मिलती हों, उसे चतुष्क और जहां चार से भी अधिक रास्ते हों, उसे चत्वर कहते थे। जहां बहुत से मनुष्यों का यातायात हो वह महापथ और सामान्य मार्ग को पथ कहा जाता था। हरिभद्र ने उत्सवों के अवसर पर नगर को सजाने और उसके मार्गो मे सुगन्धित पुष्प या सुगन्धित चूर्ण विकीर्ण करने का उल्लेख किया है। नगर के बाजारो को सीधी एक रेखा में बनाया जाता था। नगर मे तालाब[8] बनाने की भी प्रथा थी।

आचार्य हरिभद्र ने निम्नलिखित नगरों का अपनी उक्त रचना में उल्लेख किया है जिनका संक्षिप्त विवेचन यहां किया जाता है।

१. द०हा०पृ० ११८
२. सम० के प्रत्येक भव में
३. सम० पृ० २७
४. सम० पृ० २७
५. सम० पृ० २७
६. सम० पृ० २७
७. सम० पृ० ६, ३२६
८. वही
९. वही

इन्द्रनन्दि श्रुतावतार के श्लोक १३२ में जो 'दृष्ट्वा' पद है, उसका अर्थ 'देखकर' करना गलत है। उसका अर्थ 'मिलकर' करना चाहिए।

(३) गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, पर्व ६२ श्लोक १२८ "नापूर्वो नः स पश्यताम्" का अर्थ ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० १४६ में इस प्रकार किया है—

"हमारे लिये यह अपूर्व आदमी नही, जिससेकि देखाजावे"।

समीक्षा—यहाँ 'पश्यतां' का अर्थ जो 'देखा जावे' किया है, वह ठीक नही है, उसकी जगह 'मिला जावे' करना समुचित होगा।

इसी तरह आगे श्लोक १३०—"नाहमेष्यामि तं दृष्टु-मिति प्रत्यब्रवीदसौ" का अर्थ इस प्रकार किया है—

"त्रिपृष्ठ ने कहा कि—मैं उसे देखने के लिए नहीजाऊँगा।"

समीक्षा—यहाँ भी 'द्रष्टुम्' का अर्थ 'देखने के लिए', किया गया है किन्तु वह ठीक नहीं है। 'मिलने के लिए' अर्थ होना चाहिए।

इस तरह उपर्युक्त प्रकरणों में दर्शनार्थक क्रियाओं का 'मिलना' अर्थ करना ही सुसंगत है।

दर्शनार्थक धातुओं का 'देखना' अर्थ शाब्दिक है और 'मिलना' अर्थ भावात्मक है, जहाँ जैसा संगत हो वैसा ही अर्थ करना चाहिए तभी वह फबता है और ठीक अभि-व्यक्ति होती है।

वर्तमान में चम्पा नगरी भागलपुर के एक किनारे पर स्थित है। इसका स्टेशन नाथनगर है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में चम्पा की समृद्धि का जिक्र किया है।

२०. **जयपुर**[६]—हरिभद्र ने इस नगर को अपरविदेह में बतलाया है। इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि "अपरविदेह खेत्ते अपरिमिय गुणणिहाण तियसपुरवराणु गारि उज्जाणा रामभूसियं समत्थमेइणि तिलयभूयं जयउरं नाम नयर ति"—अपरविदेह क्षेत्र मे अपरिमित गुणों का भाण्डार इन्द्रपुरी का अनुकरण करने वाला उद्यान और आरामों से विभूपित समस्त पृथ्वी का तिलक स्वरूप जयपुर नाम का नगर है। इस वर्णन से भी ज्ञात होता है कि उक्त जयपुर वर्तमान जयपुर से भिन्न है।

२१. **टंकनपुर**[१]—हमारा अनुमान है कि यह टक्कनपुर होना चाहिए। टक्कनपुर के स्थान में टंकनपुर लिखा गया है। इसकी स्थिति विपाशा और सिन्धु नदी के मध्य-भाग का प्रदेश टक्क या वाहीक कहा जाता था। शाकल या स्यालकोट टक्क देश की राजधानी थी। इसमें भद्र और आरट्ट देश भी सम्मिलित थे। राजतरंगिणी मे टक्क की स्थिति चन्द्रभागा या चिनाव के तट पर मानी गई है। कुवलयमाला के अनुसार वाहीक या पञ्चनद देश टक्क कहा जाता था।

२२. **थानेश्वर**[२]—प्राचीन कुरुक्षेत्र का यह एक भाग था। कुरुक्षेत्र मे पानीपत, सोनपत, और थानेश्वर तक का भूभाग शामिल था। इस का एक अन्य नाम स्थाणु-तीर्थ भी मिलता है। सातवी शताब्दी में इसे सम्राट् हर्ष की राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ है। महाकवि बाणभट्ट ने इस नगर का बड़ा हृदय-ग्राह्य वर्णन किया है। वहाँ मुनियों के तपोवन, वेश्याओं के कामायतन, लासकों की संगीतशालाएं, विद्यार्थियों के गुरुकुल, विदग्धों की विद् गोष्ठियाँ, चारणों के महोत्सव समाज थे। शस्त्रोप-जीवी, गायक, विद्यार्थी, शिल्पी, व्यापारी, बन्दी, बौद्धभिक्षु आदि सभी प्रकार के लोग वहा थे। थानेश्वर के इलाके में सातवीं शताब्दी में शिवपूजा का घर-घर प्रचार था।[३] हर्षचरित्र में थानेश्वर में होने वाली उपज, पशुसम्पत्ति, धनसंपत्ति एवं उसके सांस्कृतिक वैभव का सुन्दर वर्णन किया है। इसमें सन्देह नही कि सातवी-आठवी शताब्दी के साहित्य मे इस नगर को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

२३. **दन्तपुर**[४]—महाभारत के अनुसार दन्तपुर कलिग की राजधानी थी। इसे दन्तकूर भी कहा गया है।

२४. **पाटलापथ**[५]—इस नगर की स्थिति का परिज्ञान विवधतीर्थकल्प से होता है। इस ग्रन्थ में पाटला मे नेमि-नाथ जिनालयके होने का उल्लेख है। हमारा अनुमान है कि सौराष्ट्र मे कही इस नगर की स्थिति रही होगी।

२५. **पाटलीपुत्र**[६]—गंगा के तट पर अवस्थित यह बहुत प्रसिद्ध पुराना नगर है। जैन साहित्य में बताया गया गया है कि कुणिक के परलोक गमन के उपरान्त उसका पुत्र उदायी चम्पा का शासक नियुक्त हुआ। वह भी अपने पिता के सभास्थान, क्रीड़ास्थान, शयनस्थान आदि को देखकर, पुर्व स्मृति जाग्रत हो जाने से उद्विग्न रहता था। उसने प्रधान आमात्यो की अनुमति से नूतननगर निर्माणार्थ प्रवीण नैमित्तिको को आदेश दिया। भ्रमण करते-करते वे गंगा के तट पर आये। गुलाबी पुष्पों से सुसज्जित छवियुक्त पाटलि वृक्षों को देखकर वे आश्चर्यान्वित हुए। तरु की टहनी पर चाप नामक पक्षी मुँह खोले बैठा था। कीड़े स्वयं उसके मुह मे आ पड़ते थे। इस घटना को देखकर वे लोग सोचने लगे कि यहां पर नगर का निर्माण होने से राजा को लक्ष्मी की प्राप्ति होगी। फलतः उस स्थान पर नगर का निर्माण कराया, जिसका नाम पाटलिपुत्र रखा गया।[१] वर्तमान मे यह नगर पटना के नाम से प्रसिद्ध है और विहार की राजधानी है। सस्कृत साहित्य मे पाटलिपुत्र बहुत प्रिय नगर रहा है।

६. वही, पृ० ७५
१. सम० पृ० १७२
२. वही, पृ० १८१

३. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित हर्ष चरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ५५
४. सम० पृ० ५२८
५. वही, पृ० ७१३
६. वही, पृ० ३३९

२६. **पुन्ड्रवर्धन**[१]—इस नगर की स्थिति बंगाल के मालदा जिले में है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस नगर का नाम आया है तथा इसे हरिभद्र ने पुण्ड्र नामक एक जनपद बतलाया है। वर्तमान बोगराजिले का महास्थान गढ़ नामक ग्राम पुण्ड्र जनपद में था। कनिंघम ने इस नगर की समता महास्थान गढ़ से की है, यह वर्धन कुटी से १२ मील पश्चिम है। महाभारत (सभापर्व ७८, ९३) में आया है कि पुण्ड्र के राजा दुकूल आदि लेकर महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे उपस्थित हुये थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (अध्याय ३२) में लिखा है कि पुंड्र देश का वस्त्र श्याम और मणि के समान स्निग्ध वर्ण का होता था। हरिभद्र ने इसे अमरावती के समान बताया है।

२७. **ब्रह्मपुर**[३]—पूर्व दिशा में वर्तमान आसाम में इस नगर की स्थिति थी।

२८. **भंभानगर**[४]—हरिभद्र ने विजय के अन्तर्गत इस नगर की स्थिति मानी है। हमारा अनुमान है कि यह नगर आसाम मे कहीं अवस्थित था।

२९. **मदनपुर**[५]—हरिभद्र ने इसकी स्थिति कामरूप आसाम में मानी है।

३०. **महासर**[६]—यह वर्तमान में महेश्वर नाम का स्थान है जो इन्दौर से ४० मील दक्षिण नर्मदा के तट पर अवस्थित है।

३१. **माकन्दी**[१]—इस नगर की स्थिति हस्तिनापुर के आस-पास रही होगी। महाभारत(५।७२-७६) में बताया गया है कि युधिष्ठिर ने दुर्योधन से पाच पांच सौ गाव मांगे थे, उनमें से एक माकन्दी भी था।

३२. **मिथिला**[२]—मिथिला विदेह (तिरहुत)की प्रधान नगरी थी। हरिभद्र ने इसकी प्रशसा की है। जैन साहित्य मे बताया गया है कि यहां बहुत से कदलीवन तथा मीठे पानी की अनेक बावड़ियाँ, कुएँ, तालाब और नदियां मौजूद थीं। यहां बाणगंगा और गडकी नदी का संगम होता था। रामायण (१।४८) में भी मिथिला का उल्लेख आता है, यहाँ इसे जनकपुरी भी कहा गया है। भगवान् महावीर ने यहाँ अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। इस नगरी के चार दरवाजों पर चार बड़े बाजार थे।

३३. **रत्नपुर**[३]—इस नगर की स्थिति कोशल जनपद में थी। विविधतीर्थकल्प में धर्मनाथ की जन्मभूमि रत्नपुर में मानी गई है। यह नगर व्यापार की दृष्टि से बहुत समृद्धशाली था।

३४. **रथनूपुर**—चक्रवालपुर[४]—हरिभद्र के अनुसार यह विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी का एक नगर है। दक्षिण श्रेणी के ५० नगरों में से यह बाईसवां नगर पड़ता है।

३५. **रथवीपुर**[५]—हरिभद्र के निर्देशानुसार यह भरत-क्षेत्र का एक नगर है। इसकी स्थिति मिर्जापुरके आगे और इलाहाबाद के पहले होनी चाहिये।

३६. **राजपुर**[६]—विजयार्द्ध में राजपुर का निर्देश हरिभद्र ने किया है, पर यह वर्तमान मे सौराष्ट्र मे अवस्थित एक नगर है।

३७. **लक्ष्मीनिलय**[७]—आसाम में इस नगर की स्थिति रही होगी।

३८. **वर्धनापुर**[८]—उत्तरापथ मे इस नगर का निर्देश हरिभद्र ने किया है। वर्तमान मे यह कन्नौज के आस-पास स्थित कोई नगर है।

३९. **वसन्तपुर**[९]—राजगृह के पास का एक नगर। वसन्तपुर का संस्कृत साहित्य में भी उल्लेख आया है।

४०. **वाराणसी**[१०]—काशी देश की प्रधान नगरी है। वरुणा और असि नाम की दो नदियों के बीच मे अवस्थित

१. वि० ती० क० पृ० ६३
२. सम० पृ० ३७५
३. वही, पृ० ६७६
४. वही, पृ० ८०५
५. वही, पृ० ८०४
६. वही पृ० ५०८
१. सम० पृ० ४९३
२. वही पृ० ७८१
३. वही पृ० १२०
४. वही, पृ० ४५५ तथा ७३६
५. वही, पृ० १२५
६. वही, पृ० १०३
७. वही, पृ० १६८
८. वही, पृ० ७११
९. वही, पृ० ११।
१०. वही, पृ० ८४५

होने से यह वाराणसी कही जाती है। यह गंगा के तट पर है।

४१. **विलासपुर**[१]—यह विद्याधर नगर है। हरिभद्र ने इसकी स्थिति विजयार्द्ध में मानी है। पर यथार्थ में इसकी स्थिति मालवा और गुजरात के मध्य में होनी चाहिए। मध्य प्रदेश का प्रसिद्ध विलासपुर भी संभवतः हरिभद्र द्वारा उल्लिखित विलासपुर हो सकता है।

४२. **विशालवर्द्धन**[२]—कादम्बरी अटवी में विशालवर्द्धन नगर की स्थिति बतलाई गई है। बिहार में आधुनिक भागलपुर और मुंगेर के बीच इसकी स्थिति होनी चाहिए।

४३. **विशाला**[३]—अवन्तिदेश की प्रधान नगरी का नाम है।

४४. **वैराटनगर**[४]—यह मत्स्य प्रदेश की राजधानी था। महाभारत में इसकी चर्चा आयी है, यहाँ पांडवों ने गुप्तवास किया था। आधुनिक धौलपुर, भरतपुर और जयपुर का सम्मिलित भूभाग वैराट देश कहलाता था और वैराटनगर सम्भवतः भरतपुर रहा होगा।

४५. **शंखपुर**[५]—हरिभद्र ने उत्तरापथ में इस नगर की अवस्थिति मानी है। विविध तीर्थकल्प में बताया है कि राजगृह से जरासन्ध की सेना और द्वारिकावती से श्रीकृष्ण की सेना युद्ध के लिए चली। मार्ग में जहाँ ये दोनों सेनायें मिलीं, वहा अरिष्टनेमि ने शंखध्वनि की और शंखपुर नाम का नगर बसाया।

४६. **शंखवर्द्धन**[६]—हरिभद्र के अनुसार भरतक्षेत्र में शखवर्द्धन नगर की स्थिति है। इस नगर की सौराष्ट्र में अवस्थिति रही होगी।

४७. **श्वेतविका**[७]—यह केकयार्ध देश की प्राचीन राजधानी है। यह श्रावस्ती के उत्तरपूर्व में नेपाल की तराई में अवस्थित था। श्वेतविका से गंगा नदी पार कर महावीर सुरभिपुर पहुँचे थे। बौद्ध ग्रंथों में श्वेतविका को सेतव्या कहा गया है।

४८. **श्रावस्ती**[८]—श्रावस्ती कुणाल या उत्तर कोशल देश की मुख्य नगरी थी जो अचिरावती (राप्ती) नदी के किनारे अवस्थित थी। जैन और बौद्ध साहित्य में श्रावस्ती का बहुत विस्तृत वर्णन है। श्रावस्ती में चार दरवाजे थे, जो उत्तरद्वार, पूर्वद्वार, दक्षिणद्वार तथा केवट्टद्वार के नाम से पुकारे जाते थे। श्रावस्ती में पार्श्वनाथ के अनुयायी केशी मुनि तथा महावीर के अनुयायी गौतम स्वामी के महत्वपूर्ण संवाद होने का उल्लेख जैन ग्रन्थों में आता है। आजकल श्रावस्ती के चारों ओर घना जंगल है। यह गोंडा जिलान्तर्गत सहेट-महेट स्थान है।

४९. **श्रीपुर**[१]—विविधतीर्थकल्प के अनुसार श्रीपुर में अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की गई है। श्रीपुर का निर्माण माली-सुमालि ने किया है।

५०. **साकेत**[२]—अयोध्या का दूसरा नाम साकेत है।

५१. **सुशर्मनगर**[३]—इस नगर की स्थिति गुजरात में कहीं होनी चाहिए।

५२. **हस्तिनापुर**[४]—यह नगर कुरुदेश की राजधानी था। यह जैनों का पवित्र तीर्थ माना जाता है। किंवदन्ती है कि इसे हास्तिन नाम के राजा ने बसाया था। यह वर्तमान में गंगा यमुना के दक्षिण तट पर मेरठ से २२ मील दूर उत्तर-पश्चिम कोण में और दिल्ली से ५६ मील दक्षिण-पूर्व खण्डहरों के रूप में वर्तमान है।

५३. **क्षितिप्रतिष्ठित**[५]—यह राजगृह का दूसरा नाम है। जैन साहित्य में राजगृह को क्षितिप्रतिष्ठत, चणकपुर, ऋषभपुर तथा कुशाग्रपुर नाम से भी अभिहित किया गया है। जैन साहित्य के अनुसार राजगृह में गुणसिल, मंडिकुच्छ, मोग्गरपाणि आदि अनेक चैत्यमंदिर थे। गुणसिल चैत्य में भगवान् महावीर अनेक बार आकर ठहरे थे। पहाड़ियों से घिरे रहनेके कारण यह नगर गिरिव्रज के नाम से भी प्रख्यात था। राजगृह व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहाँ से तक्षशिला, प्रतिष्ठान, कपिलवस्तु, कुसीनारा आदि भारत के प्रसिद्ध नगरों को जाने के मार्ग बने हुए थे। विविधतीर्थकल्प में राजगृह में छत्तीस हजार घरों के होने का उल्लेख है। वर्तमान में राजगृह पटना जिले का राजगिर ही है।

---

१. सम० पृ० ४१२
२. वही, पृ० ६७३
३. वही पृ० २८६; ३१२
४. वही, पृ० २८५
५. वही, पृ० ७३७
६. वही पृ० ६७३
७. वही, पृ० ३६५-३६६

८. वही, पृ० २८३
१. सम० पृ० ३६८-३६६
२. वही, पृ० ३३६
३. वही, पृ० २३४
४. वही, पृ० १२७; १७५
५. वही, पृ० ६७१,६

जैन अपभ्रंश का मध्यकालीन हिन्दी के भक्ति-काव्य पर प्रभाव

लेखक—डा० प्रेमसागर जैन

जिस भांति संस्कृत 'श्लोक' और प्राकृत 'गाथा' छन्द के लिए प्रसिद्ध हैं, ठीक वैसे ही अपभ्रंश में 'दूहा' का सबसे अधिक प्रयोग किया गया। अपभ्रश का तात्पर्य है दूहा-साहित्य। यह दो भागों में बांटा जा सकता है—एक तो वह जो भाटों के द्वारा रचा गया और जिसमें श्रृंगार, वीर आदि रसों की भावात्मक अभिव्यक्ति है। इसके उदाहरण आचार्य हेमचन्द्र के सिद्धहेमशब्दानुशासन[1] में प्रचुर मात्रा में मौजूद है। दूसरा वह, जिनके रचयिता बौद्ध सिद्ध और जैन साधक थे। तिलोप्पाद, सरहपाद और कण्हपाद आदि का दूहासाहित्य 'दोहा-कोष' में प्रकाशित हो चुका है। जैन साधकों का साहित्य एक संकलित रूप में तो नहीं, किन्तु पृथक् पृथक् पुस्तकाकार या किसी पत्रिका में प्रकाशित होता रहा है। कुछ ऐसा है जो हस्त-लिखित रूप में उपलब्ध है।

परमात्मप्रकाश अपभ्रश का सामर्थ्यवान् ग्रंथ है। इसके रचयिता आचार्य 'योगीन्दु' एक प्रसिद्ध कवि थे। उनका समय ईसा की छठी शताब्दी माना जाता है।[2] उन्होंने इस ग्रंथ का निर्माण अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट को अध्यात्म का विषय समझाने के लिए किया था। अत उसमें एक अध्यापक की सरलता, मधुरता और पुनरावृत्ति वाली बात मौजूद है। योगीन्दु ने स्वयं स्वीकार किया है कि शिष्य को समझाने के लिए शब्दों को बारम्बार दोहराना पड़ा है। इसी उद्देश्य से उपमा और रूपकों का भी प्रयोग किया गया है। उनके पद्य कोमलता और माधुर्य से युक्त हैं। उनकी भाषा जनसाधारण की भाषा थी, अत: उसमे गेय-परकता अधिक है। श्री उद्योतनसूरि (७७८ ई०) का यह कथन—कि अपभ्रंश का प्रभाव बरसाती पहाड़ी नदियों की भाँति बेरोक होता है और प्रणयकुपिता नायिका की भाँति यह शीघ्र ही मनुष्यों के मन को वश में कर लेता है[3]—परमात्मप्रकाश पर पूर्णरूप से घटित होता है। जहाँ तक भाव धारा का सम्बन्ध है, उसमें भी योगीन्दु की उदारता स्पष्ट परिलक्षित होती है। वे किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म विशेष की संकुचित सीमाओं में आबद्ध नहीं हुए। उन्होंने मुक्त आत्मा की भांति ही उन्मुक्तता का परिचय दिया। उनका जिन शिव और बुद्ध भी बन सका। उनके द्वारा निरूपित परमात्मा की परिभाषा में केवल जैन ही नहीं अपितु वेदांती, मीमांसक और बौद्ध भी समा सके। उन्होंने अजैन शब्दावली का भी प्रयोग किया। परमात्मप्रकाश अध्यात्म का ग्रथ है, जैन या बौद्ध ग्रथ नही। इसके दो अधिकारों में १२६ और २१६ दोहे हैं। इस पर ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका और प० दौलतराम की हिन्दी टीका महत्त्व-पूर्ण है।[4] यह ग्रन्थ डा० ए० एन० उपाध्ये के सम्पादन में बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

योगसार नाम के ग्रन्थ के रचयिता भी योगीन्दु ही थे। इसमें १०८ दोहे हैं। इसका विषय परमात्मप्रकाश से मिलता-जुलता है। किन्तु इसमें वैसी सरसता नहीं है। डा० ए० एन०उपाध्ये ने इसका भी सम्पादन किया है। इसका प्रकाशन परमात्मप्रकाश के साथ ही बम्बई से हुआ था।

---

१. देखिए सिद्धहेमशब्दानुशासन, डा० पी० एल० वैद्य संपादित, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित, सन् १९३६, अब संशोधित संस्करण १९५८ में फिर छपा है।

२. परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये लिखित-प्रस्तावना, पृ० ६७।

३. देखिए वही, प्रस्तावना, पृष्ठ १०६ और अपभ्रंश काव्यत्रयी, गायकवाड़ ओरिण्टयल सीरीज, बड़ौदा, श्री एल० बी० गान्धी लिखित प्रस्तावना, पृ० ६७-६८।

४. श्री ब्रह्मदेव ईस्वी तेरहवीं शताब्दी में और पं० दौलतराम अठारहवीं शताब्दी मे हुए थे।

सावयधम्म दोहा के रचयिता को लेकर दो भिन्न मत हैं। डा० ए० एन० उपाध्ये इसे लक्ष्मीचन्द्र की रचना बतलाते हैं और डा० हीरालाल जैन देवसेन की। इस समय देवसेन वाला मत ही प्रचलित है। डा० हीरालाल का सबसे बड़ा तर्क यह है कि सावयधम्मदोहा देवसेन के भावसंग्रह[1] से बिल्कुल मिलता जुलता है। भाषा, शैली और भावधारा के साम्य पर रचयिताओं की सही पहचान होती रही है। देवसेन मालवा प्रान्त की धारा नगरी के निवासी थे। उन्होंने वहाँ पर ही सन् ९३३ ई० में सावयधम्म दोहा का निर्माण किया था। अब यह 'दोहक' डा० हीरालाल जैन के सम्पादन में कारंजा से प्रकाशित हो चुका है। इसका दूसरा नाम श्रावकाचार दोहक भी है। इसमें श्रावक धर्म का वर्णन होने पर भी कवि की उन्मुक्तता स्पष्ट है।

दोहा-पाहुड़ मध्यकालीन संत काव्य की एक शक्तिशाली कृति है। इसके रचयिता मुनि रामसिंह के विषय में केवल इतना विदित है कि वे राजस्थान के निवासी थे। डा० रामकुमार वर्मा ने उनका समय वि० सं० ९९० से ११५७ के मध्य निर्धारित किया है।[2] डा० हीरालाल जैन उन्हें सन् १००० के लगभग मानते हैं।[3] इस ग्रन्थ में केवल २२२ दोहे हैं। डा० हीरालाल जैन के सम्पादन और विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ यह ग्रन्थ भी कारंजा से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में एक ओर आत्म-साक्षात्कार के बिना बाह्य आडम्बर नितांत हेय और व्यर्थ बताये गये हैं, तो दूसरी ओर जीवन को परमात्मा से प्रेम करने की बात कही गई है। वहाँ आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य से उत्पन्न हुए समरसीभाव के अनुपम चित्र पाये जाते हैं। दोहा-पाहुड़ एक रहस्यवादी कृति है। हिन्दी के भक्तिकालीन रहस्यवाद पर उसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

१. यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन ग्रंथमालासे श्री सोनी जी के सम्पादन में, विक्रमाब्द १९७८ में प्रकाशित हो चुका है।

२. देखिए 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ८३।

३. पाहुडदोहा, भूमिका—डा० हीरालाल जैन लिखित पृ० ३३।

वैराग्यसार के रचयिता सुप्रभाचार्य हैं। कई दोहों में उनका नाम आया है। यह काव्य सबसे पहले डा० वेलणकर द्वारा सम्पादित होकर 'एनल्स ऑव भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' मे प्रकाशित हुआ था। संस्कृत टीका के साथ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १६, किरण २, दिसम्बर १९४९ में भी छप चुका है। कवि ने संसार की क्रूरता और व्यर्थता दिखाकर जीव को आत्म-दर्शन की ओर उन्मुख किया है। इस काव्य में धन की सार्थकता जिनेन्द्र की भक्ति में स्वीकार की गई है। काव्य में सरसता और आकर्षण की कमी नहीं है।

मुनि रामसिंह के दोहापाहुड़ के अतिरिक्त एक और दोहा-पाहुड़ उपलब्ध हुआ है। उसकी हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर मे मौजूद है। उसमे ३३३ दोहे हैं। इसके रचयिता कोई महचन्द्र नाम के कवि हैं। यह स्पष्ट है कि ये महीचन्द्र नाम के तीनो जैन भट्टारकों से पृथक हैं। उन्होंने एक स्थान पर 'जोइंदु' का स्मरण किया है[1]। उनका काव्य परमात्मप्रकाश से प्रभावित है। उसमें परमात्मप्रकाश की भाँति ही 'निष्कल ब्रह्म' के ध्यान से अनन्तसुख की प्राप्ति की बात कही गई है। उसकी अन्य प्रवृत्तियाँ भी परमात्मप्रकाश से हूबहू मिलती-जुलती हैं। यह भी 'रहस्यवाद' का उत्तम निदर्शन है।

महात्मा आनन्दतिलक ने 'आणंदा' नाम की एक मुक्तक रचना का निर्माण किया था। उसकी हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में मौजूद हैं। इसके रचना-काल पर मतभेद है, किन्तु भाषा की दृष्टि से वह चौदहवीं शताब्दी की प्रतीत होती है। इतना निश्चित है कि उसका निर्माण कबीर आदि निर्गुनिए सन्तों से पूर्व हुआ था। इसमें ४४ पद्य हैं। यह रचना आध्यात्मिक-भक्ति का सरस उदाहरण है। इसमें 'अप्पा' को चिदानन्दु, णिरंजणु, परमसिउ आदि विशेषणों से युक्त किया गया है। इसमें लिखा है कि साधु जन तीर्थों में भ्रमण न करके कुदेवों को न पूज कर अपने हृदय में भरे अमृत-सरोवर में स्नान करें और हृदय में ही विराजमान परमात्मा की उपासना करें, उन्हें परमानन्द मिलेगा। सद्गुरु की महिमा का स्थान स्थान पर वर्णन किया गया है।

हिन्दी का भक्ति-काव्य दो भागों में विभक्त है—**निर्गुणभक्ति धारा और सगुण भक्ति धारा**। निर्गुण-भक्ति धारा के दो भेद हैं— ज्ञानाश्रयी-शाखा और प्रेमाश्रयी-शाखा। इसी भाँति सगुण भक्ति धारा भी कृष्ण-काव्य और राम-काव्य के रूप में बँटी हुई है। इनमें निर्गुण भक्ति काव्य जैन अपभ्रंश के दूहाकाव्य से प्रभावित है, ऐसा मैं मानता हूँ। दोनों की अधिकांश प्रवृत्तियाँ समान हैं। इसीलिए डा० हीरालाल जैन ने लिखा था, "इनमें वही विचार-स्रोत पाया जाता है, जिसका प्रवाह हमें कबीर की रचना में प्रचुरता से मिलता है[२]।" डा० रामसिंह तोमर का भी कथन है कि, "जो हो हिन्दी-साहित्य में इस रहस्यवाद मिश्रित परम्परा के आदि प्रवर्तक कबीरदास है और उन की शैली, शब्दावली का पूर्ववर्ती रूप जैन रचनाओं में प्राप्त होता है।"[३]

कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। 'निर्गुण' का अर्थ है - गुणातीत। गुण का अर्थ है—प्रकृति का विकार—सत्त्व, रज और तम। संसार इस विकार से संयुक्त है और ब्रह्म रहित। किन्तु कबीरदास ने विकार-संयुक्त संसार के घट घट में निर्गुण ब्रह्म का वास दिखा कर सिद्ध किया है कि 'गुण' 'निर्गुण' का और 'निर्गुण' 'गुण' का विरोधी नहीं है। उन्होंने "निरगुन में गुन और गुन में निरगुन" को ही सत्य माना। अवशिष्ट सब को धोखा कहा। अर्थात् कबीरदास ने सत्त्व, रज, तम के राहित्य की अपेक्षा ब्रह्म को निर्गुण और सत्त्व, रज, तम रूप विश्व के कणकण में व्याप्त होने की दृष्टि से सगुण कहा। उनका ब्रह्म ऐसा व्यापक था—जो भीतर से बाहर और बाहर से भीतर तक फैला था। वह अभाव रूप भी था और भावरूप भी, निराकार भी था और साकार भी, द्वैत भी था और अद्वैत भी। स्पष्ट है कि **कबीर का ब्रह्म अनेकान्तात्मक** था। जैसे अनेकान्त में दो विरोधी पहलू अपेक्षाकृत दृष्टि से निभ सकते हैं, वैसे कबीर के ब्रह्म में भी थे। कबीर पर जाने और अनजाने एक ऐसी परम्परा का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था, जो अपने में पूर्ण थी और स्पष्ट। कबीरदास की सत्यान्वेषक बुद्धि ने उसको स्वीकार किया। उन्होंने अनुभूति के माध्यम से उसको पहचाना। अनेकान्त के पीछे छिपे सिद्धान्त को न किसी ने समझाया और न उनका उस सिद्धान्त से कोई अर्थ ही था। कबीरदास सिद्धान्तों के घेरे में बंधने वाले जीव नहीं थे। खैर, कबीरदास ने उस सुगन्धि को पसन्द किया जो सर्वोत्तम थी, वह कहाँ से आ रही थी, किसकी थी, इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। आज वह हमारे विचार का विषय अवश्य है।

कबीरदास पर वैसे तो न जाने कितने सम्प्रदायों का प्रभाव है, आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इसी को लेकर लिखा था कि कबीरदास की भूख सर्वग्रासी है[१], किन्तु उनमें नाथ और सूफी सम्प्रदायों को प्रमुखता दी जाती है। मैं नाथ-सम्प्रदाय का सम्बन्ध जैन परम्परा से मानता हूँ। मेरे डी० लिट० के शोध-निबन्ध में यह मान्यता सप्रमाण पुष्ट की जायगी। इतना तो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मान ही लिया है कि **नाथसम्प्रदाय** में जो बारह-सम्प्रदाय अन्तर्मुक्त किए गए थे, उनमें '**पारस' और 'नेमि**' सम्प्रदाय भी थे। दोनों जैन थे। और इसी कारण नाथ-सम्प्रदाय में **अनेकान्त** का स्वर मौजूद अवश्य था, भले ही उसका रूप अस्पष्ट रह गया हो।

यह ही अनेकान्त का स्वर अपभ्रंश के जैन दूहा-काव्य में पूर्णरूपसे वर्तमान है। कबीर ने जिस ब्रह्म को **'निर्गुण'** कहा है, योगीन्दु के 'परमात्मप्रकाश' में उसे ही **'निष्कल'** संज्ञा से अभिहित किया गया था। 'निष्कल' की परिभाषा बताते हुए टीकाकार ब्रह्मदेव ने 'पञ्चविध-शरीर

१. देखिए महचन्द कृत पाहुडदोहा, आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर की हस्तलिखित प्रति, दोहा नं० ३२८।
२. डा० हीरालाल जैन, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ५०, अंक ३-४, पृ०, १०७।
३. डा० रामसिंह तोमर, जैन-साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ४६७।

४. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, नवम्बर १९५५, पृ० २०४
५, संतो, धोखा कासूं कहिये
गुण में निरगुण निरगुण में गुण,
बाट छांडि क्यूं बहिये?
कबीर ग्रन्थावली, पद १८०।

१. आचार्य क्षितिमोहनसेन, कबीर का योग, कल्याण, योगांक, पृष्ठ २९९।

रहितः' लिखा।[२] महचन्द ने भी अपने दोहापाहुड़ में निष्कल शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। शरीर रहित का अर्थ है—निःशरीर, देहरहित, अस्थूल, निराकार, अमूर्तिक, अलक्ष्य। प्रारम्भ में योगीन्दु ने इसी 'निष्कल' को **'निरञ्जन'** कह कर सम्बोधित किया है। उन्होंने लिखा है—जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म और न मरण वह निरञ्जन कहलाता है।[३] निरञ्जन का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। वैसे 'निष्कल' के अनेक पर्यायवाची है। उनमें आत्मा, सिद्ध, जिन और शिव का स्थान-स्थान पर प्रयोग मिलता है। मुनि रामसिंह ने समूचे दोहा-पाहुड़ में केवल एक स्थान पर 'निर्गुण' शब्द भी लिखा है। उन्होंने उसका अर्थ किया है—निर्लक्षण और निःसंग।[४] वह 'निष्कल' से मिलता जुलता है।

कबीर की 'निर्गुण में गुण और गुण में निर्गुण' वाली बात अपभ्रंश के काव्यों में उपलब्ध होती है। योगीन्दु ने लिखा—जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि।[१] इसी भांति मुनि रामसिंह का कथन है—तिहुयणि दीसइ देउ जिणु जिणवरि तिहुवणु एउ।[२] अर्थात् त्रिभुवन में जिनदेव दिखता है और जिनवर में यह त्रिभुवन। जिनवर में त्रिभुवन तो दिख सकता है, ठीक वैसे ही जैसे निर्मल जल में ताराओं का समूह प्रतिबिम्बित होता है।[३] किन्तु त्रिभुवन में जिनदेव की व्याप्ति कुछ विचार का विषय है। त्रिभुवन का अर्थ है—त्रिभुवन के रहने वालों का घट-घट। उसमें निर्गुण या निष्कल ब्रह्म रहता है। निष्कल है पवित्र और घट-घट है अपवित्र—कलुष और मैल से भरा। कुछ लोगों का कथन है कि गन्दगी से युक्त जगह में वह ब्रह्म नहीं रह सकता, अत. पहले उसको तप, साधना या संयम किसी भी प्रक्रिया से शुद्ध करो तब वह रहेगा अन्यथा नहीं। कबीर ने निर्गुणराम की शक्ति में पूरा विश्वास किया और कहा कि उसके बसते ही कलुष स्वतः ही पलायन कर जाता है। उन्होंने स्पष्ट ही लिखा "ते सब तिरे राम रसवादी। कहे कबीर बूडे बकवादी।"[४] उनकी दृष्टि में विकार की लहरों से तरंगायित इस संसार-सागर में से पार होने के लिए राम रूपी नैया का ही सहारा है। कबीर से बहुत पहले मुनिरामसिंह ने भीतरी चित्त के मैल को दूर करने के लिए निरंजन को धारण करने की बात कही थी।[५] उन्होंने यह भी लिखा कि जिसके मन में परमात्मा का निवास हो गया, वह परमगति पा लेता है।[६] उनके कथनानुसार जिसके हृदय में भगवान् **जिनेन्द्र** मौजूद है, वहां मानो समस्त जगत ही संचार करता है।

२. देखिए परमात्मप्रकाश, १।२५ की ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका, पृ० ३२।

३. जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरजणु तासु॥
परमात्म प्रकाश, १।१९, पृ० २७

४. हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु॥
पाहुड दोहा, १००वां दोहा, पृ० ३०

१. जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि।
जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउसोजि
परमात्मप्रकाश, १।४१, पृ० ४५

२. तिहुयणि दीसइ देउ जिणु जिणवरि तिहुवणु एउ।
जिणवरि दीसइ सयलु जगु को वि ण किज्जइ भेउ॥
पाहुडदोहा, ३९वां दोहा, पृ० १२

३. तारा-यणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम॥
परमात्मप्रकाश, १।१०२, पृ० १०६

४. रसना राम गुन रमि रस पीजै। गुन अतीत निरमोलिक लीजै॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई। जा सुमिरत सुधि-बुधि-मति पाई॥
विष तजि राम न जपसि अभागे। का बूड़े लालच के लागे॥
ते सब तिरे रामरसस्वादी। कहै कबीर बूड़े बकबादी॥
कबीर ग्रन्थावली, पद ३७५

५. अब्भिंतरचित्ति वि मइलियइं बाहिरि काइं तवेण।
चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण॥
पाहुड़ दोहा, ६१वां दोहा, पृ० १८

६. जसु मणि णिवसइ परमपउ सयलइं चिंत चवेवि।
सो पर पावइ परमगइ अट्ठइं कम्म हणेवि॥६६॥

उसके परे कोई नहीं जा सकता।[७] आचार्य योगीन्दु ने भी लिखा है, "जिसके मन में निर्मल आत्मा नहीं बसता, उस का शास्त्र-पुराण और तपश्चरण से भी क्या होगा ?"[८] अर्थात् निष्कल ब्रह्म के बसने से मन भी शुद्ध हो जाएगा, उसकी गन्दगी रहेगी नहीं। विषय कषायों से संयुक्त मन जब निरंजन को पा लेता है, तो वह मोक्ष का हकदार बन जाता है। इसके अतिरिक्त तन्त्र और मन्त्र उसे मोक्ष नहीं दिला सकते।[९] श्री महचन्द ने भी दोहा-पाहुड़ में लिखा है, "निष्कल परम जिन" को पालेने से जीव सब कर्मों से मुक्त हो जाता है, आवागमन से छूट जाता है और अनंत सुख प्राप्त कर लेता है।"[१०]

कबीर आदि संत कवियों ने 'साहिब' को घट के भीतर देखने के लिए कहा। उन्होंने स्पष्ट ही लिखा कि देवालय, मस्जिद, मूर्ति और चित्र आदि में 'वह' नहीं रहता। वहाँ उसका ढूंढा जाना व्यर्थ ही होगा। इसी भाँति उन्होंने तीर्थयात्रा को भी निस्सार माना। तीर्थों में भगवान नहीं रहता। 'भ्रम विधौंसण कौ अङ्ग' में कबीरदास ने लिखा है—यह दुनियाँ मन्दिरों के आगे सिर झुकाने जाती है, परन्तु हरि तो हृदय के भीतर रहते हैं, तू उसी में लौ लगा।[१] इसी भाँति उन्होंने पत्थर की मूर्ति के पूजने को मंझधार में डूबने के समान माना है।[२] दादू का कथन भी मिलता-जुलता है—कोई द्वारिका दौड़ता है, कोई कासी और कोई मथुरा, किन्तु साहिब तो घट के भीतर मौजूद है।[३] संत कवियों की यह मान्यता अपभ्रंश कवियों में अधिकाधिक देखी जाती है। परमात्मप्रकाश में लिखा है—आत्मदेव न तो देवालय में रहता है, न शिला में, न लेप्य में और न चित्र में, वह तो समचित्त में निवास करता है।[४] योगीन्दु ने योगसार में भी लिखा—श्रुतकेवली (सब विद्याओं का पूर्ण जानकार) ने कहा है कि तीर्थों में, देवालयों में देव नहीं है, वह तो देह-देवालय में विराजमान रहता है इसे निश्चित समझो। यह सांसारिक जीव उसके दर्शन मन्दिरों में करना चाहता है, ऐसा उपहासास्पद है।[५] मुनि रामसिंह ने पाहुड़-दोहा में उनको मूर्ख कहा है, जो शिव को देवालयों में ढूंढते फिरते हैं, वे अपने देह-मन्दिर को नहीं देखते, जहाँ वह विराजमान है।[६] महात्मा आनन्द तिलक का कथन है—

> अठसठि तीरथ परिभमइ, मूढ़ा मरहिं भमंतु।
> अप्पा बिन्दु न जाणही, आणंदा घट महिं देउ अणंतु[७]

७. केवलु मन परिवज्जियउ जहिं सो ठाइ अणाइ।
तसु उरि सब्बु जगु संचरइ परइ ण को वि जाइ॥८६॥

८. अप्पा णिय-मणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु।
सत्थ पुराणइँ तव-चरणु मुक्खु वि करहि कि तासु॥
परमात्मप्रकाश, १।६८, पृ० १०२

९. जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसय-कसायहिं जंतु।
मोक्खहं कारणु एत्तडउ अण्णु ण तंतु ण मतु॥
वही, १।१२३, पृ० १२५

१०. झायहिं णिक्कुलु परम जिणु कम्मदुहविणि मुक्कु।
आवण-गवण-विवज्जियउ, लहु (हु) अणंतु चउक्कु॥
महचन्द, पाहुड दोहा, आमेर शास्त्र भण्डार की हस्तलिखित प्रति, ९१वां दोहा।

१. कबीर दुनियां देहुरैं, सीस नवांवण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यौ लाइ॥
कबीर ग्रन्थावली, भ्रमविधौंसण कौ अङ्ग, ११वां दोहा

२. पाहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार।
इही भरोसै जे रहे, ते बूडे काली धार॥
देखिए वही, पहला दोहा.

३. दादू केई दौड़े द्वारिका, केई कासी जाहिं।
केई मथुरा को चले, साहिब घट ही माहिं॥
दादू की वाणी, यशपाल संपादित, दिल्ली, पृ० १६ का अन्तिम पद

४. देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति॥
परमात्मप्रकाश, १।१२३, पृ० १२४

५. तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि-वुत्तु।
देहा-देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु॥४२॥
देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ॥४३॥

६. मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं।१८०।

७. देखिए 'आणदा' की हस्तलिखित प्रति, (आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर) तीसरा पद्य।

कबीरदास ने सबसे बड़ा काम यह किया कि उस अव्यक्त ब्रह्म को प्रेम का विषय बनाया। अभी तक वह केवल ज्ञान के द्वारा प्राप्तव्य माना जाता था। पं० रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में निर्गुण ब्रह्म से प्रेम करने की बात सूफियों से आई, भारतीय धरती में उसका बीज भी नहीं था। किन्तु आत्मा से प्रेमपरक प्रणय की परम्परा जैन-काव्यों में उपलब्ध होती है और उसका प्रारम्भ अपभ्रंश के दूहा-साहित्य से ही नहीं, अपितु उसके भी बहुत पूर्व से मानना होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि मुनिरामसिंह के पाहुड़-दोहा पर **आचार्य कुन्दकुन्द के भावपाहुड़** का प्रभाव है। आचार्य कुन्दकुन्द का समय वि० सं० की पहली शती माना जाता है। कबीरदास ने निर्गुन-भक्ति के क्षेत्र में दाम्पत्य-रति का रूपक घटित किया। उन्होंनेब्रह्म कोपति और जीव को पत्नी बनाया। 'हरि मेरा पीव मैं हरिकी बहुरिया' को लेकर प्रेम के विविध पहलुओं पर कबीरने लिखा, तन्मय होके लिखा। ब्रह्म को पति बनाने की बात पाहुड़ दोहा में भी उपलब्ध होती है। मुनि रामसिंह ने लिखा—मैं सगुणी हूँ और पिय निर्गुण-निर्लक्षण और निःसंग, अत. एक ही देहरूपी कोठे में रहने पर भी हमारा अंग से अंग न मिल सका।[1] आगे चलकर हिन्दी के जैन काव्य में दाम्पत्य-प्रेम का सरस उद्घाटन हुआ। उनमें सर्वोत्कृष्ट थे महात्मा आनन्दघन। उनकी आत्मा रूपी दुलहिन ने परमात्मा रूपी पिय से प्रेम किया फिर दर्शन, मिलन और तादात्म्य जन्य आनन्द का अनुभव किया। वैसे बनारसीदास, भगवतीदास, द्यानतराय, मनराम आदि जैन हिन्दी के कवियों ने आध्यात्मिक भक्ति में दाम्पत्य-रति को प्रमुखता दी। किन्तु रूपक के रूप में भी अश्लीलता नहीं आपाई, यह उनकी विशेषता थी। शालीनता और मर्यादा बनी रही। पति-पत्नी का प्रेम चलता रहा और आध्यात्मिकता भी निभती रही।

ब्रह्म के प्रति प्रेम की भावात्मक अभिव्यक्ति ही **रहस्यवाद** कहलाती है। कबीर के रहस्यवाद की सबसे बड़ी विशेषता है 'समरसीभाव'। आत्मा और परमात्मा के एक होने—तादात्म्य होने को समरसता कहते हैं। समरसता इसलिए कहा कि दोनों के एक होने से ब्रह्मानन्द मिलता है। उसे ही रस कहते हैं। आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य को लेकर जैन परम्परा में कुछ भिन्नता है। जैन आचार्यों की 'आत्मा' एक अखण्ड ब्रह्म का खण्ड अंश नहीं है, अत. उसके ब्रह्म में मिलने जैसी बात उत्पन्न ही नहीं होती। किन्तु आत्मा शुद्ध होकर परमात्मा बनती है। आत्मा के तीन भेद हैं—बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। बाह्यआत्मा इतनी मिथ्यावंत होती है कि वह पूर्ण शुद्धता प्राप्त ही नहीं कर सकती। अन्तरात्मा में शुद्ध होने की ताकत होती है, किन्तु वह अभी पूर्ण शुद्ध है नहीं। परमात्मा आत्मा का पूर्णशुद्ध रूप है।[2] रहस्यवाद में आत्मा के दो ही रूप काम करते करते हैं—एक तो वह जो अभी परमात्म-पद को प्राप्त नहीं कर सका है और दूसरा वह जो परमात्मा कहलाता है। पहले में बहिरात्मा और अन्तरात्मा शामिल हैं और दूसरे में केवल परमात्मा। पहला अनुभूति-कर्त्ता है और दूसरा अनुभूतितत्त्व।

चाहे आत्मा ही ब्रह्म बनती हो अथवा वह ब्रह्म में मिलती हो, समरसता और तज्जन्य अनुभूति का आनन्द जैन काव्यों में उपलब्ध होता है। कबीर ने लिखा है, 'पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ। जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाय ॥[3]" ठीक ऐसा ही जैन कवि बनारसीदास का कथन है—"पिय मोरे घट मैं पिय माहिं। जल तरंग ज्यों द्विविधा नाहिं ॥[4]" द्विविधा के मिटने की बात भगवतीदास 'भैया" ने भी कही, "जब तैं अपनो जिउ आप लख्यो, तब तैं जु मिटी दुविधा मन की।[5]" हिन्दी कवियों की यह समरसता अपभ्रंश के दूहा काव्य में ज्यों की त्यों उपलब्ध होती है। आचार्य

१. देखिए पाहुडदोहा, १०० वां पद्य, पृ० ३०

२. परमात्मप्रकाश, १।११-१५, पृ० २०-२४

३. कबीर ग्रन्थावली, परचा कौ अंग, १७ वां दोहा।

४. बनारसीदास, अध्यात्मगीत, १६ वां पद्य, बनारसी-विलास, जयपुर, पृ० १६१

५. भगवतीदास "भैया', शतअष्टोत्तरी, ३५ वां कवित्त, ब्रह्मविलास, जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९२६ ई०, पृ० १६

योगीन्दु ने परमात्मप्रकाश में लिखा है—मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स । बी हि वि समरसि-हूवाहँ पुज्ज चडावउं कस्स ॥ अर्थात् मन परमेश्वर में और परमेश्वर मन में मिल कर समरसीभूति हो गये, तो फिर मैं अपनी पूजा किसे चढ़ाऊँ।[1] एक दो शब्द के हेर-फेर से मुनि रामसिंह ने भी लिखा—"मणु मिलियउ परमेसर हो परमेसरु जि मणस्स। बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउं कस्स ॥[2]" दोनों की भाषा में यत्किञ्चित् अन्तर के अतिरिक्त कोई भेद नहीं है। मुनि आनन्द तिलक ने भी समरस के रंग की बात लिखी है। उनका कथन है—समरस भावे रंगिया अप्पा देखइ सोइ। अप्पउ जाणइ पर हणइ आणंदा करइ णिरालंब होइ ॥[3]

आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य से उत्पन्न होने वाला आनन्द केवल कबीर के भाग्य में ही नहीं बदा था। बनारसीदास को भी मिला और उन्हें उसका स्वाद कामधेनु, चित्राबेलि और पंचामृत भोजन जैसा लगा।[4] उनकी दृष्टि में रामरसिक और रामरस पृथक नहीं रह पाते, दोनों एक हो जाते हैं। द्यानतराय ने उस आनन्द को गूंगेके गुड़के समान कहा, जिसका अनुभव तो होता है किन्तु कहा नहीं जा सकता।[5] कबीर ने इसी को 'गूँगेकेरी शर्करा बैठे ही मुसकाय' कह कर प्रकट किया था। समरसता से उत्पन्न होने वाले इस आनन्द की बात कबीर से कई शताब्दी पूर्व आचार्य योगीन्दु ने परमात्मप्रकाश में स्वीकार की थी। उन्होंने "णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ" कह कर अपने नित्य, निरंजन और ज्ञानमय परमात्मा को परमानन्द स्वभाव वाला घोषित किया।[7] एक दूसरे दोहे में 'केवल सुक्ख-सहाउ' लिखा,[8] अर्थात् उसका स्वभाव पूर्ण सुख रूप है, ऐसा कहा। 'परमसुख' और 'परमानन्द' पर्यायवाची हैं। तात्पर्य हुआ कि परमानन्द और केवल सुख स्वभाव वाले ब्रह्म से जिसका तादात्म्य होगा वह भी तद्रूप ही हो जायगा। इस आनन्द को पूर्णतया स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक पद्य में लिखा—समभाव में प्रतिष्ठित योगीश्वरों के चित्त में परमानन्द उत्पन्न करता हुआ जो कोई स्फुरायमान होता है, वह ही परमात्मा हैं।[9] अर्थात आत्मा जब परमानन्द का अनुभव कर उठे, तो समझो कि परमात्मा मिल गया है। 'परमान्द' के 'परम' की व्याख्या करते हुए उन्होने उसे अद्वितीय का वाचक लिखा है। उनका कथन है—शिवदर्शन से जिस परम सुख की प्राप्ति होती है, वह इस भुवन में कही भी नहीं है। उस अनन्त सुख को इन्द्र करोड़ो देवियों के साथ रमण करने पर भी प्राप्त नही कर पाता।[10] ठीक यह ही बात मुनि रामसिंह ने पाहुड़-दोहा मे लिखी है—"तं सुहु इंदु वि णउ लहइ देविहिं कोडि रमंतु।"[11] उन्होंने यह भी लिखा कि जिसके मन में परमात्मा का निवास हो गया, वह परमगति को पा जाता है।[12] यह परमगति, परम

---

१. परमात्म प्रकाश, १।१२३ (२) पृ० १२५
२. पाहुडदोहा, ४९ वां दोहा, पृ १६
३. देखिए आमेरशास्त्र भण्डार जयपुर की 'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति ४० वां पद्य।
४. अनुभौ के रस कौ रसायन कहत जग,
   अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
   अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
   अनुभौ को स्वाद पंच अमृत कौ कौर है ॥
   बनारसीदास, नाटक समयसार, बम्बई वि० सं० १९८६, पृ०१७
५. देखिये वही
६. द्यानतविलास, कलकत्ता, ६० वां पद, पृ०२५
७. णिच्चु णिरजणु णाणमउ परमाणंद सहाउ।
   जो एहउ सो सतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥ १।१७
८. केवल दंसण-णाणमउ केवल-सुक्ख-सहाउ।
   केवल वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ ॥२४॥
९. जो सम-भाव-परिट्ठियहं जोइहँ कोइ फुरेउ।
   परमाणंदु जणतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥३५॥
१०. जं सिव-दसणि परम-सुहु पावहि भाणु करंतु।
   तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणतु ॥११६॥
   जं मुणि लहइ अणत सुहु णिय-अप्पा भायंतु।
   तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥११७
११. जं सुहु विसय परं मुहउ णिय अप्पा भायंतु।
   तं सुहु इंदु वि णउ लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥३॥
१२. जसु मणि णिवसइ परमपउ सयलइं चित चवेवि
   सो पर पावइ परमगइ अट्ठइं कम्म हणेवि ॥६६॥

सुख और परम आनन्द ही है। मुनि आनन्द तिलक ने भी—'अप्पणिरंजणु परम सिउप्पा अप्पा परमाणंदु' लिखकर आत्मा को 'निरञ्जन' और शिव कहते हुए 'परमानन्द' भी कहा।[१] अर्थात आत्मा परमानन्द रूप है।

कबीरदास ने परमात्मा के मिलन को अमृत का धारासार बरसना कहा है। जिस प्रकार अमृत अमरत्व प्रदान करता है, इसी प्रकार मिलन की यह वर्षा जीवको परम पद देती है। इस अमृत का ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है। कबीर इसके पारखी हैं। उन्होंने इस अमृत को छक कर पिया है[२]। जैन कवि विनयविजय ने भी घट में स्थित सुधा-सरोवर का उल्लेख किया है। उसमें स्नान करने से दुख दूर हो जाते हैं, परम आनन्द उपलब्ध होता है। इस सरोवर को गुरुदेव दिखाता है, किन्तु वह ही देख सकता है, जिसका उसमें दिल लगा है[३]। इस सुधा-स्नान और सुधा-पान की महिमा कवि बनारसीदास को भी विदित थी। कवि आनन्दसूरि ने भी अमृत का आचमन किया था। जिस अमृत के आनन्द की बात हिन्दी के जैन और अजैन कवियों में इतनी प्रसिद्ध है, उसका पूर्ण स्वाद अपभ्रंश-कवि ले चुके थे। मुनि आनन्दतिलक ने लिखा है कि ध्यान रूपी सरोवर में अमृत रूपी जल भरा है, जिसमें मुनिवर स्नान करते हैं और अष्टकर्मों को धोकर निर्वाण में जा पहुँचते हैं[४]। इन्हीं मुनि ने एक दूसरे स्थान पर लिखा है

कि परमानन्द रूपी सरोवर में जो मुनि प्रवेश करते हैं, वे अमृत रूपी महारस को पीने में समर्थ हो पाते हैं, किन्तु गुरु के उपदेश से[५]। मुनि रामसिंह ने ब्रह्मको अमर कहकर उसे अपनानेका आग्रह किया है। अर्थात् उसके अमृतरूप की महिमा गायी है[६]। योगीन्दु ने अमृत सरोवर को एक दृष्टान्त के द्वारा प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है—ज्ञानियों के निर्मल मन में अनादि देव इसी प्रकार निवास कर रहा है, जैसे सरोवर में हंस लीन रहता है। सभी कुछ अनादि है हंस भी और सरोवर भी[७]। परमात्मप्रकाश में ब्रह्म का अजरामर विशेषण तो एकाधिक बार प्रयुक्त हुआ है। हृदय रूपी सरोवर में हंस के विचरण करने की बात तो महचन्द ने भी लिखी है[८]।

मध्यकालीन संत कवियों ने अपने ब्रह्म को सभी पौराणिक देवों के नाम से पुकारा है। किन्तु उनका अर्थ पुराण-सम्मत नहीं था। कबीर का राम निरजन है। वह निरञ्जन जिसका रूप नहीं, आकार नहीं, जो समुद्र नहीं, पर्वत नही, धरती नहीं, आकाश नहीं, सूर्य नही, चन्द्र नहीं, पानी नहीं, पवन नहीं—अर्थात् सभी दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण[९]। उनका विष्णु वह है जो संसार रूप में विस्तृत है, उनका गोबिन्द वह है जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया है, उनका खुदा वह है जो दस दरवाजों को खोल देता है, करीम वह है, जो इतना सब कर देता है, गोरख वह है जो ज्ञान से गम्य है, महादेव वह है जो मन की मानता है, सिद्ध वह है जो इस चराचर दृश्यमान जगत का साधक है,

१. देखिए आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर को 'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति दूसरा दोहा।

२. अमृत बरिसै हीरा निपजै,
घटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारखू,
अनभै उतरचा पार॥
कबीर-वाणी, कबीरदास, डा० द्विवेदी, पृ० २६०

३. सुधा सरोवर है या घट में, जिसमें सब दुख जाय।
विनय कहे गुरुदेव दिखावे, जो लाऊँ दिल ठाय॥
प्यारे काहे कूं ललचाय॥
देखिए पदसंग्रह, बड़ौत शास्त्र भण्डार की हस्तलिखित प्रति, पृ० १७

४. झाण सरोवरु अमिय जलु मुणिवरु करइ सण्हाणु।
अट्ठकम्म मल धोवहि आणंदा रे! णियडा पांहु णिव्वाण।
देखिए आमेर शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति, पांचवां पद्य।

५. परमाणंद सरोवरहं जे मुणि करइ प्रवेस।
अमिय महारसु जइ पिवइ आणंदा गुरु स्वामि उपदेसु॥
देखिए वही, २६ वाँ पद्य।

६. देह हो पिक्खवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाण मुणेहि॥
पाहुड-दोहा, ३३ वाँ दोहा, पृ० १०

७. णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ॥
परमात्मप्रकाश, १/१२२, पृ० १२३

८. महचन्द, दोहापाहुड, आमेर शास्त्र भण्डार की हस्तलिखित प्रति, ३२० वां पद्य।

९. कबीर ग्रंथावली, २१६ वां पद।

जैन-साहित्य में मथुरा

लेखक—डॉ० ज्योति प्रसाद जैन

उत्तरप्रदेश राज्य के मथुरा जिले के मुख्य नगर मथुरा को जैनधर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस नगर के प्राचीन नामान्तर उत्तरमथुरा, मधुरा, मधुपुरी, मधुपून्ना, महुरा, मथुला आदि मिलते हैं। पूर्वकाल में यह ब्रजमंडल की और उसके पूर्व शूरसेन जनपद की राजधानी थी। आचार्य जिनसेन स्वामि कृत 'आदिपुराण' (पर्व १६, श्लोक १५५) के अनुसार कर्मभूमि के आदि में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के आदेश से देवराज इन्द्र ने जिन ५२ देशों का इस भूतल पर निर्माण किया था उनमें यह देश भी जो कालान्तर में शूरसेन देश के नाम से प्रसिद्ध हुआ, सम्मिलित है। उसकी राजधानी मथुरा का भी उसी समय निर्माण होने से उसकी गणना भारतवर्ष की आद्य नगरियों में की जाती है। पुन्नाटसंघी जिनसेन सूरि कृत 'हरिवंश' में उल्लिखित प्राचीन भारत के १८ महाराज्यों में भी शूरसेन राज्य की गणना है और उसकी राजधानी मथुरा बताई गई है। यद्यपि 'भगवतीसूत्र' के १६ प्रदेशों या जनपदों में शूरसेन देश या उसकी राजधानी मथुरा का उल्लेख नहीं है, तथापि 'प्रज्ञापनासूत्र' की २५½ आर्य देशों की सूची में वे सम्मिलित हैं। 'ज्ञाताधर्मकथासूत्र' में उल्लिखित नगरनामों में मथुरा और पांडुमथुरा, दोनों के नाम मिलते हैं। 'स्थानांगसूत्र' (वृत्तिसहित, पृ० ४५३), 'निशीथचूर्णि' आदि ग्रन्थों में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारत वर्ष की जिन दश महानगरियों या महाराजधानियों का उल्लेख है उनमें भी मथुरा का नाम है। दक्षिण भारत के दिगम्बराचार्यों ने अपने ग्रंथों में पांड्यदेशान्तर्गत मदुरा या दक्षिणमथुरा से, जिसे पांड्यमथुरा भी कहते हैं, भेद करने के लिए इस नगर का उल्लेख प्रायः उत्तरमथुरा नाम से किया है। कहीं-कहीं देश का नाम भी शूरसेन के स्थान पर सौरदेश मिलता है। इस मथुरा की स्थिति उस प्राचीन मध्यदेश के अन्तर्गत बताई गई है जो मगध से स्थूण पर्यन्त विस्तृत था और जैनमुनियों का निर्बाध विहार क्षेत्र था।

इसके अतिरिक्त, अत्यन्त प्राचीन पाठ 'निर्वाणभक्ति' की 'महुराए अहिच्छित्ते' गाथा में प्रसिद्ध सिद्ध क्षेत्र एवं तीर्थस्थान के रूप में मथुरा का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार 'निशीथचूर्णि' में "उत्तरावहे धम्मचक्कं मथुराए देवणिम्मिओ थूभो" शब्दों द्वारा मथुरा के 'देवनिर्मित स्तूप' को उत्तरापथ का धर्मचक्र स्थल बताया है। आचार्य सोमदेव (१०वीं शती ई०) के समय तक भी मथुरा के इस 'देवनिर्मित स्तूप' की प्रसिद्ध तीर्थ स्थल के रूप में पूर्ववत् ही ख्याति थी। बृहत्कल्पभाष्य की एक अनुश्रुति के अनुसार 'उत्तरापथ के इस महत्त्वपूर्ण नगर के अन्तर्गत ९६ ग्रामों के निवासी अपने गृहद्वारों के ऊपर तथा चतुष्पथों पर जिन मूर्तियों की स्थापना करते थे।'

सन् १३३१ ई० के लगभग जिनप्रभसूरि विरचित 'विविध तीर्थकल्प' के अन्तर्गत 'मथुरापुरीकल्प' में वर्णित

नाथ वह है जो त्रिभुवन का एकमात्र यति या योगी है[1]। जैन महात्मा आनन्दघन ने भी अपने ब्रह्म के ऐसे ही अनेक पर्यायवाची दिये हैं। उन्होंने भी इनका पौराणिक अर्थ नहीं लिया है। उनका राम वह है जो निजपद में रमे, रहीम वह है जो दूसरों पर रहम करे, कृष्ण वह है जो कर्मों को करसे, महादेव वह है जो निर्वाण प्राप्त करे, पार्श्व वह है जो शुद्ध आत्मा का स्पर्श करे, ब्रह्म वह है जो आत्मा के सत्य रूप को पहचाने। उनका आत्मब्रह्म निष्कर्म, निष्कलंक और शुद्ध चेतनमय है[2]। इससे स्पष्ट है कि कबीर और आनन्दघन दोनों ही का राम दशरथ का पुत्र नहीं था। वह अवाङ्मानसगोचर था। क्रमशः

१. कबीर ग्रंथावली, ३२७ वां पद।

२. निज पद रमे राम सो कहिये, रहीम करे रहमान री।
करशे कर्म कृष्ण सो कहिये, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इह विध साधो आप आनन्दघन, चेतनमय नि:कर्म री॥
बम्बई, पद ६७ वां।

अनुश्रुति के अनुसार मथुरा नगर को धर्मतीर्थ बनाने का सौभाग्य सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के समय में ही हो गया था। उस समय यह नगरी बारह योजन दीर्घ एवं नौ योजन विस्तीर्ण थी, वह यमुना के जल से प्रक्षालित उत्तुंग प्राचीर से अलंकृत थी और असंख्य जिनमन्दिरों, देवालयों, धवलभवनों, वापी, कूप, पुष्करिणियों एवं हाट-बाजारों से सुशोभित थी। वहाँ अनेक चातुर्विद्य ब्राह्मण नित्य शास्त्र पाठ करते थे। एक बार धर्मघोष एवं धर्मरुचि नाम के दो तपस्वी मुनि इस नगर के उपवन में आकर ठहरे। उक्त मुनिद्वय की प्रेरणा से उक्त उपवन की अधिष्ठात्री कुबेरा नामकी देवी ने रातोंरात एक विशाल एवं अतिमनोहर रत्नजटित स्वर्ण स्तूप का निर्माण किया। यह स्तूप तीन मेखलाओं (वेदिकाओं) से युक्त था, शिखर पर तीन छत्र धारण किए हुए था और अनेक जिनबिंबों तथा ध्वजा, तोरण, माला आदि मंगल द्रव्यों से अलंकृत था। उसमे मूलनायक के रूप में भ० सुपार्श्वनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। उनका समवसरण भी इस स्थान पर आया बताया जाता है। सम्भवतया इन्हीं कारणों से उक्त स्तूप का वर्णन 'मथुरायां महालक्ष्मी निर्मितः श्रीसुपार्श्वस्तूपः' के रूप में किया गया है। इसके उपरान्त, चौदहवें तीर्थङ्कर भ० अनन्तनाथ का स्मारक-तीर्थ निकटवाहिनी यमुना नदी के ह्रद में रहा बताया जाता है। बाईसवें तीर्थङ्कर भ० अरिष्टनेमि के समय में मथुरानगरी यदुवंशी क्षत्रियों के अन्धकवृष्णि संघ की एक प्रमुख राजधानी थी। उसी बीच कुछ समय के लिए इस पर कृष्ण और बलराम के मातुल अत्याचारी कंस का शासन रहा, जिसका अन्त उक्त दोनों शलाका पुरुषों (नारायण कृष्ण और बलभद्र-बलराम) ने किया तथा राज्य के न्याय्य अधिकारी उग्रसेनको, जो कंस के पिता थे और पुत्र द्वारा पदच्युत हुए थे, पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित किया। इस काल की घटनाओं का विशद वर्णन हरिवंशपुराण, वसुदेवहिंडी, उत्तरपुराण, नेमिनाथचरित, पांडवपुराण आदि जैन ग्रन्थों में पाया जाता है।

मथुरापुरी-कल्प में वर्णित एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार तेईसवें तीर्थङ्कर भ० पार्श्वनाथ (८७७-७७७ ई० पूर्व) के समय तक कुबेरा देवी द्वारा निर्मित एवं रक्षित मथुरा का वह प्राचीन स्तूप स्वर्णमयी ही था। उनका समवसरण भी इस नगर में आया था और उसकी स्मृति में जिस स्थल पर समवसरण रचा गया था वहां कल्पद्रुम की स्थापना करके भ० पार्श्वनाथ के उपलक्ष से भी मथुरा में धर्मतीर्थ स्थापित किया गया था। इसी काल में मथुरा का एक राजा बड़ा लोभी था। उसने विवेक को तिलांजलि देकर स्तूप के स्वर्ण और रत्नों का अपहरण करना चाहा। इस पर देवी के कोप से उसी स्थान पर उक्त राजा की अपमृत्यु हो गई। देवी ने यह देखकर कि स्तूप इस रूप में सुरक्षित रहना कठिन है, उसे ईंटों से आच्छादित कर दिया। इस प्रकार ईंटों से बने उस प्राचीन जैन स्तूप के, जिसे 'वोद्व स्तूप' भी कहते हैं, अवशेष ही गत शताब्दी के उत्तरार्ध में मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में पुरातत्त्वज्ञों को प्राप्त हुए थे, जिनका प्रायः एक मत अनुमान है कि वह स्तूप ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से पाँच या छ सौ वर्ष पूर्व अवश्य बना होगा।

अन्तिम तीर्थङ्कर भ० वर्द्धमान महावीर (५९९-५२७ ई० पू०) के शुभागमन से भी मथुरा नगर धन्य हुआ बताया जाता है। एक अनुश्रुति के अनुसार मथुरा का तत्कालीन राजा भीदाम नाम का था, किन्तु हरिषेण के 'बृहत्कथाकोष' तथा नागदेव रचित 'सम्यक्त्वकौमुदी' नामक ग्रन्थों के अनुसार जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में स्थित सौरदेश की राजधानी इस मथुरा नगरी में पद्मोदय का पुत्र राजा उदितोदय राज्य करता था। सुबुद्धि उसका मन्त्री था और यमदण्ड कोटपाल (शहर कोतवाल) था। इसी नगर में रूपखुर नामक तस्कर का पुत्र स्वर्णखुर भारी दस्यु था जो अञ्जनगुटिका के प्रयोग द्वारा अपना चोरी का व्यवसाय करता था। नगर का राज्यश्रेष्ठि जिनदत्त का पुत्र अर्हद्दास था जो अत्यन्त धनाढ्य था और अपनी आठ पत्नियों सहित जिनधर्म का परम श्रद्धालु भक्त था। उस काल में मथुरा में प्रतिवर्ष शारदीय पूर्णिमा के दिन कौमुदी महोत्सव मनाया जाता था, जिसमें नगर की आबालवृद्ध समस्त स्त्रियाँ भाग लेती थीं, किन्तु पुरुषों का इस उत्सव में सम्मिलित होना वर्जित था। नगर के बाहर स्थित उद्यानों एवं पुष्प वाटिकाओं में यह उत्सव मनाया जाता था। ऐसे ही एक अवसर पर सेठ अर्हद्दास और उसकी

धर्मपत्नियों की आदर्श धर्म-भक्ति से प्रभावित होकर उन्हीं के साथ राजा उदितोदय ने, उसके मन्त्री ने तथा चौर्यकर्म में संलग्न स्वर्गखुर ने भी संसार का त्याग करके आचार्य श्रीधर एवं आर्यिका ऋषभा के निकट मुनिव्रत धारण किया था।

भगवान महावीर की शिष्य परम्परा में उनके निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् (अर्थात् ई० पू० ४६५ में) मोक्ष लाभ करने वाले अन्तिम केवलि जम्बू स्वामी की पवित्र तपोभूमि इसी मथुरा नगर का चौरासी नामक स्थान रहा है और एक जनश्रुति के अनुसार उन्होंने इसी स्थान पर ही निर्वाण लाभ किया था। उन महामुनि के प्रभाव से इसी नगर में विद्युच्चर वा अंजनचोर नाम के महा भयङ्कर दस्यु एवं उसके पांचसौ साथियों के जीवन में महान् क्रान्ति घटित हुई। उन सबने दस्यु वृत्ति का ही त्याग नहीं किया, वे सब संसार छोड़कर साधु बन गए और मथुरा नगर के बाहिर ही एक उद्यान में दुर्द्धर तपश्चरण में लीन होकर घोर उपसर्ग सहन करते हुए सद्‌गति को प्राप्त हुए और उनकी स्मृति में उक्त स्थान पर ५०१ स्तूप बना दिए गए। ये स्तूप मध्यकाल तक अपनी जीर्ण शीर्ण अवस्था में विद्यमान रहते आये बताये जाते हैं जैसा कि पांडे राजमल्ल जी और पं० जिनदास जी के जम्बूस्वामी चरित्रो से सूचित होता है।

अज्ञात हिन्दी जैन कवि टेकचन्द व उनकी रचनाएँ

लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा

मध्यप्रदेश विशेषतः मालवा में जैन-धर्म का प्रचार दो ढाई हजार वर्षों से चलता आ रहा है, पर इस प्रदेश में रचित प्राचीन जैन-साहित्य की जानकारी बहुत ही कम है, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में वे ग्रन्थ कब और कहाँ रचे गये, इसका स्पष्ट उल्लेख प्रायः नहीं मिलता। मध्यकाल में ही ग्रन्थों के अन्त में विस्तृत प्रशस्तियाँ दी जाने लगी थीं, जिनमें ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय, ग्रन्थ रचना का समय व स्थानका उल्लेख पाया जाता है। मालव प्रदेश-उज्जयिनी और धारा नगरी व मांडवगढ़ में जैन धर्मावलम्बियों का काफी प्रभाव था। इन स्थानों के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में अनेक उल्लेख मिलते है और इन स्थानों में रहते हुए जैन विद्वानों ने अनेक ग्रन्थ भी लिखे है।

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के साथ-साथ जैन विद्वानों ने हिन्दी साहित्य की भी महान् सेवा की है। सैंकड़ों जैन कवियों की छोटी मोटी हजारों हिन्दी रचनाएँ, आज भी प्राप्त हैं। दिगम्बर संप्रदाय के कवियों ने तो अपभ्रंश-काल के बाद हिन्दी को ही प्रधान रूप से अपनाया और श्वेताम्बर कवियों ने राजस्थानी व गुजराती भाषा को। क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रचार राजस्थान व गुजरात में ही अधिक रहा है।

मध्य प्रदेश बहुत विशाल प्रान्त है और उसके अनेक ग्राम-नगरों में काफी संख्या में जैन-धर्मावलम्बी निवास करते हैं। उनके रचित साहित्य का परिमाण भी बड़ा होना चाहिए। पर उधर के हस्त-लिखित ग्रंथ-भण्डारों की खोज अभी तक नहीं हो पायी इसलिए इस प्रान्त में रचित जैन साहित्य की जानकारी अद्यावधि बहुत ही कम प्रकाश में आ पाई है। राजस्थान और गुजरात में तो ग्रंथ भंडार प्रायः सुरक्षित हैं और वहाँ के निवासियों ने समय-समय पर सैंकड़ों व हजारों प्रतियाँ लिखकर एवं लिखवाकर उन भंडारों को समृद्ध बनाया है। मांडवगढ़, धारा आदि के कई समृद्धिशाली श्रावकों ने भी ग्रन्थ भंडार स्थापित किए थे, पर मुसलमानी आक्रमणों के समय वे नष्ट-भ्रष्ट हो गए और वहां की कुछ प्रतियाँ तो अन्य स्थानों में चली गई। सारांश यह है कि वे ज्ञान-भंडार सुरक्षित नहीं रह सके। दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथ-भंडार उस सम्प्रदाय के मन्दिरों में रहते हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथ भंडार उपाश्रयों में। इसलिए इन दोनों प्रकार के ज्ञान भंडारों की खोज सम्यक् प्रकार से की जाय तो मध्यप्रदेश के साहित्य और इतिहास की अवश्य ही बहुमूल्य सामग्री प्रकाश में आयगी।

तीन वर्ष पूर्व एक जैन मुनिराज के प्रयत्न से हमारे 'अभय जैन ग्रन्थालय' में मध्यप्रदेश के एक दिगम्बर शास्त्र भंडार की कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई। इनमें 'टेकचन्द' नामक एक जैन कवि की तीन रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि अब तक इस कवि एवं इस की रचनाओं की जानकारी सर्वथा अज्ञात थी। प्राप्त रचनाओं के अनुसार कवि के पूर्वज, राजस्थान के जयपुर नगर के निवासी थे। कवि ने अपने दो ग्रन्थों की प्रशस्तियों में अपना 'आवश्यक-परिचय' दिया है। उनके अनुसार सवाई जयपुर के महाराजा जयसिंह के समय 'दीपचन्द' नामक कवि के दादा, वहाँ रहते थे। वे बड़े धर्म श्रद्धालु और आगम तत्त्वों के जानकार थे। उनके 'रामकृष्ण' नामक पुत्र हुआ। संयोगवश वे जयपुर को छोड़कर मेवाड़ के शाहपुरा में जाकर बस गए। उस समय वहाँ के राजा उम्मेदसिंह व मंत्री खुशालचन्द थे। रामकृष्ण कवि टेकचन्द के पिता थे। बाल्यावस्था में कवि में धार्मिक भावना की कमी थी। अतः वे विविध व्यसनों में आसक्त थे। बहुत काल बीत जाने के बाद कोई ऐसा सुयोग मिला कि जिनवाणी और जैनधर्म के प्रति इनकी श्रद्धा उमड़ पड़ी। कर्मयोग से (सम्भवतः व्यापार आदि आजीविका के लिए) शाहपुरा को छोड़कर ये मालवे के इन्दौर नगरमें आये और वहाँ कुछ समय रहना हुआ। वहाँ रहते हुए वहाँ की धार्मिक मंडली से इन्हें ग्रन्थ बनाने की प्रेरणा मिली और 'बुद्धि प्रकाश' नामक संग्रह ग्रन्थ का कुछ अंश वहाँ रचा

गया। इन्दौर से फिर संयोगवश ये 'भाडलनगर' पहुँचे। वहां भी शास्त्र चर्चाके प्रेमी धार्मिकजनोंकी मंडलीका अच्छा योग मिला और उसकी प्रेरणा से "बुद्धि प्रकाश" ग्रन्थ को वहीं पूर्ण किया। कवि का तीसरा ग्रन्थ मालवा के रायसेनगढ़ में रचा गया है, सम्भव है वे भाडलनगर से रायसेनगढ़ पहुँचे हों। इस तरह मालव प्रदेश के इन्दौर, भाडलगढ़ और रायसेनगढ़ इन तीनों स्थानों में कवि टेकचन्द का ठहरना हुआ और वहाँ रहते समय इन्होंने दो ग्रन्थों का निर्माण किया। इससे पूर्व शाहपुरामें रहते हुए भी वे एक विस्तृत ग्रन्थ बना चुके थे। कविके तीनों ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से है—

१. **पुण्यास्रव कथा-कोश (भाषा)**—संस्कृत भाषा के इस कथा कोप की रचना मुनि केशवनन्दि के शिष्य रामचन्द्र मुमुक्षु[1] ने की थी। उसकी 'वचनिका' नामक हिन्दी भाषा-टीका संवत् १७७७ में पंडित दौलतराम ने बनाई थी। उसी के आधार से चौपाई आदि हिन्दी छन्दों में कवि टेकचन्द ने यह पद्यानुवाद संवत् १८२२ की फागुन सुदी ११ बृहस्पतिवार को शाहपुरा में रहते हुए पूरा किया। कवि की यह सबसे बड़ी रचना है। इस ग्रन्थ का परिमाण करीब बारह हजार श्लोकों का है। इसमें ६९ कथायें हैं। इस ग्रन्थ की संवत् १८२६ की लिखी हुई ३३६ पत्रों की प्रति प्राप्त हुई है। उसकी लेखन प्रशस्ति से यह विदित होता है कि कवि उस समय भाडलपुर के मन्दिर में विराजमान थे। लाला आसाराम तिलोकचन्द के लिए कृष्ण ब्राह्मण ने इस प्रति को लिखा था। कवि ने प्रशस्ति में अपना परिचय भी दिया है, जिसका साराश ऊपर दिया जा चुका है। यहाँ केवल अन्तिम अंश ही दिया जा रहा है जिसमें ग्रंथ रचने के समय का उल्लेख है।

> संवत् अष्टादस शत[१८] जानि, ऊपर बीस दोय[२२] फिरि आनि।
> फागुन सुदि ग्यारस निशि मांहि, कियो समापत उर हुलसांहि ॥८५॥
> बिसपतवार सुहावनों, हर्ष करन कूं आय।
> ता दिन ग्रन्थ पूरन भयो, सो सुख को वरनाय ॥

इति श्री पुण्यास्रव विधाने केशवनन्दि दिव्य मुनि शिष्य रामचन्द्र मुमुक्षु विरचिने तत् अनुसारे साधर्मी वचनिका ठई, ताके अनुसार छन्द चौपाई, ढाल साहपुरे मध्ये टेकचन्द साधर्मी करी। लेखन प्रशस्ति के तीन दोहे इस प्रकार है।

> श्री साधर्मी **टेकचन्द**, उपगारी गुण पूर।
> **भाडलपुर** मन्दिर थकी, राजत शोभा पूर ॥
> सभा चतुर गुणपूर है, लाला **आसाराम**।
> **तिलोकचन्द** शुभ प्रणति जिन, जपे निरन्तर नाम ॥
> चतुर आदि भायन घनै, धरचो धर्म दिढपाठ।
> निस दिन शास्त्र विचारिके, पूजा करि हर्ष बाढ ॥

लेखक कृष्ण ब्राह्मण ॥श्री श्री ॥ संवत् १८२६ जेठ कृष्ण ११ बुधवार। पत्र ३३६।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में साधर्मी धनराम के आगरे में रचित इस ग्रन्थ की वचनिका का उल्लेख है पर वह अभी तक कही प्राप्त नही हुई है।

२. **बुद्धि प्रकाश**—वास्तव में यह कवि की फुटकर रचनाओं का संग्रह-ग्रन्थ जान पड़ता है। जैन धर्म सम्बन्धी कई रचनाओं के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में "कृपण दाता सम्वाद (पद्य २०२, भाडलपुर में रचित)।" सप्त व्यसन राज' (पद्य २५५, संवत् १८२७ श्रावण सुदी १४, भाडलपुर) चेतनकर्मचरित्र (पद्य २२७), 'अक्षरबत्तीसी' (पद्य ४८), 'गुरु परीक्षा,' 'ढाल गण' आदि फुटकर रचनाएँ संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में 'पुण्यास्रव कथा कोश भाषा' की प्रशस्ति की भाँति कवि ने अपना विस्तृत परिचय दिया है जिसका संक्षिप्त सारांश ऊपर दिया जा चुका है। इन्दौर में रहते हुए इस ग्रंथ का प्रारम्भ हुआ था और संवत् १८२६ की जेठ सुदी ८ को भाडलपुर में यह ग्रंथ समाप्त हुआ। इस ग्रंथ की ६५ पत्रों की प्राप्त प्रति, संवत् १८२८ की प्रथम आसाढ़ सुदी ११ रविवार को रामप्रसाद दुबे की लिखी हुई है। ग्रंथ की समाप्ति १८२६ में हो गयी थी पर इसमें जो 'सप्त व्यसन राज' रचना है, वह उसके चौदह महीने बाद की है। अतः सभव है १८२८ में जब यह प्रति लिखी गई तब इस ग्रंथ

---

१. पुण्यास्रव कथा-कोश की एक प्रति का लेखन, काल सं० १५८४ दिया हुआ है, इससे पूर्व ही रामचन्द्र मुमुक्षु को होना चाहिए।

समाप्ति के बाद की उक्त रचना को भी सम्मिलित कर लिया।

३. श्रेणिकचरित्र—इसकी रचना संवत् १८३३ आसोज सुदी द्वितीया सोमवार को मालवा के रायसेनगढ़ में पूर्ण हुई। इसकी प्रति उसी संवत् की ग्रंथकार से स्वयं लिखवायी हुई १४२ पत्रों की हमारे संग्रह में है, जिसके प्रारम्भ के ११ पत्र नही हैं और कई पत्र उदेई के खाए हुए हैं। अतः इसकी दूसरी पूर्ण प्रति अन्वेषणीय है। टेकचन्द ने श्रेणिक चरित्र की गुजराती रचना जो बहुत-सी ढालों में थी, के आधार से इस चरित को १६ संधियों में संवत् १८३३ में रायसेनगढ़में बनाया है। अन्तिम तीन दोहे इस प्रकार हैं—

देश मालवा के विसै, रायसेनगढ़ जोय।
तहां थान जिन गेह में, कथा रची सुख होय॥
संवत् अष्टादश सही, ऊपरि गिनि तेतीस।
मिति आसोज सुदी द्वितीय, सोमवार निशि ईस॥
ऐसे ग्रथ पूरण कियौ, मंगलकारण एक।
मन वचन तन शुभ जोग धनि, शीश नमावत 'टेक'॥६३

इतिश्री महामण्डलेश्वर राजा श्रेणिक चरित्रे १६वीं सन्धि समाप्त.। संवत् १८३३ मिती कुआर सुदी १० लिखावतं साधर्मीभाई टेकचन्द। लेखक किसनचन्द ब्राह्मण।

इस प्रकार सं० १८२२ से ३३ तक में रचित कविके तीन ग्रंथों का परिचय दिया गया है। संभव है इंदौर आदि के भण्डारों में कवि की अन्य रचनायेंभी प्राप्त हों। मालवादि मध्यप्रदेश में जैन विद्वानों ने हिन्दी साहित्य काफी रचा होगा उसकी खोज होनी चाहिए।*

*लेखक का कवि टेकचन्द की अन्य रचनाओं के उपलब्ध होने का अनुमान सत्य है। जयपुर और दिल्ली के जैन ग्रन्थ भण्डारों में उपर्युक्त कवि की पच परमेष्ठि-पूजा कर्म दहन पूजा, तीन लोक पूजा, पंचमेरु पूजा, सोलह कारण पूजा, (सप्त) विसनराज वर्णन और पदसंग्रह नाम की कृतियां उपलब्ध हो चुकी हैं। इनमें प्रथम और द्वितीय रचनाएँ प्रकाशित भी हुई हैं। सभी हिन्दी में हैं। सुदृष्टि तरंगिणी कवि की विस्तृत हिन्दी में गद्य रचना है, यह प्रकाशित हो चुकी है। विसनराज वर्णन वि० सं० १८२७ की कृति है। —सम्पादक

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में—

प्रकाशन का स्थान	वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्वैमासिक
मुद्रक का नाम	प्रेमचन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१ दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	प्रेमचन्द, मन्त्री—वीर सेवा मंदिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१ दरियागंज दिल्ली
सम्पादक का नाम	आ० ने० उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट०, कोल्हापुर रतनलाल कटारिया, केकड़ी (अजमेर) प्रेमसागर जैन एम० ए०, पी० एच० डी०, बड़ौत यशपाल जैन दिल्ली
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	C/o वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज दिल्ली
स्वामिनी संस्था	वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज दिल्ली

मै प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी पूरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

प्रेमचन्द
प्रकाशक

१५-६-६२

रानी मृगावती

लेखक—श्री सत्याश्रम भारती

चित्रकार ! तुम्हारी कल्पना शक्ति अद्भुत है । ऐसी सुन्दरी की कल्पना करके चित्र बनाना सहल नहीं है ।

'नही महाराज ! यह कोरी कल्पना नही है । जिस रमणी का यह चित्र है वह सशरीर मौजूद है ।'

'एँ ! क्या कहा ? सशरीर मौजूद है ! हो नहीं सकता । ऐसा सौन्दर्य स्वर्ग में भी नहीं हो सकता, मर्त्य-लोक की बात तो क्या है ?'

'नहीं महाराज ! मैं सच कहता हूँ, यह रानी मृगावती का चित्र है, जो कि कौशाम्बी नरेश की पत्नी है ।'

'एँ ! यह कौशाम्बी नरेश की पत्नी है ! ओह ! एक भिक्षुक के घर में यह रत्न पड़ा हुआ है । मेरे रहते उसे क्या अधिकार है कि वह इस रत्न का स्वामी बने । दूत ।'

'महाराज !'

'जाओ और कौशाम्बी नरेश को सूचित करो कि यदि तुम जीवित रहना चाहते हो, तो मृगावती सरीखे रत्न को मेरे हवाले करो । बन्दर के गले में मोतियों की माला शोभा नहीं पाती । प्रधान जी ! पत्र लिखकर दूत के हाथ भेज दो ।'

'जो आज्ञा ।'

दूत को विदा करके राजा चण्डप्रद्योत अपने शयनागार में चला गया; परन्तु वहां भी उसे चैन नहीं मिला । उस दिन चण्डप्रद्योत ने भोजन ही न किया, रणवास में भी बेचैनी फैल गई । सन्ध्या होते ही राजमहिषी ने शयनागार में प्रवेश किया ।

राजमहिषी के ऊपर चण्डप्रद्योत का सबसे अधिक प्रेम था । राजमहिषी सुन्दरता की खानि, प्रेम की पुतली होने के साथ ही तेजस्विनी भी थी । उसे अपने स्त्रीत्व का अभि-मान था । जिस समय उसने चण्डप्रद्योत की अवस्था का हाल सुना और उसे यह मालूम हुआ कि एक स्त्री के पीछे यह सब काण्ड उपस्थित हुआ है, तब उसका हृदय तिल-मिला उठा । पुरुषों को एक नहीं, दो नहीं; बल्कि बीसों विवाह करने का अधिकार है, फिर भी उनकी काम तृष्णा नहीं मानती, वे पर-स्त्रियों को छीनने की घात लगाये रहते है । सतीत्व का बोझ स्त्रियों के सिर पर है और पुरुषों के लिए पाप भी गौरव की बात है । यदि पुरुष स्त्री का पति (स्वामी) है तो स्त्री पुरुष की (स्वामिनी) क्यों नहीं है; जरूर है ।

इन सब विचारों से उसका सिर चकराने लगा । फिर भी उसने किसी तरह अपने को सम्हाल कर भीतर प्रवेश किया ।

महारानी को देखकर चण्डप्रद्योत चौंक पड़ा । उसने धीरे से हाथ रखकर पूंछा—क्या आज तबियत खराब है?

'नहीं ।'

'फिर भोजन क्यों नहीं किया ! इसका कारण !'

'कुछ नही ।'

'कुछ तो ।'

'कह तो दिया—कुछ नही ।'

मृगावती के आ जाने पर हमारे साथ कैसा व्यवहार रक्खेंगे, क्या इस बात का अभ्यास कर रहे हो ?

चण्डप्रद्योत चौंक पड़ा । वह समझ ही नहीं सकता था कि क्या उत्तर दिया जाय । थोड़ी देर में उसने अनमने मुँह से उत्तर दिया—"जैसा होगा देखा जायगा ।"

राजमहिषी पीछे हट गई, और लौटने लगी । इतने में न मालूम चण्डप्रद्योत के हृदय में क्या आया कि उसने उठकर महारानी का हाथ पकड़ लिया । महारानी ने गम्भीरता से कहा—

'मुझे रोकते क्यों हो ?'

'कुछ बात करना है ।'

'क्या बात !'

'तुम इतनी नाराज क्यों हो गई हो ।'

'क्या तुम्हें इतना भी नहीं मालूम ? स्त्रियों के विषय में आचरण सम्बन्धी झूठी सच्ची आशंका होने से ही पुरुषों का खून खौल उठता है, और वे मरने मारने पर उतारू

हो जाते हैं। स्त्रियोंको ऐसा दंड दिया जाता है कि जिससे उनका यह जन्म ही नहीं, अनेक जन्म नष्ट हो जाते हैं। किन्तु पुरुष उस पाप को खुल्लमखुल्ला करते हैं। फिर भी वे अपनी नाम-मात्र की पत्नियों से पूछते हैं कि इतनी नाराज क्यों हो गई हो? अर्थात् पुरुषों के ऐसे पाप भी स्त्रियों की नाराजी के लिये पर्याप्त कारण नहीं हैं!

राजमहिषी के स्वभाव को चण्डप्रद्योत अच्छी तरह जानता था। उसका हृदय कोमल था, उसमें प्रेम था, परंतु साथ में तेज भी था। वह खरी बात कहने वाली थी। इतना होने पर भी उसके मुंह से इतनी कड़ी बात कभी न निकली थी। आज की बातें सुनकर चण्डप्रद्योत के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। लेकिन आज उसके पास कुछ उत्तर न था। वह थोड़ी देर चुप रहकर फिर बोला—

'स्त्रियों को पुरुषों के साथ इतनी स्पर्धा न करनी चाहिये।'

'क्यों? क्या उन्हें सुख दुःख नहीं होता? क्या उनके प्राण नहीं है?'

चण्डप्रद्योत ने कड़ककर कहा—प्राण तो पशुओं के भी होते है।

'तो स्त्रियां पशु हैं?'

अब की बार चण्डप्रद्योत कुछ लज्जित सा हो गया। मनुष्य किसी को पशु समझ सकता है; परन्तु उसी के सामने उसे पशु कहना कठिन है। वह अपने स्वार्थ और क्रूरता को नंगा नहीं करना चाहता। इसीलिये चण्डप्रद्योत ने कुछ नम्र होकर कहा—फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि स्त्रियों को पुरुषों के काम में हस्तक्षेप न करना चाहिये।'

यह मैं मानती हूँ कि स्त्री और पुरुष का कार्यक्षेत्र जुदा-जुदा है। युद्ध क्षेत्र में जाकर आप कहाँ पर सेना खड़ी करें और कहाँ पर न करें—इस विषय में मैं हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इसी प्रकार गृह प्रबन्ध के काम में आप हस्तक्षेप नही कर सकते। योग्यता होने पर सिर्फ एक दूसरे को सलाह या सहायता दे सकते हैं। परन्तु जिन कार्यों से स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में खटाई पड़ सकती है, उनके विषय में एक दूसरे को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। इसीलिये मैं कहती हूँ कि आप मृगावती का ध्यान छोड़ो। एक स्त्री के रहते तो दूसरा विवाह भी न करना चाहिये, फिर पर-स्त्री हरण तो महापाप है।

'अच्छा! अब मैं तुम से शिक्षा नहीं लेना चाहता।'

'तो मैं भी यह कहती हूँ कि स्त्री को अपने जीवन पर पूर्ण अधिकार है। किसी बन्धन में रहना 'न रहना' उसकी इच्छा पर निर्भर है।'

इतना कहकर राजमहिषी चली गई। चण्डप्रद्योत आंखें फाड़कर पत्थर की मूर्त्ति की तरह स्तब्ध खड़ा रह गया।

(२)

कौशाम्बी नरेश शतानिक बहुत दिनों से बीमार थे। उनकी पत्नी मृगावती में जितना सौन्दर्य था उससे भी अधिक पति प्रेम था। बीमारी की हालत में रानी ने पति की दिन-रात सेवा की, फिर भी बीमारी न घटी। यह देखकर मृगावती को अपना भविष्य अन्धकारपूर्ण मालूम होने लगा। महाराज की हालत भी नाजुक हो गई थी। मृगावती को ही राज्य का कारबार देखना पड़ता था। राजकुमार अभी बिल्कुल बालक ही था। अगर महाराज की तबियत कुछ अच्छी होने लगती तो मृगावती को कुछ आशा भी होती। परन्तु अवस्था बिल्कुल उल्टी थी।

इस समय दासी ने आकर खबर दी कि राजा चण्ड-प्रद्योत का एक दूत आया है।

'क्या कहता है।'

'एक पत्र लाया है।'

'दूत के ठहरने का प्रबन्ध कर और पत्र इधर ला।'

रानी मृगावती की आज्ञा के अनुसार कार्य किया गया। पत्र महाराज के नाम पर था। रानी ने ही वह पत्र पढ़कर सुनाया।

पत्र

"कौशाम्बी नरेश श्री शतानिक को प्रचण्ड विक्रम-शाली महाराजाधिराज श्री चण्डप्रद्योत जी सूचित करते हैं कि आपके पास जो रमणीरत्न मृगावती है, उसे महाराज की सेवा में शीघ्र ही उपस्थित करें। सर्वोत्कृष्ट रत्नों का स्वामी सर्वोत्कृष्ट शक्तिधारी राजा ही हो सकता है। इसीलिये आपको उस रमणीरत्न के रखने का कोई अधि-

कार नहीं है। अभी तक जो हुआ सो हुआ, लेकिन अब महाराज का ध्यान इस ओर गया है। इसलिये आपकी भलाई इसी में है कि रमणीरत्न मृगावती को समर्पित कर के महाराज के प्रीतिभाजन बनें।"

"यदि दुर्भाग्य से आप अपना भला न सोच सकेंगे और आज्ञा पालन में आनाकानी करेंगे तो खेद के साथ लिखना पड़ता है कि तलवार के द्वारा उस आज्ञा का पालन कराना पड़ेगा। इसीलिये हमें आशा है कि आप समय पर ही सचेत हो जायंगे, और तलवारों को म्यान से बाहर न निकलने देंगे।

महाराज की आज्ञा से—
गृह-सचिव।"

पत्र सुनते ही महाराजा शतानिक के मुह से चीख निकली। बीमारी के कारण उनकी मानसिक दुर्बलता यों ही बढ़ रही थी; लेकिन इस आघात ने तो मानों उन्हें मृत्यु के मुह में ढकेल दिया। रानी के ऊपर तो मानों पहाड़ ही टूट पड़ा। न वह महाराज को सान्त्वना दे सकती थी और न महाराज ही उसे सान्त्वना दे सकते थे। विकट परिस्थिति थी।

बड़ी देर तक चुपचाप अश्रुवर्षण के बाद मृगावती ने राजा से कहा—

महाराज! चिन्ता छोड़िये। जैसा होगा देखा जायगा।

इस मे सन्देह नही कि चण्डप्रद्योत, पापी क्रूर और बल शाली है। इसलिए राज्य की रक्षा करना कठिन है। परन्तु राज्य से भी बढ़कर वस्तु है धर्म और अभिमान। हम जीकर नहीं तो मर कर उसकी रक्षा कर सकते हैं। आज्ञा दीजिये कि दूत को जवाब दे दिया जाय।

महाराज की दशा बिलकुल बिगड़ गई थी। उनके मुँह से कुछ भी उत्तर न मिला। तब महाराज की तरफ से रानी ने पत्र लिखा।

पत्र

"उज्जयिनी नरेश श्री चण्डप्रद्योत को कौशाम्बी नरेश शतानिक का जयजिनेन्द्र! अपरंच आपका पत्र आया। बांचकर बड़ा खेद हुआ। कोई भी मनुष्य अगर उसमें मनुष्यता का शतांश भी मौजूद है, ऐसी पापमयी बातें मुंह से नहीं निकाल सकता। फिर भगवान महावीर के अनुयायी के मन में ऐसे पाप विचारों का आना बड़े दुःख की बात है।"

"मालूम होता है कि इस समय आप ऐश्वर्य और शक्ति के मद से उन्मत्त हो रहे हैं, इसलिए जैनत्व के साथ मनुष्यत्व भी खो चुके हैं।

"एक साधर्मी भाई के नाते हम आप को सूचित करते हैं कि आप इन पाप विचारों को छोड़ कर प्रायश्चित्त लेकर पवित्र बनें। यदि आप मनुष्यत्व को बिलकुल तिलाञ्जलि ही दे चुके हों तो आप बड़ी खुशी से युद्धक्षेत्र में आइये। वहाँ पर हमारी तलवार आपका स्वागत करेगी। ऐसे पापियों को दंड देने की ताकत उसमें अभी मौजूद है।

आपका हितैषी
शतानिक

पत्र तो भेज दिया गया लेकिन मृगावती की चिन्ता और अधिक बढ़ गयी। उसे अपनी चिन्ता नहीं थी; क्योंकि वह मरना जानती थी। उसे चिन्ता थी अपनी मान-रक्षा की, महाराज की, और बालक राजकुमार की।

शाम के समय महाराज की अवस्था कुछ सुधरी। उन्होंने आँखें खोली और क्षीणस्वर से मृगावती से कहा प्रिये! क्या उपाय किया?

मृगावती इस समय किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रही थी। वह समझ ही नही सकती थी कि क्या उत्तर दें? किन्तु महाराज की ऐसी अवस्था में वह उनके हृदय को धक्का नहीं देना चाहती थी। उसने हृदय की सारी वेदनाओं को दबाया, उस पर पत्थर रख दिया। अपने रुंधते हुए गले को किसी तरह साफ कर उसने कहा—"महाराज! डर क्या है? किसकी ताकत है जो मेरी तरफ नजर उठा कर देख सके? मैं अपने गौरव की रक्षा करूँगी। मैं इज्जत के लिये मरना जानती हूँ।"

महाराज का चेहरा खिल गया। किन्तु थोड़ी ही देर में उस पर फिर विषाद के चिन्ह नजर आने लगे। मृगावती ने कहा— 'महाराज! आप चिन्ता क्यों करते हैं?"

मृगावती तुम सच्ची क्षत्राणी हो, मानुषी नहीं देवी हो। परन्तु मैं अभागा हूं। मुझे खेद यही है कि ऐसे विकट अवसर पर मैं घर में बिस्तरों पर पड़ा-पड़ा मर रहा हूँ। रणक्षेत्र की गौरव दायिनी भूशय्या मेरे भाग्य में नहीं है।

कहते-कहते महाराज का गला रुंध गया। उनकी आंखों से आंसुओं की धारा बह निकली।

मृगावती भी रो रही थी, उसने रुंधे गले से कहा—"महाराज! धैर्य रखिये। आपकी तबियत शीघ्र ही अच्छी हो जायगी और आप शत्रु को उसके पाप का फल अवश्य चखा सकेंगे।"

महाराज एक हल्की हँसी हँसे और सिर हिलाया। इस हँसी में और सिर हिलाने में असीम निराशा थी। रानी ने उसका अनुभव किया, परन्तु वह रोई चिल्लाई नहीं। उसने बड़ी हिम्मत के साथ गले को अपने वश में रक्खा, किन्तु आंखें न मानी, उसने धीरे से दो मोती टपका ही दिये।

रात्रि भर महाराज की तबियत बहुत खराब रही। रानी मृगावती ने तो पलक भी न मीचे। रात्रि भर जागती रही, सेवा करती रही, प्रार्थना की, परन्तु सब व्यर्थ गया। सवेरे के समय जब कि संसार का सूर्य उग रहा था तब रानी मृगावती का सूर्य डूब रहा था।

(३)

रानी मृगावती वीराङ्गना थी। उसके हृदय में बल था, साहस था, धैर्य था। लेकिन महाराज के स्वर्गवास से उसका बल साहस और धैर्य छूट गया। वह बारबार महाराज के शव के ऊपर गिर पड़ती थी। जब लोग दाह के लिए महाराज का शव ले जाने लगे तो रानी शव से चिपट गयी। यह देखकर दर्शकों का भी साहस छूट गया। असंख्य मुखों से आर्त्तध्वनि निकली। उस समय समस्त प्रजा रो रही थी, मन्त्री रो रहे थे। राज महल की एक-एक ईंट रो रही थी।

किसी तरह दाह क्रिया हो गई। कुछ दिन शान्ति रही, पर एक दिन दूत के द्वारा वह भयंकर समाचार मिला ही। मन्त्रियों की चिन्ता बढ़ गई। वे समझ नहीं पाते थे कि रानी को यह समाचार किस तरह दिया जाय।

आखिर डरते-डरते एक वृद्ध मंत्री ने यह समाचार सुनाया; किन्तु उसे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि रानी ने यह समाचार सुनकर कोई घबराहट प्रकट नहीं की। बल्कि थोड़ी देर तक एक टक देखकर वह उठ खड़ी हुई।

जहाज के डूब जाने पर जब कोई आदमी समुद्र पर तैरता रह जाय और आता हुआ कोई मच्छ दिखाई पड़े तो उसकी जैसी हालत होती है वही हालत रानी की थी। उसके चारों ओर विपत्तियां थी। वह असहाय और निराश हो गयी थी।

जब तक थोड़ी बहुत आशा रहती है, तब तक मनुष्य चिन्ता करता है, लेकिन निराशा की सीमा पर पहुँच जाने पर वह चिन्ता छोड़ देता है। रानी मृगावती ने चिन्ता छोड़ दी थी। उसने निश्चय कर लिया था कि युद्ध क्षेत्र की शस्त्र-शय्या पर ही मैं जीवन छोड़ूँगी। मेरे जीते जी कोई मेरा बाल भी बांका नहीं कर सकता।

चण्डप्रद्योत की विशाल सेना ने कौशाम्बी नगरी को घेर लिया। उसे यहां पर राजा शतानिक की मृत्यु का समाचार मिल गया था। इसलिए वह समझता था कि असहाय चिड़िया को पकड़ने में अब बहुत देर न लगेगी। खून खराबी का मौका न आयगा। यही समझकर उसने किसी तरह की रुद्रता न दिखलाई। वह जानता था कि नारी हृदय तलवार के स्थानपर फूल से पराजित होता है।

रानी मृगावती ने देखा कि कौशाम्बी नगरी तो असंख्य सैनिकों से घिर गई है, लेकिन अभी तक किसी तरह का आक्रमण नहीं हुआ है। वह इसी उधेड़ बुन में लगी हुई थी कि इतने में चण्डप्रद्योत का दूत आया और उसने एक पत्र दिया। रानी ने एकान्त में उस पत्र को पढ़ा ·········

"श्रीमती मृगादेवी की सेवा में!

प्रिये! मैं यहाँ तुमसे युद्ध करने नहीं आया था, किन्तु मैं उस कन्टक को हटाने आया था जो कि हमारे और तुम्हारे बीच में पड़ा था। अब दैव ने ही उसको दूर कर दिया है इसलिए युद्ध की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गयी है। आशा है, अब तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करोगी। मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ किन्तु सेवक हूँ। तुम्हारे सौन्दर्य का प्यासा हूँ। प्रेमपिपासु,

चण्डप्रद्योत"

पत्र पढ़ने पर रानी ने नीचे का ओंठ चबाया और पत्र के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। इतने पर भी जब संतोष न हुआ तो उसे पैरों के नीचे डालकर रौंद डाला। दूत के द्वारा सन्देश भेज दिया कि पत्र का उत्तर कल दिया जायगा।

(४)

मामला ऐसा हो गया था कि मंत्रि-मण्डल कुछ भी सलाह नहीं दे सकता था। रानी को अपने शील की चिन्ता नहीं थी। वह प्राण देकर शील बचा सकती थी, और प्राण देना वह जानती थी। लेकिन उसे अपने अनाथ बच्चे की चिन्ता थी। मरने से निर्दोष पत्नीत्व बच सकता था परन्तु मातृत्व की बलि होती थी।

दूसरे दिन फिर चण्डप्रद्योत का दूत आया और उत्तर माँगा। मंत्री लोग क्या उत्तर दें। उनकी तो अक्ल ही कुछ काम नहीं देती थी। लेकिन उस दिन रानी के मुह पर कुछ दूसरा ही रंग था। रानी ने दूत को पत्र देकर विदा किया।

(५)

पत्र लेकर चण्डप्रद्योत ने बड़ी उत्सुकता से पढ़ा—

"महाराज !

आज मैं विधवा हूँ। इसके पहिले मैं स्वतन्त्र नही थी, किन्तु दैव ने यह बन्धन तोड़ दिया है। और मैं अब स्वतन्त्र हूँ। इसीलिए आपके पत्र पर मैं स्वतन्त्रता पूर्वक विचार कर सकी हूँ।

बहुत विचार करने के बाद मैं इस निश्चय पर पहुँची हूँ कि आपकी आज्ञा मानने में ही मेरा भला है। हां, एक प्रश्न ऐसा है जो आपकी आज्ञा-पालन में बाधक हो रहा है।

आपको मालूम होगा कि मै राजपत्नी होने के साथ एक बालक की मां भी हूँ। यद्यपि पत्नीत्व का बन्धन टूट गया है परन्तु मातृत्व अभी जीवित है। उसके कारण बालक को असहाय अवस्था में कैसे छोड़ सकती हूँ। मेरा पुत्र अभी बिलकुल अबोध है। इधर कोशाम्बी राज्य चारों तरफ शत्रुओं से घिरा हुआ है। मेरी अनुपस्थिति में अबोध बालक की क्या दशा होगी, इसके कहने की जरूरत नहीं। यद्यपि आप में कौशाम्बी राज्य की रक्षा करने की शक्ति है, परन्तु आप तो उज्जयिनी में रहेंगे और शत्रु सिर पर ऊधम मचायेंगे, तब आपके द्वारा भी राज्य की रक्षा न हो सकेगी। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि आप कुछ वर्षों तक धैर्य रखिये। पुत्र के समर्थ होने पर मैं आपकी आज्ञा का पालन अवश्य करूँगी, आशा है आप मेरी परिस्थिति पर विचार करके मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे।

विनीत
मृगावती

पत्र पढ़कर चण्डप्रद्योत असमंजस में पड़ गया। आज उसे मालूम हुआ कि बड़े-बड़े वीरों को जीतने की अपेक्षा एक महिला को जीतना बड़ा कठिन है। परन्तु दूसरा उपाय तो था नही। जिस रास्ते पर वह चला था उसी रास्ते से उसे विजय की आशा थी। लेखनी का काम तलवार नहीं कर सकती थी।

चण्डप्रद्योत ने फिर पत्र लिखा—

प्रिये !

तुम्हारा पत्र मिला। मेरी प्रार्थना तुमने मन्जूर की इसका मुझे बड़ा हर्ष है। लेकिन तुम्हारे पत्र के उत्तरार्ध ने मुझे और भी अधिक असमंजस में डाल दिया।

अगर कोई भीख माँगने आवे और उसे आश्वासन देकर कह दिया जाय कि 'अभी मौका नहीं फिर आइयेगा' तो उस भिखारी व्यक्ति को जितना कष्ट होगा—उसी तरह का, किन्तु उससे हजार गुना मुझे हो रहा है।

प्रिये ! तुम्हें अब कौशाम्बी की चिन्ता न करनी चाहिये, और न बालक के लिए अपने जीवन को बर्बाद करना चाहिये।

यथाशक्ति मैं कौशाम्बी की रक्षा करूँगा। कौशाम्बी की रक्षा के लिए जैसा जो कुछ प्रबन्ध चाहोगी वैसा ही हो जायेगा। मुझे एक-एक घड़ी एक एक वर्ष के समान बीत रही है। इसलिए दया कर अब मुझे ज्यादा—

तुम्हारा प्रेमी
चण्डप्रद्योत

चण्डप्रद्योत ने पत्र भेज दिया। दो घड़ी के भीतर ही उसका उत्तर आया।

महाराज !

पत्र मिला। आप पुरुष है अगर आप स्त्री होते और माता बनने का सौभाग्य प्राप्त करते तो आपको मालूम होता कि माता का स्नेह क्या है। माता के छोटे से हृदय में अपने पुत्र के लिए कितना स्थान है। माता अपने पुत्र के लिए सर्वस्व छोड़ सकती है। जब गाय अपने बछड़े के लिए शेर का सामना कर सकती है, तब मैं तो मानुषी हूँ। गाय से भी गई बीती हो जाऊं ?

महाराज मै जानती हूँ कि आपको मेरे वक्तव्य से परितोष न होगा। यह चिन्ता मुझे बड़ी देर से सता रही

है। मैं आपको भी दुखी नहीं करना चाहती। इसलिए आपकी सलाह के अनुसार यही ठीक है कि कौशाम्बी का प्रबन्ध कर दिया जाय।

प्रबन्ध के लिए दो बातों का उपाय करना आवश्यक है—एक तो यह कि जिसमें शत्रुदल नगर में प्रवेश न करें, दूसरा यह कि नगर के घेर लेने पर सेना को और नागरिकों को भोजन का कष्ट न हो, इसलिए आप नगर के चारों ओर मजबूत कोट बनवा दें और कम से कम एक साल के लिए भोजन सामग्री एकत्रित कर दें। एक साल के बाद फिर देखा जायगा। आपके इस काम में मैं और मेरे आदमी आपकी मदद करेंगे। अगर अच्छी तरह काम किया गया तो एक महीने में ही सब काम हो जायगा। उसके बाद मुझे विवाह करने में कोई ऐतराज न रहेगा।

आपकी
मृगावती

पत्र पढ़ कर चण्डप्रद्योत को बहुत शान्ति मिली। महीने भर के भीतर कोट तैयार हो गया। मृगावती ने इसके लिए दिन रात परिश्रम किया। सीसा मिला-मिला कर कोट की दीवालें वज्रमय बना दी गईं। शस्त्रास्त्र भी बहुत तैयार करवाये। मृगावती ने एक साल के बदले दो साल के लायक भोजन सामग्री एकत्रित कर ली। बीसों नए कुएँ खुदवा डाले। नए सैनिकों की भर्ती की गई और उनको सिखा पढ़ा कर योग्य सैनिक बनाया गया। सब काम हो जाने के बाद महारानी ने जाने का निश्चय किया प्रजा में 'हाहाकार' मच गया। चण्डप्रद्योत के शिविर में आनन्द-भेरी बजने लगी।

ठीक समय पर चण्डप्रद्योत दूल्हा की तरह सज धज कर मृगावती के स्वागत के लिए खड़ा था। इसी समय कोट के ऊपर से एक तीर आया और चण्डप्रद्योत के मुकुट में लगा। मुकुट टूट कर जमीन पर गिर पड़ा। सभी सामन्त चिल्ला उठे हाय! हाय! यह कैसा अपशकुन हुआ? तीर के साथ यह पत्र भी था—

चण्डप्रद्योत!

तुम मनुष्य नहीं राक्षस हो। तुम एक अबला को अपना शिकार बनाना चाहते हो। अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना चाहते हो। पशु हृदय से नारी-हृदय को जीतना चाहते हो। परन्तु याद रक्खो। पाप का फल कभी अच्छा नहीं होता। अब तुम्हारा भला इसी में है कि सकुशल घर लौट जाओ। यदि मेरी सलाह न जँचे तो यहीं पड़े-पड़े कोट की दीवालों से सिर पीटते रहो। दो वर्ष बाद देखा जायगा।

मैं आशा करती हूँ कि तुम्हें सुबुद्धि प्राप्त होगी और तुम इस अमूल्य मानव जीवन को नष्ट न करोगे।

हिताकांक्षी
मृगावती

चण्डप्रद्योत की आँखें लाल हो गईं। वह ओंठ चबाने लगा और घूर-घूर कर कौशाम्बी का कोट देखने लगा, लेकिन बस उस समय कौशाम्बी अजेय थी।

इसी समय उज्जयिनी से दूत आया। उसने समाचार दिया कि राजधानी में अशान्ति मची है। इसी से चण्डप्रद्योत को शीघ्र लौटना पड़ा।

चण्डप्रद्योत लज्जित होकर घर आया। लज्जा के कारण वह अपनी रानी के पास भी नहीं जा सकता था। परन्तु इस तरह कब तक गुजर होगी, यही सोच कर वह अन्तःपुर में गया। परन्तु वहाँ रानी का पता न था। चण्डप्रद्योत ने आश्चर्य के साथ सखियों से पूँछा—रानी कहाँ है?

"वे तो गईं।"

"कहाँ?"

इस प्रश्न के उत्तर में उन्होने आंसू बहा दिए और सभी सिसक सिसक कर रोने लगीं।

राजा ने घबराहट के साथ पूछा—देहान्त हो गया?

"नहीं महाराज! देहान्त नहीं हो गया, परन्तु जो कुछ हुआ वह देहान्त के बराबर ही है।'

तो ठीक ठीक कहो न, क्या बात है?

"महाराज! आपके प्रस्थान के पीछे एक दिन महारानी ने छिपकर विषपान का उद्योग किया, किन्तु हम लोगों की नजर पड़ गई और यह कार्य न हो पाया। उसके कुछ दिन बाद न मालूम वे कहां चली गईं। बिस्तरों पर आपके नाम का यह पत्र पड़ा मिला था।

चण्डप्रद्योत पत्र पढ़ने लगा।

महाराज!

विवाह के समय हम और आप एक बन्धन में बंधे थे। मैंने अपने बन्धन को जरा भी ढीला नहीं होने दिया। आपके प्रेम में मै अपनी वास्तविक स्थिति को भूल गई थी, परन्तु उस दिन मैंने अपने को पहचाना। मुझे मालूम हुआ कि मैं दासी हूँ पत्नी नहीं। लेकिन मैं इस घर में पत्नी बनकर सेवा कर सकती हूँ, दासी बनकर गुलामी नहीं।

अब आप मृगावती को ले ही आयेंगे। इसलिए मैं आप दोनों के बीच का कांटा नही बन सकती। मैं अपने को मिटा सकती हूँ, परन्तु अपने पत्नीत्व का ऐसा अपमान नहीं सह सकती।

पुरुष स्त्रियों को जो चाहे समझे, परन्तु स्त्रियां भी अपने मानव जीवन का उत्तरदायित्व समझती हैं। उनका जीवन आत्मोन्नति करने के लिए है, न कि गुलामी करने के लिए। भगवान महावीर की कृपा से अब स्त्रियों को भी आत्मोन्नति करने का अधिकार है। इसलिए मैं जाती हूँ। जितने दिन हो सका आपकी सेवा की, अब कुछ दिन आत्मा की सेवा करूंगी।

आपकी भूतपूर्व पत्नी

चण्डप्रद्योत पत्र पढ़कर सिर पीटने लगा। वह 'दोऊ दीन से गया।'

ग्रंथ एवं ग्रंथकारों की भूमि–राजस्थान

लेखक—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम० ए०, पी० एच० डी०

भारतीय इतिहास में राजस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक ओर यहाँ की भूमि का प्रत्येक कण वीरता एवं शौर्य के लिए प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के गौरव स्थल भी यहाँ पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। यदि राजस्थान के वीर योद्धाओं ने देश की रक्षा के लिए हंसते २ अपने प्राणों को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले आचार्यों, सन्तों एवं विद्वानों ने साहित्य की महती सेवा की और अपनी रचनाओं के द्वारा यहाँ के जन जागरण को जीवित रखा। यहाँ के रणथम्भौर, कुम्भलगढ़, चित्तौड़, भरतपुर, मांडौर जैसे दुर्ग यदि वीरता एवं त्याग के प्रतीक हैं तो जैसलमेर, नागौर, बीकानेर, जयपुर, अजमेर, कोटा, आदि के ग्रन्थ-संग्रहालय एवं पोथीखाने उन ग्रंथकारों एवं साहित्य प्रेमियों की सेवाओं के मूर्तरूप हैं, जिन्होंने अनेक संकटों एवं झंझावातों के मध्य भी साहित्य की पवित्र धरोहर को सुरक्षित रखा। वास्तव में राजस्थान की भूमि पावन एवं महान् है एवं उसका प्रत्येक कण वन्दनीय है।

राजस्थान की भूमि में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती आदि भाषाओं के उद्भट विद्वान् हुए। इन आचार्यों तथा सन्तों ने अपनी रचनाओं द्वारा भारतीय साहित्य के भण्डार को इतना अधिक भरा कि वह कभी खाली न हो सका। शिशुपाल वध के रचयिता महाकवि माघ राजस्थानी विद्वान् थे। इन्होंने अपने इस महाकाव्य को जो काव्य के तीनों गुणों (उपमा, अर्थ एवं पदलालित्य) के प्रसिद्ध है, भनिमाल (जोधपुर) में समाप्त किया था। पार्थपराक्रमव्यायोग के कर्त्ता मल्हारनदेव आबू के परमार राजा धारावर्ष के छोटे भाई थे। महापंडित आशाधर मूलतः माण्डलगढ़ के निवासी थे। इन्होंने जीवन भर संस्कृत साहित्य की सेवा की और जिनयज्ञकल्प, सागार धर्मामृत, अनगार धर्मामृत, त्रिषष्टि-स्मृतिशास्त्र, अध्यात्मरहस्य, भरतेश्वराभ्युदय, राजमती-विप्रलंभ, काव्यलंकार जैसे उच्चकोटि के ग्रंथों की रचना की। संस्कृत साहित्य का घर घर में प्रचार करने वाले एवं समाज में धार्मिक जागृति को फैलाने वाले जैन सन्त भट्टारक सकलकीर्ति राजस्थान के स्नातक थे। इन्होंने ८ वर्ष तक भट्टारक पद्मकीर्ति के पास नैणवां में गहरा अध्ययन किया और फिर राजस्थान एवं गुजरात में स्थान स्थान पर भ्रमण करके २५ से भी अधिक ग्रथों की रचना की। सकलकीर्ति ने साहित्य निर्माण के लिए वातावरण को इतना जागृत किया कि इनके पश्चात् होने वाले इनके शिष्य जीवन भर साहित्याराधना में लगे रहे और उन्होंने संस्कृत

में सैंकड़ों रचनायें निबद्ध कीं, जो आज भी राजस्थान के जैन भण्डारों में संगृहीत की हुई मिलती हैं। सकलकीर्ति के इन शिष्यों में भुवनकीर्ति, ब्रह्मजिनदास, ज्ञानभूषण, शुभचन्द्र, सकलभूषण, सुमतिकीर्ति के नाम उल्लेखनीय है। राजस्थान के उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, सागवाड़ा आदि प्रदेश इन ग्रन्थकारों की गतिविधियों के मुख्य केन्द्र थे। इसी तरह पंडित रायमल्ल एवं जगन्नाथ, क्रमशः वैराट एवं टोडारायसिंह के निवासी थे और इन्होंने यहीं रहते हुए ग्रंथों की रचना की थी। पं० मेधावी ने नागौर में संवत् १५४१ में धर्मसंग्रह श्रावकाचार की रचना की थी।

प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के भी राजस्थान में काफी विद्वान् हुए। प्राकृत भाषा की प्रसिद्ध रचना 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' के ग्रंथकर आचार्य पद्मनन्दि राजस्थानी विद्वान् थे। पद्मनन्दि ने अपने आपको गुणगणकलित, त्रिदंडरहित, त्रिशल्यपरिशुद्ध आदि विशेषणो से युक्त लिखा है। बारां नगर को इनके जन्म स्थान होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार अपभ्रंश भाषा की प्रसिद्ध रचनायें भविसयत्तकहा के लेखक पं० धनपाल एवं धम्मपरिक्खा के रचयिता महाकवि हरिषेण इसी प्रदेश के रहने वाले थे। पं० धनपाल की जन्म भूमि चित्तौड़ थी। विविध भाषाओं के ज्ञाता, अनेक ग्रंथों के रचयिता, जैन दर्शन के महान् ज्ञाता हरिचन्द्र सूरि को राजस्थानी होने का गौरव प्राप्त है।

हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा के विद्वानों की तो अभी संख्या भी नहीं की जा सकती। यहाँ इन भाषाओं के सैंकड़ों विद्वान् हुए जिनकी साहित्यिक सेवायें इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य है। इस दिशा में अभी जितनी खोज हुई है वह यहाँ के विद्वानो की सेवाओं को देखते हुए नगण्य सी है। हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा की सेवा करने में जैन एव जैनेतर दोनों ही धर्मों के कवियों का समान योग है। हिन्दी की लाडली मीरा पर राजस्थान को गौरव है। इन्होंने अपने पदों द्वारा भक्ति की जो धारा बहाई थी वह सदैव गतिमान रहेगी। जैन कवि पद्मनाभ चित्तौड़ के थे। इन्होंने अपनी बावनी को १४८९ में समाप्त किया था। महाकवि बिहारी ने आमेर के महाराजा के दरबार में रहकर हिन्दी भाषा की उत्कृष्ट कृति विहारी सतसई की रचना की थी। दादू महाराज के कितने ही शिष्य राजस्थानी थे। इन्होंने हिन्दी में बहुत से साहित्य का सृजन किया है। राजस्थान में इसी प्रकार हिन्दी एवं राजस्थानी के २०० से भी अधिक विद्वान् हुए होंगे जो जीवन पर्यन्त साहित्य-सेवा में व्यस्त रहे, लेकिन अभी इन विद्वानों की साहित्यिक सेवाओं का कोई मूल्यांकन नहीं हो सका है। छीहल, ठक्कुरसी, बूचराज, छीतर ठोलिया, विद्याभूषण, ब्रह्म रायमल्ल, आनन्दघन, हेमराज (द्वितीय) हर्षकीर्ति, जोधराज, खुशालचन्द, टोडरमल, जयचन्द, दौलतराम, दिलाराम आदि विद्वान् राजस्थानी ही थे। इस प्रकार राजस्थान की भूमि साहित्यिक विद्वानों को जन्म देने की दृष्टि से सदैव उर्वरा रही है। जिसके लिए हमें गौरवान्वित होना चाहिए।

राजस्थान के ग्रंथ-संग्रहालय भी कम महत्त्व के नहीं हैं। वैदिक एवं जैन दोनों ही धर्मो के अनुयायियों ने भारतीय साहित्य की सुरक्षा में गहरी दिलचस्पी ली। राजा महाराजाओं ने अपने संरक्षण में पोथीखाने स्थापित किए। उनमें आज भी हजारों हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह मिलता है। दूसरी ओर जैनों ने तो ग्रंथों के संग्रह एवं उनकी सुरक्षा का जो आदर्श उपस्थित किया है वह अन्य सभी समाजों के लिए अनुकरणीय है। युद्धों एवं अन्य प्राकृतिक उपद्रवों के मध्य में भी जिस ढंग से इन्होंने अपने ग्रंथ संग्रहालयो को नष्ट होने से बचाया वह सर्वथा प्रशंसनीय है। राजस्थान में राजकीय पोथीखानों, राजा-महाराजाओं के निजी संग्रहालय, ब्राह्मण पडितों के घरों में संगृहीत ग्रंथों के अतिरिक्त जैन ग्रंथ संग्रहालयों मे विशाल साहित्य का संग्रह है। राजस्थान में २०० से भी अधिक छोटे बड़े संग्रहालय हैं। जिनमें दो लाख से भी अधिक ग्रंथों का संग्रह होगा। ये ग्रंथ संग्रहालय अधिकांशतः व्यवस्थित एवं सुरक्षित है। ये समाज के स्वाध्याय मन्दिर हैं जिन्हें आज की भाषा में शोध प्रतिष्ठान कहा जा सकता है। इन भण्डारों में जैन एवं जैनेतर दोनों ही विद्वानों के लिखे हुए ग्रंथों का संग्रह है। इनमें साहित्य की अमूल्य निधियाँ सुरक्षित हैं। जैसलमेर के भण्डार में कुवलयमाला, काव्यादर्श, काव्यमाला, काव्यालंकार, वक्रोक्तिजीवित,

काष्ठासंघ स्थित माथुरसंघ गुर्वावली

लेखक--पं० परमानन्द शास्त्री

भारतीय इतिहास में शिलालेखों, ताम्रपत्रों, ग्रंथ प्रशस्तियों, कलात्मक प्रस्तर फलकों, और मूर्तिलेखों आदि का जितना महत्व है, उतना ही महत्व प्राचीन प्रबन्धों, पट्टावलियों और गुर्वावलियों आदि का भी है। इनमें उल्लिखित इतिवृत्तों में ऐसी उपयोगी सामग्री उपलब्ध हो जाती है, जो ऐतिहासिक तथ्यों के निर्णय में बहुत कुछ साहाय्य प्रदान करती है। जैन ग्रंथभण्डारो में अनेक गुर्वावलियाँ और पट्टावलियाँ पाई जाती हैं। जिनमें जैनाचार्यो, और भट्टारकों की नामावली तथा उनमें कुछ भट्टारकों आदि के कार्यो का उल्लेख भी रहता है, जो तीर्थयात्रा, धर्मप्रचार, पट्टाभिषेक, ग्रंथरचना, और वाद-विजय से सम्बन्ध रखता है। यहाँ काष्ठासघ की एक शाखा माथुर संघकी एक गुर्वावली दी जा रही है, जो उक्त परम्परा के आचार्यों और भट्टारकों आदि का नाम प्रस्तुत करती है, यह गुर्वावली अभी तक अप्रकाशित है और दिल्ली के धर्मपुरा के नये मन्दिर के शास्त्रभण्डार से उपलब्ध हुई है, इस गुर्वावली में ६८३ वर्ष की श्रुत-परम्परा के धर्माचार्यों के नामोल्लेख के अनन्तर अनेक आचार्यों या भट्टारकों के नामादि प्रस्तुत किए गए हैं। पर उनके समयादि की उसमें कोई सूचना नहीं मिलती और न अन्य कोई प्रामाणिक साधन ही उपलब्ध हैं जिनसे उनके समयादि के सम्बन्ध में निर्णय किया जा सके। उस कठिनाई का एक कारण आचार्यों के नामों की क्रम-बद्धता का न होना भी है।

कालदोषसे जैन संघ-अनेक गण-गच्छ आदिक में विभक्त हो गया है। जैसे देवसंघ, गौडसंघ, नंदिसंघ, मूलसंघ यापनीयसंघ, पुष्करगण, बलात्कारगण, देसीगण सरस्वती गच्छ, माथुरगच्छ, पुस्तक गच्छ और नन्दितटगच्छ आदि।

जयपुर भंडारके एक गुच्छक में काष्ठासंघकी पट्टावली के निम्न पद्यों में उसकी चार शाखाओं का उल्लेख है, नन्दितट, माथुर, बागड और लाल (ट) बागड़। इससे माथुरसंघ भी उसकी एक शाखा ज्ञात होती है।

काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ते नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुता क्षितौ ॥१९
नंदीतटसंज्ञश्च माथुरो बागडाभिध ।
लाल (ट)बागड इत्येते विख्याता क्षितिमंडले ॥२०॥

काष्ठासंघ की उत्पत्ति का समय आ० देवसेन ने अपने दर्शनसार ग्रन्थ में ६५३ बतलाया है, जो रामसेन के द्वारा निष्पिच्छसंघ मथुरा में उत्पन्न हुआ था[1]। यदि दर्शनसार के कर्ता द्वारा लिखित उक्त समय प्रामाणिक हो तो काष्ठासंघकी उत्पत्तिका समय वि.की १०वीं शताब्दीका मध्यभाग हो सकता है। यद्यपि इस संघ में अनेक विद्वान् आचार्य मुनि हुए है, किन्तु जो साधु अन्य शाखा प्रशाखाओं में विभक्त है उनका यहां कोई उल्लेख नहीं है। जैसे काष्ठासङ्घ माथुरसङ्घ के अमितगति आदि विद्वान।

प्रस्तुत गुर्वावली में विद्वानों का नामोल्लेख क्रम इस प्रकार है—जयसेन, वीरसेन, ब्रह्मसेन, रुद्रसेन, भद्रसेन, कीर्तिषेण जयकीर्ति, विश्वकीर्ति, अभयसेन भावकीर्ति, विश्वचन्द्र, अभयचन्द्र, माघचन्द्र, नेमिचन्द्र, (उदयचन्द्र)

रघुवंश, कुमार संभव आदि सैकड़ो काव्यों की जितनी प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं इतनी प्राचीन प्रतियां अन्यत्र मिलना सुलभ नही है। जैसलमेर के अतिरिक्त नागौर, अजमेर, कोटा, जयपुर, बीकानेर, भरतपुर, रिषभदेव, सागवाड़ा के जैन भण्डारों में महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की सैंकड़ों प्रतियाँ सुरक्षित है। इन ग्रंथ संग्रहालयों को देखते हुए कभी-कभी यह विचार होता है कि प्राचीन काल में साहित्य संग्रह के महत्व को अधिक समझा जाता था। यदि उन्हें आज जैसी सुविधाये मिली होतीं तो संभवतः गाँव गांव में पुस्तकालय आज से सैकड़ों वर्ष पहले ही खुल गए होते।

इस प्रकार राजस्थान ग्रंथ एवं ग्रंथकारों दोनों के लिए ही पावन भूमि रहा है, जिसके लिए प्रत्येक भारतीय गौरवान्वित है।

★

विनयचन्द्र, बालचन्द्र, त्रिभुवनचन्द्र (विजयचन्द्र) रामचन्द्र, यशःकीर्ति, अभयकीर्ति, महासेन, कलासेन, कुंदकीर्ति, त्रिभुवनचन्द्र, रामसेन, मनोराम, हरिषेण[1], गुणसेन, कुमारसेन, प्रतापसेन, माहव (माधव) सेन[2] उद्धरसेन, देवसेन, विमल सेन, धर्मसेन, भावसेन सहस्रकीर्ति गुणकीर्ति मलयकीर्ति गुणभद्र, भानुकीर्ति और कुमारसेन।

इस 'गुर्वावली' में अपने ही संघ के कुछ विद्वानों का नाम भी छूटा हुआ जान पड़ता है। उदाहरणार्थ बालचन्द्र मुनि के गुरु उदयचन्द्र का नाम छूटा हुआ है। नेमिचन्द उदयचन्द, बालचन्द और विनयचन्द ये चारों ही माथुर संघ के विद्वान् थे। इनमें मुनि उदयचन्द की कोई कृति मेरे अवलोकन में नहीं आई।

किन्तु मुनि बालचन्द की दो अपभ्रंश कथाएँ और विनयचन्द्र मुनिकी चूनडीरास आदि तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं[3]। इनका समय विक्रम की १३वीं १४वीं शताब्दी होना चाहिए; क्योंकि मुनि विनयचन्द के 'कल्याणकरासु' की प्रति सं० १४५५ की लिखी हुई मौजूद है। अतएव उनका समय इससे बाद का नहीं हो सकता, किन्तु पूर्ववर्ती है।

प्रस्तुत माहवसेन या माधवसेन, प्रतापसेन के पट्टधर थे। जिन्होंने पंचेन्द्रियों के समूह को जीत लिया था, जिससे वे महान् तपस्वी जान पड़ते हैं। विद्वान होने के साथ-साथ वे मंत्र-तंत्र-वादी भी थे। उन्होंने बादशाह अलाउद्दीन खिलजी द्वारा आयोजित वाद विवाद में विजय प्राप्त कर जैनधर्म का उद्योत किया था और दिल्ली के जैनियों का धर्म-संकट दूर किया था[4]। अलाउद्दीन खिलजी का समय वि० सं० १३५३ से १३७२ तक रहा है। वही समय माधवसेन का हो सकता है। कहा जाता है कि माधवसेन का स्वर्गवास दिल्ली में ही हुआ था।

उद्धरसेन, माधवसेन के शिष्य थे, जो बड़े विद्वान, शमी, गुणशील के धारक और ब्रह्म-पथ के पथिक थे। इनका समय भी १४वीं शताब्दी का अन्त जान पड़ता है।

देवसेन—नाम के अनेक विद्वान् हो गए है[1]। प्रस्तुत देवसेन उन सबसे भिन्न जान पड़ते हैं। माथुरसंघी एक देवसेन का उल्लेख दूबकुंड गांव के सं०११५२ के ३ पंक्तियों वाले शिलालेख में मिलता है। जिस पर उनकी मूर्ति भी अङ्कित है[2]। यह एक जैन स्तूप स्तम्भ लेख हैं।

१. काष्ठासंघ की दूसरी पट्टावली में हरिषेण के स्थान पर 'हर्षषेण' नाम पाया जाता है।

२. माहवसेन के बाद जैन सि० भा० की पट्टावली में विजयसेनादि का नाम देकर दूसरी शाखा के विद्वानों का नामोल्लेख किया है।

—देखो, जैन सि० भास्कर भा० १ किरण ४

३. देखो, जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २, जो अभी वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित हो रहा है।

४. देखो, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १ किरण ४ में प्रकाशित काष्ठासंघ पट्टावली का फुटनोट तथा जैनगजट हिन्दी २ जुलाई सन् १९५९ में प्रकाशित दिल्ली में जैन धर्म नामक लेख

१. प्रथम देवसेन वे हैं जो रामसेन के शिष्य थे और जिनका जन्म सं० ९५३ बतलाया है, वही संभवतः दर्शनसार के कर्ता थे।

दूसरे देवसेन वे हैं, जो शक सं० ६२२ (वि० सं० ७५७) में चन्द्रगिरि पर्वत से स्वर्गवासी हुए थे।

तीसरे देवसेन वे हैं, जिनका उल्लेख दूबकुंड (ग्वालियर) के सं० ११४५ के शिलालेख में सम्मान के साथ किया गया है और जो लाडबागड संघ के उन्नत रोहिणाद्रि थे विशुद्ध-रत्नत्रय के धारक थे। और समस्त आचार्य जिनकी आज्ञा को नतमस्तक होकर धारण करते थे। यथा—

आसीद्विशुद्धतरबोधचरित्रदृष्टि-
निःशेष सूरि नतमस्तक धारिताज्ञः।
श्री लाटबागडगणोन्नतरोहणाद्रि-
माणिक्य भूतचरितो गुरुदेवसेनः॥

—देखो दूबकुंड शिलालेख, एपिग्राफिका इंडिका वाल्यूम २ पे० २३७-२४०

चौथे देवसेन वे हैं, जो भवनन्दि के शिष्य थे और जिन का उल्लेख वल्लीमले के शिलालेख में किया गया है, जो उत्तरी अर्काट जिले के वनिवास तालुका में है। (जैन लेख संग्रह भा० २)

पांचवें देवसेन वे हैं जो 'सुलोयणाचरिउ' के कर्ता हैं।

छठे देवसेन वे हैं जो वीरसेन के शिष्य थे और जिनका उल्लेख अमितगति द्वितीय ने सुभाषितरत्नसंदोह में, और जयधवला प्रशस्ति के ४४वें पद्य में किया गया है।

२. दूबकुंड शिलालेख वाली तीन पंक्तियां ये हैं—
१—सं० ११५२ वैशाख सुदि पञ्चम्यां।
२—श्री काष्ठासंघ महाचार्य वर्य श्री देव
३—सेन पादुका युगलम, (स्तम्भलेख)
See Archeological survey of India,

विमलसेन—देवसेन के शिष्य थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित एक मूर्ति सं० १४२८ की धर्मपुरा के नये मन्दिर में विराजमान है। जिसकी प्रतिष्ठा किसी जइस या जैसवाल सज्जन के द्वारा सम्पन्न की गई थी। इनकी उपाधि 'मलधारी' भी बतलाई जाती है।

धर्मसेन— विमलसेन के शिष्य थे, इनके द्वारा प्रतिष्ठित तीन मूर्तियां हिसार जिले के मिट्टी[1] नामक ग्राम से मनीराम जाट को प्राप्त हुई थीं, ये पार्श्वनाथ, अजित नाथ और वर्धमान तीर्थंकर की सं० १४४१, १४४२ की प्रतिष्ठित हैं और अब हिसार के जैन मन्दिर में विराजमान हैं।

भावसेन—धर्मसेन के शिष्य थे। वे कब हुए और उनका जीवन परिचय क्या है यह अभी अज्ञात है। इनसे भावसेन त्रैविद्यदेव भिन्न ज्ञात होते हैं। क्योंकि इनके साथ ऐसा कोई विशेषण प्रयुक्त नही है। भावसेन त्रैविद्य का तंत्ररूपमालावृत्ति, और विश्वतत्त्वप्रकाश ग्रंथ के कर्त्ता हैं। जो भिन्न ही जान पड़ते हैं। वे दर्शनशास्त्र के भी अच्छे विद्वान थे।

सहस्रकीर्ति—भावसेन के पट्टधर थे। इनकी किसी रचना का कोई परिचय प्राप्त नहीं हुआ और न समयादि की भी कोई सूचना मिली है।

गुणकीर्ति[2]— सहस्रकीर्ति के शिष्य थे। यह अपने समय के विशिष्ट तपस्वी और ज्ञानी थे। इनके द्वारा सं० १४६८ माघ सुदि ६ रविवार के दिन ग्वालियर के (तोमरवंशी) राजा वीरमदेव के राज्यकाल में सिंघई महाराज की पुत्री देवनी ने पंचास्तिकाय की प्रति लिखवाई थी[3] और स० १४६६ माघ सुदि ६ रविवार के दिन राजकुमार सिंह की प्रेरणा से गुणकीर्ति ने एक धातु की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी। जो अब आगरा के कचौड़ा गली के मन्दिर में विराजमान है। इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। इन्ही भट्टारक गुणकीर्ति के कनिष्ठ भ्राता और शिष्य यशकीर्ति थे, जो तपस्वी होने के

१. देखो, मिट्टी ग्राम से प्राप्त मूर्तियों के लेख।

२. गुणकीर्ति नाम के और भी विद्वान हो गए हैं।

३. देखो कारंजा शास्त्र भण्डार। भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २१६

साथ ही साथ, प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश भाषा के विद्वान और प्रतिभा सम्पन्न कवि भी थे।

आपने सं० १४८६ में अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षमार्थ भविष्यदत्तपंचमी कथा[1] श्रीधर' की और सुकुमालचरिउ की प्रति लिखवाई थी। आपकी इस समय चार रचनायें उपलब्ध हैं। पाण्डवपुराण सं० १४९७ में दिल्ली में मुबारिकशाह के मन्त्री हेमराज की प्रेरणा से बनाया था, और सं० १५०० में हरिवंशपुराण की रचना की थी। आदित्यवारकथा और जिनरात्रिकथा' ये दो कथायें भी रची थी। अन्य कथाग्रंथ भी बनाये होंगे, पर दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं हैं। आपके अनेक शिष्य थे। आपने स्वयंभूदेव के खंडित हरिवंशपुराण का अपने गुरु गुणकीर्ति के साहाय्य से ग्वालियर के समीप कुमारनगर के चैत्यालय में बैठकर समुद्धार किया था, और उसके एवज में वहाँ अपना नाम भी अंकित कर दिया था। आप प्रतिष्ठाचार्य भी थे, आपके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियां मिलती है। आपके सौजन्य से रइधू कवि ने अनेक रचनायें रची थी। इनका समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

मलयकीर्ति—भट्टारक यशःकीर्ति के पट्टधर थे। आप की कई रचनाएं होंगी, किन्तु वे मेरे अवलोकन में नहीं आई। आपने भी अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई थी। जिनमें सं० १५०२ और १५१० के दो लेख प्राप्त हुए हैं[2]।

गुणभद्र—मलयकीर्ति के पट्टधर एवं शिष्य थे। आपकी अपभ्रंश भाषा की १५ कथाएं दिल्ली के पंचायती मन्दिर के गुच्छकों में उपलब्ध हैं। जिनमें से कई कथायें उन्होंने ग्वालियर में रहकर भक्त श्रावकों की प्रेरणा से बनाई थीं।

१. भविष्यदत्त कथा की यह प्रति दिल्ली के धर्मपुरा के नए मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है। देखो, अनेकान्त वर्ष ८, किरण ११-१२

२. सं० १५०२ वर्ष कार्तिक सुदि ५ भौमदिने श्री काष्ठासंघे श्री गुणकीर्तिदेवाः तत्पट्टे श्री यशःकीर्तिदेवाः तत्पट्टे श्री मलयकीर्तिदेवान्वये साहु नरदेवा तस्य भार्या जैणी। देखो आहार—मूर्ति लेख, अने० १० पृ० १५६

सं० १५१० माघ सुदि १३ सोमे श्री काष्ठासंघे आचार्य मलयकीर्ति देवताः नैः प्रतिष्ठितम्।

आपके समय में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, और मूर्तियों की प्रतिष्ठा का कार्य भी हुआ, किन्तु तब तक राज्याश्रय में कमी आ गई थी।

भानुकीर्ति—भट्टारक गुणभद्र के पट्टधर थे। यह अपने समय के अच्छे विद्वान थे। इनकी लिखी हुई रवि-व्रत कथा तो मेरे अवलोकन में आई है। परन्तु अन्य रचनाओं का अभी पता नहीं चल सका। इनका परिचयात्मक पद्य राजमल के जंबूस्वामिचरित से यहाँ दिया गया है। यह वि० की १७ वीं शताब्दी के विद्वान थे।

कुमारसेन—भानुकीर्ति के पट्टधर थे। बड़े ही सौम्य प्रकृति, व्रताचरण में निरत, काम-सेना के विजेता थे। दयालु और प्रभावशाली थे। इनके समय में अनेक ग्रन्थ लिखे गये, जो यत्र-तत्र भण्डारों में उपलब्ध होते हैं।

इस तरह इस गुर्वावली के जिन थोड़े से विद्वानों का परिचय ज्ञात हो सका है, उसे विद्वानों के विचारार्थ प्रस्तुत किया हैं, यदि उन विद्वानों के सम्बन्ध में कुछ विशेष जानकारी हो, तो उससे मुझे सूचित करने की कृपा करें।

गुर्वावली

प्रणम्य वीरं परमात्म-सुन्दरं,
गुणैः पवित्रं विशदं स्वभावतः।
अहं गुरूणां वर-नाम-पद्धति,
परां प्रवक्ष्यामि विमुक्तिहेतवे ॥१॥

त्रयोऽपि तस्याऽनु बभूवुरंत्यका,
सुकेवलज्ञानविमुक्तिहेतवे।
मुनीन्द्रचन्द्रो भुवि गौतमो परौ,
सुधर्म-जम्बूधृतनामपावनौ ॥२॥

ततोऽनु विष्णुर्गणनायकोऽजनि,
प्रबुद्धविष्णो भुवि नन्दिमित्रकः।
बभूव तस्मादपराजितो गणि-
स्ततश्च गोवर्द्धननामकः सुधीः ॥३॥

सुभद्रबाहुः परमो बभूव्य-
स्तमेव[1]नौमीह गुणौघमन्दिरं।
इमे वराः पंच यतीन्द्रनायका—,
श्चतुर्दशस्थानसुपूर्वधारकाः ॥४॥

इतो विशाखो गुणसार्थधारको,
बभूव च प्रौष्ठिलनाम सुन्दरः।
गुणाग्रणीः क्षत्रियसाह्वयोऽजनि,
सुनागसेनो जयनामकोऽभवत् ॥५॥

पुनश्च सिद्धार्थमुनिर्जगन्नुतो,
गुणैर्गरिष्ठो धृतिषेणसाह्वयः।
अभून्मुनीन्द्रो विजयश्च बुद्धिमान्,
स-गंगदेवो वरधर्मसेनकः ॥६॥

अमी बभूवुर्दशपूर्वधारिणः,
समस्तविद्यांबुधिपारगाः पराः।
सुभव्यराजीव-सुबोधकारिणो,
जिनेन्द्रधर्माद्रि[2]निवासगामिनः ॥७॥

ततोऽपि नक्षत्रमुनिर्महातपाः,
महामुनीन्द्रो जयपालसंज्ञकः।
इमौ च पांडुध्रुवसेननामभिधौ,
ततो बभूवाऽनु च कंससाह्वयः ॥८॥

एकादशाङ्गविद्यानां पारगाः स्युर्वरा इमे।
श्रीमच्चतुर्विधे संघे माथुरे पुष्कराह्वये ॥९॥

सुभद्रश्च यशोभद्रो भद्रबाहुर्महायशाः।
लोहार्यश्चेत्यमी ज्ञेयाः प्रथमाङ्गाब्धिपारगाः ॥१०॥

जयसेनो जगत्त्राता वीरसेनस्तथैव च।
ब्रह्मसेनो विशुद्धात्मा रुद्रसेनस्ततोऽभवत् ॥११॥

भद्रसेनस्तमोभानुः कीर्तिसेनो विशुद्धधीः।
जयकीर्त्तिस्तपोमूर्तिविश्वकीर्त्तिस्तथाऽजनि ॥१२॥

ततोप्यभयकीर्तिर्योऽभूत्सेनो विदुषां पतिः।
भावकीर्तिर्यशस्फूर्तिः विश्वचन्द्रो गणाग्रणीः ॥१३॥

यतोऽभयादिचन्द्रोऽथ माघचन्द्रोऽघभंजकः।
नेमिचन्द्रो नतोऽशेष विद्याधर-नराधिपैः ॥१४॥

पूज्यो विनयचन्द्रोभूद् बालचन्द्रो गणाधिपः।
त्रिभुवनादिचन्द्रश्च रामचन्द्रस्तथा गणिः ॥१५॥

पद-वाक्यप्रमाणेषु यो हि प्रावीण्यमागतः।
मान्यो विजयचन्द्रोऽसौ विदुषांवरमण्डले ॥१६॥

यशःकीर्तिर्यशोमूर्तिरभयकीर्तिरनुत्तमः।
महासेनो कलासेनः कुंदकीर्ति सुनिर्मलः ॥१७॥

१. तमोव, इति स्तमोव ख-प्रति पाठः।

२. धर्माद्रि इति धर्म्माद्रि ख प्रति पाठः।

त्रिभुवनादिचंद्रोभूद्भव्याम्भोजविबोधकः ।
रामसेनो मनोरामो हरिषेणो धृतस्थितिः ॥१८॥

आचारनिष्ठं सुतपः प्रवीणं,
धर्मोपदेशं महिमाधुरीणं ।
धीरां जित-स्वान्तविकारसंग,
नौम्याशु साधु गुणसेनसज्ञं ॥१६॥

क्रोधादिशान्ताय समात्मनेऽभि,
तस्मै मुनीन्द्राय नमोस्तु भक्त्या ।
छित्वा गतः संसृतिवल्लरी यो,
दैवं पदं भासि-कुमारसेनः ॥२०॥

आचारपंचव्रतपंचभद्रान्,
यो निश्चलान् पालयति स्वहेतून् ।
तं नौमि दांतं मद-मोह-शान्तं,
प्रतापसेनं जितकामसेनं ॥२१॥

पंचेन्द्रियग्रामनिकायधामा,
महामना माहवसेननामा ।
अभूत्सुदर्शी भव-ताप हर्शी,
चारित्रचारी गुणशीलधारी ॥२२॥

सुब्रह्मभावी गतिपोऽग्रगामी,
सुशीलवर्ता जिनधर्महर्ता ।
नरामरैर्निर्म्मितपादसेव,
शिष्योप्यभूदुद्धरसेनदेव ॥२३॥

विज्ञानसारी जिनपाज्ञकारी,
तत्वार्थवेदी पर-संघ-भेदी ।
स्वकर्मभंगी बुधयूथसंगी[1],
चिरं क्षितौ नंदतु देवसेनः ॥२४॥

अमितगुणनिवासः खंडिताकर्मपाशः,
समयविदकलंकः क्षीणसंसारशंकः ।
मदन-कदन-हंता धर्मतीर्थस्य नेता,
जयति महति लीनः शासने देवसेनः ॥२५॥

निरूपमगुणरत्नः शुद्धतत्वात्मयत्नः,
समितिततिगरिष्ठः साधुनोकेरुचेष्टः ।
शशिकिरणसुशीतः कर्म्मबंधादिभीतो,
जयति विमलसेनः शं प्रदेयात्सदा नः ॥२६॥

१. 'रंगी' इति ख प्रति पाठः ।

इत्थं सद्गुरुनामवर्ण्णं सुमनोमालामिमां यःपुमान्,
तत्रस्तद्गुणराजिराजितपदं, कंठे दधाति स्फुटं ।
सद्वृत्तां विमलादिसेनविहितां प्राप्य प्रसन्नाशयः ।
श्रेयःसंततिमत्र विंदतितरां निश्रेयसं तत् क्रमात् ॥२७

गुण-गण-मणिरत्नं चारुचारित्रयत्नं,
कलिकलुष सयत्नं सुव्रते सुप्रयत्नं ।
मदन मथन धेनुः सर्व्वदाकामधेनुः,
सुगुरु विमलसेनः पट्टके धर्म्मसेनः[1] ॥ २८॥

काष्ठसंघगणनायकवीरः, धर्म-साधन-विधान-पटीरः ।
राजते सकलसंघसमेतः, धर्म्मसेन गुरुरेष विदेतः (?) ॥२६॥

धर्मोद्धारविधिप्रवीणमतिकः सिद्धान्तपारंगमी ।
शीलादिव्रतधारकः शम-दम-क्षान्ति प्रभाभासुरः ॥
वैभारादिकतीर्थराजरचितप्राज्यप्रतिष्ठोदय—
स्तत्पट्टाब्जविकासनैकतरणिः श्रीभावसेनो गुरुः ॥३०॥

कर्म-ग्रन्थविचारसारसरणी रत्नत्रयस्याकरः ।
श्रद्धाबंधुरलोकलोकनलिनीनाथोपमः साम्प्रतम् ॥
तत्पट्टेऽचलचूलिकासुतरणिः कीर्तोऽपि विश्वंभरो ।
नित्यं भाति सहस्रकीर्तिरिति यः क्षान्तोऽस्ति दैगंबरः ॥३१॥

श्रीमांस्तस्य सहस्रकीर्तियतिनः पट्टेविकष्टेऽभवत् ।
क्षीणांगो गुणकीर्तिसाधुरनघो विद्वज्जनानां प्रियः[3] ।
मायामानमदादिभूधरपवी राद्धान्तवेदी गणी ।
हेया-देय[4]-विचार-चारुधिषणः कामेभकंठीरवः ॥३२॥

यत्तेजो गुणबद्धबुद्धिमनसो मूला[5] भवन्तो नुताः ।
श्रीस्याद्वादहता कणाद-सुगताद्या वादिनः पादयोः ।
जीयाच्छ्रीगुणकीर्तिसाधुरसकौ चारित्रदृग्ज्ञानभाक्,
श्रीमन्माथुरसंघपुष्करशशी निर्म्मुक्त दम्भारवः ॥३३॥

तत्पट्टे व्रत-शीलसंयमनदीनाथो यशःकीर्तिरा—
सीदुद्दण्ड-कुदर्प-काम-मथनो निर्ग्रन्थमुद्रावरः ।
विख्यातो जिनपादपंकजधराविकृष्ट चेतोगृहः,
शास्त्रारभसुतुंडतांडवकरः स्याद्वादसत्प्रेक्षणः ॥३४॥

१. 'ख' प्रतौ पद्यद्वयमधिकं वर्तते ।
२. कीर्त्यादि विश्वंभरो इति ख प्रति पाठः ३. विद्वज्जनानंदितः इति 'ख' प्रति पाठ. । ४. हेयाहेय इति पाठः ख प्रति, ५. 'मूलाम्भवान्तो इति' ख प्रति पाठः ।

दीक्षादाने सुदक्षोऽवगतगुरुलघु शिष्यया क्षेत्रनाथं, ?
ध्यायन्नश्रांतशिष्टं चरितसहृदयो मुक्तिमार्गे समार्गे ।
यो लोभ-क्रोध-माया-जलदविलयने मारुतो माथुरेशः,
काष्ठासंघे गरिष्ठो जयति स मलयाद्यस्ततः कीर्तिसूरिः ॥

गुणगणमणिभूषो वीतकामादिदोष,
कृतजिनमततोषस्तत्पदे शांतवेषः ।
धृतचरणविशेषः सत्यघोषो विरोषो,
जयति च गुणभद्रः सूरिरानन्दभूरिः ॥३६॥

यो जानाति सुशब्दशास्त्रमनघं, काव्यानि तर्कादिकं,
सालंकारगुणैर्युतानि नियतं जानाति छन्दांसि च ।
यो विज्ञानयुतो दयाशमगुणैर्भातीह नित्योदयः,
जीयाच्छ्रीगुणभद्रसूरिपदगः श्रीभानुकीर्तिर्गुरुः ॥३७॥

[तत्पट्ट मुच्चमुदयाद्रिमिवानुभानुः,
श्रीभानुकीर्तिरिह भाति हृतांधकारः ।
उद्योतयन्निखिलसूक्ष्मपदार्थसार्थान्,
भट्टारको भुवनपालकपद्मबन्धुः ॥३८॥
तत्पट्टमब्धिमभिवर्द्धनहेतुरिन्दुः,
सौम्यः सदोदयमयो लसदंशुजालैः ।
ब्रह्मव्रताचरणनिर्जितमारसेनो,
भट्टारको विजयतेऽथ कुमारसेनः ॥३९॥]

ये नित्यं व्रतमन्त्रहोमनिरता ध्यानाग्निहोत्राकुलाः
षट्कर्माभिरतास्तपोधनधनाः साधुक्रिया साधव ।
शीलप्रावरणा गुणप्रहरणाश्चंद्रार्कतेजोधिकाः,
मोक्षद्वारकपाट-पाटनभटाः प्रीणंतु मां साधव; ॥४०॥

[ ] बड़े ब्रेकट वाले पद्य पांडे राजमल के जंबूस्वामिचरित की पीठिका से उद्धृत किये गए हैं ।

पद राग विलावल

चेतन अपनौ रूप निहारौ
नहिं गोरो नहिं कारो ॥ टेक ॥
दरसन ग्यान मई चिन्मूरति
सकल करम तैं न्यारौ ॥ १ ॥
जाकी विन पहिचान जगत मैं
सह्यौ महादुख भारौ ।
जाके लखे उदै ह्वै ततखिन
केवल ग्यान उजारौ ॥ २ ॥
करम जनित परजाय पाय तुम
कीनौं तहाँ पसारौ ।
आपा-परसरूप न पिछानौ
तातैं भौ उरझारौ ॥ ३ ॥
अब निज में निज को अवलोकौ
ज्यों ह्वै सब सुरझारौ ।
'जगतराम' सब विधि सुखसागर
पद पावौ अविकारौ ॥ ४ ॥

राजनापुर खिनखिनी गांव की धातु-प्रतिमाएँ

सरस्वती—नौवीं शती राजनापुर खिनखिनी
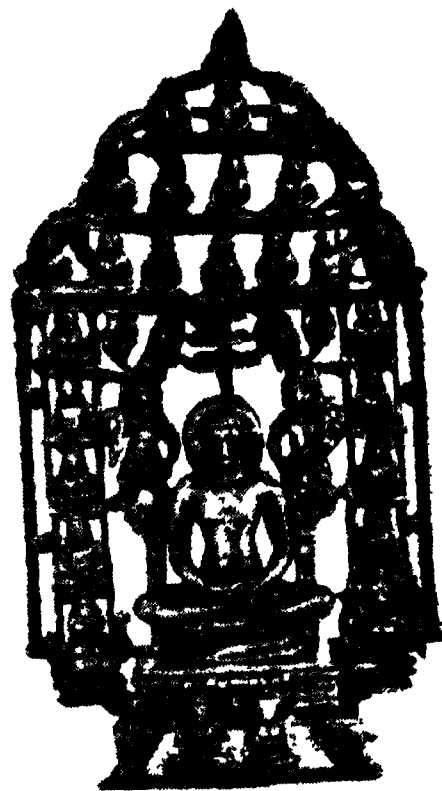
भगवान ऋषभनाथ का चतुर्विंशति पट्ट

राजनापुर खिनखिनी गांव की धातु-प्रतिमाएँ
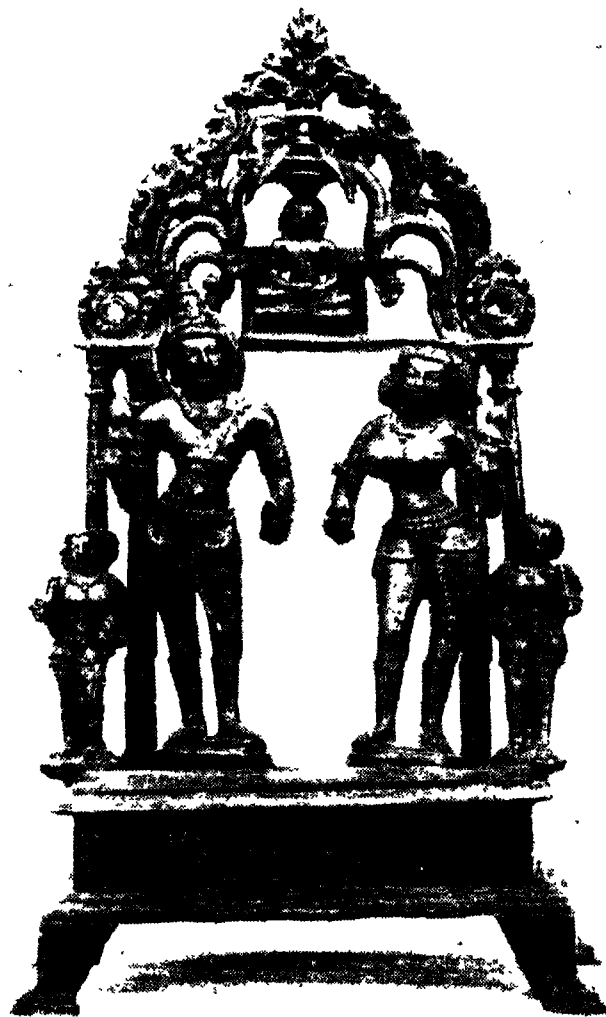
यक्ष यक्षी—नौवीं शती राजनापुर खिनखिनी

राजनापुर खिनखिनी की धातु-प्रतिमाएँ

लेखक—श्री बालचन्द जैन

ईस्वी सन् १६२६ में, विदर्भ के अकोला जिले के मुर्तिजापुर तालुका में स्थित राजनापुर खिनखिनी गांव के एक कुएँ में अचानक ही जैन धातु प्रतिमाओं का एक बड़ा संग्रह प्राप्त हो गया था। उस संग्रह में कुल मिलाकर २७ प्रतिमाएँ थीं जो ट्रेजर ट्रोव एक्ट के अंतर्गत नागपुर के केन्द्रीय संग्रहालय के लिये अवाप्त की गई थीं। संग्रह की प्रतिमाओं में से अनेक प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से बहुत ही उत्कृष्ट एवं सुन्दर है। वे यूरोप के जर्मनी, स्विट्जरलैंड फ्रांस और इटली आदि देशों की प्रदर्शनियों मे प्रदर्शित हो चुकी है और अभी हाल में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण की शताब्दी-प्रदर्शनी में नई दिल्ली में प्रदर्शित की गई थी।

उपर्युक्त संग्रह की सभी प्रतिमाएँ दिगम्बर सम्प्रदाय की है। निर्माण-शैली की दृष्टि से उन्हें दक्खिनी शैली का कहा जा सकता है। निर्माणकाल के अनुसार संग्रह की प्रतिमाओं को चार समूहों में विभाजित किया गया है और उनका समय ईस्वी सन् की सातवी शती से लेकर बारहवीं शती तक आंका गया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी के विदर्भ-आक्रमण के समय इन मूर्तियों को अविनय से बचाने के उद्देश्य से किसी जैन मंदिर के व्यवस्थापकों ने इन्हें गांव के कुएँ में छिपा दिया था।

प्रथम समूह—सातवीं-आठवीं शती

संग्रह की केवल दो प्रतिमाएँ ही इस समूह में रखी जा सकती है। ये दोनों प्रतिमाएँ जैन यक्षी अम्बिका की है। एक में वह बैठी हुई है और दूसरी में खड़ी हुई। अम्बिका की प्रतिमाओं का जैनों में प्रारम्भ से ही बड़ा प्रचार रहा है और उत्तर तथा दक्षिण भारत में समान रूप से उसकी प्रतिष्ठा की जाती रही है। अम्बिका की कहानी जैन ग्रथो मे इस प्रकार मिलती है—कहा जाता है कि अपने पूर्व जन्म मे अम्बिका को अपने पति के कटु व्यवहार से घर छोड़कर जाना पड़ा। वह अपने क्रमश. सात और पांच वर्ष के दो पुत्रों, शुभंकर और प्रियंकर को लेकर निराश्रित होकर निकल पड़ी। थकावट और भूख से वह और उसके दोनों बेटे छटपटाने लगे कि राह में एक आम का पेड़ दिखाई पड़ा। अम्बिका पेड़ की नीचे झुकी हुई डाल पकड़ कर सुस्ताने लगी और उसके दोनों बेटों ने आम के फल खाकर अपनी क्षुधा शांत की। मृत्यु के बाद अम्बिका बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ की शासनदेवी हुई। अतः उसके पति ने अम्बिका को बहुत कष्ट दिये थे, वह मर कर सिंह योनि में पैदा हुआ और अम्बिका देवी का वाहन बना।

अम्बिका को आम्रादेवी भी कहा जाता है। उसकी प्रतिमाएँ बनाते समय उसे आम के पेड़ के नीचे खड़े या बैठे दिखाया जाता है। उसका वाहन सिंह होता है। उसके बायें हाथ में आम्रलुम्बि दिखाई जाती है। उसका छोटा बेटा प्रियंकर गोद में बैठा रहता है और बड़ा बेटा शुभंकर उसका दाहना हाथ पकड़े रहता है। राजनापुर खिनखिनी के संग्रह के प्रथम समूह की पहली प्रतिमा में अम्बिका जी सिंह पर ललितासन में विराजमान हैं और दूसरी प्रतिमा में वे त्रिभंग मुद्रा में चौकी पर खड़ी हैं। दोनो ही प्रतिमाओं में सिंह, आम्रलुम्बि और शुभंकर तथा प्रियंकर यथास्थान दर्शाये गये है। देवी के मस्तक पर भगवान नेमिनाथ की छोटी सी प्रतिमा है।

द्वितीय समूह—नौवीं शती

द्वितीय समूह की प्रतिमाएँ इस संग्रह की सबसे अच्छी प्रतिमाएँ हैं। उनका समय ईस्वी सन् की नौवीं अथवा दसवी शती का पूर्वार्द्ध हो सकता है। समूह की पांचों ही प्रतिमाएँ एक से एक बढ़कर है। उनकी बनावट सुन्दर, शैली प्रौढ़ और कारीगरी कुशलतापूर्ण है। वास्तव में वे प्रतिमाए समूचे संग्रह की जान है और अपने समय की किसी भी सुन्दर से सुन्दर धातु प्रतिमा की बराबरी कर सकने में समर्थ है। इन पांचों मूर्तियों में से दो तो चतुर्विंशतिपट्ट हैं, एक अम्बिका का प्रतिमा है, एक देवी सरस्वती

की प्रतिमा है और एक अन्य प्रतिमा में कोई यक्ष और यक्षी खड़े हुये हैं।

चतुर्विंशतिपट्ट की मूल नायक प्रतिमा आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ की है। वे चौकी पर रक्खे कमल पर अर्ध पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे हुए हैं। उनके केशों के लट कंधों पर लटक रहे है, छाती पर श्रीवत्स लांछन है, आखें अर्धनिमीलित और नासिका पर जमी हुई हैं। गले पर तीन रेखाएं अंकित करके कलाकार ने कम्बुग्रीव के आदर्श की योजना की है। तीर्थंकर के दोनों ओर क्रमशः खड़े सौधर्मेन्द्र और ईशानेन्द्र चंवर ढोर रहे हैं। तीन ओर अन्य तेईस तीर्थंकरों की छोटी-छोटी प्रतिमाएं है, नीचे यक्ष गोमुख और यक्षी चक्रेश्वरी है। चौकी पर नवग्रहों की योजना है। ऊपर की ओर 'गुणप' का नाम उत्कीर्ण है जो संभवतः प्रतिमा दान करने वाले की सूचना देता है।

अम्बिका की प्रतिमा लक्षण में तो ऊपर की प्रतिमाओं जैसी ही है किन्तु कारीगरी में उनसे श्रेष्ठ है। छः इञ्च ऊँची इस प्रतिमा में अम्बिका खड़ी हुई है। उसका केश-गुन्थन निराले ढंग का और ध्यान देने योग्य है। ऐसा केश गुन्थन अत्यन्त कम मिलता है।

सरस्वती की प्रतिमा देखते ही बनती है वह इतनी सुन्दर और भावपूर्ण है कि दर्शक देखते ही रह जाता है। अलंकरणों से दूर रख कर भी कलाकार ने इस प्रतिमा को इतना सुघड़ और सजीव रच दिया है कि तुलना करने के लिए तत्कालीन कोई कृति ही नहीं दिखाई पड़ती। सरस्वती जिनवाणी का मूर्त रूप है। वही देवी इस प्रतिमा में ललितासन में कमल पर आसीन है। उसके तन पर कोई आभूषण नहीं है। उसके एक हाथ में पोथी और दूसरे हाथ में वर्तिका है। आंखों पर चांदी का मुलम्मा था। चौकी पर एक संक्षिप्त लेख है जिससे विदित होता है कि यह प्रतिमा 'पूर्णवसदि' नामक मंदिर में प्रतिष्ठापित की गई थी।

पांचवीं प्रतिमा यक्ष और यक्षी की है। विशेष लक्षणों के अभाव में इन यक्ष-यक्षी को पहचाना नहीं जाता किन्तु सम्भवतः वे तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष-यक्षी गोमेध और अम्बिका हैं। कुल सवा नौ इंच ऊंची इस धातु प्रतिमा में यक्ष-यक्षी त्रिभंग मुद्रा में खड़े हैं। उनके हाथों में बिजौरा तथा कमल हैं। दोनों के तन पर नाना प्रकार के आभूषण हैं। ऊपर स्थित तीर्थंकर प्रतिमा को चिन्ह के अभाव में पहचान सकना संभव नहीं है।

तृतीय समूह—ग्यारहवीं से लेकर तेरहवीं शती

इस समूह की प्रतिमाएँ पश्चात्कालीन है और वे ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक की हो सकती हैं। इस समूह में कुल सात प्रतिमाएं हैं किन्तु उनमें से महत्वपूर्ण केवल दो-तीन ही है। कुछ प्रतिमाएँ लाछन के अभाव में पहचानी नहीं जातीं किन्तु दो प्रतिमाएं क्रमशः आदिनाथ और नेमिनाथ की हैं। आदिनाथ की प्रतिमा पर वृषभ का चिन्ह है और नेमिनाथ की प्रतिमा को उनकी यक्षी अम्बिका के द्वारा पहचाना जाता है। समूह की प्रायः सभी प्रतिमाएं बनावट में अपेक्षाकृत हीन कोटि की हैं और प्रतिमा-शास्त्र की दृष्टि से भी उनमें कोई नवीनता नहीं है।

चतुर्थ समूह

चौथे समूह की कुछ प्रतिमाएं तो रुचिकर है किन्तु अन्य साधारण ही कही जा सकती है। इन में आदिनाथ और नेमिनाथ की प्रतिमाएं ढंग की बनी हैं। इनमें से कुछ मूर्तियों पर सोने का मुलम्मा था किन्तु अब केवल उसके चिन्ह मात्र ही बच रहे हैं। इस समूह में द्विमूर्तिका और सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के अलावा एक घण्टी, एक पंचमेरु, एक चौकी तथा गायका स्तनपान करते हुए वत्स की आकृति भी है।

ऐहोले का शिलालेख

लेखक—श्री शिक्षाभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री

ऐहोले बीजापुर जिलांतर्गत हुनगुंद तालुक में एक छोटा सा गाँव है। यह आज एक सामान्य गाँव है। फिर भी इतिहास की दृष्टि से यह ऐहोले एक बहुत ही महत्त्व-पूर्ण स्थान है। यहाँ पर आज अनेक बहुमूल्य प्राचीन देवालय और शिलालेख जो मौजूद हैं, वे केवल कर्णाटक के इतिहास की दृष्टि से ही नहीं, अखण्ड भारतीय इतिहास की दृष्टि से भी विशिष्ट गौरव की वस्तु हैं। इस गाँव में मेगुटि नामक जिनालय में जो एक शिलालेख उपलब्ध है, वह लेख अनेक दृष्टियों से कर्णाटक के प्राचीन लेखों में अग्र स्थान को प्राप्त है। यह लेख शक सं० ५५६[1], ई० सन् ६३४ का है। सातवीं शताब्दी का कन्नड़ लिपि में उत्कीर्ण है। लेख १९ पंक्तियों में विविध छन्दों के ३२ पद्यों में समाप्त हुआ है।

शिलालेख 'जिन स्तुति' से प्रारम्भ होता है। अनन्तर इसमें चालुक्य वंश की कीर्ति गाई गई है। इस राजवंश का मूल पुरुष सत्याश्रय था। बाद का कीर्तिशाली शासक जयसिंह वल्लभ था। इसका पुत्र रणराग, रणराग का पुत्र पुलकेशी। यह पुलकेशी वातापि अर्थात् वर्तमान बादामि में शासन करता रहा। बल्कि इसने एक अश्वमेध यज्ञ भी किया था। पुलकेशी का पुत्र कीर्तिवर्मा था। यह महा-प्रतापी एवं विजयी शासक रहा। इसने नल, मौर्य और कदम्बों को जीत लिया था। इसके बाद इसका छोटा भाई मंगलीश शासक हुआ। इसकी सेना पूर्व तथा पश्चिमी समुद्र तक पहुँच गई थी। इसकी सेना ने कलच्चुरियों की सम्पत्ति को छीन लिया था और रेवती द्वीप को भी ले लिया था। बाद इस मंगलीश ने भ्रातृपुत्र पुलकेशी के राज्य का अधि-कारी होने पर भी अपने लड़के को सिंहासन पर बैठाने का असफल प्रयत्न किया। और उस प्रयत्न में विफल हो, अंत में प्राणत्याग किया।

इस भयंकर राज्यविप्लव से राज्य में जब अपायकारी अनायकत्व फैला, तब महाप्रतापी द्वितीय पुलकेशी ने राज्य-शासन की बागडोर अपने समर्थ हाथों में ले ली। बल्कि इस राज्यक्रांति से लाभ उठाने के ख्याल से अप्पायक और गोविंद नामक दो वीर नायकों ने भीमरथी के उत्तर प्रदेश को जीतने के लिए जो श्रम उठाया था, अनीतिपूर्ण उस श्रम को पुलकेशी ने सर्वथा विफल बनाया। अनन्तर इम्मडि पुलकेशी ने अपनी अपरिमित सेना के बल से कदंबों की राजधानी वनवासि को अधीन किया; गंग और आलुप शासकों को पराजित किया और कोंकण के मौर्यों को सम्पूर्ण जीत लिया। इसी प्रतापी पुलकेशी ने पश्चिम समुद्र के लिए अलंकारभूत पुरीनगरी को मदगज घटाकार सैकड़ों विशाल नावों से घेर कर लूट लिया। इतना ही नहीं, पुलकेशी के शौर्य के सामने असमर्थ लाट, मालव और गुर्जर देश के अधिपतियों ने उसके एकाधिपत्य को सहर्ष स्वीकार कर लिया[1]।

समर्थ सामंतों की शिरोरत्नराजि से महाराजा हर्ष भी रणभूमि में अपने मदगज समूह को बलि चढ़ाकर भय के कारण अहर्ष हुआ।[2] इस प्रकार पुलकेशी अपने गुणा-तिशय से देवेंद्रतुल्य शासक कहलाता हुआ ५५ हजार गाँवों

---

१. पञ्चाशत्सु कलौ काले, षट्सु पञ्चशतासु च। (५५६)
समासु समतीतासु, शकानामपि भूभुजाम् ॥३४॥

---

१. "प्रतापोपनता यस्य लाटमालवगूर्जराः।
दण्डोपनतसामंतचर्या वर्या इवाभवन् ॥२२॥"
('जैन शिलालेख संग्रह' भा०२, पृष्ठ ६६.)

२. "अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना,
मुकुटमणिमयूखाक्रान्त पादारविन्दः।
युधि पतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो,
भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः ॥२३॥"

से सम्मिलित विशाल तीन महाराष्ट्रों का स्वामी बना। और देखिए—कलिंग एवं कोमल जनपद इसकी सेना के सामने न टिककर भयभीत हो गए। पुलकेशी की महती सेना के पदाघात से जर्जरित त्रिशपुर आसानी से इसको हस्तगत हुआ[1]। पुलकेशी के हाथियों के पदाघात को प्राप्त कुनाल सरोवर, रण में मृत्यु को प्राप्त शत्रुओं के रक्त से रंजित हुआ। इसने अपने उत्कर्ष के विरोधी पल्लव नरेश को अपनी सेना धूलि से आच्छादित कांचीपुर की प्राकार-भित्तियों की आड़ में छिपने को बाध्य किया। चोल राजाओं पर किए गए आक्रमण में इसकी गजपक्तियों के पुल से कावेरी नदी का प्रवाह ही रुक गया[2]। पल्लव बल ध्वंसी इस पुलकेशी ने दक्षिण में चोल, केरल और पाण्ड्य नरेशों को ऊर्जित बनाया[3]।

इस प्रकार सत्याश्रय पुलकेशी ने समस्त दिशाओं में अपनी जैनयात्रा को पूर्ण कर, मानशील नरेन्द्रों को सम्मानपूर्वक विदा कर, देव और द्विजों का सत्कार कर वातापिपुर में प्रवेश करके सागरवेष्टित भूवलय पर एक ही नगरी के समान शासन करता रहा। इस कलियुग में भारतयुद्धोपरांत ३७३५ संवत्सरों के बीतने पर, इस सत्याश्रय भूवल्लभ के कृपापात्र विद्वान् रविकीर्ति ने श्री जिनेन्द्र भगवान् के वैभवोपेत इस शिलामय आलय का निर्माण किया। इस जिनालय के निर्माता एवं इस प्रशस्ति के रचयिता रविकीर्ति धन्य हैं।

इस जिन गृहनिर्माण के संदर्भ को अपने काव्य निर्माण

१. "पिप्ट पिष्टपुरं येन जातं दुर्गमदुर्गमम्।
चित्रं यस्य कलेर्वृत्तं जातं दुर्गमदुर्गमम्। २६॥"
('जैन शिलालेख संग्रह' भा० २, पृष्ठ ६७.)

२. "कावेरीद्रुतशफरी विलोलनेत्रा
चोलानां सपदि जयोद्यतस्तस्य (?)।
प्रश्च्योतन्मदगजसेतुरुद्धनीरा
संस्पर्शं परिहरति स्म रत्न राशेः॥३०॥"

३. "चोलकेरलपाण्ड्यानां योऽभूत्तत्र महर्द्धये।
पल्लवानीकनीहारतुहिनेतरदीधितिः॥३१॥"
('जैनशिलालेख संग्रह भा० २, पृष्ठ ६७)

के लिए वस्तु मानकर, कविताशक्ति में कालिदास और भारवि के तुल्य कीर्तिशाली यह विलक्षण रविकीर्ति जयशील होकर जीते रहें[1]।

यहाँ तक हुआ लेख का सार। अब देखिए लेख से चरित्र का क्या उपकार हुआ। इस लेख से चरित्र का जो उपकार हुआ है वह सीमातीत है। भारत के एक विख्यात राजवंश चालुक्यों के, इस वंश के प्रारम्भिक नरेशों के, खासकर इस वंश के नरेशों में दिगंतकीर्तिशाली महाराज द्वितीय पुलकेशी के सम्बन्ध में अनेक चारित्रिक बातों को सर्वप्रथम प्रकट करने का श्रेय एक मात्र इस लेख को ही प्राप्त है। इम्मडि पुलकेशी की अद्भुत जैनयात्रा की बातों को विस्तार से वर्णन करने वाला लेख इसे छोड़कर दूसरा नही है।

सिंह पराक्रमी राजसिंह पुलकेशीने अपने चचाके कुतंत्र को समूल नाश कर चालुक्य सिंहासनाधिकार को स्वयं वहन कर अविनेय सामंतों के उपद्रवों को मिटाकर गंग, कदंब एवं आलुप नरेशों को अपने अधीन बनाया, पश्चिम की ओर चलकर कोंकण के मोर्यो को पराजित किया, सागरवलयित पुरी नगरी को छीन लिया, मध्य भारत के मालव तथा दक्षिणोत्तर के गुर्जर नरेशों को जीता; नर्मदा तक घुसकर उत्तर भारत के चक्री कन्नौज के हर्षवर्धन को परास्त किया, पूर्वाभिमुख हो कलिंग, कोशलादि जनपदों को एक-एक करके पादाक्रांत किया। दक्षिण की ओर चल कर पल्लवों को अधीन बनाया और कावेरी प्रदेश मे अपनी अव्याहत जय-भेरी को बजवाया। काव्यमय होने पर भी महत्वपूर्ण इन सब घटनाओं के चारित्रिक बलयुक्त चित्ताकर्षक शब्द चित्र को यहाँ पर हम स्पष्ट देख सकते हैं। अन्त में यह लेख स्पष्ट शब्दों म भारतयुद्ध के बाद के कलियुग के विगत वर्ष का संवत्सरों की निश्चित संख्या को बतलाता है[2]। गणनानुसार यह लेख ई० सन् ६३४ का सिद्ध

१. मेनायोजिनवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥
॥३७॥

२. "त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु श(ग) तेष्वब्देषु पञ्चमु (३७३५)
[जैन शिलालेख संग्रह भा० २, ४४ ६८] ॥३३॥

होता है। विदित होता है कि इस समय पुलकेशी वैभवोन्नत शिखर पर आरूढ़ हो, अपनी दिग्विजय को पूरा करके वातापि राजधानी में लौटकर, सुचारु रूप से राज्य-शासन करता रहा। अब विज्ञ पाठक ऐहोले के गौरवपूर्ण शिलालेख से भाषा साहित्य का क्या उपकार हुआ यह भी देख लें।

यद्यपि कई शताब्दियों के पूर्व ही कर्णाटक में संस्कृत भाषासाहित्य को विशिष्ट गौरव मिल चुका था। आचार्य समंतभद्र, आचार्य पूज्यपाद आदि महर्षियों की अमूल्य अमर कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं। फिर भी मनीषी रविकीर्ति का यह महत्वपूर्ण लेख विशेष उल्लेखनीय है। यद्यपि भारतीय राजाओं की प्रशंसा करने वाले गद्य-पद्यात्मक संस्कृत प्रशस्तिकाव्य, साहित्य एवं शिलालेखों में यत्र-तत्र उपलब्ध अवश्य होते हैं। पर ऐसे स्तुतिपरक खंडकाव्यों में प्रस्तुत लेख एक विशिष्ट स्थान को प्राप्त है। इस लेख के लेखक रविकीर्ति, महाकवि कालिदास और भारवि की समश्रेणी में अपने को गिनाते हैं। कतिपय विमर्शकों को यह अतिशयोक्ति मालूम दे सकती है। पर कवि के असाधारण पाण्डित्य एवं काव्य प्रतिभा को देख कर यह कदापि अत्युक्ति मालूम नहीं देती। वस्तुत. इनकी कविता को पढ़ कर प्रत्येक सहृदय विद्वान् मुक्त कंठ से प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। बल्कि हाल ही में कर्णाटक विश्वविद्यालय धारवाड़ के संस्कृत-विभाग के प्रधान, सहृदय डा० के० कृष्णमूर्ति एम० ए०, पी० एच० डी० से इस शिलालेख के विषय में जब बात चीत हुई थी, तब डाक्टर साहब ने रविकीर्ति की इस कविता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। इतना ही नहीं, कविता के कतिपय सुन्दर पद्यों को कृष्णमूर्ति जी गद्गद हो मुझे सुनाने लगे। उन्हीं से मालूम हुआ कि रविकीर्ति का यह शिलालेख पूर्वोक्त विश्वविद्यालय सम्बन्धी एम० ए० की कक्षा में रखा भी गया है। कविता में उच्चकोटि के माधुर्य, सौकुमार्यादि काव्योचित्त सभी गुण मौजूद है। लेख में शब्दों का स्वामित्व, व्याकरण-छंद-अलंकार आदि का अभ्यास, कालिदास, भारवि आदि महाकवियों की कृतियों का गाढ़ परिचय आदि बातों को देखने से रविकीर्ति एक सामान्य कवि न हो कर, निःसंदेह एक उच्चकोटि के प्रतिष्ठित महाकवि सिद्ध होते हैं। पर खेद की बात है कि अभी तक आपका कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं हुआ।

एक बात और है। महाकवि कालिदास के काल के विचार में विद्वानों में गहरा मत भेद है। पर महाकवि की चारित्रिक जिज्ञासा में यह लेख एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। क्योंकि रविकीर्ति का यह लेख महाकवि के काल की एक निश्चित सीमा को निर्धारित करता है। कालीदास के शुभ नाम को सर्वप्रथम उल्लेखित करने वाला शिलालेख यह ही एक है। इस महाकवि की ख्याति सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, दक्षिण भारत जैसे सुदूर देश में जब फैली हुई थी, तब इससे कतिपय शताब्दियों के पूर्व ही महाकवि जीवित रहा होगा। यों आसानी से अनुमान किया जा सकता है। सारांशतः लिपि, भाषा साहित्य और इतिहास आदि अनेक विशेषताओं को प्राप्त ऐहोले का यह शिलालेख कर्णाटक की एक चिरस्मरणीय बहुमूल्य निधि है। जैन समाज के लिए भी यह लेख एक गौरव की वस्तु है।

बकान्योक्ति

मौनि करि ठाढो बक मुंह न हलावै पग ध्यान धर बैठो ठग पंथ न पसार है।
चूंच नासा नैन पल ग्रीवा भी संकोच गल अचल शरीर थल करै तिहं वार है।
तपी पासी दिशा लीये मैलो मन माहिं किए बाहिर सफेदी दिए अंतर विगार है।
अमर जालूं आगे आय परत न मीन धाय कपट अनेक भाय तौलूं बकाधार है।

श्रीक्षेत्र बडवानी

लेखक—प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर

मध्यप्रदेश में विन्ध्य पर्वतमाला के एक भाग में चूलगिरि यह क्षेत्र है। समीप ही स्थित बडवानी नामक नगर से इस क्षेत्र को भी बडवानी कहते हैं। यहां पर्वत पर पाषाण में उत्कीर्ण एक बृहत्काय मूर्ति है। इसकी ऊँचाई ८४ फीट कही गई है। चरणों के समीप गोमुख यक्ष तथा चक्रेश्वरी यक्षिणी की मूर्तियां हैं, अतः यह मूर्ति ऋषभदेव की सिद्ध होती है। इस क्षेत्र के जो ऐतिहासिक उल्लेख मिले हैं, उन्हें समयक्रम से प्रस्तुत करना इस लेख का उद्देश्य है।

प्राकृत निर्वाणकांड में—जिसका समय तथा कर्तृत्व अनिश्चित है—चूलगिरि का वर्णन इस प्रकार है—

बडवाणीवरनयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे।
इंदजियकुंभकण्णा णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१२॥

इसके अनुसार यह क्षेत्र इन्द्रजित तथा कुम्भकर्ण का निर्वाणस्थल है। प्राचीन पुराणग्रंथों (उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि) में इन्द्रजित व कुम्भकर्ण के दीक्षा लेने का तो वर्णन है, किन्तु उनके मुक्तिस्थान का उल्लेख नहीं है।

अपभ्रंश निर्वाणभक्ति में—जिसके कर्ता उदयकीर्ति हैं (समय अनिश्चित है)—यह उल्लेख मिलता है—

बडवाणी रावणतणउ पुत्त। हउं वंदउ इंदजित मुणि पवित्त ॥
(मेरे संग्रह की हस्तलिखित प्रति)

इसमें रावण के पुत्र इंद्रजित के (निर्वाण ?) का उल्लेख है।

मदनकीर्ति की शासनचतुस्त्रिंशिका में—जो १३वीं सदी के पूर्वार्ध की रचना है—यह श्लोक है—

द्वापंचाशदनूनपाणिपरमोन्मानं करैः पंचभिः
यं चक्रे जिनमर्ककीर्तिनृपतिर्ग्रीवाणमेकं महत्।
तन्नाम्ना स बृहत्पुरे वरबृहद्देवाख्यया गीयते
श्रीमत्यादिनिषिद्धिकेयमवताद् दिग्वाससां शासनम् ॥६

इसमें 'अर्ककीर्ति राजा' द्वारा ५२ हाथ प्रमाण मूर्ति के निर्माण का वर्णन है तथा स्थान का नाम बृहत्पुर दिया है। बृहत् का प्राकृत रूप 'वड' होता है, बृहत्पुर 'वडवानी' का संस्कृतीकरण होना चाहिए। यहां की मूर्ति को 'बावनगज' तथा 'बड़ेबाबा' भी कहा जाता है, अतः प्रस्तुत श्लोक में उल्लिखित 'बृहद्देव' इसी मूर्ति का उल्लेख मानने में कोई हानि नहीं है। इस स्थान को 'श्रीमती आदि निषिद्धिका' कहा है, यह सम्भवत यहां से किसी मुनि के निर्वाण का सूचक है।

श्रुतसागर ने षट्प्राभृतटीका में बोधप्राभृत गा० २७ का विवरण करते हुए कई तीर्थक्षेत्रों के नाम दिए हैं। इनमें चलाचल (चूलगिरि) भी सम्मिलित है। इनका समय १५वीं सदी का उत्तरार्ध है।

इसी समय के भट्टारक गुणकीर्ति के मराठी ग्रन्थ 'धर्मामृत' में दो वाक्यों में इस क्षेत्र का उल्लेख है (पृ० ७४)—'वडवाणि नगरि चुलगिरि पर्वति कुंभकर्ण इंद्रजित मुख्य करौनि आऊठ कोडि मुनि सिद्ध जाले त्या सिद्धक्षेत्रासि नमस्कारु माझा। वडवाणि नगरि त्रिभुवनतिलकु त्या देवासि नमस्कारु माझा।' इसमें बावनगज मूर्ति को 'त्रिभुवनतिलक देव' कहा गया है।

प्रायः ऐसा ही वर्णन १६वीं सदी पूर्वार्ध के कवि मेघराज की गुजराती तीर्थवंदना में है—

वडवानि नगर सुतीर्थ पश्चिम चुलगिरि जानिजोए।
कुंभकर्ण इंद्रजित सिद्ध हवा ते वखाणिजोए ॥१५
वलि ते सुभि मझारी त्रिभुवनतिलक छे जिणप्रतिए।
चोथा कालनि होए तीन काल वंदामियए ॥१६

यहां बावनगज मूर्ति को 'चौथे काल की' कहा है।

सोलहवीं सदी—उत्तरार्ध के कवि ब्रह्म ज्ञानसागर ने अपनी तीर्थावली में यह वर्णन दिया है—(यह उद्धरण हमारे हस्तलिखित संग्रह में मौजूद है)

---

१. पुराणों के अनुसार अर्ककीर्ति प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरत के पुत्र थे।

बडवाणि वरनयर तास समिप मनोहर।
चूलगिरिंद्र पवित्र भवियण-जन-बहुसुखकर।
कुंभकर्ण मुनिराज इंद्रजित मोक्ष पधाव्या।
सिद्धक्षेत्र जगजाण बहुजन भवजल ताव्या।
बावन संघपति आयकरि बिंब प्रतिष्ठा बहुकरी।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति कीर्ति त्रिभुवनमां विस्तरी ॥६४

इसमें कई संघपतियों द्वारा इस क्षेत्र पर की गई बिंबप्रतिष्ठा का वर्णन अधिक है।

सत्रहवीं सदी-उत्तरार्ध के भट्टारक विश्वभूषण की सर्वत्रैलोक्य जिनालय जयमाला में भी वडवानी-बावनगज का उल्लेख है—

बडनगरेवडवाणमुनिंदाबावनगज सेवित मुनि चन्दा ॥३६

दि० जैन डिरेक्टरी में कहा है कि इस क्षेत्र पर २२ मन्दिर हैं, उनके जीर्णोद्धार का समय सं० १२३३, १३८० तथा १५८० है, प्रतिष्ठाचार्यों के नाम नंदकीर्ति और रामचन्द्र हैं[1]।

यहां के दो शिलालेख जो सं० १२२३ के हैं तथा जिन में लोकनन्द-देवनन्द-रामचन्द्र का उल्लेख है—अनेकान्त वर्ष १२ पृ० १६२ में प्रकाशित हुए हैं।

हमने गत मास इस क्षेत्र के दर्शन किये। उस समय उक्त दो लेखों के दर्शन नहीं हो सके। हमने जो मूर्तिलेख देखे उनमें एक संवत् १२४२ का है, एक सं० १३८० का है, जिसमें बलात्कारगण के भट्टारक शुभकीर्ति तथा बघेरवाल 'सं० पदम' का उल्लेख है। ये मूर्तियाँ बावनगज मूर्ति के समीप के मंदिरों में हैं। पर्वत के शिखर पर जो मंदिर है, उसमें सं० १५१६ का लेख है। इसमें काष्ठासंघ-माथुरगच्छ की क्षेमकीर्ति-हेमकीर्ति-कमलकीर्ति-रत्नकीर्ति वाली भट्टारक परम्परा का उल्लेख है। रत्नकीर्ति ने सं० १५१६ में उक्त मंदिर का जीर्णोद्धार किया था। इस मन्दिर के अहाते में यक्षयक्षिण्यादि परिवारसहित चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं जो काल प्रभाव से बहुत घिसी-पिटी स्थिति में पहुँच गई हैं। इनकी शैली ११वीं-१२वीं सदी की प्रतीत होती है।

शिखर से कुछ नीचे के एक छोटे मन्दिर में सं० १६६७ की एक मूर्ति है—यह बलात्कारगण के भट्टारक चन्द्रकीर्ति के शिष्य गुणचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित है। शिखरस्थ मन्दिर में तथा पर्वत की तलहटीमें स्थित सोलह मन्दिरों में सं० १६३६ में स्थापित की हुई कई मूर्तियाँ हैं, इनमें प्रतिष्ठाचार्य का नाम नहीं है, सिर्फ 'परमदिगम्बर-गुरूपदेशात्' लिखा है। तलहटी के मन्दिरोंके सन्मुख एक मानस्तम्भ सं० १६६५ में स्थापित किया गया है। सं० २००१ में आचार्य शान्तिसागर के शिष्य मुनि चन्द्रसागर की यहाँ मृत्यु हुई, उनकी समाधि भी स्थापित है। सं० २००५ में कानजी स्वामी द्वारा स्थापित दो प्रतिमाएँ दो वेदियों पर विराजमान हैं। इनके समीप एक कमरे में कई भग्न प्रतिमाएँ हैं जो अलंकरण-शैली के कारण ११वीं-१२वीं सदी की प्रतीत होती हैं।

१. जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४४२

पद राग कल्याण

मोहनी तीन्यौं लोक ठगे ॥ टेक ॥
भये प्रमत मोहनी लागी, जोग जुगति न जगे ॥१॥
सुर नर नारक पशु पंखी जन मुकति कुं मंत्र दगे।
सुधि बुधि विकल भये घर भूल्यौ पर के रंग रंगे ॥ २ ॥
करि परतीति अपनपौ भूल्यौ ठग के संग लगे।
निरूपम रतन हरे तीन तीन्यौ सरवस ले उमगे ॥ ३ ॥
दिस्टि देखि सचर चिर इहि विधि भव वन बीचि खगे।
रूपचन्द चित चेत चतुर मति जोगि जागी भगे ॥ ४ ॥

तत्त्वोपदेश-छहढाला : एक समालोचन

लेखक—श्री दीपचन्द पांड्या

कुछ वर्ष पूर्व श्री आचार्य विनोबा भावे ने "भूदान" के सिलसिले में समस्त भारत में पैदल यात्रा का उपक्रम किया था और वे मेरे नगर केकड़ी (राजस्थान) में भी ठहरे थे। यह यात्रा अपने ढंग की अनूठी थी। उनके साथ प्रायः भारत के सभी प्रदेशों के समाज सेवक कार्यकर्ता भी थे। दर्शनार्थियों में तो अमेरिका तक के लोग भी आये थे। कहना होगा कि उक्त यात्रा विश्व में एक महत्त्वपूर्ण यात्रा थी। तब ब्यावर निवासी श्रीजालमसिंह जी मेड़तवाल जैन वकील के साथ मैंने श्री विनोबा जी से भेंट की थी और हमने उन्हें एक ग्रन्थ भी समर्पित किया था। उनके साथ हुई ज्ञान चर्चा के दौरान में 'श्री विनोबा जी ने 'छहढाला' के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए इस आशय के वाक्य कहे थे—"छहढाला ग्रन्थ मुझे बहुत पसंद है। यह छोटा सा जैन ग्रन्थ विषय-संकलन की दृष्टि से 'सागर को गागर में भरे'—जैसा है थोड़े में ही बहुत प्रमेय को लिए है। अस्तु;

तीन छहढाला

पाठकों को विदित हो कि, दि॰ जैन समाज में 'छहढाला' नाम से तीन विभिन्न रचनाएँ पाई जाती हैं। संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. कविवर द्यानतरायजी : छहढाला—यह एक 'सम्बोधपंचाशिका' नामक प्राकृत-भाषा के ग्रन्थ का रूपान्तर है। रचना काल स॰ १७५८ विक्रम है। इसमें कुल ४९ पद्य हैं। प्रत्येक पद्य का आदि वर्ण नागरी वर्णमाला के क्रम से है, अतएव यह कहीं-कहीं 'अक्षर बावनी' भी कही जाती है।

२. कविवर बुधजनजी : छहढाला—यह कवि की स्वतन्त्र रचना जान पड़ती है। रचना काल विक्रम संवत् १८५९ है। इसमें कुल ६४ पद्य हैं। यही तत्त्वोपदेश छहढाला का आधार है। कविता शब्दार्थ की दृष्टिसे स्खलित है और ढूंढारी बोली से प्रभावित है।

३. कविवर दौलतराम जी : तत्त्वोपदेश छहढाला—यह दूसरी छहढाला की छाया रूप परिमार्जित और विकसित रचना है; जो इस लेख का मुख्य विषय है।

छहढाला; गीति काव्य

ढाल[१], भास, रासो, गीत और सज्झाय ये शब्द पुरानी हिन्दी की जैन पद्य-रचनाओं के लिए प्रायः उपयुक्त शब्द हैं। जैनों में यह पद्य-साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया ग्रन्थ-भण्डारों में उपलब्ध है। 'चाल-ढाल' यह यौगिक शब्द प्रचलित है ही; ढाल का वाच्यार्थ तर्ज किया जाना उचित होगा। प्रधानतया छह ढालें-तर्जें पाई जाने से इनका छहढाला नामकरण समुचित प्रतीत होता है।

तत्त्वोपदेश छहढालाके रचयिता का संक्षिप्त परिचय

दि॰ जैन ग्रन्थकारों में दौलतराम नाम के दो विद्वानों को हम जानते हैं, जिनमें पहले बसवा निवासी खडेलवाल जैन थे। इनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों का काल विक्रम संवत् १७७७ से १८१८ तक पाया जाता है। इनका परिचय अनेकान्त' के गतांक में प्रकाशित "दौलतराम कृत जीवंधर-चरित; एक परिचय" लेख में पढ़िये।

दूसरे इस ग्रन्थ के निर्माता थे। ये सासनी जिला हाथरस के निवासी पल्लीवाल दि॰ जैन थे। आपके पिता का नाम श्रीटोडरमलजी था। जन्म वि॰सं॰ १८५०-१८५५ और समाधिमरण विक्रम सं॰ १९२३-२४ में हुआ था। इनकी केवल दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। १. अध्यात्मपद संग्रह (विविध राग-रागनियों में), लगभग १०० से अधिक उत्तम पदों का संग्रह और २. छहढाला—अनेक धार्मिक सूक्तियों से परिपूर्ण। जान पड़ता है, अध्यात्मपद संग्रह समय-समय पर रचे गये पद्यों का संग्रह है। इनका विस्तृत परिचय अनेकान्त वर्ष ११ अङ्क ३ में पृ॰ २५२ पर कविवर पं॰ दौलतराम जी लेख में पढ़िये।

१. श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधु वर्ग अपने प्रवचनों में आज भी जनसाधारण की भाषा में 'ढाल' को गाते हैं।

कवि दौलतरामजी की काव्य-प्रतिभा

कविवर दौलतराम जी संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता थे, वे जैन सिद्धान्त ग्रन्थों के भी विशिष्ट ज्ञाता थे। उनके समय में विद्याशालाएँ बहुत ही कम थीं। यह सब प्रतिभात्मक ज्ञान उन्होने विशिष्ट क्षयोपशम से तो प्राप्त किया ही था पर जहाँ भी वे रहे, साधर्मी जनों की गोष्ठियाँ जोड़-जोड़कर और स्वाध्याय शैलियों में बैठ-बैठकर भी विस्तृत किया था। वे साधर्मीजनोंकी गोष्ठीको जीवन सुधार की दिशा में बहुत बड़ी नियामत समझते थे। यह बात उन्होंने अपने एक पद में व्यक्त भी की है। वे लिखते है—

धन धन साधर्मीजन-मिलनकी घरी।
बरसत भ्रम-ताप हरन ज्ञान-घन झरी।
जाके बिन पाये भव विपति अति भरी।
निज पर हित अहित की कछू न सुधपरी।

कविवर कोरे तुक्कड़ कवि न होकर एक प्रतिभा शाली कवि थे, उनकी रचनाएँ जो उपलब्ध हैं; सबकी सब चुनी हुई, पद लालित्य के साथ-साथ अर्थ गाम्भीर्य पूर्ण है और वे जिनेन्द्र, शास्त्र, गुरु, बहुश्रुतभक्ति और अनासक्ति की प्रधानता को लिए हुए हैं। इनके पदों में वर्णनीय विषय की अतिस्पष्टता के साथ अनुप्रासों की छटा और शब्दों की उचितार्थ में प्रयुक्ति पाठक के मनको लुभाने वाली है।

काव्य मधुरिमाका रसास्वाद थोड़े में कीजिए —

राग रेखता

चित चिंतिकै चिदेश कब अशेष पर वमूं,
दुखदा अपार विधि दुचार की चमू दमूं। टेक।
तजि पुण्य पाप थापि आप आप में रमूं,
कब राग-आग शर्म-बाग-दाघिनी शमूं ॥१॥
दृग ज्ञान भान तैं मिथ्या अज्ञान तम दमूं,
कब सर्वजीव प्राणि भूत सत्त्वसों छमूं ॥२॥
मल जल्ल लिप्त-कल सुकल सुबल्ल परिणमूं,
दलके त्रिशल्ल मल्ल कब अटल्ल पद पमं ॥३॥
कब ध्याय अज अमर को फिर न भव-विपिन भमूं,
जिन पूर कौल दौलको यह हेतु हौं नमूं ॥४॥

पिछली दो रचनाओं का समन्वय

कवि दौलतराम जी ने 'कह्यो तत्व उपदेश यह लखि बुधजन की भाख' पद के द्वारा अपनी रचना 'तत्त्वोपदेश' बुधजन की रचना का उपजीवी होना स्वीकार किया है। अत. इन दोनों छहढालाओं का तुलनात्मक विवरण देना यहां अप्रासंगिक न होगा।

विवरण इस प्रकार है—

बुधजन की छहढाला

ढाल पद्य-विषय
१, १३ द्वादशानुप्रेक्षा
२, ७ संसार के चतुर्गति दुख
३, ११ भेदविज्ञान सम्यक्त्व
४, १३ सम्यक्त्व के पच्चीस दोष
५, १० श्रावकाचार
६, १० मुनिचर्या

तत्त्वोपदेश छहढाला

१ आदिमंगल दोहा
५, १५ द्वादशानुप्रेक्षा
१, १८ संसार के चतुर्गति दुख
३, १७ निश्चयव्यवहार रत्नत्रय और व्यवहार सम्यक्त्वका विस्तृत वर्णन।
४, ६ अन्त्य के पद्यों में श्रावकाचार
६, १५ मुनिचर्या

तत्त्वोपदेश में विशेष वर्णन

२, १५ मिथ्यामार्ग के अगृहीत गृहीत भेद
४, ८ आद्य छंदों में सम्यग्ज्ञान का वर्णन
३ पद्य आद्यन्त दोहादि रूप

छहढाला के छंद

इस प्रकार कविवर ने इस ग्रंथ में अत्यन्त संक्षेप में विषय को गुम्फन किया है। इसकी पद्य संख्या, कुल ६५ है। इसकी छहढालों में चौपाई, पद्धतिका वा पद्धडीछंद, नरेन्द्र

छंद या[1] चाल जोगीरासो, रोडक या रोला पाइत्ता और गीतिका ये मुख्य छंद हैं।

तत्त्वोपदेश की विशेषता

कविवर ने तत्वोपदेश में प्राचीन सूक्तियों को किस प्रकार आत्मसात् किया है, उन्हें कितने अच्छे ढंग से अपना लिया है यह देखिये—

दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन्।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवाऽनुमतमेव ॥

आत्मानुशासन (गुणभद्र भदंत कृत २ रा पद्य)

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त।
तातैं-दुख हारी सुखकार कहैं सीख गुरु करुणाधार ॥

छहढाला १ली ढाल १ पद्य

पंचमहव्वयजुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिया णिच्चं।
णिज्जियसयलपमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥१८५॥
सावयगुणेहिं जुत्ता पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
अविरयसम्माइट्ठी होंति जहण्णा जिणिंदपयभत्ता ॥१८६॥

—स्वामि कार्तिकेयाऽनुप्रेक्षा

उत्तम, मध्यम, जघन्य त्रिविध हैं अन्तर आतम ज्ञानी।
द्विविध संगविन सुद्धुपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी ॥
मध्यम अन्तर आतम है जे देशव्रती अनगारी।
जघन कहे अविरत समदृष्टी तीनों शिव-मगचारी ॥

छहढाला ३ रीढाल, ४५ पद्य

लेखवृद्धि के भय से ये दो ही उदाहरण सूचना के लिये यहाँ लिखे हैं। यह समूचा ग्रन्थ आध्यात्मिक संत जैन ऋषियों के प्रवचन-सागर का मन्थन करके उद्धृत किया गया है और अमृत जैसा सुख कारक है। यह भौतिकवाद के युग में गुजरते हुए आज के विषयाभिमुखी पामर प्राणी के लिये परम शांति को प्रदान करने वाला है। अतएव श्री विनोबा जी जैसे राष्ट्र के सन्तों द्वारा अभिनन्दित हुआ है। इसकी यह अन्तिम शिक्षा सुषुप्त मानव के उद्बोधन के लिये पर्याप्त है; देखिये—

यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
चिरभजे विषयकषाय, अबतो त्यागि निज-पद बेइये ॥
कहा रच्यो पर-पद में, न तेरो पद यहै, क्यों दुख सहै।
अब "दौल" होहु सुखी स्वपद रचि दाव मत चूको यहै ॥

कविवर के इस शिक्षा वाक्य को हमेशा ही गुनगुनाते रहना चाहिए। कवि ने इसमें अपना हृदय उड़ेल दिया है। यदि प्रातःकाल ही स्वस्थ मन होकर एकान्त स्थान में स्वर साधना पूर्वक गीति में इस ग्रन्थ का पाठ किया जाय और चिंतन किया जाय तो स्वानुभूति का वचनातीत आनन्द मिलता है। हमें मनुष्य भव पाकर ऐसे ग्रन्थों के सहारे से जीवन को सफल बनाना चाहिये।

छहढाला का व्यापक प्रचार

कुछ वर्षों पहले तत्त्वार्थसूत्र-भक्तामर स्तोत्र का दैनिक पाठ के रूप में जैसा दि० समाज में प्रचार था, वर्तमान में उससे भी ज्यादा प्रचार छहढाला का है। क्या गृहस्थ श्रावक और क्या त्यागीवर्ग सभी के पठन मनन का विषय बना हुआ है। खासकर समाज के सभी परीक्षालयों द्वारा पठन-क्रम (कोर्स) में निहित होने के कारण प्रतिवर्ष शिक्षालयों में इसकी अनिवार्य शिक्षा चालू है। काठियावाड़ में संत श्री कहानजी स्वामी के यहाँ भी इस ग्रंथ का व्यापक प्रचार है।

विशिष्ट संस्करण

अब तक इस ग्रंथ पर हिन्दी गुजराती भाषा में अनेक टीका, अनुवाद विवेचन, आदि को लिये हुए कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। अभी अभी 'सिंघई बन्धु' देवरी (सागर) द्वारा इस ग्रंथ का चित्रमय विशिष्ट संस्करण प्रकाश में लाया गया है। इस संस्करण की विशेषता इस प्रकार है—

ग्रंथ के प्रायः प्रत्येक पद्य के साथ कल्पित चित्र की योजना हुई है। जिससे बालकों को और सर्वसाधारण को ग्रंथ का भाव समझने में बड़ी सहूलियत हो गई है। ग्रंथ की संकलन शैली में मूलपाठ, चित्र, कठिन शब्दार्थ, अर्थ और भावार्थ यह क्रम बरता गया है। ढालों के अन्त में विद्यार्थियों और स्वाध्याय प्रेमियों के लिए कई उपयोगी निर्देशन तथा विशेष अर्थ भी जोड़े गये हैं। परिशिष्ट 'क' में कुछ जैन पारिभाषिक शब्दोंका सुबोध लक्षणसंग्रह दिया गया है

---

१. ब्र० जिनदास की अप्रकाशित सुप्रसिद्ध रचना 'जोगीरासो' इसी छंद में निबद्ध हुई है अतः दि० जैनों में इस छंद का नाम 'चाल जोगीरासो' आजरूढ़ हो गया है।

छहढाला के पाठ भेद

जब किसी भाषा ग्रंथ का अधिक प्रचार होता है तो उसके पाठों में कुछ तबदीलियां आजानी स्वाभाविक हैं। तत्त्वोपदेश छहढाला में कुछ तबदीलियां आगई हैं, ये स्वयं कविकृत नहीं हैं, अपितु लेखकों और पाठकों की समझ का प्रतिफल जान पड़ती हैं। संस्कृत भाषा में तो अपने व्याकरण सम्बन्धी कठोर नियमों के कारण अशुद्धियां फौरन पकड़ में आ जाती हैं। हिन्दी भाषा में विविध प्रान्तीय बोलियों का प्रभाव होने के कारण देश भेद से प्रतियों के पाठ भेद प्रायः बन जाते हैं। यहाँ मैं तत्त्वोपदेश के कुछ पाठांतरों की तालिका एक प्राचीन लिखित[1] प्रतिके आधार से संकलित करके विद्वानों की जानकारी के लिए दे रहा हूँ।

तालिका में क ख ग घ ये संकेत पद्यके प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ पाद (चरण) के सम्बन्ध में समझना चाहिये। पहला पाठ प्रचलित है। दूसरा पाठ सुधार के लिए है। ढाल १ ली पद्य, दस ग, मेरुसमान = मेरुप्रमाण, ढाल २ री पद्य १ घ, कहूँ = करूं, ८ घ, जेह = एह, ६ क, जे = जो, १३ क, एकान्तवाद दूषित = एकान्ति वात दूषित १३ ग, कपिलादि रचित और कुमतिन बिरचित श्रुतको अभ्यास ये दो पाठ = रागी कुमतिन कृत श्रुत अभ्यास

ढाल ३ री

१ क, सु = सो, ५ क, आगारी = अनगारी, ६ घ, नित = निज, ७ ग, चलन = चलत, ६ ग, शम = सम, ११ ग, तिन—अब, १२ क, शंका न धारि = शंकं न धारि १६ क, पंढ नारी = सब नारी

ढाल ४ थी

५ घ, इह विधि गये = यह विधि गई, ७ क, जे = जो ११ ग, काहूकी ··· किसी ··· चिन्तै = काहू कै ·· किसू ··· चीतै।

ढाल ५ वीं

१ गन्ध माई चिन्तौ = माही चितवौ, ६ क, चपलाई = चलताई, ११ ग, खिपावै = नसावै १२ क, करौ = करै १४ ग, सो = ते १५ ग, सुनिये = सुनिकै

ढाल ६ वीं

१ ग, मृण = तृण, ४ ख, मृग गण = मृग गणि, ६ ख, डरत = टरत ६ घ, तीनधा = तीन भी १० ग, तसु फलनितैं = कर्म फलतैं १० घ, पुनि कलनितै = पुण्य कलतैं, १२ क, बसै = बसे १२ ख, विनसैं लसैं = विनसे ··· लसे।

अब स्व. बाबू ज्ञानचंद जैन लाहौर द्वारा सुझाये गये पाठान्तर दिये जाते हैं वे इस प्रकार हैं।

ढाल एक—पद्य ६ ख डसैं नहि तिसो = डसैं तन तिसो

ढाल २—पद्य १४ ख धरि करन विविधविध = धरिकरत विविध विधि,

ढाल ४—पद्य ख फिर थाई = थिर नाही,

ढाल ५—पद्य ४ क खगाधिप = खगादिक, पद्य ११ घ सोई सिव सुख दरसावै = सोही जिय सिवसुख पावै

इस प्रकार मैंने-इस ग्रंथ का शब्द और अर्थ की दृष्टि से शुद्ध प्रचार हो; अतः यह प्रयास किया है। विद्वद्गण इस पर अपना अभिमत प्रकट करें। तत्त्वोपदेश छहढाला की अधिक प्रसिद्धि को देखकर कुछ सज्जनों ने इसी का रूपान्तर लिख डाला है। ऐसे दो रूपान्तर मेरे देखने में आये हैं, परन्तु उनमें न तो छन्ददोष की परवाह गई है और न जैन सिद्धान्त की मान्यता का ही ख्याल रक्खा गया है; ऐसी प्रवृत्ति सच मुच अवाञ्छनीय है। अन्त में बहुश्रुत विद्वानोंसे निवेदन है कि तत्त्वोपदेश के पद्यों के साथ तुलनात्मक प्राचीन ग्रंथों के वाक्यों की योजना करके और पाठान्तर में से समुचित पाठ अपनाकर, एक सर्वोपयोगी विशिष्ट संस्करण तैयार करें, और इस तरह श्रुतसेवा का परिचय दें। अलं बहु श्रुतेसु,

---

१. श्री क्षुल्लक श्रद्धेय पं० सिद्धसागर जी की प्रेरणा से कन्हैयालाल जी चौधरी टोडा रायसिंह द्वाराप्रेषित जीर्ण पत्रों में से संकलित प्रति पर से उद्धृत कुछ पाठान्तर श्री सोनागिर क्षेत्र की कमेटी के मुनीमजी के दफ्तर से प्राप्त खरड़े पर से भी लिये गये है।

आज से ५३ वर्ष पूर्व लाहौर से प्रकाशित मूल छहढाला पर से उद्धृत।
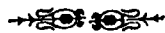
साहित्य-समीक्षा

राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ-सूची, चतुर्थ भाग

सम्पादक - डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम० ए०, पी० एच० डी०, शास्त्री, पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ, साहित्य-रत्न, भूमिका लेखक—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रकाशक—केशरलाल बख्शी, मन्त्री—प्रबन्धकारिणी कमेटी, श्री दिगम्बर जैन अतिशयक्षेत्र, श्री महावीर जी, महावीर भवन जयपुर, पृष्ठ—६४३, मूल्य १५ रुपये।

इसके पूर्व तीन भाग महावीर भवन, जयपुर से ही प्रकाशित हो चुके हैं। विद्वत्समाज में उनकी प्रशंसा हुई है और अनुसन्धित्सुओं ने पर्याप्त लाभ उठाया है। तीन भागों के अनुभव से इस भाग को निर्दोष बनाने में सहायता मिली है।

इसके प्रारम्भ में प्रकाशकीय वक्तव्य के उपरान्त काशी विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध विद्वान् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की लिखी हुई भूमिका है। उसमें उन्होंने शोध-संस्थान, महावीर भवन की ऐसे प्रयासों के लिए मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। प्रस्तावना स्वयं डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने लिखी है। उसमें जयपुर के १२ जैन ग्रंथ भण्डारों का परिचय है, जिनके दस सहस्र हस्त लिखित ग्रंथों को इस सूची में स्थान मिला है। भण्डारों के परिचय में प्राचीन-ग्रंथों की प्राचीन प्रतियाँ और नवीन ग्रन्थों की सूचना अनुसन्धित्सुओं के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। तदुपरान्त ही ४२ प्राचीन एवं अज्ञात रचनाओं का परिचय दिया गया है।

मूल सूची २६ विषयों में विभक्त है। सहस्रोंग्रन्थों का यह वर्गीकरण परिश्रम साध्य था, जो बिना संलग्नता के सम्भव नहीं होता। प्रत्येक ग्रंथ का नाम, ग्रंथ-कर्त्ता का नाम, ग्रंथ की भाषा, लेखन की तिथि, ग्रंथ पूर्ण है या अपूर्ण इत्यादि सूचनायें सम्पादकों के धैर्य और कार्यक्षमता की द्योतक हैं।

परिशिष्ट चार शीर्षकों में विभक्त है—ग्रन्थानुक्रमणिका ग्रंथ एवं ग्रंथकार, शासकों की नामावली, ग्राम एवं नगरों की नामावलि। सूची के अध्येता इनके सहारे ही सूची में अन्तर्निहित अभीष्ट तथ्यों को अल्प समय में ही प्राप्त कर सकते हैं।

राजस्थान में लगभग २०० ग्रंथभण्डार और २ लाख ग्रंथ हैं। इससे वहां के जैनों का ग्रंथ प्रेम स्पष्ट ही है। इन ग्रन्थ भण्डारों में बैठ कर ही अनेक साधुओं और विद्वानों ने साहित्य निर्माण का कार्य किया है। आज भी यदि उनकी सब सामग्री प्रकाश में आ जाय तो इतिहास बदलना पड़े। पुरातत्व में राजाओं और सामन्तों के द्वारा लिखाई असत्य बातों का भण्डाफोड़ हो और साहित्य तथा दर्शन में अनेक नये अध्याय जोड़ने पड़ें। यह सत्य है कि महावीर भवन ने जो कदम उठाया है, वह पावनता के साथ साथ भारतीय संस्कृति के लिए भी महत्वपूर्ण है।

पिछली सूचियों की अपेक्षा इसमें विशेषता है कि सभी अज्ञात और नवीन ग्रन्थों की पूरी प्रशस्तियां दी गई हैं। उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है गुटकों का परिचय। अज्ञात कवियों की मौलिक कृतियां इन्हीं गुटकों में संकलित मिली हैं—विशेषतया हिन्दी का पद-साहित्य और अपभ्रंश का गीतिकाव्य। प्रारम्भ में ये गुटके जैन व्यक्ति के दैनिक धार्मिक जीवन के प्रतीक थे। अर्थात् एक धार्मिक जन प्रात. उठकर जिन स्तोत्र, पद आदि को पढ़ना आवश्यक समझता था, उन्हें संकलित कर लेता था। मध्यकाल के अंतिम खेवे तक आते आते वह धर्मनिष्ठ व्यक्ति इन गुटकों में आयुर्वेद के नुस्खे, ज्योतिष से सम्बन्धित गणित-कुण्डलियां, मुस्लिम बादशाओं नवाबो के राज्य में व्यापारी वर्ग की दशा, तीर्थयात्रा विवरण आदि अनेक साधारण जीवन से गुथी बातें भी लिखने लगा। अत. ये नवीन साहित्य के संकलन की दृष्टि से ही नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति के सही दर्शन के रूप में भी उपयोगी है। इनके अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति पर की गई शोध अधूरी ही रह जायेगी।

भण्डारों और उनमें पड़ी सामग्री में रसमयता हो सकती है, किन्तु उनकी सूची बनाने का काम रूक्षतम है, कहीं रस के 'कण बराबर' भी दर्शन नहीं होते। उसे सम्पन्न करने के लिए धैर्य और साहस की आवश्यकता है। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल और श्री अनूपचन्द जैन महावीर भवन में केवल पार्ट टाइम काम करते हैं। उन्हें अपने समय का दीर्घ अंश राजस्थान गवर्नमेंट के एकाउन्ट डिपार्टमेंट में लगाना होता है। फिर भी उनकी रुचि और संलग्नता से यह कार्य पूरा हुआ है। यद्यपि उन्हें महावीर भवन से पैसे का आधार भी मिला है, किन्तु वह न कुछ के बराबर है। यह सच है कि ऐसे काम पैसे के बल पर नहीं, अपितु कार्यकर्त्ताओं की लगन पर निर्भर करते हैं। दोनों ही सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं। वे अवशिष्ट भण्डारो का काम भी इसी लगन से पूरा कर सकें, ऐसी हमारी कामना है।

महावीर जयन्ती स्मारिका

सम्पादक—पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, प्रकाशक—श्री रतनलाल छाबड़ा, मन्त्री, राजस्थान जैन सभा, जयपुर पृष्ठ संख्या—२५३, मूल्य—२ रुपया।

विगत महावीर जयन्ती के अवसर पर इस 'स्मारिका' का प्रकाशन हुआ था। यह एक प्रकार का 'विशेषांक' है। इसमें मंगलपाठ के अतिरिक्त ५७ निबन्ध और हैं। सभी शोध परक हैं और मान्य विद्वानों के द्वारा लिखे गये हैं। यदि हम प्रत्येक निबन्ध को एक उच्चकोटि का 'रिसर्च पेपर' कहे तो अत्युक्ति न होगी।

निबन्धों के संकलन में तत्परता और योग्यता से काम लिया गया है। जैन और अजैन दोनों ही विद्वानों के जैन विषयों पर गंभीर लेख पाठकों को प्रसन्नता प्रदान करते हैं।

जहा तक सम्पादन का सम्बन्ध है पं० चैनसुखदास एक ख्यातिप्राप्त विद्वान और सम्पादक है। वे वर्षों से 'वीरवाणी' के सम्पादन में निरत है। उनकी उदारता और निर्भयता प्रसिद्ध है। प्रत्येक निबन्ध के प्रारम्भ में दिया हुआ उसका सारांश आधुनिक सम्पादन-कला का द्योतक है। पूरी पत्रिका को पढ़ने के उपरात पाठक के हृदय पर सुरुचि और शालीनता का चित्र अंकित हो जाता है। यह ही उसकी विशेषता है।

मेरी दृष्टि में महावीर जयन्ती के अवसर पर अब तक निकलने वाले सभी विशेषांकों में यह उत्तम है। राजस्थान जैनसभा जयपुर अपनी इस परम्परा को कायम रक्खेगी, ऐसी मुझे आशा है।

छहढाला

लेखक— पं० प्रवर दौलतराम जी, अनुवादक—श्री नेमीचन्द पटोरिया, सम्पादक—श्री नृपेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक—सिंघईबन्धु, देवरी (सागर) म० प्र०, पृ० १२७ मूल्य—एक रुपया।

छहढाला पण्डितप्रवर दौलतराम जी की प्रसिद्ध कृति है। पं० दौलतराम नाम के दो कवि हुए हैं। एक वह थे, जिन्होंने 'अध्यात्म बारहखड़ी' का निर्माण किया था। उनका समय वि० सं० १७९७ माना जाता है। छहढाला के निर्माता पं० दौलतराम सासनी (अलीगढ़) के रहने वाले थे। उनका जन्म वि० सं० १८५५ में और मृत्यु वि० सं० १९२३ में हुई थी। उनके बनाए हुए अनेक पद भी प्राप्त हुए हैं। उनकी अन्य कृतियाँ भी होंगी। शायद भण्डारों की शोध खोज में उपलब्ध हो सकें। उनके भावों में भक्ति-विभोरता है तो भाषा में प्रसादगुण। दोनों के समन्वय ने उन्हें आकर्षण का केन्द्र बना दिया है।

छहढाला मे छह ढाले (तर्जे) है। तर्ज का अर्थ है ढग, अर्थात् छन्द। उनमें चौपाई, पद्धड़ी, नरेन्द्र, रोला, छन्दचाल और हरिगीता का प्रयोग हुआ है। इनमें संगीत की लय भी है। संगीत ने काव्य को अधिक रसात्मक बना दिया है। यह ही कारण है कि आज भी जैनों के घर घर में पण्डित दौलतराम के छहढाला की प्रतिष्ठा है। जैन बालक बचपन से ही उसे कण्ठस्थ कर लेता है।

अब तक छहढाला के पचासों संस्करण विविध प्रकाशन संस्थाओं से प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत संस्करण श्री नृपेन्द्रकुमार जैन के सम्पादन में निकला है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है—प्रत्येक पद्य के भाव को प्रद्योतित करने वाले चित्र का सन्निवेश। चित्र भाव का सही प्रतीक

है। अनेक भाव सूक्ष्म हैं, उनका चित्राङ्कन आसान नहीं था। सब कुछ लगन और परिश्रम से सम्पन्न हो सका है। इन चित्रों की सहायता से बालक छहढाला के अर्थ को आसानी से हृदयङ्गम कर सकेंगे। बाल-मस्तिष्क पर चित्रशैली से अङ्कित किया हुआ पद्य का भाव अमिट हो जाता है। अतः मैं इस कार्य की सराहना करता हूँ। अनुवाद भी आसान है, उससे शब्दार्थ और भावार्थ दोनों स्पष्ट हो जाते है। अन्त में परिशिष्ट 'क' के अन्तर्गत लक्षणात्मक शब्दों का मतलब भी बुद्धिगम्य है।

तात्त्विक विचार

लेखक—पं० अजितकुमार शास्त्री, प्रकाशक—श्रीकृष्ण जैन, मंत्री—श्री शास्त्र स्वाध्यायशाला, श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर, दिल्ली, पृष्ठ-११२, मूल्य—चार आने।

प्रस्तुत पुस्तक में जैन धर्म से सम्बद्ध ७० विषयों पर लिखा गया है। विशेषता यह है कि आवश्यक उदाहरण आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों से ही संकलित करके रक्खे गए हैं। ऐसा करने में लेखक की दृष्टि से कहानजी स्वामी के समक्ष यह स्पष्ट करना रहा है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहार नयों में केवल निश्चय को ही नहीं, अपितु व्यवहार को भी तथा उपादान और निमित्त में केवल उपादान को ही नहीं, अपितु निमित्त को भी महत्ता दी। उनके अनुसार अपेक्षकृत दृष्टियों से दोनों का अपना अपना मूल्य था। लेखक ने स्पष्ट किया है कि निमित्त के न मानने से सम्यक्चारित्र का निरास हो जाता है, जिसके अभाव में केवल सम्यक्त्व धारण करने पर भी यह जीव मोक्ष नहीं पा सकता। इसके अतिरिक्त एक मात्र निश्चय को ही माननेवाले एकांतपक्ष के दोष से दूषित माने जायेंगे।

मैं इस पुस्तक की दो दृष्टियों से प्रशंसा करता हूँ—पहली तो इसलिए कि कहानजी स्वामी के मत की समीक्षा होते हुए भी न तो उनके प्रति श्रद्धा भाव में कमी आई है और न शैली में कटुता या रोष की अभिव्यक्ति है। इसके विपरीत लेखक का यह पूर्ण विश्वास है कि अभी तक श्री कहानजी स्वामी के सामने इस प्रकार के विचार सुसयोजित रूप में रक्खे ही नहीं गये, अन्यथा वे इतने उदार हैं कि अपनी मान्यता में अवश्य ही सुधार कर लेते।

दूसरी इसलिए कि गम्भीर और सूक्ष्म विषयों का प्रतिपादन इतने आसान ढंग से किया गया है कि प्रत्येक की समझ में आ जाता है। भाषा आसान है और शैली में भी दुरूहता नहीं है। यदि गम्भीर और सूक्ष्म विषयों का आसान और स्पष्ट विश्लेषण विद्वत्ता है, तो 'तात्त्विक विचार' का लेखक अवश्य ही इस परिधि में आ जाता है। इससे पुस्तक की उपादेयता भी सिद्ध ही है।

—प्रेमसागर जैन

पद

ज्ञान हिंडोला बैठिकैं झूलैं चेतनराय ॥ टेक ॥
जिन वृष बाग सुहावनौ, जप तप व्रत तरु सार।
तत्त्व सुरुचि साया झुकी, जुग नय डोरी डारि ॥ १ ॥
सुध ध्यान पटली विषै, सुमति नारि संग पाय।
अजपा गीत सुगावही भविजन कौ सुषदाय ॥ २ ॥
सरधा सषी सु झुलावही सिवरमणी ललचाय।
सघन घटा विग्यान की छाई चहूँ दिसि ध्याय ॥ ३ ॥
जिन धुन घन गरजन लगे समरस जल बरसाय।
कर्म सकल मल धोय कै लहसुष 'सुन्दर' गाय ॥ ४ ॥

डा० हीरालाल जैन का एक पत्र

प्रिय भाई छोटेलालजी,

सादर सस्नेह जयजिनेन्द्र।

आज कोई ४-५ वर्षों के पश्चात् 'अनेकान्त' पत्रिका के दर्शन पाकर बड़ी प्रसन्नता हो रही है। वीर-सेवा-मन्दिर के सम्बन्ध में जो विरोध व अव्यवस्था के समाचार देखने सुनने को मिल रहे थे, उनसे तो यह आशा भी नहीं रही थी कि इस उपयोगी पत्रिका के अभी पुनः दर्शन हो सकेंगे। आप इस पत्रिका को तथा संस्था को जीवित रखने और पुष्ट बनाने का जो प्रयास व त्याग सदैव करते आये हैं, उसके बल पर एक आशा की किरण तो अवश्य थी। किन्तु आपके स्वास्थ्य को देखते हुए वह आशा की किरण भी विस्तृत अंधकार में विलीन सी हो रही थी। ऐसी परिस्थिति में जो आपने पत्रिका को पुनः जीवन प्रदान करने का साहस व संकल्प किया, उसके लिये आपके और श्री प्रेमचन्दजी के अदम्य उत्साह की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इस अंक में प्रस्तुत सामग्री भी पत्रिका की पूर्व प्रतिष्ठा के अनुकूल है। डा० आदिनाथजी उपाध्ये जैसे अनुभवी और प्रख्यात विद्वान् का पत्रिका के सम्पादकों में नाम देखकर भविष्य के लिये बड़ी आशा बंध रही है। मुझे भरोसा है कि आप अब ऐसी योजना बनाने में सफल होंगे जिससे संस्था और उसकी यह पत्रिका आगे जैन साहित्य व शोध-खोज के महत्वपूर्ण कार्य मे अविच्छिन्न रूप से क्रियाशील रह सके।

आपका—

हीरालाल जैन, जबलपुर

वीर सेवा मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवनदास जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
५००) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५०) श्री वंशीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिघई कुन्दनलाल जी, कटनी,
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द, कलकत्ता
२५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल, कलकत्ता
१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) श्री प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री प्रतापमल जी मदनलाल जी पांड्या, कलकत्ता
१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ, कलकत्ता
१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता
१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आत्माराम, पटना

अनेकान्त पर अभिमत

शुरू से ही यह पत्र पुरातत्त्व की खोज का मान्य पत्र था। उसका सुचारु रूप से चालू रखना निहायत जरूरी है। आप तो बराबर तन, मन, धन से सहायता करते आये हैं तथा अब भी इसकी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है, आप इसमें अवश्य सफलीभूत होंगे।

नथमल सेठी, कलकत्ता

अंक की छपाई, गेट अप, मुखपृष्ठ का रंग चित्र बहुत सुन्दर है। 'अनेकान्त' सिद्धान्त को प्रकट कर विश्व को अपने कल्याण का मार्ग बतावें एवं अपने समाज के सामने खोज-खोज कर उनकी अपनी प्राचीन गौरव-गाथा को प्रकाश में लावें।

मानमल कासलीवाल, इन्दौर

अनेकान्त का प्रथम अंक मिला। अंक सुन्दर एवं खोजपूर्ण लेखों से परिपूर्ण है। एक लम्बे समय से जैन समाज में एक खोजपूर्ण सामग्री युक्त पत्र का जो अभाव खटक रहा था, आशा है वह अभाव अब 'अनेकान्त' के प्रकाशन से दूर हो सकेगा।

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

अंक सुन्दर निकला है, सामग्री पठनीय है, इस समय शोध-पत्र की महती आवश्यकता है, आपने इस पत्र को पुनरुज्जीवन देकर समाज का बहुत बड़ा कार्य किया है।

डा० नेमिचन्द जैन ज्योतिषाचार्य, आरा

दीर्घकाल के उपरान्त फिर 'अनेकान्त' के दर्शन से बड़ी प्रसन्नता हुई। लेखों का चयन सुन्दर हुआ है, साथ ही छपाई, सफाई आदि भी। मुखपृष्ठ पर दिया हुआ चित्र आकर्षक ही नहीं, वह पत्र के नाम को स्पष्ट बतला रहा है।

के० भुजबली शास्त्री
सम्पादक 'गुरुदेव'

प्रकाशन भी बहुत सुन्दर हुआ है, सम्पादक भी योग्य है। आशा है अब यह सतत निकलता ही रहेगा। अनुसन्धान की दृष्टि से बहुत उपयोगी पत्र है।

नेमिचन्द्र जैन, सहारनपुर

अनेकान्त पत्र की प्रति मिली, वास्तव में अंक में लेख आदि एवं छपाई पढ़ने योग्य और सुन्दर है, मैं स्वागत करता हूँ। भविष्य में यह पत्रिका अपने उद्देश्य में सफल हो, ऐसी कामना करता हूँ।

मटरूमल बैनाडा आगरा

मैंने तो कई बार लोगों से जिकर किया है कि अनेकान्त जैसा पत्र प्रकाशित होना ही चाहिये, आज पुनः इसे प्रकाशित होने देखकर हृदय में जो सन्तोष प्रकट हुआ है उसे मैं लिख नहीं सकता हूँ। प्रकाशक, व्यवस्थापक तथा सहायक महानुभाव निःसन्देह धन्यवाद के पात्र हैं।

कामताप्रसाद शास्त्री, काव्यतीर्थ
डोंगरगढ़ (दुर्ग) म० प्र०

प्रकाशक—प्रेमचन्द, वीर सेवा मन्दिर के लिए नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

अगस्त १९६२

द्वैमासिक

अनेकान्त

सत्साहित्य का निर्माण उन्हीं व्यक्तियों द्वारा संभव है, जिन्होंने अपने जीवन को संयम और साधना से पवित्र कर लिया है।

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मंदिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

अनेकान्त के स्तम्भ

१. ऐतिहासिक महापुरुष

स्तम्भ में तीर्थंकर, आचार्य, त्यागी, भक्तजन, राजा, मंत्री, शूरवीर, धर्मवीर, कर्मवीर, दानवीर और ग्रन्थकारों के परिचय रहेंगे।

२. अनुसन्धान और सिद्धान्त

इतिहास और साहित्य सम्बन्धी शोध- खोज के और सैद्धान्तिक लेख रहेंगे।

३. गौरव-गाथा

जैन पूर्वजों के द्वारा की गई लोकसेवा और गौरव-गाथा के लेख रहेगे।

४. तीर्थ, मन्दिर और गुफा

प्राचीन जैन तीर्थो, मंदिरों, गुफाओं और मूर्तियों आदि के परिचय दिये जायंगे।

५. कथा-कहानी

सुरुचि और भावपूर्ण पौराणिक, ऐतिहासिक तथा मौलिक कहानियां रहेंगी।

६. नारी समुत्थान

स्त्रियों को ऊँचा उठाने और कर्तव्यनिष्ठ बनाने वाले लेख रहेगे।

७. सुभाषित मणियां

जीवन - ज्योति जगाने वाली सूक्तियों का संकलन रहेगा।

—समालोचना के लिये साहित्य निम्न पते पर भेजे।

व्यवस्थापक
'अनेकात'
वीर सेवा मंदिर
२१, दरियागंज, देहली-६

त्रैलोक्यनाथ (वर्द्धमान) जैन मन्दिर (जिनकांची) तिरुपरुत्तिकुन्रम

त्रैलोक्यनाथ (वर्द्धमान) मन्दिर के भित्तिचित्र—तिरुपरुत्तिकुन्रम

१ नमि और विनमि का राज्याभिषेक धरणेन्द्र कर रहे हैं। (ऊपर)

२ भगवान आदिनाथ चर्या के लिये नगर में आये तब आहार-दान-विधि-ज्ञान से शून्य राजागण उन्हें हाथी, घोड़ा, वस्त्राभूषण भेंट करने लगे। इसपर भगवान वन को लौट गये। (मध्य भाग में)

भगवान वर्द्धमान के जन्माभिषेक की सवारी में नृत्य-गान-रत देव-देवियां।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १५ किरण, ३ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६ | अगस्त
श्रावण शुक्ला १२, वीर निर्वाण सं० २४८८, विक्रम सं० २०१९ | सन् १९६२

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते,
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते,
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥

—स्वामी समन्तभद्राचार्य

अर्थ—हे भगवन् ! मेरी श्रद्धा केवल आपके ही मत में है, मैं स्मरण भी आपका ही करता हूँ, पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ भी आपको अंजलि बांधने (हाथ जोड़ने) के लिये ही हैं, मेरे कान भी आपकी कथा सुनने में आसक्त हैं, मेरी आँखें केवल आपके रूप को देखती हैं—आपके दर्शन करती हैं, मुझे व्यसन आपकी स्तुति करने का ही है—मैं हमेशा आपकी स्तुति में ही लगा रहता हूँ—और मेरा मस्तक भी आपको नमस्कार करने में तत्पर रहता है । हे तेजःपते ! हे केवलज्ञानस्वामी ! इस तरह मैं आपकी सेवा करता हूँ इसीलिये संसार में मैं तेजस्वी, सुजन और पुण्यवान् हूँ ।

संयोजक वीर सेवा मन्दिर
सं० क० परमानन्द शास्त्री

नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के जैन मूर्ति-लेख

(वेदी नं० एक बायें से बाईं ओर)

१. चन्द्रप्रभ, सफेद पाषाण चिन्ह चन्द्रमा, पद्मासन, साइज ऊँचाई २० इंच आसन सहित, चौड़ाई ७ इंच, आसन लम्बाई ६ इंच, चौड़ाई ३½ इंच।

लेख—वीरसंवत् २४४६ वि० सं० १६७६ माघ शुक्ला द्वादशी चन्द्रवासरे कुन्दकुन्दाम्नाये दिल्ली नगरे प्रतिष्ठितम्।

२. आदिनाथ, सफेद पाषाण, पद्मासन, साइज ऊँचाई २१ इंच आसन सहित। चौड़ाई ८ इंच। चिन्ह वृषभ

लेख—श्री वीर संवत् २४६८ माघ शुक्ला एकादशी बुधवासरे मूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे दिगम्बर कुन्दकुन्दाम्नाये इन्दौर नगरे तिलोकचन्द कल्याणमल तत्पुत्र हीरालाल कृत पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवे प्रतिष्ठाचार्य राजकुमार, मुन्नालाल, भूरालाल प्रतिष्ठा कार्यं स्थापितमिदं बिम्बं कल्लाणाय भवतु नूतन धर्मपत्नी स्व० पारसदास जैन दिल्ली।

३. बाहुबली, खड्गासन सफेद पाषाण ऊँचाई २३ इंच, आसन सहित आसन ५ इंच, चौड़ाई ६½ इंच।

लेख—श्री वीर सं० २४८६ वि० सं० २०१६ फागुणमासे प्रतिष्ठाचार्य नन्दलालेन प्रतिष्ठापितं, लाला मंगलधर, धर्मपत्नी गुणमाला।

४. भगवान पार्श्वनाथ, सप्तफणी, पाषाण, सफेद, साइज, ऊँचाई ११ इंच, चौड़ाई ५½ इंच, आसन २ इंच। पद्मासन चिन्ह सर्प

लेख—सं० १६४२ वर्षे फागुणमासे शुक्ल पक्षे तिथौ ८ दिने प्रतिष्ठितां, भानुकीर्ति आचार्यवर्य लोहाचार्यान्वये प्रतिष्ठिता।

५. पार्श्वनाथ, सफेद पाषाण, पद्मासन साइज ऊँचाई १७ इंच, चौड़ाई ७½ इंच, आसन लम्बाई १५ इंच मोटाई आसन ४ इंच। चिन्ह सर्प

लेख—श्री वीर निर्वाण सं० २४६६ वि० सं० २००० वैशाखमासे शुभे शुक्लपक्षे पूर्णिमातिथौ बुधवासरे इन्द्रप्रस्थ नगरे मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाम्नाये प्रतिष्ठापितम् पं० मुन्नालाल जी इत्येतैः प्रतिष्ठाप्य दि० जैन अनाथाश्रम चैत्यालये स्थापितं बिम्बं लोककल्याणं भवतु।

६. भगवान आदिनाथ सफेद पाषाण पद्मासन, ऊँचाई ३० इन्च, चौड़ाई ११ इन्च, चिन्ह वृषभ, आसन लम्बाई २४ इन्च, मोटाई आसन ४ इन्च।

लेख—ओं स्वस्ति श्री संवत् १६२३ का मिति द्वि० ज्येष्ठ शुक्ला १० शुक्रवारे काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्याम्नाये भट्टारक जित् महीचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० जगत्कीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० ललितकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० राजेन्द्रकीर्ति देवास्तदाम्नाये अग्रोतकान्वये बाँसलगोत्रे साधुश्री मोतीलालजित् तत्पुत्र सेवारामजित् तत्पुत्र व्रजपालदासजित् तत्पुत्र जिनवरदासजित् तद्भार्या मिश्रीकुंवरिस्तत्पुत्र भगवानदास मातृस्मरणार्थं अंगरेज बहादुरराज्ये आरामपुरे सकलपंचसहायेन श्री जिनमन्दिर पूर्वक, श्री जिनबिम्ब प्रतिष्ठा कारापितम् (ता)। क्रमशः

तिरुपरुट्टिकुनरम् (जिन काञ्ची)

श्री टी० एन० रामचन्द्रन्

तामिल देश के दिगम्बर जैन चार विद्यास्थानों अथवा चतुःसिंहासनों की चर्चा करते हैं; वे थे :—कोल्हापुर, जिन काञ्चीपुर, पेनुकोण्डा तथा देहली। मैसूर के जैनों की की सूची भिन्न है। बर्गेस (Burgess) ने सुझाव रखा था कि दक्षिण अर्काट जिले में वर्तमान चित्तामूर ही स्यात् जिन-काञ्चीपुर था, परन्तु स्थानीय परम्परा जो जिन-काञ्चीपुरम् के नाम को तिरुपरुट्टिकुनरम् ग्राम से संबंधित करती है, तथा प्राचीन काल से काञ्ची की विद्या-स्थान (घटिका-स्थान) के रूप में उच्च ख्याति एवं अनेक अन्य जैन पुस्तकों एवं परम्पराओं में भी काञ्चीपुर का एक विद्या-स्थान के रूप में निर्देश, ऐसे तथ्य हैं जो तिरुपरुट्टिकुनरम् के वर्तमान ग्राम की जिन-काञ्ची से एकरूपता को प्रमाणित करते हैं। देहली तथा पेनुकोण्डा के मठों का अब पता नहीं लगता।

काञ्जीवरम् (काञ्ची) के स्मारक इस तथ्य के साक्षी हैं कि नगर बहुत प्राचीन काल से विभिन्न धर्मावलम्बियों का गढ़ था। बौद्ध, जैन, शैव तथा वैष्णव, प्रत्येक धर्म का बारी बारी से इस नगर पर आधिपत्य रहा और प्रत्येक ने अपने प्रभाव के निश्चित चिह्न छोड़े। ह्वेनसाँग के अनुसार जो ६४० के लगभग काञ्जीवरम् आया था, काञ्ची इतना प्राचीन है जितना बुद्ध, बुद्ध ने इसके नागरिकों का धर्म परिवर्तन कराया। धर्मपाल बोधिसत्व का वहाँ जन्म हुआ और अशोक ने इसके समीप कई स्तूप बनवाये।" आगे चलकर वह लिखता है कि "उसके काल में जैन तो बहु संख्यक थे" और बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म लगभग बराबरी के थे।"

प्रारम्भिक काल में बौद्धधर्म के प्रभाव के साथ साथ ही जैनधर्म का प्रभाव भी विद्यमान था। काञ्जीवरम् के प्रायः प्रत्येक मन्दिर का स्थल पुराण लोगों के इस विश्वास की पुष्टि करता है कि "काञ्जीवरम् युगों तक एक बौद्ध नगर रहा और तत्पश्चात् एक जैन नगर"।

अब हम तिरुपरुट्टिकुनरम् के धार्मिक इतिहास के अति-रोचक प्रश्न पर आते हैं जो उतना ही रोचक एवं अद्भुत है जितना कि इसका सांसारिक इतिहास; क्योंकि जिन-काञ्चीवरम् जैसा स्थान, जोकि जैनों के पवित्र विद्या-स्थान में से एक था, अन्यथा नहीं हो सकता। स्थानीय रीतियों एवम् मन्दिर के भीतर तथा समाधि के स्तम्भों पर के शिलालेखों के अध्ययन से मुनियों की एक व्यवस्थित धर्मसत्ता का पता चलता है जिनका इनमें से कुछ लेखों में गुरु एवं शिष्य के रूप में उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका मुख्य कार्य दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार था। इनमें से कुछ मुनियों में गहन पाण्डित्य के साथ साथ असाधारण चातुरी तथा हिन्दूधर्म जैसे अन्य धर्मों के साथ निर्वाह की भावना भी थी, जिससे उन्हें बहुत लाभ हुआ; क्योंकि उन्होंने अपने धर्म के लिए न केवल देश के राजा का संरक्षण ही प्राप्त किया वरन् हिन्दुओं के क्रोध से उसकी रक्षा भी की। ये मुनि धीरे धीरे धार्मिक आधिपत्य के अतिरिक्त, देश में अत्यधिक राजनैतिक प्रभाव भी प्राप्त करने लगे।

दक्षिण भारत के साहित्य को जैनों की देन बहुत अधिक है जिनमें से अधिकांश लेखक धार्मिक उत्साह से प्रेरित थे। संगम युग के दो तामिल महाकाव्यों, मणिमेकलाई तथा सिलप्पादिकरम्, से हमें पता लगता है कि जैन मोटे तौर पर दो श्रेणियों में विभक्त थे; मुनि या तपस्वी जैसे कि जिन-काञ्ची में थे, और श्रावक अर्थात् जन-साधारण। इन उत्साहियों में जो सबसे अधिक विद्वान थे उन्होंने धर्म के प्रभावशाली प्रचार के हेतु अपने आपको भिन्न संघों या मठों या सम्प्रदायों में संगठित कर लिया। प्रत्येक संघ अनेक गणों में विभाजित था और प्रत्येक गण अनेक गच्छों में। संघ चार हैं जो दिगम्बर सम्प्रदाय के विशिष्ट अंग हैं : १. नन्दी २. सेन ३. देव और ४. सिंह संघ शिलालेखों से पता चलता है कि इन संघों में सबसे अधिक

महत्त्वपूर्ण था द्रमिल संघ, जो सम्भवतः वही था जो मदुरा में स्थापित हुआ था। उसके गणों में नन्दीगण नाम का एक गण दक्षिण भारतीय जैनधर्म के इतिहास में प्रसिद्ध था।

यह अद्भुत बात नहीं है कि तिरुपरुट्टिकुनरम् में हमें गुरुओं एवं शिष्यों की व्यवस्थित धर्मसत्ता मिलती है क्योंकि सं० ४७, ५४, १०५, १०८ और १४५ के श्रवण बेल्गोल शिलालेखों से पता चलता है कि इस धर्मसत्ता की पद्धति ईसा के ३०० वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के काल से आरम्भ हुई। श्रवणबेल्गोल में, जहाँ पहले तीर्थंकर के पुत्र बाहुबली की विशाल मूर्ति है, धर्मदूतों तथा अन्य गुरुओं एवं शिक्षकों की परम्परा से सम्बन्धित प्रचुर सूचना का होना स्वाभाविक ही था। श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों के अनुसार प्रथम गुरु या यतीन्द्र कुन्दकुन्द आचार्य थे; तत्पश्चात् तत्त्वार्थ सूत्र के संग्रह कर्त्ता उमास्वामी, गृध्रपिच्छ और उनके शिष्य बलाकपिच्छ हुए। उनके पश्चात् ख्यातनामा समन्तभद्र हुए जिनका नाम दिगम्बर जैनधर्म के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। परम्परा के अनुसार उनका काल १३८ ई० है।

दक्षिण भारतीय जैनधर्म तथा संस्कृत साहित्य पर लिखने वाले सभी विद्वान् इस बात पर एकमत हैं कि दक्षिण भारत में समन्तभद्र का उद्भव केवल दिगम्बर जैन धर्म के वृत्त में ही एक नवयुग का द्योतक नही है वरन् संस्कृत साहित्य के इतिहास में भी है। समन्तभद्र के पश्चात् कई मुनि हुए, जिन्होंने प्रचार का कार्य जारी रखा और जैन सम्प्रदाय को सरल श्रेणियों में संगठित किया तथा देश के साहित्य की अभिवृद्धि की। उनमें ये मुख्य थे : सिंहनन्दि, जिनके बारे में परम्परा है कि उन्होंने गंगवाड़ी के राज्य की स्थापना की; पूज्यपाद जो जैनेन्द्र व्याकरण के लेखक थे और अकलङ्क, जो काञ्ची से दूसरों की अपेक्षा अधिक सम्बन्धित हैं; क्योंकि उनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने ७८८ ई० के लगभग काञ्ची में राजा साहसतुङ्ग हिमशीतल के दरबार में बौद्धों को विवाद में असत्य सिद्ध कर दिया, राजा को जैन बना लिया तथा उसकी सहायता से बौद्धों को काञ्ची तथा दक्षिण भारत से लङ्का के लिए निकलवा दिया।

तिरुपरुट्टिकुनरम् के निवासियों की स्मृति में केवल अकलंक से सम्बन्धित परम्परा ताजी है; इससे पहिले के मुनि तथा बाद के तपस्वी प्रायः विस्मृत हो गए हैं। यह बात सहज ही समझने में आ जाती है, क्योंकि अकलंक से सम्बन्धित परम्परा, काञ्ची से लगभग १२ मील दूर एक जैन ग्राम तिरुप्पनमूर में बनी हुई है जहाँ के एक मन्दिर में पत्थर के एक विशाल ओखल के बारे में मन्दिर के पुजारी बताते हैं कि पराजित विधर्मियों को शिक्षा देने के लिए इसका प्रयोग किया जाता था। इस ओखल के सामने मन्दिर के आँगन की भीत पर एक नक्काशी है जिसमें एक जैन मुनि को उपदेश देने की मुद्रा में दिखाया गया है, इससे उस मुनि का प्रचार कार्य प्रदर्शित होता है जिसने चारों ओर लोगों को यह बताया कि जैनधर्म अन्य सभी धर्मों से उच्च था, जैन होने के फलस्वरूप गुणों में बहुत वृद्धि होगी और यदि उनके उपदेश की अवहेलना करके कोई विधर्मी ही बना रहेगा तो ओखल उसकी बुद्धि में अवश्य परिवर्तन कर देगा।

अकलंक के पश्चात् ११९९ ई० तक तिरुपरुट्टिकुनरम् में या उसके आस-पास जो मुनि हुए, उनके सम्बन्ध में उनके नामों के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं है। सौभाग्य से मन्दिर तथा अरुणागिरि के शिलालेख कुछ अन्य मुनियों पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरणार्थ शिलालेख सं० ३ तथा २२[1] चन्द्रकीर्ति नामक एक गुरु की चर्चा करते है जो तिरुपरुट्टिकुनरम् में थे और जिनका शव अरुणागिरि पर गाड़ा गया है और वहाँ उस पर एक समाधि बना दी गई है। ११९९ ई० वाले पहिले शिलालेख में अम्बिग्राम में मन्दिर को कुलोत्तुङ्ग तृतीय द्वारा बीस वेलिस भूमि के दान का वर्णन है; दानकर्त्ता को प्राप्त-कर्त्ताओं ने स्पष्ट बता दिया था कि तिरुपरुट्टिकुनरम् का मन्दिर उसके संरक्षण का अधिकारी था; क्योंकि उसमें उनके गुरु चन्द्रकीर्त्ति रहते थे। राजा ने न केवल मन्दिर को बीस वेलिस भूमि ही दी, वरन् उनकी विद्वत्ता तथा कार्य की सराहना के रूप में चन्द्रकीर्त्ति को 'कोट्टेपुर के आचार्य' की उपाधि भी दी। अरुणागिरि पर प्राप्त शिलालेख सं० २२ में उन्हीं चन्द्रकीर्त्ति

---

१. टी० एन्० रामचन्द्रन्, "तिरुपरुट्टिकुनरम् और उसके मन्दिर" पृष्ठ ५०, ६१।

को एक अन्य मुनि का आध्यात्मिक गुरु बताया गया है जो तिरुपरुट्टिकुनरम् में रहे और जिनका नाम अनन्तवीर्य वामन[1] था। जैन धर्मसत्ता के सम्बन्ध में अभी तक जो कुछ हमें ज्ञात हो चुका है उतने मात्र से हम उपरोक्त चन्द्र-कीर्त्ति को पहिचानने में असमर्थ हैं तथा स्थानीय जैनों से इस सम्बन्ध में कोई सहायता प्राप्त होनी सम्भव नहीं है; श्रवणबेल्गोल में प्राप्त अन्य सूचियों से भी कोई सहायता नहीं मिलती। आन्ध्र कर्नाट देश से प्राप्त जैन आचार्यों की सूची में अवश्य एक चन्द्रकीर्त्ति हैं जिन्हें दो अन्य आचार्यों के मध्य रखा गया है; एक कनककीर्तिदेव, जिनकी दानकुलपाडु के उन निसिढि शिलालेखों में से एक में चर्चा है जो मद्रास के अजायबघर में रखे हुए हैं, और दूसरे भट्टारक जिनचन्द्र। हमारे चन्द्रकीर्त्ति (११६६ ई०) और उपरोक्त में कोई सम्बन्ध देखना उचित नहीं होगा क्योंकि इनको तो दशवीं शताब्दी में रखा जाना चाहिये। क्योंकि उस निसिढ़ि की तिथि, जिसमें चन्द्रकीर्त्ति के पूर्व-वर्त्ती कनककीर्त्तिदेव की चर्चा है, निश्चित आधारों पर ६१०-६१७ ई० नियत हो चुकी है। इस प्रकार हमारे चन्द्रकीर्त्ति एक भिन्न व्यक्ति हैं जो स्वयं तिरुपरुट्टिकुनरम् में रहे और स्वर्गवासी हुए।

सं० १८ और २२[2] के शिलालेखों में अनन्तवीर्य वामन का वर्णन है, जोकि चन्द्रकीर्त्ति के शिष्य एक अन्य मुनि थे। पहिला शिलालेख मन्दिर की भीतर वाले कोरा वृक्ष के उत्तर-पूर्व की एक बलिपीठ पर पाया जाता है और दूसरा अरुणगिरि मेरु पर एक समाधि की शिला पर। पहिले शिलालेख में केवल यह लिखा है कि बलिपीठ अनन्तवीर्य का है जिसका अर्थ है कि मन्दिर के अर्चका को ज्ञात रीति से उसकी उपासना करनी चाहिये अर्थात् पीठ पर भेंट (बलि) रखना (यह विश्वास था कि मुनि की आत्मा उसे खावेगी)। दूसरे शिलालेख में स्पष्ट लिखा है कि शिला उपरोक्त मुनि की स्मृति में स्थापित की गई जिन्हें चन्द्रकीर्त्ति को अपना आध्यात्मिक गुरु गिनने का विशिष्ट सम्मान प्राप्त था। मन्दिर के खातों या स्थानीय परम्परा से इन मुनि के बारे में और अधिक कुछ ज्ञात नहीं होता।

१. टी० एन्० रामचन्द्रन्, उपरोक्त ही, पृष्ठ ६०-६१।
२. टी० एन० रामचन्द्रन्, उपरोक्त ही, पृ० ६०-६१।

मन्दिर के मुनिवास में एक कोठरी उनको दी गई है और दूसरी उनके गुरु चन्द्रकीर्त्ति को।

अनन्तवीर्य वामन की पहिचान के सम्बन्ध में हम पूर्णतः अन्धकार में हैं। परन्तु हम जानते हैं कि उनका काल चन्द्रकीर्त्ति के पश्चात् है जो ११६६ ई० के कुलोत्तुंग तृतीय के लेखों में आते हैं। फलतः वे चन्द्रकीर्त्ति से कुछ वर्ष पश्चात् रखे जाने चाहिएं, यथा तेरहवीं शताब्दी के मध्य में। आन्ध्र-कर्नाट देश से प्राप्त जैन आचार्यों की सूची के अध्ययन से भी एक अनन्तवीर्य देव का पता लगता है। जिन्हें भावनन्दि और अमरकीर्त्ति आचार्य के मध्य रखा गया है। यद्यपि यह अनन्तवीर्यदेव संभवतः हमारे अनन्तवीर्य वामन हो सकते हैं क्योंकि इस बात को असत्य सिद्ध करने के लिए उनकी तिथियों में कुछ नहीं है, परन्तु आन्ध्र-कर्नाट सूची में तिरुपरुट्टिकुनरम् से उनके सम्बन्ध की कोई भी चर्चा नहीं है अतः इस बात की सम्भावना में बाधा होती है।

मन्दिर में दूसरे मुनि, जिनके सम्बन्ध में हमें मन्दिर के खातों और जैन-साहित्य दोनों से ही स्पष्ट सूचना मिलती है, वे मल्लिसेन वामन हैं। सं० ६, १५ और २४[1] के शिलालेखों में उनका वर्णन है। सं० ६ के शिलालेख में उन्हें पुष्पसेन-मुनि-पुङ्गव वामन के गुरु मल्लिसेन वामन-सूरि बताया गया है। सं० २४ में, जोकि पुष्पसेन की समाधि का है, उन्हें फिर पुष्पसेन का गुरू कहा गया है और मल्लिसेन नाम से वर्णन किया गया है। सं० १५ में, जोकि उनकी प्रशसा में एक कविता है, उन्हें मल्लिसेन कहा गया है और उनका आध्यात्मिक नाम वामन है। स्मरण रहे कि महान् शिक्षक एवं धर्म, दर्शन आदि के लेखक वामन कहलाते है; वामन शब्द विद्वत्ता के साथ रखा जाता है और मल्लिसेन, अपने नाम मल्लिसेन की अपेक्षा वामन नाम से अधिक विख्यात थे, जैसा कि स्थानीय परम्परा से सिद्ध होता है। वह एक साहित्यिक थे, अपने काल में बहुत प्रसिद्ध थे और संस्कृत,, प्राकृत तथा तामिल में लिखे गए कई ग्रन्थों के रचयिता थे। तामिल में उनके एक ग्रन्थ से, जिसका नाम 'मेरुमन्दार पुराणम्' है—और जिसमें से मन्दिर के भीतर के कुछ चित्रों को समझने के

१. उपरोक्त ही, पृष्ठ ५८, ६२।

लिए मैं प्रायः सहायता लेता था—हमें पता चलता है कि वे भाषाओं में संस्कृत एवं प्राकृत को भी जानते थे और मतों में जैन तथा अन्य पद्धतियों को। उन्होंने 'मेरुमन्दार-पुराणम्' को इस प्रकार प्रारम्भ किया है, "तामिलाल ओनरु सोल्लालरीन" अर्थात् "मैं यहाँ एक का वर्णन तामिल में करता हूँ" (श्लोक सं० २)। इससे प्रगट होता है कि उनके इससे पहिले के ग्रन्थ तामिल के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में लिखे गए होंगे. यथा संस्कृत में। उनके संस्कृत ज्ञान ने उन्हें 'उभय-भाषा-कवि-चक्रवर्ती' वा दो भाषाओं के कवि-सम्राट् की उपाधि प्राप्त कराई। उनके कुछ प्राप्य ग्रन्थ दर्शन पर संस्कृत ग्रन्थों की टीका है यथा पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार की मेरु-मन्दारपुराणम् और समयदिवाकर जोकि नीलकेसितिरट्टु नाम के एक तामिल ग्रंथ की टीका है। उनके शिष्य पुष्प-सेन ने जिसकी हम अभी चर्चा करेंगे, राजनैतिक महत्त्व प्राप्त कर लिया था; क्योंकि बुक्का द्वितीय (१३८५-१४०६ ई०) के सेनापति इरुगप्पा से उसका सम्बन्ध था, परन्तु उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में ही महत्त्व प्राप्त किया जान पड़ता है। यहाँ पुष्पसेन के सभी शिलालेखों से वह उच्च श्रद्धा प्रकट है कि जो पुष्पसेन के हृदय में उनके लिए थी। सं० ६ में वह अपने-आपको मल्लिसेन का भक्त शिष्य कहता है और सं० २४ में काव्यमय ढंग में "वह मधुमक्खी जो श्री मल्लिसेन के चरणकमल पर मँडराती है।"[1] परम्परा उसे सम्पूर्ण मन्दिर के निर्माण से सम्बन्धित करती है। यद्यपि यह सत्य नहीं हो सकता, तथापि इससे वह उच्च श्रद्धा एवं महत्त्व प्रकट होता है जो वहाँ के जैनों में इन मुनि के लिए थे। मुनिवास में उनके लिए एक कोठरी निश्चित करने के अतिरिक्त, लोगों ने उनके लिए एक बलिपीठ बनाया है। इसको उन्होंने चोल बरामदे के उत्तर की भीत में आले में उस शिलालेख के नीचे रखा है जिसमें उनकी प्रशंसा की एक कविता है जिससे कि उपरोक्त शिलालेख स्वयं मुनि से सम्बन्धित हो जाय। आज इस बलिपीठ की पूजा होती है जैसी कि इसी प्रकार के एक अन्य की, जोकि इससे नीचे ईंटों के स्तम्भ पर रखा हुआ है और उनके शिष्य पुष्पसेन के लिए है। मुझे बताया

१. टी० एन० रामचन्द्रन्, उपरोक्त ही, पृष्ठ ६७।

गया कि अरुणगिरि-मेरु पर के समाधि स्तम्भों में से एक उनके लिए है, जिसके सम्बन्ध में अद्भुत बात यह है कि उस पर कुछ भी नहीं लिखा है।

जहाँ तक इन मुनि के काल का प्रश्न है एक मौन, परन्तु निश्चित, इंगित प्राप्य है। इरुगप्पा, जिसके शिलालेख १३८२ और १३८७-८८ ई० के हैं, पुष्पसेन के प्रति अपनी भक्ति का वर्णन करता है और स्वयं को उनका शिष्य बताता है, परन्तु अपने गुरु के गुरु मल्लिसेन के प्रति अपने भाव के सम्बन्ध में मौन है। उसके मौन का केवल एक ही अर्थ हो सकता है, और वह यह है कि इरुगप्पा के मन्दिर में आगमन के समय मल्लिसेन की मृत्यु हो चुकी थी। इस प्रकार वह अनन्तवीर्य वामन के पश्चात् और इरुगप्पा के आगमन के पहले आते हैं और इसलिये उन्हें चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रखा जा सकता है

अब हम ख्यातनामा पुष्पसेन पर आते हैं जिनका स्यात् अपने काल में बहुत अधिक राजनैतिक प्रभाव था। बुक्का द्वितीय के सेनापति एवं मन्त्री इरुगप्पा के ऊपर उनका जो अधिकार था, उसके फलस्वरूप विजयनगर के राजाओं ने उन्हें संरक्षण दिया और मुनि ने राजकीय संरक्षण का लाभ उठाने में कोई कमी नहीं की। उन्होंने अपने राजकीय शिष्य इरुगप्पा को मन्दिर में तथा अन्यत्र (विजयनगर) निर्माण करने के लिए तैयार कर लिया, जैसा कि शिला-लेख सं० ७ और ६[1] में वर्णित है। पिछले शिला-लेख में स्वयं मुनिको गोपुर के ऊपरी भाग का निर्माण करने वाला बताया गया है। शिलालेख सं० ७, ६, २३ व २४ पुष्पसेन के सम्बन्ध में हैं। सं० २३ व २४ समाधि की वेदी पर हैं; पहले में उनका नाम है और दूसरे में दुःखी मनुष्य समाज की मुक्ति के लिए उनका आशीर्वाद माँगा गया है। यह अद्भुत बात है कि समाधि की वेदी में पुष्पसेन के शिलालेखों वाले दो स्तम्भ पाए गए जबकि वहाँ चन्द्रकीर्ति का कोई भी स्तम्भ नहीं है जो हमारी सूची में पहले मुनि हैं। यदि हम इस बात को स्मरण रखें कि स्वयं मन्दिर में दो अन्य बलिपीठ या स्तम्भ हैं, दोनों ही बिना लेख के, एक कोरा वृक्ष के सामने और दूसरा मल्लिसेन वाले बलिपीठ के नीचे और

१. उपरोक्त ही, पृ० ५७-८

दोनों ही समाधिवालों जैसे ही हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन लेख रहित तथा एक से स्तम्भों में से कुछ कभी न कभी बदल गए होंगे या गलत स्थान पर रखे गए होंगे। स्थानीय परम्परा में पुष्पसेन को बहुत श्रेष्ठता दी गई है, सम्भवतः उनके राजनैतिक प्रभाव के कारण मुनिवास में एक कोठरी उनके नाम है और उनकी उपासना बहुत कुछ उसी प्रकार की जाती है जैसे मल्लिसेन की। जहाँ तक उनकी सिद्धता का प्रश्न है, शिलालेख सं० ६ और २४ से सहायता मिलती है। पहिले में उन्हें वामन कहा गया है और 'मुनियों में वृषभ, (मुनिपुंगव) और "परवादिमल्ल" की उपाधि दी गई है, जिसका अर्थ है "विवाद में अपने शत्रुओं का सफल प्रतिद्वन्दी"। दूसरे शिलालेख में मल्लिसेन के प्रति उनकी भक्ति पर जोर दिया गया है और दुखी तथा बढ़ते हुए मानव के लाभ के लिए उनके आशीर्वाद की प्रार्थना की गई है।

पुष्पसेन का समाधि-स्तम्भ दूसरों से बड़ा है, दूसरों के मध्य में स्थित है और उस पर का शिलालेख भी सबसे बड़ा है। इससे मुनि के अधिक महत्त्व का प्रमाण मिलता है, जिनकी स्मृति में स्तम्भ का निर्माण हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्तम्भ समाधि के स्तम्भों के समूह में अन्तिम है और इस तथ्य से यह शंका संभव हो जाती है कि सम्भवतः पुष्पसेन के पश्चात् उस स्थान में वैसे ही अन्य मुनि नहीं थे, या यदि कोई थे तो उन्होंने इस प्रकार महत्त्व प्राप्त नहीं किया, जिस प्रकार उनके पूर्ववर्ती मल्लिसेन एवं पुष्पसेन जैसों ने किया। अन्यथा उनकी समाधियों की भी आशा की जानी चाहिए।

मन्दिर के भीतर के मुनिवास में पाँच कोठरियाँ हैं, जिनमें से एक के सम्बन्ध में अभी निश्चय होना शेष है; अन्य चार चन्द्रकीर्ति अनन्तवीर्यवामन, मल्लिसेन वामन, और पुष्पसेन वामन की आत्माओं के लिए है। ५ वें नाम प्राप्य नहीं हैं, न तो मन्दिर के शिलालेखों में और न स्थानीय परम्पराओं में बहुत सम्भव है कि वे चन्द्रकीर्ति के पूर्ववर्ती हों जिनका नाम हम तक नहीं आया है।

चित्रकला

महत्त्वपूर्ण जैन चित्र-कला के अवशेष बहुत कम बचे है। उड़ीसा में रामगढ़ पहाड़ी में जोगीमेर गुफा में, भित्तिचित्रों के अवशेष जैन उद्गम के हो सकते हैं। उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट जैन गुफाओं में से एक में चित्रों के चिन्ह हैं। सित्तन्नवासल भित्तिचित्र, जिनका वर्णन फिर किया जायगा, जैन हैं और पद्धति में अजन्ता तथा बाग के भित्तिचित्रों से सम्बन्धित हैं परन्तु जैन पाण्डुलिपियों के छोटे चित्रों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैन मूर्तिकला में कोई स्पष्ट विदेशी तत्व नहीं है। बाद के काल में भवन निर्माण एवं मूर्तिकला में उनकी पूर्णता अपनी सुन्दरता टेक्नीकल पूर्णता और शानदार सजावट मे विस्मय में डाल देती है। यह आशा की जानी चाहिए थी कि कलाकारों की ऐसी जाति चित्रकला में महान् कृतियां उत्पन्न करेगी।

जैनों में प्रथा प्रचलित थी 'छतों में जिनके जीवन की मुख्य घटनाओ को अंकित करना, जिन्हे मुख्यमन्दिर या दालान की एक कोठरी समर्पित है।' उसी प्रथा के अनुसार तिरुपरुट्टिकुनरम् के त्रैलोक्यनाथ अथवा वर्द्धमान मन्दिर में मुख-मण्डप तथा संगीत-मण्डप की छत में रंगीन चित्रों की एक श्रेणी हैं जो कि, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, २४ जैन तीर्थंकरों में से तीन की जीवन-गाथाओं को चित्रित करती है।

यद्यपि कला-समालोचकों को कला की दृष्टि से 'रंगों से धोने' की इस नीति के विरुद्ध बहुत कुछ कहना है, क्योंकि ऐसे चित्रों में रूढ़ि बहुत बड़ा कार्य करती है, तथापि इसका स्वागत होना चाहिये; क्योंकि इससे जैन पुराण शास्त्र के देवताओं की जीवन-गाथाओं को जानने का एक सरल साधन मिलता है और उन लोगों से वर्णन सुनने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता, जो उन्हें जानते हों, न जैन पुराणों में देखने की आवश्यकता होती जिनमें से अधिकतर दुर्भाग्य से अभी तक पाण्डुलिपि रूप में ही है। रंगों से धोने और चित्र बनाने की इस प्रथा ने, जिसे श्रीमती स्टीवेन्सन 'आधुनिक धुन' कहती है, स्पष्टतः शिला लेखन की उस धुन का स्थान ले लिया है जिसकी प्रारम्भिक शताब्दियों से प्रथा थी, और जो सम्भवतः पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन प्रथम से प्रारम्भ हुई तथा मूर्तिकला एवं भवन-निर्माण कला में पतन की ओर संकेत करती है। उपयोगिता के दृष्टिकोण से देखनेपर इन चित्रों का निश्चय ही स्वागत किया जाना चाहिये; यह प्रथा हिन्दू मन्दिरों में भी फैल

भ० महावीर और उनका जीवन दर्शन

डा० ए० एन० उपाध्ये

भारत के कुछ विशिष्ट पुरुषों में अध्यात्म एवं ज्ञान की पिपासा अनादि काल से ही प्रचलित रही है। उस समय भी जब कि जनसाधारण अज्ञानता, गरीबी एवं अपने पूर्वजों की अन्धश्रद्धा तथा पूजा में ही लगा रहता था। धार्मिक नेताओं का महत्व अपने भक्तों के विश्वास विजय में ही निहित था। भारत में धार्मिक नेता दो प्रकार के रहे हैं—एक पण्डों व पुरोहितों के रूप में उपदेशक तथा दूसरे परोपकारी एवं आत्म-शोधी के रूप में मुनि लोग। उपदेशक शास्त्रोक्त पद्धति के महारथी होते थे वे कहा करते थे कि विश्व एवं देवताओं तक का अस्तित्व और उद्धार उनके द्वारा प्रवर्तित बलिदान के मार्ग से ही सम्भव है, इनके सम्प्रदाय बहुदेववादी थे। देवता लोग प्रायः प्राकृतिक शक्ति के केन्द्र थे और मानव समाज उनकी असीम कृपा पर निर्भर था। पुरोहित लोग देवताओं को बलि चढ़ा-चढ़ा कर ही मानवों की सुरक्षा का ढोंग रचा करते थे। यह एक वैदिक विचारधारा थी जो भारत में उत्तर-पश्चिम से आई और अपने अद्‌भुत प्रभाव से यत्र-तत्र अनेकों अनुयायी बनाती हुई भारत के पूर्व और दक्षिण में फैल गई।

इसके विपरीत भारत के पूर्व में गंगा-यमुना के कछारों में कुछ आत्म-शोधी साधु हुए जो उच्च राजघरानों से सम्बन्धित थे तथा उच्च चिन्तन एवं धार्मिक क्रांति के इच्छुक थे। उनकी दृष्टि में प्राणीमात्र धार्मिक चिन्तन का केन्द्र है, साथ ही अचेतन जगत से उसके सम्बन्ध टूटने का एक साधन भी है। इससे वे साधु लोग जीवन की इहलौकिक और पारलौकिक समस्याओं पर सोचने के लिए बाध्य हुए; क्योंकि उनके समक्ष आत्मा (चेतन) और कर्म (जड़ पदार्थ) दोनों ही यथार्थ थे। इहलौकिक अथवा पारलौकिक जीवन आत्मा और कर्म के पारस्परिक अनादि-निधन सम्बन्धों का परिणाम ही तो है और यही साँसारिक दुखों का कारण भी है, पर धर्म का मूल उद्देश्य कर्म को आत्मा से पृथक् करना है, जिससे आत्मा पूर्ण मुक्त हो शुद्ध ज्ञानात्मक चिदानन्द चैतन्य का आनन्द अनुभव कर सके। मनुष्य अपना स्वामी स्वयं ही है। उसके मन, वचन और काय उसे अपने ही रूप में परिणमन करते हैं तथा कराते रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने भूत भविष्य का निर्माता व विघटनकर्ता स्वयं ही है। धार्मिक पथ पर अग्रसर होने के लिए वह अपने पूर्ववर्ती आचार्यों को अपना आदर्श मानता है और जब तक आध्यात्मिक उन्नति की चरम-सीमा एवं परिपूर्णता (कृतकृत्यता) नहीं प्राप्त कर लेता तब तक मुनि-मार्ग का अवलम्बन कर कर्म-संघर्ष में रत बना रहता है।

इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि प्राच्य धार्मिक विचारधारा में ईश्वर कर्तृत्व एवं उसके प्रचारक

गई है। इनमें चित्रित विभिन्न घटनाओं से एक अजैन भी ऐसा प्रभावित होता है कि वह कदाचित् ही उन्हें भूलता या फिर उन्हें पहचानने में असफल होता है। वे एक प्रकार से जैन पुराण शास्त्र और मूर्तिविद्या की चित्रित पुस्तकें हैं जो अपने वर्णन को सरल एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत करती हैं। इस रीति में निहित विचार मितव्ययता है जैसा कि मुझे त्रिचनापल्ली के एक चित्रकार ने बताया जो उस समय नत्रभूतेश्वर मन्दिर में कार्य कर रहा था। यह कार्य शिलालेख के कार्य से कम व्यय का है जो कि बहुत अधिक कष्टसाध्य भी है मुझे यह भी बताया गया कि रंग फीके पड़ें तो चित्रों को नया किया जा सकता है। उनको नया न करने का यह फल हुआ है कि तिरुपरुट्टिकुनरम् के अनेक चित्र फीके पड़कर लुप्त हो गए हैं जिससे हमें उनको, पूर्णरूप से नष्ट हो जाने से पहले ही, पञ्जीबद्ध करने का प्रोत्साहन मिला है।[1]

अनुवादक—डा० ए० के० दीक्षित, बड़ौत

१. 'तिरुपरुट्टिकुनरम् और उसके मन्दिर' लेखक : टी० एन० रामचन्द्रन् प्रकाशक : मद्रास म्यूजियम, १९३४, प्लेट ६-३०।

पुरोहितों का कोई स्थान न था। यह युग तो जैन तीर्थंकर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, आजीवक सम्प्रदाय के गोशाल, सांख्य दर्शन के कपिलऋषि एवं बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध के प्रतिनिधित्व का काल था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश में विशेषतया शिक्षित वर्ग में भारतीय प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर को नवीन रूप में ढालने के प्रति विशेष जागरूकता दिखाई दे रही है। बड़े हर्ष की बात है कि इस प्रसंग में महावीर और बुद्ध को बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति से स्मरण किया जाता है और उनके महत्व को आंका जाने लगा है। पर आश्चर्य तो यह है कि ऐसे महापुरुषों को, जिन्होंने अपनी शिक्षाओं एवं उपदेशों द्वारा इस देश को नैतिकता एवं मानवता के क्षेत्र में इतना अधिक महान् और समृद्ध बनाया, फिर भी अपनी ही भूमि में उन्हें कुछ समय के लिए भुला दिया गया। दूसरी सबसे अधिक खटकने वाली बात यह है कि महावीर और बुद्ध का महत्व एवं उनके साहित्य का जो मूल्यांकन हम लोग सदियों पूर्व स्वयं अच्छी तरह कर सकते थे वह सब अब पश्चिमी विद्वानों द्वारा हुआ और हम प्रसुप्त दशा में पड़े रहे। जैन और बौद्ध साहित्य के क्षेत्र में पश्चिमी विद्वानों की बहुमूल्य सेवाओं ने हमारी आंखें खोल दी है और आज हम इस स्थिति में हो सके हैं कि हम अपनी विभूतियों को पहचान सकें।

२४ वें तीर्थंकर भ० महावीर म० बुद्ध के समकालीन थे, उनके विचार एवं सिद्धांत भारतीय प्राच्य संस्कृति के अनुकूल थे। भ० महावीर एवं उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने जो भी उपदेश दिये थे वे सब आज जैन दर्शन के नाम से विख्यात हैं, पर आज वे हमारे जीवन में सक्रिय रूप से नहीं उतरे हैं, जिनका जैन साहित्य में विभिन्न भाषाओं द्वारा विवेचन किया गया था।

भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के इतिहास में विहार प्रान्त का बड़ा महत्व है। म० बुद्ध, भ० महावीर, राजर्षि जनक जैसी पुण्य विभूतियों को प्रदान करने का श्रेय इसी विहार की पावन पुण्य भूमि को है। मीमांसा, न्याय एवं वैशेषिक जैसे श्रेष्ठ दर्शनों की बहुमूल्य भेंट देने वाली मिथिला का गौरव भी तो विहार प्रान्त ही को प्राप्त होता है। लगभग २५०० वर्ष पूर्व वैशाली (बसाढ़ पटना से ३० मील उत्तर में) एक समृद्धशाली राजधानी थी, इसके आस-पास ही कुण्डपुर या क्षत्रियकुण्ड के महाराज सिद्धार्थ और उनकी महारानी त्रिशला (प्रियकारिणी) की कोख से भ० महावीर जन्मे थे। अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं एवं गुणों के कारण ही ज्ञातपुत्र, वैशालीय, वर्द्धमान और सन्मति आदि नामों से प्रसिद्ध थे। उनकी माता त्रिशला चेटक वंश से सम्बन्धित थी, जो विदेह का सर्वशक्तिमान् लिच्छवि शासक था, जिसके संकेत पर मल्लवंशीय एवं लिच्छवि लोग मर मिटने को तैयार रहते थे।

महावीर के विवाह के सम्बन्ध में एक परम्परा उन्हें बाल ब्रह्मचारी बतलाती है पर दूसरी के अनुसार उनका विवाह यशोदा से हुआ था और उनसे प्रियदर्शना नामकी पुत्री उत्पन्न हुई थी। राजपुत्र होने के कारण महावीर के तत्कालीन राजवंशों से बड़े अच्छे सम्बन्ध थे। उनसे अपेक्षा की गई थी कि वे अपने पिता के राज्य का अधिकारपूर्वक उपभोग करें, पर उन्होंने वैसा नहीं किया। ३० वर्ष के होते ही उन्होंने राजकीय भोगोपभोगों का परित्याग कर डाला और आध्यात्मिक शांति की खोज के लिए मुनि दीक्षा धारण कर ली इस प्रकार जीवन की कठिनतम समस्याओं को सफलता पूर्वक कैसे हल करना चाहिए, इसका एक सर्वश्रेष्ठ आदर्श उन्होंने तत्कालीन जगत के समक्ष प्रस्तुत किया।

आध्यात्मिक शांति एवं पवित्रता के मार्ग में राग एवं संग्रह की प्रवृत्तियाँ बड़ी बाधक थी, पर उन्होंने आदर्श रूप से सहर्ष उन सबका परित्याग कर दिया, स्वयं निर्ग्रंथ बन गए और दैगम्बरी वेष धारण कर साधना और तपश्चरण में तल्लीन हो गए। इस बीच उन्हें जो-जो कष्ट भोगने पड़े उनका विस्तृत वर्णन आचारांगशास्त्र में मिलता है। लोग उन्हें गालियां देते थे, बच्चे उन पर पत्थर फेंकते थे। इस प्रकार बंगाल के पूर्वी भाग में उन्होंने बड़ी बड़ी यातनायें सहीं। १२ वर्ष की कठोरतम यातनाओं के पश्चात् महावीर अपनी शारीरिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर सके और समय तथा स्थान की दूरी को लांघते हुए शुद्ध एवं पूर्णज्ञान की उपलब्धि कर केवली या सर्वज्ञ कहलाये। उन दिनों श्रेणिक बिंबसार राजगृही के शासक थे, भगवान महावीर की सर्व प्रथम देशना (दिव्य-ध्वनि) राजगृही

के समीप विपुलाचल पर्वत पर हुई थी। लगातार ३० वर्ष तक वे मगध देश के विभिन्न भागों में भगवान बुद्ध की भाँति विहार करते रहे और जैनधर्म का प्रचार किया। भ० महावीर के माता-पिता भ० पार्श्वनाथ के अनुयायी थे, भ० महावीर ने अपने विहार काल में जीवन की कठिनाइयों एवं उनसे बचने के उपायों से लोगों को अवगत कराया। उन्होंने आत्मा की उच्चता एवं पवित्रता पर बल दिया, उनके उपदेश सर्वसाधारण के लिए थे। उनके अनुयायियों में जिनमें राजा महाराजा थे, गरीब किसान भी थे, उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की, जो मुनि आर्यिका, श्रावक और श्राविका नाम से प्रसिद्ध हुआ था वह आज भी प्रचलित है। भगवान महावीर के सिद्धान्तों का प्रभाव जैन दर्शन के अतिरिक्त भारत में अन्यत्र भी मिलता है। वे तीर्थंकर थे उन्होंने युगों युगों से संत्रस्त मानवता के परित्राण एवं सर्व शान्ति की स्थापना के लिए मार्ग निर्धारण किया था। द्वितीय शताब्दि में समन्तभद्र स्वामी ने महावीर के सिद्धांतों को, जो महावीर तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध थे, 'सर्वोदय' नाम दिया, जिसका इस देश में आज महात्मा गाँधी जी के बाद सामान्यतः प्रयोग किया जाता है। ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व भ० महावीर ७२ वर्ष की आयु में पावापुर से निर्वाण सिधारे, जिसकी खुशी में जगह जगह दीप जलाये गए और तब से ही सम्पूर्ण भारतवर्ष में दीपावली पर्व प्रचलित हुआ।

भ० महावीर के जीवन एवं कार्यों पर बड़ा विशाल नवीन और प्राचीन सभी तरह का साहित्य उपलब्ध है और उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी अन्य पुरुषों की भाँति बहुत से पुराण लोक कथायें तथा अनेकों अतिशयोक्ति पूर्ण बातें लिखी गई हैं। फलतः उनके विषय में विशुद्ध वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन व शोध करना बड़ा कठिन हो गया है; क्योंकि अध्ययन व शोध के जो साधन हैं वे साम्प्रदायिकता या धार्मिकता से अछूते नहीं हैं, उनमें साम्प्रदायिकता की गंध विद्यमान है। ऊपर मैंने जो कुछ कहा है वह भ० महावीर का केवल साधारण सा जीवन-परिचय ही है। इस प्रकार यदि भ० महावीर का और अधिक ऐतिहासिक अध्ययन करना कठिन है तो मेरी राय से यह अति उत्तम होगा कि उनके सिद्धान्तों का गंभीरता पूर्वक अध्ययन किया जाय और उनका जीवन में सक्रिय प्रयोग किया जाय अपेक्षा इसके कि उनके व्यक्तिगत जीवन पर लम्बे चौड़े वाद-विवाद या बहस मुबाहिसे खड़े हों।

वैशाली नगर अपने समय में उन्नति के चरम शिखर पर था और भ० महावीर की जन्मभूमि होने के कारण भारतीय धार्मिक जगत में तो इसकी ख्याति और भी अधिक बढ़ गई थी। वैशाली की पुण्य विभूतियों ने मानवता के उद्धार के लिए बड़े अच्छे अच्छे सिद्धान्त सिखाये और स्वयं त्याग एवं साधनामय पावन जीवन अंगीकार किया। महावीर तो अपने समकालीनों में निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ रहे! 'महावस्तु' में लिखा है कि भ० बुद्ध ने वैशाली के अलारा एवं उड्डक में अपने प्रथम गुरु की खोज की और उनके निर्देशन में जैन बन कर रहे। पश्चात् उत्पन्न मध्य मार्ग अपनाकर वैशाली में अत्यधिक सम्मानित हुए। उन्हें राजकीय सम्मान प्राप्त था, वे "कूटागारशाला, (जो मुख्यतया उनके लिए ही बनाई गई थी) के महावन में रहते थे। द्वितीय बौद्ध परिषद् की बैठक वैशाली में ही हुई थी, अतः यह बड़ा पवित्र तीर्थ स्थान माना जाने लगा, यहीं पर संघ हीनयान और वज्रयान के रूप में विभाजित हुआ था। भ० बुद्ध की प्रसिद्ध शिष्या आम्रपाली वैशाली में ही रहती थी, जहाँ उसने अपना उपवन भ० बुद्ध एवं संघ को वसीयत के रूप में अर्पण किया था। वैशाली का राजनैतिक महत्व भी था यहाँ गणतन्त्रीय शासन पद्धति प्रचलित थी, यहाँ लिच्छवि गणराज्य के राष्ट्रपति महाराज चेटक थे, जिन्होंने मल्ल की गणराज्य, काशी, कौशल के १८ गणराज्य तथा लिच्छवियों के ९ गणराज्य मिलाकर एक संघशासन का सुसंगठन किया था। 'दीघ निकाय' में वज्जी संघ की शासन-पद्धति एवं कार्य-कुशलता की श्रेष्ठता का सुन्दर वर्णन मिलता है, जो तत्कालीन गणतन्त्रात्मक शासनपद्धति का श्रेष्ठतम आदर्श थी। वैशाली वाणिज्यका भी विशालतम केन्द्र थी जहाँ श्रीमंतों, वणिजों एवं शिल्पियों की मुद्रायें चला करती थीं। जब फाहियान (३९९-४१४ ई०) भारत आया तब वैशाली धर्म, राजनीति एवं व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र थी, पर अगली तीन शताब्दियों में इसका पतन प्रारम्भ हो गया और ह्वेनसाँग (६३५ई०) जब आया

तब तो यह बिल्कुल ही नष्ट-भ्रष्ट हो गई थी और अब तो जीर्ण शीर्ण बूढ़ा की भांति बिल्कुल ही उपेक्षित हैं।

आधुनिक भारतीय गणराज्य ने वैशाली संघ की एकता से बहुत कुछ सीखा है तथा वज्जीसंघ की एकता हमारे प्रजातन्त्र की प्रमुख आधार शिला है और अहिंसा जो पंचशील का प्राण है हमारी नीति निर्धारण की मूल केन्द्र विन्दु है। हमारी केन्द्रीय सरकार हिन्दी को राज-भाषा बनाकर मगध शासन की नीति का अनुकरण कर रही है, जिसने वर्ग विशेष की भाषा की अपेक्षा जन साधारण की भाषा को ही प्रतिष्ठा एवं गौरव प्रदान किया था। सम्राट् अशोक के सभी लेख प्राकृत में ही उपलब्ध हैं जो तत्कालीन जन भाषा थी। हमारे प्रधान मन्त्री पं० नेहरू को भी प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की भाँति अपने उच्चाधिकारियों की अपेक्षा जनता जनार्दन से मिलना अत्यधिक रुचिकर है। इस रूप में वैशाली को उपेक्षित नहीं कहा जा सकता है और आजकल तो केन्द्रीय शासन, विहार शासन, भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति साहू शांतिप्रसाद जी और वैशाली संघ के उत्साही सदस्य डा० जगदीशचन्द्र माथुर आदि के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप वैशाली का उत्थान हो रहा है विहार शासन ने जैन और प्राकृत साहित्य के अध्ययन के लिए यहाँ एक स्नातकोत्तर संस्था की स्थापना की है आशा है यह ज्ञान और अध्ययन का विशाल केन्द्र बन जावेगी !

कालचक्र की प्रबल गति एवं राजनतिक परिवर्तनों के कारण वैशाली सर्वथा ध्वंस हो गई और हम भारत-वासी भी उसके अतीत वैभव एवं महत्व को भुला बैठे, पर आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि वैशाली ने अपने सुयोग्य सपूतों को अब तक भी नही भुलाया है वैशाली के जैन व बौद्ध स्मारकों में वहा के स्थानीय मूल निवासी सिंह व नाथक्षत्रिय लोगों द्वारा अधिकृत एक उप-जाऊ खेत भी एक बड़े महत्वपूर्ण स्मारक के रूप में आज भी विद्यमान है लोग इसे जोतते बोते नहीं हैं; क्योंकि उनके यहां वंश परम्परा से यह धारणा प्रचलित है कि इस पवित्र भूमि पर भगवान महावीर अवतरित हुए थे, अतः इस पुण्य भूमि को जोतना बोना नहीं चाहिए। भारत के धार्मिक इतिहास में यह एक अद्भुत घटना है जो भगवान महावीर की स्मृति अपनी ही जन्मभूमि में २५०० वर्ष बाद भी उनके सम्बन्धियों एवं वंशजों द्वारा आज भी सुरक्षित है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में महावीर का समय निश्चय ही प्रतिभा, मानसिक विकास एवं सूझ-बूझ का युग था, उनके समकालीनों में केशकंबली, मक्खली गोशाल, पकुद्ध कच्चायन, पूरणकश्यप, संजय वेलट्ठिपुत्त और तथागत बुद्ध प्रभृति जैसी धार्मिक पुण्य विभूतियां थीं। भ० महावीर ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों से बहुत कुछ सीखा एवं पाया था। उन्हें धर्म और दर्शन की एक सुव्यवस्थित परम्परा ही उत्तराधिकार में नहीं प्राप्त हुई थी, अपितु सुसंगठित साधु संघ एवं उनके सच्चे अनुयायी भी मिले थे। वे उस दर्शन एवं धर्म का सक्रिय प्रयोग करते थे जिसे भगवान महावीर तथा उनके शिष्यों ने प्रचलित किया।

म० बुद्ध और भ० महावीर समकालीन थे। उनका विहार(प्रचार)क्षेत्र भी एक ही था और वहाँ के राजवंश एवं शासक दोनों के ही भक्त थे। इन दोनों ने मानव के मानवीय रूप पर ही विशेष बल दिया था और जनता जनार्दन को उनकी अपनी ही भाषा में उच्च नैतिक आदर्श सिखाये थे। जिनसे व्यक्ति मात्र का आध्यात्मिक धरातल ऊँचा उठा एवं सामाजिक दृढ़ता में योग मिला। ये आदर्श, भावी पीढ़ी के लिए प्राच्य अथवा मागध धर्म के श्रेष्ठ प्रति-निधि सिद्ध हुए और श्रमण संस्कृति के नाम से विख्यात हुए। सौभाग्य से तत्सम्बन्धी मूल साहित्य आज भी हमें उपलब्ध है। प्रारम्भिक बौद्ध और जैन साहित्य के तुलना-त्मक अध्ययन से दोनों में एक अद्भुत समानता तथा धार्मिक एवं नैतिक चेतना प्राप्त होती है, जो न केवल २००० वर्ष पूर्व ही उपादेय थी अपितु आज भी अनेकों उलझन भरी मानवीय समस्याओं के सुलझाने का एकमात्र साधन है। म० गांधी ने जो सत्य और अहिंसा की लौ (ज्योति) जगाई उसकी पृष्ठभूमि में भ० महावीर एवं म० बुद्ध के नैतिक आदर्श ही तो हैं। पाली भाषा में जो निग्रंथ सिद्धांत का विवरण मिलता है वह जैन और बौद्ध के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्णय में अत्यधिक सहायक है।

भ० महावीर और म० बुद्ध में इतनी अधिक समानता थी कि प्रारम्भ में तो यूरोपीय विद्वान् दोनों को एक ही

व्यक्ति समझने की भ्रांति कर बैठे, पर आज गम्भीर अध्ययन के विकास एवं शोध-खोज के फलस्वरूप दोनों महापुरुषों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो गया है, जिन्होंने भारतीय चिन्तनधारा के इतिहास पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा। यह एक ध्यान देने की बात है कि म० बुद्ध ने केवल ज्ञान (दिव्यज्योति) प्राप्ति से पूर्व कई विद्वानों के साथ अनेकों प्रकार के प्रयोग कर मध्यम मार्ग अपनाया था तथा तत्कालीन प्रचलित अनेकों धार्मिक मान्यताओं एवं परम्पराओं का परित्याग भी किया था, पर भ० महावीर के साथ ऐसा नहीं हुआ था, उन्होंने तो भ० ऋषभदेव, नेमिनाथ एवं अपने निकटतम पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ (जो उनसे केवल २०० वर्ष पूर्व हुए थे) द्वारा प्रचलित धर्म को ही अंगीकार किया और उसे ही तत्कालीन समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। म० बुद्ध के विचार अपने समकालीन मतों एवं विश्वासों से बहुत कम मेल खाते हैं; क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि "मानवजाति के लिए मैंने कुछ नवीन खोज की है" पर भ० महावीर के विचार अपनी समकालीन विचारधाराओं से बहुत मिलते-जुलते हैं, वे दूसरों के विचार समझने को सदैव उत्सुक रहते थे, क्योंकि वे उस धर्म का उपदेश साधारण से परिवर्तित रूप में कर रहे थे, जो भ० पार्श्वनाथ के समय से प्रचलित था। उदाहरणार्थ डा० याकोबीने लिखा है "महावीर और बुद्ध दोनों ने अपने मतों के प्रचार के लिए अपने-अपने वंशों का सहारा लिया। दूसरे प्रतिद्वंद्वियों पर उनका प्रचार निश्चय ही देश के मुख्य-मुख्य परिवारों पर निर्भर था। म० बुद्ध की आयु ८० वर्ष की थी जबकि भ० महावीर केवल ७२ वर्ष ही जिये। म० बुद्ध के मध्य मार्ग ने समाज को एक नवीनता दी और नये अनुयायियों में विशेष उत्साह पैदा किया, फलस्वरूप उनका प्रभाव बड़ी दूर-दूर तक विस्तार से फैला, पर भ० महावीर ने तो नवीन और प्राचीन दोनों को ही अपनाया था, इसलिए वे सहयोग की भावना से ओत-प्रोत रहे। उनके समय नये अनुयायियों का प्रश्न इतना ज्वलन्त न था जितना कि म० बुद्ध के सामने था। जैन और बौद्ध साधुओं के नियमों में बड़ी समानता थी, इसका प्रबल प्रमाण यह है कि कुछ समय के लिए म० बुद्ध ने निर्ग्रंथत्व (दिगम्बरत्व) धारण किया था, जो भ० पार्श्वनाथ के समय से चला आ रहा था। डा० याकोबीने लिखा है कि "जब बौद्ध धर्म की स्थापना हुई, तब निगण्ठ (निर्ग्रंथ) जो जैन या अर्हत् के नाम से प्रसिद्ध हैं, एक महत्वपूर्ण वर्ग के रूप में विद्यमान थे। पाली साहित्य में भ० महावीर का 'निगण्ठनातपुत्त' के नाम से उल्लेख मिलता है। इस प्रकार महावीर और बुद्ध ने प्रारम्भ में एक ही श्रमण संस्कृति के आदर्शों पर अपना जीवन प्रारम्भ किया, पर आगे चलकर वे भिन्न-भिन्न हो गये और इसी तरह उनके अनुयायी भी समय और स्थान भेद के कारण भिन्न-भिन्न हो गये। पर यह एक शोध का विषय है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि दोनों धर्म भारत में पैदा हुए, पर जैनधर्म तो आज भी जीवित रूप से अपनी जन्मभूमि में विद्यमान है पर बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि को छोड़ पूर्वी क्षितिज पर पल्लवित हो रहा है- ऐसा क्यों? एक बड़ा विचारणीय प्रश्न है। अतः आज यह अत्यधिक आवश्यक है कि म० बुद्ध और भ० महावीर की शिक्षाओं का जो अध्ययन हुआ उसे और भी अधिक विस्तार एवं शोधपूर्वक मनन, चिन्तन कर पता लगाया जाय।

जैन सम्प्रदाय के इतिहास की सामग्री यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। महावीर के पश्चात् जैनधर्म का अनुवर्तन बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान् एवं साधुओं ने किया, जिन्हें श्रेणिक बिम्बसार तथा चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे महान् प्रभावशाली शासकों का आश्रय प्राप्त था। बहुत से धार्मिक साधु, राजवंश, समृद्ध व्यापारी एवं पवित्र परिवारों ने जैनधर्म की स्थिरता एवं प्रगति के लिए बड़े-बड़े बलिदान किए फलस्वरूप भारतीय कला, साहित्य, नैतिकता, सभ्यता एवं संस्कृति के लिए जैनियों की जो कुछ भेंट है उस पर भारत को गर्व है।

भ० महावीर के सिद्धान्त विधिवत् रूप से तत्कालीन लोकभाषाओं में नियमानुसार ग्रन्थबद्ध हुए जिनकी व्याख्या निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य एवं टीकाओं के रूप में हुई और फुटकर विषयों पर छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी गईं। उन पर आगे चलकर बड़ा विवेचनात्मक विस्तृत साहित्य तैयार हुआ। उनकी शिक्षाओं एवं सिद्धान्तों को बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों एवं मुनियों ने बड़े तार्किक ढंग से सुरक्षित रखा, जबकि अन्य भारतीय पद्धतियों में ऐसा बहुत ही

कम था। भारतीय साहित्य में जैनियों की सेवा अनेकों विषयों से सम्बन्धित हैं और वे प्राकृत (अर्धमागधी) अपभ्रंश, संस्कृत, तामिल, कन्नड, पुरानी हिन्दी एवं पुरानी गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध है। जैनाचार्यों ने भाषाओं को अपने उद्देश्य का मूल साधन माना था, धार्मिक उदारता के कारण उन्होंने किसी एक ही भाषा पर बल नहीं दिया। धन्य है उनकी दूरदर्शिता को कि उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में इतने विशाल साहित्य का निर्माण किया तथा तामिल और कन्नड को इतना अधिक सुसमृद्ध किया, इसके लिए मुझे विद्वज्जनों से विशेष कुछ कहने की जरूरत नहीं है। गत कई वर्ष हुए डा० ह्यूलर ने जैन साहित्य के विषय में लिखा था कि "व्याकरण, खगोल शास्त्र और साहित्य की विभिन्न शाखाओं में जैनाचार्यों की इतनी अधिक सेवाएँ हैं कि उनके विरोधी भी उस तरफ आकर्षित हुए। जैनाचार्यों की कुछ रचनायें तो आज यूरोपीय विज्ञान के लिए भी अत्यधिक महत्व पूर्ण है। दक्षिण में जहाँ उन्होंने द्रविड़ों के बीच कार्य किया वहाँ उनकी भाषाओं के विकास में उन्होंने पूर्ण योग दिया। कन्नड़, तामिल एवं तेलगु आदि साहित्यिक भाषायें तो जैनाचार्यों द्वारा डाली हुई नींव पर ही निर्भर हैं और आज उनके ही कारण पल्लवित होरही हैं, यद्यपि यह भाषा विकास का कार्य उन्हें अपने मूल उद्देश्य से बहुत दूर खींच ले गया फिर भी इससे भारतीय भाषा एवं सभ्यता के इतिहास में उन्हें बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। एक बड़े जर्मन विद्वान ने कहा था जो शोध खोज से भी सिद्ध होता है कि यदि आज ह्यूलर जीवित होते तो भारतीय साहित्य में जैनाचार्यों की सेवाओं पर वे बड़े उच्च कोटि के शोधपूर्ण विचार व्यक्त कर जैनत्व का महत्त्व बढ़ाते। जैनियों ने बड़ी सावधानी एवं चिंता पूर्वक प्राचीन पांडुलिपियों को सुरक्षित रखा है। जैसलमेर, जयपुर, पट्टन और मूडबद्री आदि स्थानों में जो इनके ही संग्रह (भंडार) हैं। निश्चय ही वे राष्ट्रीय सम्पत्ति के एक भाग हैं। उन्होंने ये संग्रह (भंडार) ऐसी विद्वत्ता एवं उदार दृष्टि से तैयार किए कि वहां धार्मिक द्वेष का कोई नामोनिशान (चिह्न) तक न था। जैसलमेर और पट्टन के भंडारों में तो कुछ ऐसी मूल बौद्ध कृतियां उपलब्ध हैं, जो कि हम केवल तिब्बती अनुवाद से ही जान सके, इस सबका श्रेय इन भंडारों के संग्राहकों एवं निर्माताओं को ही है।

जैन साहित्य का निष्पक्ष एवं समालोचनात्मक अध्ययन जैनधर्म और जीवन के सही दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। जीवन की जैन दृष्टि से मेरा तात्पर्य उस जीवन दर्शन से है जिसमें जैन अध्यात्म एवं नीति (आचार) विषयक मूल सिद्धान्तों का न्यायपूर्ण विवेचन हो और जैन उद्देश्यों की पूर्ति होती हो, आज के जैनधर्मावलंबियों की जीवन-दृष्टि से नहीं।

आध्यात्मिक दृष्टि से सभी आत्मायें अपने अपने विकास के अनुसार (गुणस्थान रूप से) धर्म के मार्ग में अपना यथायोग्य स्थान पाती हैं। प्रत्येक की स्थिति अपने अपने कर्मानुसार सुनिश्चित है और उनकी उन्नति अपनी अपनी संभाव्य शक्ति पर निर्भर है। जैनियो के ईश्वर न तो विश्व के कर्त्ता हैं और न ही सुख दुखों के दाता। वे तो एक आध्यात्मिक मूर्ति हैं, जिन्होने (कृतकृत्यता प्राप्त कर ली है उनकी पूजा स्तुति केवल इसलिए की जाती है कि हम भी तदनुकूल बनकर उसी कृतकृत्यत्व एवं सर्वज्ञत्व की स्थिति को प्राप्त कर सकें। प्रत्येक आत्मा को अपने कर्मानुसार सुख दुख का फल भोगना ही चाहिए, सच तो यह है कि हर आत्मा अपना भावी भाग्य विधाता स्वयं ही हैं। किसी आत्मा के पुण्य-पाप का दूसरे के साथ विनिमय होना बिल्कुल ही निराधार है, अतः ऐसे विचारों से कोई किसी का आश्रित या आधीन नहीं बनता है और विश्वास एवं आशा पूर्वक अपना कर्त्तव्य पालन करता हुआ निरंतर प्रगतिशील बना रहता है। यदि कोई पुरुष बाह्य अथवा आंतरिक दबाव के कारण दुष्ट या हत्यारा बन जाता है तो उसे निराश नहीं होना चाहिए; क्योंकि अन्तरंग से तो वह पवित्र ही है अतः जब कभी काललब्धि आवेगी वह स्वानुभूति कर आत्म कल्याण कर लेगा।

जैनधर्म में कुछ आचार संबंधी नियम सुनिश्चित हैं, जो मनुष्य को सामाजिक प्राणी के रूप में क्रमशः विकास करने में सहायक होते हैं। जब तक वह समाज में रहता है तब तक आध्यात्मिक उन्नति के साथ साथ समाज सेवा की ओर विशेष आकृष्ट रहता है, पर यदि वह सांसारिक झंझटों को छोड़ मुनिपद अंगीकार करता है तो फिर

उसका सामाजिक उत्तरदायित्व घट जाता है। जैनधर्म में श्रावकों के कर्त्तव्य मुनियों जैसे ही होते हैं पर मात्रा (Degree) में कुछ कम होते हैं, अतः श्रावक अपनी क्रियाओं का आचरण करता हुआ क्रमशः मुनिपद प्राप्त कर सकता है।

अहिंसा एक ऐसा सिद्धान्त है जो जीवन में जैन दृष्टि का प्रवेश कराती है, जिसका मूल अर्थ है प्राणीमात्र पर अत्यधिक करुणाभाव रखना। जैनधर्म की दृष्टि से सभी प्राणी समान हैं और हर धार्मिक पुरुष का कर्त्तव्य है कि उसके द्वारा (निमित्त से) किसी को कष्ट न पहुँचे। प्रत्येक प्राणी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व एवं गौरव है और यदि कोई अपना अस्तित्व कायम रखना चाहता है तो उसे दूसरों के अस्तित्व का भी आदर करना चाहिए। एक दयालु पुरुष अपने चारों ओर दया का वातावरण बनाये रखता है। जैनधर्म में यह सुनिश्चित है कि बिना किसी जाति, धर्म, रंग, वर्ग तथा स्थान के भेदभाव से जीवन पूर्ण रूपेण पवित्र एवं सम्माननीय है। जैनधर्म की दृष्टि से हिरोशिमा और नागासाकी का निवासी उतना ही पवित्र एवं श्रेष्ठ है, जितना कि लंदन और न्यूयार्क का। उनके काले-गोरे रंग, भोजन अथवा वेष भूषा ये सब बाह्य विशेषण मात्र ही हैं। इस प्रकार अहिंसा की प्रक्रिया वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों ही रूप से एक महान सद्‌गुण है और क्रोधादि कषायों से रहित एवं रागद्वेष विहीन। यह करुणा का भाव निस्सन्देह बड़ा प्रभावक एवं शक्तिशाली होता है।

जैनाचार का दूसरा महान गुण है भाईचारा या मैत्री भाव (Neighbourliness)। प्रत्येक पुरुष को सत्य बोलना चाहिए और दूसरे के गुणों का आदर करना चाहिए, जिससे समाज में उसका मान और विश्वास बढ़े तथा साथ ही वह दूसरों के लिए सुरक्षा का वातावरण निर्माण में सहायक बन सकें। यह बिल्कुल व्यर्थ एवं हेय है कि अपने पड़ोसी के साथ तो दुष्टता का व्यवहार करे और समुद्र पार विदेशियों के प्रति विश्वबन्धुत्व एवं उदारता दिखाने का ढोंग रचें। व्यक्तिगत कारुण्य पारस्परिक विश्वास एवं आपसी सुरक्षा के भाव अपने पड़ोसी से ही आरम्भ होना चाहिए। और फिर वे क्रमशः उत्तरोत्तर स्तर पर सक्रियरूप से समाज में फैलाना चाहिए, कोरे रूक्ष सिद्धान्तों के रूप में नहीं। ये सद्‌गुण सुयोग्य नागरिकों के अनुकूल सामाजिक एवं राजनीतिक वर्ग तैयार करते हैं जो मानवीय दृष्टि से अच्छे आदमियों के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए उत्साहित करते हैं।

तीसरा विशिष्ट गुण है ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जो धार्मिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ विभिन्न दशाओं व विभिन्न मात्राओं में सीखा जाता है। एक आदर्श धार्मिक पुरुष जब मन वचन कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है तो उसकी चिरसंचित निधि का अंतिम अवशेष उसका शरीर मात्र ही रह जाता है जिसे स्थिर (जीवित) रखने के लिए उसकी आवश्यकताएँ भी अत्यधिक सीमित रह जाती हैं और जब इनका भी धर्म साधन में कोई योग नहीं रह जाता तो इन्हें भी वह सहर्ष परित्याग कर देता है। सुख-शांति की खोज मानव मात्र का एक चरम लक्ष्य है। यदि वैयक्तिक प्रवृत्तियों एवं इच्छाओं को विधिवत् रूप से काबू में रखने का प्रयत्न किया जाय तो फिर मनुष्य को मानसिक आनन्द एवं आध्यात्मिक शांति तो मिल ही जाती है। स्वेच्छापूर्वक धन की आवश्यकताओं को सीमित करना एक बहुत बड़ा सामाजिक गुण है जिससे सामाजिक न्याय एवं उपभोग की वस्तुओं का समुचित वितरण होता रहता है। सशक्त एवं श्रीमंत लोग निर्बल एवं गरीबों को कूड़ा करकट या उपेक्षित कदापि न समझें, अपितु वे अपनी अभिलाषाओं एवं आवश्यकताओं को स्वेच्छा पूर्वक क्रमशः नियंत्रित करें जिससे उपेक्षित वर्ग भी जीवन में अच्छी तरह जीने के सुअवसर प्राप्त कर सके। ये गुण व्यक्ति या समाज में बाहरी दबाव अथवा कानून से नहीं थोपे जा सकते अन्यथा गुप्त पाप और छल एवं पाखण्ड की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगेंगी। अतः बुद्धिमान पुरुष को इन गुणों का क्रमशः अभ्यास कर एक उच्च आदर्श उपस्थित करना चाहिए, जिससे एक प्रबुद्ध एवं सशक्त समाज का क्रमिक विकास हो सके।

व्यक्ति का बौद्धिक स्तर बनाने वाले बहुत से तत्त्व हैं, जैसे वंश परम्परा, वातावरण, पालन-पोषण, अध्ययन और अनुभव इत्यादि, पर उसके विचार एवं विश्वास (दृढ़ता) का निर्माण तो बौद्धिक स्तर से ही होता है और वह यदि बौद्धिक ईमानदारी एवं भावाभिव्यक्ति के ऐक्य में पिछड़

जाता है तो फिर ये सब गुण दूषित हो जाते हैं और मनुष्य की व्यक्तिगत या सामूहिक भावनाओं अथवा तौर-तरीकों के अनुसार विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं, इसीलिए विचारों की निर्द्वन्द्वता एवं दृष्टिकोण का सहयोग दुर्लभ-सा ही होता जाता है। प्रायः हम सब अपने आपको बहुत अच्छा और ठीक समझते हैं पर किसी विषय पर आपस में सहमत होने की अपेक्षा असहमत होना आसान ही नहीं स्वाभाविक भी है, इसी स्थिति से निपटने के लिए जैनधर्म ने विश्व को दो बड़े महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की भेंट प्रस्तुत की हैं, वे हैं नयवाद और स्याद्वाद, जो किसी विषय को समझने और समझाने में बड़े साधक होते हैं। पदार्थ के विभिन्न दृष्टिकोणों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण नयवाद से होता है। एक उलझे हुए प्रश्न के विश्लेषणात्मक परिचय का यह एक सुन्दर उपाय है। नय एक ऐसा विशेष मार्ग है जो एक सम्पूर्ण पदार्थ के किसी एक भाग अथवा दृष्टिकोण का विवेचन करता है, जिससे सम्पूर्ण पदार्थ गलत नहीं समझा जा सकता। इन विभिन्न दृष्टिकोणों के समन्वय की भी एक नितान्त आवश्यकता है जिसमें प्रत्येक दृष्टिकोण अपनी उचित स्थिति प्राप्त कर सके और यह कार्य "स्याद्वाद" द्वारा होता है। एक व्यक्ति अस्ति, नास्ति और उभय रूप से पदार्थ का वर्णन कर सकता है। इन तीनों के संयोग से सात अन्य विशेषण और बन जाते हैं जो स्यात् शब्द के जुड़ने से विषयको समझने और समझाने का एक समुचित मार्ग बन जाता है। अस्ति नास्ति के विवेचन में स्याद्वाद पृथक् नय के सत्तात्मक दृष्टिकोण को दबा देता है। प्रो० ए० बी० ध्रुव ने कहा है "स्याद्वाद काल्पनिक रुचिका सिद्धान्त नहीं है जो सत्व विद्या (प्राणि विज्ञान) सम्बन्धी समस्याओं को आसानी से सुलझा सके अपितु यह तो मनुष्य के मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक जीवन के ताल-मेल को बैठाता है"। एक दार्शनिक जब जैनधर्म के मूलतत्त्व अहिंसा एवं बौद्धिक सहयोग के साथ अन्य धार्मिक विचारों पर अपने मत व्यक्त करता है तो उसमें स्याद्वाद से विचारों की निष्पक्षता आती है और यह निश्चित करता है कि सत्य किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं है और ना ही किसी जाति या धर्म की सीमाओं में सीमित है।

मनुष्य का ज्ञान सीमित एवं अभिव्यक्ति अपूर्ण है अतः विभिन्न सिद्धान्त भी अपूर्ण ही हैं, ज्यादा से ज्यादा वे सत्य की एक तरफा दृष्टि को ही पेश करते हैं जो शब्द या विचारों द्वारा ठीक रूप से व्यक्त नहीं की जा सकती। धर्म सत्य का प्रतिनिधित्व करता है, अतः सहिष्णुता जैन धर्म एवं आदर्शों की मूल आधारशिला है। इस सम्बन्ध में तो जैन शासकों और सेनापतियों तक के आदर्श अनुकरणीय है। भारत के राजनैतिक इतिहास से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि किसी भी जैन शासक ने कभी किसी को मौत की सजा नहीं दी, जब कि जैन साधु एवं जैनियों को अन्य धर्मावलम्बियों की धर्मान्धता का कोप-भाजन बनना पड़ा। डा० Saletore ने ठीक ही कहा है "जैनधर्म के महान् सिद्धान्त अहिंसा ने हिन्दू संस्कृति को सहिष्णुता के सम्बन्ध में बहुत कुछ दिया है तथा यह भी सुनिश्चित है कि जैनियों ने सहिष्णुता का पालन जितनी अच्छी तरह एवं सफलतापूर्वक किया उतना भारत के अन्य किसी वर्ग ने नहीं किया।"

एक समय था जब मनुष्य प्रकृति की दया पर निर्भर था, पर आज प्रकृति के रहस्यों पर विजय पाकर वह उसका स्वामी बन बैठा है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का तेजी से विकास हो रहा है। अणु शक्ति एवं राकेटों के आविष्कार ऐसे आश्चर्यकारी हैं कि यदि वैज्ञानिक चाहे तो सम्पूर्ण मानव जाति को कुछ ही क्षणों में ध्वंस कर सारी की सारी पृथ्वी को ही अदल-बदल सकता है, अतः आज सम्पूर्ण मानव जाति विपत्ति के कंगार पर खड़ी है, जिससे उसका मस्तिष्क पथ-भ्रष्ट हो चकरा रहा है तथा उसकी शरण में भाग रहा है जहाँ इस विनाश से सुरक्षा (राहत) मिल सके अतः निश्चय ही हमें अपने प्राचीन आदर्शों का पुनरंकन करना होगा।

वैज्ञानिक प्रगति मनुष्य को अधिकाधिक सुख-शान्ति प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील है, पर दुर्भाग्यवश मनुष्य मनुष्य रूप से नहीं समझा जा रहा है, प्रायः गोरी जातियाँ ही मनुष्यता की अधिकारिणी समझी जाती हैं यही दृष्टिकोण हमारे नैतिक स्तर का विध्वंसक है। यदि विश्व का कुछ भाग अधिक सुसभ्य एवं प्रगतिशील बना हुआ समझा जाता है तो वह निश्चय ही विश्व के बाकी भाग की नादानी

एवं सज्जनता के बल-बूते पर ही बना है। मानव जाति का सहयोगात्मक सामूहिक विकास ही जातिभेद नीति को जड़-मूल से नष्ट कर सकता है। अपनी व्यक्तिगत समृद्धता एवं श्रेष्ठता की अपेक्षा मानवमात्र की श्रेष्ठता एवं पवित्रता का महत्त्व समझा जाना चाहिए। वैज्ञानिक प्रवृत्ति एवं साधु प्रवृत्ति के परस्पर सहयोग होने पर ही मनुष्य सही ढंग से मनुष्य के रूप में परखा जा सकता है। तकनीकी रूप से संगठित इस विश्व में अब स्व-पर का भेद बहुत ही थोड़ा रह गया है। आज अपना कल्याण दूसरों के कल्याण पर ही निर्भर है। यदि इस अहिंसा के सिद्धांत को ठीक ढंग से समझा जावे एवं प्रयोग किया जावे तो विश्व नागरिकता के मानवीय दृष्टि की यह एक आवश्यक आधारशिला बन सकती है।

मनुष्य की सुगठित क्रूरता से हमें निराश नहीं होना चाहिए। कर्म सिद्धान्त के अनुसार हम अपने भाग्य विधाता स्वयं ही हैं। हम आत्म निरीक्षण करें, अपने विचारों का विश्लेषण करें तथा अपने उद्देश्यों का वैयक्तिक व सामूहिक रूप से अनुमान लगायें और किसी भी शक्ति के आगे हीनतापूर्वक झुके बिना ही इस विश्वास और आशा के साथ स्व-कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर रहें कि मनुष्य को अपने अस्तित्व एवं भलाई के लिए उन्नति का प्रयत्न करना है। देवत्व प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है और वह धर्म के मार्ग का अनुसरण कर इस देवत्व को प्राप्त कर सकता है। विज्ञान एवं तकनीकी बुद्धि बल से हमें निर्णय करना है कि आया हम मानव समाज की भलाई को आगे बढ़ाना चाहते हैं अथवा स्वयंको रेडियम धर्मी धूलि के ढेर रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं।

अच्छा पड़ोसीपन एवं लालसाओं पर नियन्त्रण, ये दोनों बड़े श्रेष्ठ सद्‌गुण हैं। सत्य सदा सत्य ही रहता है उसे वैयक्तिक, सामूहिक, राजनैतिक अथवा सामाजिक किसी भी दृष्टि से देखिए, एक ही मिलेगा। जिसे स्वयं आत्मज्ञान नहीं है और ना ही दूसरों को मनुष्य रूप से जानने की इच्छा है वह दूसरों के साथ तो क्या स्वयं भी सुख-शांति से नहीं रह सकता है। स्व-पर विवेक ही हमारे आपसी सन्देहों को मिटा कर युद्ध के लगातार भय को सन्तुलित करता है एवं हमें शांति पूर्ण सहअस्तित्व की स्थिति में ले जाता है।

आजकल विचार एवं भाषण की स्वतन्त्रता एक विलक्षण ढंग से पंगु हो रही हैं। लोगों के अपने अभिप्राय पूर्ण प्रचार यथार्थ सत्य को छिपा ही नहीं देते अपितु उसे ऐसा तोड़-मरोड़ कर पेश करते हैं कि सारा संसार पथभ्रष्ट हो भटक रहा है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि विवेकी पुरुष स्वयं प्रबुद्ध रहे तथा अपने ज्ञान की सीमाओं को समझता हुआ नय एवं स्याद्वाद रूप से दूसरों के दृष्टिकोणों का आदर करना सीखे। हम मानव में मानवता के विश्वास को न खोयें और परस्पर प्रत्येक का मानव रूप में ही आदर करना सीखें तथा मनुष्य को विश्व नागरिक के रूप से स्वस्थ एवं प्रगतिशील स्थिति में रहने देने में योग दें। जैन धर्म के मूल सिद्धान्त (अहिंसा, व्रत, नयवाद और स्याद्वाद) यदि सही ढंग से समझे जावें तथा उनका ठीक ढंग से प्रयोग किया जावे तो प्रत्येक व्यक्ति विश्व का सुयोग्यतम नागरिक बन सकता है।

अनुवादक—कुन्दनलाल जैन एम. ए., एल. टी.

हंसान्योक्ति

मानसर धरनी मुदित मराल तहां पंकज हू पौन करैं सुखन सुरावै है।
मधुप मधुप धुनि गावत गुंजार कर मुक्ताफलती खिलावै सदा मन सांचै है।
एक समय बाजी वाय छूट गयो वास थल, ऐसी बिध करी हंस कूपजल जाचै है।
कहत 'भ्रमर कवि' भूत भावी वर्तमान सुख दुख सहै जीव कर्म वस नाचै है ॥

पवित्र पतितात्मा

लेखक—श्री सत्याश्रय भारती

(१)

नहीं पिताजी, यह कभी नहीं हो सकता । संसार मुझे विष समान मालूम होता है । इस निःसार जीवन के लिये मैं सच्चा जीवन नहीं खो सकता ।'

'बेटा, तुम्हारा कहना ठीक है । लेकिन साधु-जीवन बड़ा कठिन है । कोई भी चीज वहीं तक अच्छी है जहाँ तक हम उसे सह सकें । अगर पच न सके तो अमृत भी विष हो जाता है ।'

कुछ भी हो । मैं नही मान सकता ।'

नन्दिषेण ! तुम राजमहलों में रहे हो ! भला, किस तरह जंगल मे रहोगे ?

'पिता जी ! शेर के बच्चे को जंगल में रहना सिखाना नहीं पड़ता । वह जंगल में ही सुखी रहता है । सोने का पिंजड़ा देखकर वह लुभा नहीं जाता ।

'नन्दिषेण ! मेरा साहस नहीं होता कि तुम्हें दीक्षा लेने की आज्ञा दूँ । परन्तु तुम्हारा हठ जबर्दस्त है । जब तक तुम ठोकर न खाओगे तब तक तुम्हें किसी की शिक्षा न लगेगी । खैर जाओ मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ ।

नन्दिषेण महाराज श्रेणिक को प्रणाम करके चले गये और भगवान महावीर के समवशरण में पहुँचे । वहाँ पर भी सबने रोका परन्तु उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा । आखिर उनने दीक्षा ले ही ली ।

(२)

मानव हृदय एक तरह की गेंद है जो टक्कर खाकर और भी अधिक उछलता है । नन्दिषेण को ज्यों-ज्यों रोका गया त्यों त्यो उनका हृदय और भी अधिक उछलता गया, और इसी जोश में उनने दीक्षा ले ली नन्दिषेण विपत्तियों से डरने वाले नहीं थे । जंगलों में शेर की गर्जना उनके हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं डालती थी । कड़ी से कड़ी धूप और कड़ी से कड़ी ठंड को वे बिना किसी संक्लेश के सह जाते थे । कई दिन के उपवास से उनका शरीर भले ही कृश हो जाता हो परन्तु उनकी आत्मा पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था । विपत्तियों को उनने चूर चूर कर दिया था । वे एक अजेय वीर साबित हो चुके थे । जिन लोगों ने उनको दीक्षा लेने से रोका था वे भी आश्चर्यचकित हो गये और अपने रोकने पर उन्हें पश्चाताप हो रहा था ।

मनुष्य की प्रकृति विचित्र है । वह भौंरे के समान हैं । भौंरा काठ को काट डालता है परन्तु कमल के पत्र को नहीं काट पाता । मनुष्य भी बड़ी बड़ी आपत्तियों को चूर्ण कर डालता है परन्तु प्रलोभनों की मार पड़ने पर हार जाता है । नन्दिषेण ने विपत्तियों को जीत लिया था किन्तु प्रलोभनों का जीतना बाकी था । सब से बड़ी परीक्षा देने की ओर उनका ध्यान न था ।

रूक्ष भोजन तथा अन्य तपस्याओं ने उनकी इन्द्रियों को बहुत कुछ शिथिल कर दिया था फिर भी जवानी के जोश को वे मार न सकीं । भीतर का शत्रु दब गया पर मरा नहीं । वह चुपचाप पड़ा-पड़ा मौके की बाट देखता रहा ।

(३)

नगर भर में कामकान्ता का नाम प्रसिद्ध था । उस नगर के वेश्या जगत् की यह रानी थी, अनेक युवकों को उसने अपनी आँखों के इशारे पर नचाया था । अनेकों को गन्ने की तरह चूस कर रास्ते का कूड़ा-कचरा बना दिया था । उसका बड़ा ठाटबाट था । लेकिन उसकी वास्तविक सम्पत्ति थी उसका यौवन और उस से भी बड़ी सम्पत्ति थी उसका सौन्दर्य और सब से ज्यादा जहर था उसकी तिरछी चितवन में ।

एक दिन नन्दिषेण मुनि उसी नगर में भिक्षा के लिये गये । उनने कामकान्ता को देखा । उसी समय काम ने उनके हृदय पर चोट की । हृदय डाँवाडोल हुआ । नन्दिषेण ने उस दिन भिक्षा न ली और लौट आये ।

स्थान पर आकर उन्होने अपने चित्त को स्थिर करने की बहुत कोशिश की, बहुत आत्मचिन्तन किया किन्तु सब व्यर्थ। काम ने उनको जकड़कर पकड़ लिया था और अब वे एक तरह से पिंजड़ें में पड़े हुए शेर के समान हो रहे थे।

आज रात्रिभर नन्दिषेण को निद्रा न आई। वे आँखें मींचते थे लेकिन अंधेरा न होता था सामने कामकान्ता नजर आने लगती थी। उनके हृदय में एक प्रकार का युद्ध हो रहा था। रागवृत्ति और विरागवृत्ति एक दूसरे को पराजित करना चाहती थी।

नन्दिषेण! क्यों जरासे प्रलोभन में पड़कर अपनी अमूल्य सम्पत्ति को बरबाद कर रहे हो! अगर तुम्हें भोग ही भोगना था तो घर में ही क्या कमी थी? यह व्रत क्यों धारण किया था।

'जो कुछ हो। अब यह व्रत नहीं पाल सकता। घर में भोगों से तृप्त हो गया था इसीलिये भोग छोड़ दिये थे अब फिर भूख लगी है तो क्या भूखों मरता रहूँ?

'तो क्या नन्दिषेण! भूख के लिये विष खालोगे! जिसको तुम उचित समझ कर छोड़ आये हो उसी का फिर सेवन करोगे?

उच्छिष्ट और अनन्तकाल से खा रहा हूँ। भूख न लगे वह अच्छा, अथवा लगे तो उसे सहन कर सकूँ तो अच्छा, लेकिन भूख के दुःख से बिलबिलाता रहूँ और उच्छिष्ट-अनुच्छिष्ट का विचार करता रहूँ, इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी? नहीं, अब यह वेदना मुझ से न सही जायगी।'

'अरे! तुम राजपुत्र होकर ऐसी बात करते हो!

'राजपुत्र हूँ या कोई हूँ, आखिर मनुष्य हूँ—मैं जड़ नहीं हूँ। जो मनुष्य सौन्दर्य पर मुग्ध नहीं होता वह या तो ईश्वर है या जड़। मुझ में कमजोरी है, मैं ईश्वर नहीं बन पाया हूँ इसलिये सौन्दर्य का प्रभाव मेरे ऊपर न पडे यह कैसे हो सकता है?

इस तरह दोनों वृत्तियों का घोर युद्ध होता रहा। लेकिन नन्दिषेण का हृदय स्थानच्युत हो गया था, वह सम्हल न सका। दूसरे दिन नन्दिषेण भिक्षा के लिये नगर में गये और उसी वेश्या के मकान पर पहुँचे।

कामकान्ता ने देखा कि एक साधु उसी के घर की ओर आ रहे हैं। आज तक उसने सैकड़ों युवकों को देखा था और उन को अपना शिकार बनाया था। लेकिन आज उसे मालूम हुआ कि मैं स्वयं शिकार बन रही हूँ।

आजतक उसने तन बेचा था, लेकिन आज उसका मन छीना जा रहा था। नन्दिषेण को देखकर उसका मन काबू में न रहा। वेश्या पुरुष की दासी नहीं है किन्तु धन की दासी है। लेकिन आज वह अपने सिद्धांत पर विजय प्राप्त न कर सकी।

नन्दिषेण धीरे धीरे वहाँ पहुँचे। उसने बहुत कोशिश की कि अभी कुछ नहीं बिगड़ा इसलिए लौट चलूँ, परन्तु वे न लौट सके। फिर सोचा, अगर कामकान्ता मेरा तिरस्कार कर दे तो भी अच्छा है। लेकिन यह भी न हुआ। कामकान्ता ने विनय से कहा—"महाराज क्या आज्ञा है?"

नन्दिषेण चुप रहे उसने सोचा—अब भी भाग सकता हूँ। उनने पीछे देखा भी, परन्तु भाग न सके।

कामकान्ता सब कुछ ताड़ गई। उसने पशुओं को नहीं, किन्तु मनुष्यों को चराया था वह मनोविज्ञान की पंडिता थी। आज उसे अपनी विजय पर गर्व था। विजय के सच्चे गर्व से मनुष्य नम्र हो जाता है। इस नम्रता से वह अपने गर्व का जितना परिचय दे सकता है उतना अन्य तरह नहीं। इसीलिए उसने फिर अत्यन्त नम्रता से कहा—'देव! दासी पर कृपा कीजिये! यह सारी सम्पत्ति आपकी है। मेरा यौवन, मेरा सौन्दर्य, मेरा शरीर और मेरे प्राण भी आपके हैं।'

नन्दिषेण ने कहा—'कामकान्ता! मैं निर्धन हूँ। क्या तुझ से यह भी नहीं हो सकता है कि मेरा अपमान कर दे? मुझे धुतकार दे? तू वेश्या होकर भी एक निर्धन को क्यों चाहती है? तू अपने धर्म को क्यों भूलती है?'

कामकान्ता ने लज्जा से सिर झुकाकर कहा— 'देव! स्त्री, चाहे वेश्या हो या पतिव्रता, वह एक ही पुरुष को चाहती है। वेश्याओं का हृदय भी कुलवती स्त्रियों के समान कोमल होता है, उस में भी प्रेम होता है और अगर धृष्टता माफ़ हो तो मैं यह भी कह सकती हूँ कि वह प्रेम इतना ही पवित्र होता है जितना कि कुलवती स्त्रियों का।'

नन्दिषेण ने ताज्जुब से कहा—'क्या वह प्रेम पवित्र होता है ? तुम्हारी यह बात मेरी समझ में नहीं आती !'

कामकान्ता उत्तेजित होकर बोली—'हां, वह प्रेम पवित्र होता है ? मैं सौ बार कहती हूँ कि वह प्रेम पवित्र होता है।'

'तब वे सैकड़ो पुरुषों के हाथ उस प्रेम को क्यों बेचती हैं ? क्या पवित्र प्रेम इस तरह बेचा जा सकता है ?'

'नाथ ! कोई भी वेश्या प्रेम नहीं बेचती ! फिर पवित्र प्रेम की तो बात ही क्या है ? वह तन बेचती है, मन नहीं बेचती। प्रेम मन में रहता है-तन में नही रहता।'

'कामकान्ता ! तेरी बातें मधुर और जोरदार हैं, लेकिन ये मेरे हृदय पर बड़ी भारी चोट कर रही हैं। मेरा हृदय फिसलता हुआ था, तूने पैर पकड़ कर नीचे की ओर खींच लिया। मेरा बुद्धि बल व्यर्थ जा रहा है। मैं जान-बूझ कर विष पी रहा हूँ।'

'देव ! तब आप जाइये। एक वेश्या के पास विष पीने के लिए न आइये। मैं यह नहीं चाहती कि आपको पतित होना पड़े। सच्चा प्रेम, प्रेमी का पतन नही चाहता, उत्थान चाहता है। जाइये नाथ ! जाइये। मेरे हृदय को छीनकर वन का रास्ता लीजिये।'

नन्दिषेण चुप रहे। वे स्वयं निर्णय नही कर पाते थे -रहूँ या जाऊँ'। नन्दिषेण को चुप देखकर कामकान्ता ने कहा—प्यारे ! अगर संसार में प्रेम कोई चीज है और पुरुषों में हृदय नाम का कोई पदार्थ होता है तो आपको वन में भी शान्ति न मिलेगी। मेरा प्रेम आपके हृदय को चैन नहीं लेने देगा, आप इधर से भी जायँगे और उधर से भी जायँगे। आप पहिले सोच लीजिये और फिर जिसमें आपका कल्याण हो वही कीजिये। मैं अपने लिये आपको नहीं गिरा सकती :'

'कामकान्ता ! तेरी बातों से मैं पागल हो जाऊँगा। मुझे सोचने दे। परन्तु सोचूँ क्या ? मैं हृदय खो चुका हूँ और बुद्धि से भी हाथ धो चुका हूँ। मैं मानता हूँ कि यदि मैं इधर से चला जाऊँ तो मुझे वन में भी शान्ति नहीं मिलेगी। किन्तु मुझे चिन्ता यही है कि मैं अपने पवित्र जीवन को इस प्रकार नष्ट कैसे करूँ ?'

'नाथ ! आप मेरे साथ रहकर भी परोपकार कर सकते हैं। धार्मिक जीवन भी बिता सकते हैं। सैकड़ों मनुष्यों को धर्म मार्ग पर लगा सकते है।

'तेरे यहाँ कौन भला आदमी धर्म सुनने को आयेगा।'

'दुनियाँ में जो भले आदमी कहे जाते हैं उनमें से हजारों आदमी मेरे यहाँ धूल चाटते है। अगर मैं उनकी ओर देख दूं तो वे अपने को कृतकृत्य समझें। अगर आप मेरे यहाँ आने वालों को पतित समझते है तो मैं सिद्ध कर दूँगी कि समाज में हजारों लोग गाय का मुंह लगाकर शिकार करते हैं। समाज एक शरीर है जो ऊपर साफ सुन्दर और भीतर से महा गन्दा और दुर्गन्धित है।'

'अनुभव की मूर्ति ! तेरी बातें सुनकर मैं चकित हो गया हूँ यदि सचमुच समाज की यह दशा है तो मैं उसे हाथ जोड़ता हूँ। मैं उसका भला नहीं कर सकता।'

कामकान्ता को हँसते देख कर नन्दिषेण ने आश्चर्य से सिर हिलाकर पूछा—'हंसती क्यों हो ?'

'क्या आप भले आदमियों को सुधारना चाहते हैं ? परन्तु इसमें बहादुरी क्या है ? बहादुरी तो इस बात में है कि आप बिगड़ों को बनावें। सुधरे तो सुधरे हुए ही हैं, उन्हें आपकी जरूरत नहीं है। आपकी जरूरत है उन शूद्रों को, जो समाज में ज्ञान के अधिकारी भी नहीं माने गये हैं, जिन्हें समाज ने पशुओं से भी बदतर समझा है। आपकी जरूरत है उन दीन महिलाओं को, जो अन्याय की चक्की में पिस रही हैं, गुलामी करना ही जिनके लिए धर्म बतलाया जा रहा है। जो बिगड़ा है, जहाँ अनेक खराबियाँ हैं—वहीं सुधारकों की जरूरत है, वहीं सुधार करना चाहिए। स्वर्ग लोक में तीर्थंकर नहीं होते, नरलोक में तीर्थंकर होते है।

कामकान्ता की बातें सुनकर नन्दिषेण पत्थर की मूर्ति की तरह चुप रहे। उनके हृदय में आश्चर्य की लहरें उठने लगीं। यह वेश्या है, परन्तु इसके भीतर कितना ज्ञान है ! कितनी पात्रता है ! क्या यह शक्ति सुमार्ग पर नहीं लगाई जा सकती ? मैं एक बार उद्योग करूंगा।

"कामकान्ता ! मैं एक प्रतिज्ञा के साथ तेरे यहां रह सकता हूँ।"

'वह क्या ?'

'मैं प्रतिदिन दस मनुष्यों को प्रबोध देकर भगवान महावीर के पास भेजा करूंगा।'

'मुझे स्वीकार है!'

'अब मैं तेरे यहां रहने को तैयार हूँ आज तेरी पूर्ण विजय हुई है।'

'नाथ, यह मेरी विजय नहीं, प्रेम की विजय है।'

(५)

नन्दिषेण दस आदमियों को प्रबोध देकर प्रतिदिन भगवान महावीर के पास भेजते रहे। उनकी वाणी में ओज था जिसे सुनकर लोगों के दिल पिघल जाते थे। अपनी वक्तृत्व शक्ति के बल पर बहुत दिनों तक वे इसी प्रकार आदमी भेजते रहे। एक दिन उन्हें सिर्फ नौ आदमी ही मिले। दसवां एक सुनार था। नन्दिषेण ने उसे बहुत समझाया परन्तु वह न माना। बल्कि जाते जाते वह कह गया कि आप तो वेश्या के यहां मौज कर रहे हैं और हमें उपदेश देते हैं—वैराग्य का।

यह अप्रिय सत्य, नन्दिषेण के हृदय में गोली की तरह लगा। नन्दिषेण की पतितात्मा मर गई और उसमें पवित्रात्मा का जन्म हुआ। उनके हृदय में बार बार वही ध्वनि गूंजने लगी। अन्त में उनने मन ही मन कहा कि उस मनुष्य को उपदेश देने का क्या अधिकार है? जो उस पथपर नहीं चल सकता। यही सोचते सोचते वे घर आये।

कामकान्ता ने उनका उदास मुँह देखकर कहा—नाथ आज यह उदासी क्यों?

'कामकान्ता!' आज तक मैं कितनी भूल पर था? मुझे यह अधिकार नहीं है कि जिस पथ पर मैं नहीं चल सकता उस पर दूसरों को चलाऊँ।'

'तब क्या आप दूसरों को प्रबोध नहीं देना चाहते?'

'सो तो मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ।'

'दोनों बातों का पालन कैसे होगा?।

'कामकान्ता, अब मैं क्षमा चाहता हूँ। आज दसवां आदमी नहीं मिल रहा है। इस लिए अपनी प्रतिज्ञा पालन करने के लिए मैं स्वयं दसवां आदमी बनकर भगवान के पास जाता हूँ।

क्या दसवाँ आदमी मैं नहीं बन सकती?'

'कामकान्ता, धर्म का मार्ग कठिन है।'

'आप इसकी चिन्ता न करें।'

आज नन्दिषेण ने भ० महावीर के पास दस आदमी न भेजे किन्तु दस आदमियों को लेकर वे स्वयं पहुँचे।

कवित्त

उर कौ उजारौ सौ उजारौ आप आतम कौ
अरि परि जारौ न्यारो देखौ नित नूर है।
जीअ क्रम काय करै जी कौ क्रम काय करै
आन कौ न जाप करै आप महासूर है॥
जाके परताप माँहि देख्यो परताप नाँहि
आतम प्रवाह ज्ञान सागर सपूर है।
नाही को विलोक लोकालोक कौ निवास
जामैं लोक सौ अतीत 'चन्द' चेतना सहूर है॥

(रूपचन्द)

नगर, खेट, कर्वट, मटम्ब और पत्तन आदि की परिभाषा

ले०—डा० दशरथ शर्मा

अनेकान्त के जून १९६२ के अङ्क में पृ० ५१ पर डा. नेमिचन्द जैन ने नगर, खेट, कर्वटादि की जो परिभाषा दी है वह हरिषेण के बृहत्कथाकोश में दी हुई परिभाषा से अंशतः भिन्न है। बृहत्कथाकोश वि० सं० १०८८ की कृति है। 'तथा चोक्तम्' शब्दों से उद्धृत और 'निगदन्ति मनीषिणः' शब्दों से निर्दिष्ट उसकी परिभाषा सं० १०८८ (सन् १०३१ ई०) से भी पर्याप्त प्राचीन रही होगी।

बृहत्कथाकोश के इस विषय के श्लोक निम्नलिखित है :—

"ग्रामं बृहद्वृति नूनं निगदन्ति मनीषिणः।
शालगोपुरसंपन्नं नगरं पौरसंकुलम् ॥९४-१४॥
नद्यद्रिवेष्टितं खेटं वृतं कर्वटमद्रिणा।
शतैः पञ्चभिराकीर्णं ग्रामाणां च मटम्बकम् ॥९४-१५॥
पत्तनं रत्नसंभूति सिन्धुवेलासमावृतम्।
द्रोणामुखमभिस्पष्टं सन्निवेशं नगोपरि ॥९४-१६॥

तथा चोक्तम्—

ग्रामोवृत्यावृतः स्यान्नगरमुरुचतुर्गोपुरोद्भासि शालं,
खेटं नद्यद्रिवेष्ट्यं परिवृतमभितः कर्वटं पर्वतेन।
युक्तं ग्रामैर्मटम्बं दलितदशशतैः पत्तनं रत्नयोनि-,
द्रोणाख्यं सिन्धुवेलावलयितमभितो वाहनं चाद्रिरूढम्।
॥९४-१७॥

इन श्लोकों के आधार पर ग्रामादि की परिभाषा इस प्रकार होगी :—

ग्राम—डा० नेमिचन्द्र जैन के मतानुसार 'जिसके चारों ओर दीवालें रहती हैं वह ग्राम कहलाता है।' हरिषेण के अनुसार ग्राम वह छोटी सी आदमियों की बस्ती है जो चारों ओर बड़ी सी बाड़ (वृति) से घिरी हो। ग्राम के चारों ओर दीवाल नहीं होती। कौटिल्य ने सौ कुलों से पाँच सौ कुलों तक की बस्ती को ग्राम की संज्ञा दी है।

नगर—ग्राम में सुरक्षा के लिए केवल बाड़ होती। नगर में चारों ओर मजबूत दीवाल होती, जिसे मध्यकालीन शब्दों में हम 'शहरपनाह' कह सकते हैं। इस दीवाल में नगर में प्रवेश करने के लिए चार मुख्य दरवाजे रहते; जैन कथाएं नगरों के वर्णनों से परिपूर्ण हैं।

खेट—नदी और पहाड़ों से वेष्टित होने के कारण पर्याप्त सुरक्षित स्थान का नाम खेट या खेटक है।

कर्वट—चारों ओर पर्वतों से घिरी बस्ती कर्वट कहलाती। कौटिल्य ने कार्वटिक संज्ञा उस स्थान विशेष को दी है जो दो सौ गाँवों के व्यापार आदि का केन्द्र होता (द्विशतग्राम्याः कार्वटिकं-अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, प्रथम अध्याय)।

मटम्ब—डा० नेमिचन्द्र ने "नदी और पर्वतों से वेष्टित स्थान" को मटम्ब माना है। वास्तव में यह परिभाषा खेट शब्द की है। मटम्ब तो उस बस्ती विशेष की संज्ञा है जो पाँच सौ ग्रामों के व्यापार आदि का केन्द्र होता हो।

पत्तन—पत्तन में रत्नों की प्राप्ति होती। अन्यत्र पत्तन का अर्थ ध्यान में रखते हुए हमें इस श्लोक का अर्थ सम्भवतः यह करना चाहिए कि पत्तन रत्न या धन के आगम का मुख्य स्थान था। पत्तन दो प्रकार के होते, जलपत्तन और स्थलपत्तन। कुछ टीकाकारों ने "जहाँ नौकाओं द्वारा गमन होता उसे 'पट्टन' और जहाँ नौकाओं के अतिरिक्त गाड़ियों और घोड़ों से भी गमन होता उसे पत्तन की संज्ञा दी है" (पत्तनं शकटैर्गम्यं घोटकैर्नौभिरेव च। नौभिरेव तु यद् गम्यं पट्टनं तत्प्रचक्षते॥ व्यवहारसूत्र पर मलयगिरि की वृत्ति, भाग ३, पृष्ठ १२७)। उद्धरण डा० सांडेसरा के 'जैन आगम साहित्य माँ गुजरात' से है।

द्रोणमुख—डा० नेमिचन्द्र ने नदी वेष्टित ग्राम को द्रोण की संज्ञा दी है जो ठीक प्रतीत नहीं होती। कौटिल्य के समय चार सौ ग्रामों के केन्द्रीय ग्राम की द्रोणमुख संज्ञा थी। बृहत्कथाकोश के 'सिन्धु वेलावलयितमभितः' से इसकी

समुद्र तट पर अवस्थिति निश्चित है। समुद्री बन्दरगाह ही द्रोणमुख कहलाता है। विषय को स्पष्ट करने के लिए डा० सांडेसरा की उपर्युक्त पुस्तक से दो उद्धरण पर्याप्त होंगे।

१. दोहिं गम्मति जलेण वि थलेण वि दोणमुहं, जहा भरुयच्छं तामलित्ति एवमादि (जिनदासगणि महत्तर की आचारांगसूत्र चूर्णि) पृ० २८२।

२. द्रोण्यो नावो मुखमस्येति द्रोणमुखं जल-स्थलनिर्गमप्रवेशं यथा भृगुकच्छं ताम्रलिप्तिर्वा (उत्तराध्ययन सूत्र पर शान्तिसूरि की वृत्ति, पृ० ६०५)।

संवाहन—डॉ० नेमिचन्द्र ने संवाहन को उपसमुद्रतट से वेष्टित ग्राम माना है। किंतु बृहत्कथाकोशकार ने 'वाहन' को अद्रिरूढ़ कहा है, और उसी का अनुवाद सन्निवेशं नगोपरि' कह कर किया है। ऊपर दिये उद्धरणों को ध्यान में रखते' हुए 'सिन्धुवेलावलयित' 'सिन्धुवेलासमावृत' आदि शब्दों को हम द्रोणमुख के विशेषण ही मान सकते हैं।

दुर्गाटवी—डॉ० नेमिचन्द्र ने 'दुर्गाटवी' का अर्थ 'पर्वत पर रहने वाला ग्राम' कर डाला है जो वास्तव में पिछले शब्द का अर्थ है। अटवी शब्द वन प्रदेश के लिए और कभी कभी वन प्रदेश में रहने वाले जन समूह के लिए, अशोक की धर्मलिपियों में प्रयुक्त है। समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रख्यात प्रशस्ति में अटवि में रहने वालों के लिए 'आटविक' शब्द है। दुर्गाटवी केवल एक अटवि विशेष है जिसमें आवागमन अत्यन्त कठिन रहा होगा। दुर्ग शब्द के इस प्रयोग के लिए देखें :—

१. क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति (कठोपनिषद्)

२. दुर्गासि दुर्गभवसागरनौरसङ्गा (दुर्गासप्तशती)

इस बारे में और भी स्पष्ट निश्चय के लिए कि दुर्गाटवी 'पर्वत पर रहने वाला ग्राम' न था, अपितु केवल अटवि विशेष है, पाठक कुवलयमाला के निम्नलिखित उद्धरण को पढ़ें—

"अत्थि इओ अइदूरे णम्मया णाम महाणई। **तीए य दाहिणे कूले देयाडई णाम महाडई**। तीए देयाडईए मज्झे णम्मयाए णाइदूरे विंझगिरिवरस्य **पायासण्णे** अणेय-सउण-सावय-संकिण्णे पएसे एणिआ णाम महातावसी।"

(अनुच्छेद २५२, पृ० १५६)

इसमें रेखांकित शब्दों से स्पष्ट है कि देवाटवी केवल नर्मदा नदी के दक्षिण तट पर स्थित महान् अटवी का नाम था। उसी देवाटवी में नर्मदा के निकट विंध्यगिरि के पादासन्न प्रदेश में एणिका नाम की एक महातापसी रहती थी। यह ध्यान देने योग्य है कि यह प्रदेश भी 'पादासन्न, है 'अद्रिरूढ़' या 'निगोपरि' नहीं।

श्री हरिभद्रसूरि के ग्रन्थ साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में अनुपम हैं। आठवीं शताब्दी के भारतीय धार्मिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन को समझने के लिए उनके ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन और मनन की अत्यन्त आवश्यकता है। हरिभद्र एक युग-प्रवर्तक है।

पद
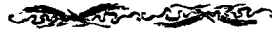
प्रभु तेरे दरसण की बलिहारी ॥ टेक ॥
निरविकार सुखकार अनूपम
कोटि चन्द्र दुति धारी ॥ १ ॥
भव-दधि पार भये याही तैं
ये निश्चै उर धारी।
'रूप' कहै भव-भव जाचत हूँ
पाऊं सरण तिहारी ॥ २ ॥

तीन विलक्षण जिन बिम्ब

लेखक—श्री नीरज जैन

इस महादेश में प्रचलित अनेक धर्मों में परस्पर जो साम्य और समन्वय प्रारम्भ से ही रहा है उसके अनेक उदाहरण प्रायः सभी धर्मों के शास्त्रों, स्तोत्रों तथा क्रिया-कलाप में बहुतायत से प्राप्त होते ही हैं पर इस प्रकार के साम्य एवं समन्वय का चित्रण मूर्त रूप में भी यत्र तत्र दिखाई दे जाता है और उससे हमारी सैकड़ो-हजारों वर्ष प्राचीन सरल-सामाजिक एवं उदार धार्मिक दृष्टि का पता चलता है।

पुरातत्त्व विशेषज्ञ तथा पर्यटक श्री मुनि कान्तिसागर ने "खण्डहरों का वैभव" में एक ऐसे पाषाण खण्ड का उल्लेख किया हैं जिसमें एक साथ शिव और भगवान आदि नाथ का अंकन किया हुआ उन्हें मिला था।

पुरातत्त्व दर्शन की लालसा में भ्रमण करते हुए मुझे भी कुछ ऐसी विलक्षण प्रतिमाओं का दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिन्हें देखकर उस युग की वैचारिक सरलता और धार्मिक उदारता पर गर्व करने का मन हो उठता है। ऐसी मूर्तियों में से तीन की चर्चा मैं इस लेख में कर रहा हूँ।

दो प्रतिमाएं पन्ना जिले के सिद्धनाथ नामक स्थान से कुछ समय पूर्व लाकर सलेहा के जैन मन्दिर में रख दी गई है। यह सिद्धनाथ अवश्य ही कभी जैन केन्द्र रहा होगा जैसा कि उस स्थान के नाम से और इन मनोहर सविशेष मूर्तियों से स्पष्ट हो जाता है। इस स्थल पर खोज किये जाने की आवश्यकता है। मूर्तियों का विवरण इस प्रकार है:—

आदिनाथ के गूंथे हुए जटा जूट

यह २७ इंच चौड़े और ४० इंच ऊँचे पाषाण फलक पर युगादि देव कीं पद्मासनस्थ प्रतिमा है। नीचे सिंहासन में दोनों ओर दो वहिर्मुख सिंह और बीच में धर्मचक्र का अंकन है। यह धर्मचक्र बुद्ध शिल्प की प्रतिकृति है तथा गुप्तकाल की प्रतिमाओं में अधिकतर पाया जाता हैं। मध्य कालीन मूर्तियों में इसका अंकन यदा कदा ही हुआ है। पीठिका के ऊपर से झूलती हुई झालर पर पुष्पमाल और वृषभ का चिह्न अंकित है, दोनों ओर दो कमलपुष्प बने हैं जिनके ऊपर २२+२२ इंच की पद्मासन श्रीवत्स चिह्नांकित भगवान आदिनाथ की मनोज्ञ मूर्ति है।

इस मूर्ति की सुन्दर जटाओं का अद्वितीय संयोजन ही इसकी विशेषता है। यहां केशराशि का संयोजन सीरा पहाड़ की गुफा में स्थित जैन प्रतिमाओं की तरह प्रारम्भ होता है तथा ऊपर जटाओं का बहुत कलात्मक गुंथन करके कलाकार ने स्पष्ट ही भुमरा के एकमुख शिव या नचना के चतुर्मुख शिव की जटाओं की प्रतिकृति प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इन दोनों शिव मूर्तियों की जटाओं से इस जटा-जूट संयोजन का साम्य इतना स्पष्ट है कि कलाकार की इस अद्‌भुत प्रेरणा का स्रोत उजागर हो उठा है। जटाओं की तीन तीन अलकें कानों के पीछे से आकर कन्धों पर लहराती दिखाई गई हैं और शेष जटाएं पीठ की ओर झूलती चली गई हैं तीर्थंकर प्रतिमाओं में इस प्रकार का केशराशि-संयोजन निश्चित ही अद्यावधि अनुपलब्ध है।

मूर्ति के पार्श्व भाग में गोमुख यक्ष और देवी चक्रेश्वरी का स्पष्ट अंकन है। प्रभामण्डल में कमल की आकृति दिखाई गई है जिसके दोनों ओर हाथ में पुष्पमाल लिए उड़ते हुए विद्याधर अंकित हैं। इन विद्याधरों का अवलम्बन लेकर स्थित की गई चौकी पर दोनों ओर से एक एक हाथी सूंड में घट लेकर भगवान का अभिषेक करते हुए दिखाए गए हैं। हाथियों के शरीर की मरोड़ तथा घटों की स्थिति सुन्दर बन पड़ी है। इन हाथियों के बीच में एक सुन्दर छत्र का भी अंकन है जिसे त्रैलोक्यनाथ की तीनलोक-परमेश्वरता बताने के अभिप्राय से तीन भागों में प्रदर्शित किया गया है।

महेश्वर का तीसरा नेत्र युगादिदेव के मस्तक पर

इसी मन्दिर में सिद्धनाथ से ही लाई गई यह एक और प्रतिमा है जिसका आकार १४×१८ इंच है। भगवान आदिनाथ की यह प्रतिमा-वृषभ-चिह्नांकित है। यद्यपि इसका केश-संयोजन साधारण गुच्छकों के माध्यम से दर्शाया गया है परन्तु कंधेपर जटाओं का अंकन दर्शनीय है। इस

मूर्ति की ही विशेषताएँ बरबस दर्शक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। प्रथम तो इसका पृष्ठभाग का फलक पृथक् सा दिखाई देता है और समूची मूर्ति खासे उभार के साथ चतुर्दिक् दर्शनीय (फोर डायमेन्शन) बन गई है। दूसरे इस भव्य प्रतिमा के उन्नत ललाट पर बीचों बीच तीसरा नेत्र बड़ी रुचि एवं सुन्दरता के साथ अंकित है।

ऊपर उल्लिखित भुमरा का निर्माण **भार शिव या वाकाटक** काल में (गुप्तकाल के पूर्व) हुआ था। नचना के चतुर्मुख शिव गुप्तकाल की धरोहर है तथा सीरा पहाड़ का जैन स्थापत्य इनका समकालीन है। इन आधारों पर तथा उपरोक्त दोनों मूर्तियों की सविशेष अंकन पद्धति के अवलोकन से भी इन प्रतिमाओं का निर्माण-काल निर्विवाद रूपेण गुप्तकाल ठहरता है। जैन स्थापत्य के ये दोनों विलक्षण प्रस्तर खण्ड महत्वपूर्ण है। अनमोल हैं।

तीर्थंकर के सान्निध्य में उमा महेश्वर ब्रह्मा और कार्तिकेय

रीवां जिले के गुढ़ नामक स्थान में मुझे कुछ महत्त्वपूर्ण कलावशेषों का पता मिला था। वहां जाने पर दो दो विशाल जैन प्रतिमाएँ एक कयोत्सर्ग आसन साढ़े छः फुट ऊँची तथा दूसरी पद्मासन साढ़े तीन फुट ऊँची मुझे प्राप्त भी हुईं, जो लाकर सतना के समीप रामवन के तुलसी संग्राहलय में स्थापित कर दी गई हैं, उनका वर्णन पृथक् किसी लेख में करूँगा, यहाँ तो चर्चा का विषय वह अपूर्वश्रुत अद्भुत प्रतिमा है जिसने मुझे आश्चर्य में डाल दिया है, इस मूर्ति के विशाल परिकर का का संदर्भ समझने में मैं अभी भी असमर्थ हूँ और उस विषय के विद्वानों का सहारा इस दिशा में चाहता हूँ।

गुढ़ में शंकर जी के मंदिर के आँगन में पूर्वी दीवाल पर लगी हुई यह अद्भुत प्रतिमा केवल एक फुट चौड़ी और डेढ़ फूट ऊँची है,, सबसे नीचे वृषभ (जोशंकर और दोनों की प्रतिमाओं का लक्षण है), उठता हुआ दिखाई दे रहा है, इसी के ही सामानान्तर मूर्ति के दाहिनी ओर सुन्दर मयूर पर आसीन एक मानवाकृति अंकित है, इन दोनों ने सिहासन का रूप निर्मित कर दिया है जिसके पार्श्व भाग में चामरधारी यक्ष-यक्षणी दृष्टव्य हैं।

सिंहासन के ऊपर मनोहारी देव युगल का अंकन है वह सहज ही उमा महेश्वर की भ्रान्ति का कारण बन जाता है, देव मूर्ति चतुर्भुज है जिसके एक दाहिने हाथ में त्रिशूल है तथा दूसरा हाथ नीचे घुटने पर रखा है। बायीं ओर एक हाथ में सम्भवतः नाग अंकित है तथा दूसरे हाथ में देवी प्रतिमा के उन्नत वक्ष भाग को आवेष्ठित कर रखा है। वामाङ्गी देवी मूर्ति दो भुजा धारिणी है जिसका दाहिना हाथ देवता के कंधे पर अवलम्बन भाव से पड़ा है तथा बायें हाथ में सम्भवत: पारिजात रहा होगा, जो खंडित है।

इसके पश्चात् ही इस मूर्ति की विलक्षणता प्रारम्भ होती है। देव युगल में शीर्ष भाग पर पृथक् पथक् नाग फणा वलि दर्शायी गई हैं, जिसमें देवता के ऊपर एक दाढ़ी धारी चतुर्मुख मूर्ति अंकित है तथा देवी प्रतिमा के ऊपर वाले फण पर अस्पष्ट सी मानवाकृति दिखाई देती है उन दोनों के बीच में फणावलि के समास पर, साढ़े तीन इंच ऊँची सुन्दर, स्पष्ट और बड़ी प्यारी तीर्थङ्कर प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस प्रकार यह फलक यद्यपि निश्चित ही जैन कलावशेष है तथापि हिन्दू मूर्ति विधान की दृष्टि से इसमें वृषभासीन त्रिसूलधारी शंकर और उनकी अर्द्धाङ्गिनी पार्वती, मयूर आसीन कुमार कार्तिकेय तथा चतुर्मुख ब्रह्मा का स्पष्ट अंकन दृष्टिगोचर होता है। कला की दृष्टि से मूर्ति का निर्माण आठवीं सदी से पूर्व एवं ग्यारहवीं सदी के बाद का नहीं है।

ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्रेयाँशनाथ के परिकर से इस मूर्ति का कुछ साम्य बैठता है। यथा गरुड़ या मयूर उनका लक्षण है। उनके शासन देव की संज्ञा ईश्वर है जो चतुर्भुज है तथा वृषभासीन है। उसके हाथों मे अभय मुद्रा, त्रिशूल वेतस और कटक होते हैं। गौरी उनकी शासन देवी का नाम है और वह भी चतुर्भुजी एवं वृषभासीन होती है। उसके हाथों में कलश और दण्ड तथा अभय और वरद मुद्राएं होती हैं। इस प्रकार इस मूर्ति को भगवान श्रेयाँश नाथ की प्रतिमा मानना युक्ति संगत हो सकता है परन्तु यह तभी संभव है जब मयूर पर आसीन मानवाकृति तथा देव युगल पर अंकित फणावलि और चतुर्मुख देवाकृति की उपस्थिति का कुछ समाधान हो सके।

मैं जिज्ञासु भाव से पुरातत्त्वज्ञ विद्वानों एवं जैन तथा हिन्दू मूर्तिशास्त्र के जानकारों से यह समाधान प्रस्तुत करने का अनुरोध करता हूँ।

जैन अपभ्रंश का मध्यकालीन हिन्दी के भक्ति-काव्य पर प्रभाव

लेखक—डा० प्रेमसागर जैन

(गतांक से आगे)

आत्मा को अनेक नामों से पुकार कर उसे अमूर्त, अलक्ष्य, अजर, अमर घोषित करने वाली जैन-परम्परा अति प्राचीन है। आचार्य-मानतुंग ने 'भक्तामर-स्तोत्र' में जिनेन्द्र को बुद्ध कहा, किन्तु वह बुद्ध नहीं जिसने कपिलवस्तु में राजा शुद्धोदन के घर जन्म लिया था, अपितु वह जो 'विबुधार्चितबुद्धिबोधात्' बुद्ध हैं। उन्होंने शंकर भी कहा किन्तु शंकर से उनका तात्पर्य 'शं' करने वाले से था, प्रलयङ्कारी शंकर से नहीं। उनका जिनेन्द्र धाता भी था किन्तु 'शिवमार्गविधेर्विधानात्' होने से धाता था। सब पुरुषों में उत्तम होने से ही उनका भगवान पुरुषोत्तम था।[३] आचार्य भट्टाकलंक ने अकलंक-स्तोत्र में ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं। अर्थात् उन्होंने भी जिनेन्द्र को शंकर, विष्णु और ब्रह्मा कहा, किन्तु उनका शंकर 'शं' करने वाला था, प्रलय करने वाला नहीं।[४] उनका विष्णु वह नहीं था जिसने नरसिंह का रूप धारण करके हिरण्यकश्यप को मारा और अर्जुन का रथ हाँक कर कौरवों का विनाश किया, अपितु वह जो समूचे संसार में फैला है और सब पदार्थों को हस्तामलकवत् देखता है।[५] उनका ब्रह्मा 'क्षुत्तृष्णाराग रहित' था, उर्वशी के मोह-जाल में फंसने वाला नहीं।[६] अन्त में जिनेन्द्र का रूप बताते हुए अकलंकदेव ने लिखा—जिसके माया नहीं, जटा नहीं, कपाल नहीं, मुकुट नहीं, माथे पर चन्द्र नहीं, गले में मुण्डमाल नहीं, हाथ में खट्वाङ्ग नहीं, भयंकर मुख नहीं, काम-विकार नहीं, बैल नहीं, गीत-नृत्यादि नहीं, जो कर्मरूप अंजन से रहित निरंजन है, जिसका सूक्ष्म ज्ञान सर्वत्र व्याप्त है।[७] जो सबका हितकारी है, उस देव के वचन विरोध रहित, अनुपम और निर्दोष हैं। वह राग-द्वेष आदि सब दोषों से रहित हैं। ऐसा देव पूजा करने योग्य है, फिर भले ही वह बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु या शिव हो।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, ३२७वां पद।

२. निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहेमान री।
करशे कर्म कान सो कहिये, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इह विधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निःकर्म री।
आनंदघन पदसंग्रह, अध्यात्मज्ञानप्रसारक मण्डल, बम्बई, पद ६७वां।

३. बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धातासि धीर! शिवमार्गविधेर्विधानाद्-,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि॥
भक्तामरस्तोत्र, २५वाँ पद्य।

४. सोऽयं किं मम शंकरो भयतृषारोषार्तिमोहक्षयं।
कृत्वा यः स तु सर्वविस्तनुभृतां क्षेमंकरः शंकरः॥२॥

५. यत्नाद्येन विदारितं कररुहैर्दैत्येन्द्रवक्षःस्थलम्।
सारथ्येन धनञ्जयस्य समरे योऽमारयत्कौरवान्॥
नासौ विष्णुरनेककालविषयं यज्ज्ञानमव्याहतम्।
विश्वं व्याप्य विजृम्भते स तु महाविष्णुः सदेष्टो मम।३।

६. उर्वश्यामुदपादि रागबहुलं चेतो यदीयं पुनः।
पात्रीदण्डकमण्डलुप्रभृतयो यस्याकृतार्थस्थितिम्॥
आविर्भावयितुं भवन्ति स कथं ब्रह्मा भवेन्मादृशाम्।
क्षुत्तृष्णाश्रमरागरोगरहितो ब्रह्मा कृतार्थोऽस्तु नः॥४॥

७. माया नास्ति जटाकपालमुकुटं चन्द्रो न मूर्द्धावली,
खट्वांगं न च वासुकिर्न च धनुः शूलं न चोग्रंमुखं।
कामो यस्य न कामिनी न च वृषो गीतं न नृत्यं पुनः,
सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिः सर्वत्र सूक्ष्मः शिवः॥१०॥

आचार्य योगीन्दु ने इस परम्परा का यथावत् पालन किया। उन्होंने लिखा कि—परमात्मा को हरि, हर, ब्रह्मा, बुद्ध जो चाहे सो कहो, किन्तु परमात्मा तभी है जब वह परम आत्मा हो।[१] परम आत्मा वह है जो न गौर हो न कृष्ण हो, न सूक्ष्म हो न स्थूल हो, न पण्डित हो न मूर्ख हो, न ईश्वर हो न निःस्व हो, न तरुण हो न वृद्ध हो।[२] इन सबसे परे हो ऊपर हो, मूर्त्तिविहीन हो, अमन हो, अनिन्द्रिय हो, परमानन्द स्वभाव हो, नित्य हो, निरंजन हो, जो कर्मों से छुटकारा पाकर ज्ञानमय बन गया हो, जो चिन्मात्र हो, त्रिभुवन जिसकी वन्दना करता हो।[३] उसे सिद्ध भी कहते हैं, सिद्ध वह है जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली हो। सिद्धि का अर्थ है निर्वाण। निर्वाण कर्मों से छूटी विशुद्ध आत्मा कहलाती है। ऐसी आत्मा में सम्पूर्ण लोकालोक को देखता हुआ सिद्ध ठहरता है। सिद्ध और ब्रह्म के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है।[४] परमात्मा को शिव भी कहते हैं। शिव वह है जो न जीर्ण होता है, न मरता है और न उत्पन्न होता है, जो सबके परे है, अनन्त ज्ञानमय है, त्रिभुवन का स्वामी है, निर्भ्रान्त है।[५] तीन लोक तथा तीन काल की वस्तुओं को नित्य जानता है। वह सदैव शान्त स्वरूप रहता है।[६] अपभ्रंश साहित्य में परमात्मा के जिस पर्यायवाची शब्द का सबसे अधिक प्रयोग किया गया, वह है 'निरंजन' शब्द। योगीन्दु ने निरंजन की परिभाषा लिखी है, जिसका विवेचन पिछले पृष्ठों पर हो चुका है। योगीन्दु ने योगसार में भी परमात्मा के निष्कल, शुद्ध, जिन, विष्णु, बुद्ध, शिव आदि अनेक नाम दिये हैं।[७] तात्पर्य वहां भी यह ही है कि परमात्मा को किसी नाम से पुकारो किन्तु वह है निरंजन रूप ही। महात्मा आनन्दतिलक ने उसे हरि, हर ब्रह्मा कहा। किन्तु साथ ही यह भी लिखा कि वह मन और बुद्धि से अलक्ष्य है। स्पर्श, रस, गन्ध से बाह्य है और शरीर से रहित है।[८] योगीन्दु—जैसी ही बात है।

जो परमात्मा निराकार है, अमूर्त है, अलक्ष्य है, उसकी भक्ति किस प्रकार सम्भव है? मन को चारों ओर से हटा कर, उसे देह-देवालय में बसने वाले ब्रह्म में तल्लीन करना, ब्रह्म से प्रेम करना और ब्रह्म का नाम लेना यदि भक्ति है, तो वह भक्ति कबीर ने की और उनसे भी पूर्व जैन भक्तों ने। उन्होंने किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपने मन को ब्रह्म में समर्पित नहीं किया—उनका समर्पण बिला शर्त्त था। उनका प्रेम भी अहेतुक था। उसमें लौकिक अथवा पारलौकिक किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं था कबीर जैसा बिला शर्त आत्म समर्पण—सगुण परम्परा में तो दूर निर्गुण-

१. जो परमप्पउ परम-पउ हरि हरु बंभु वि बुद्धु।
परम-पयासु भणंति मुणि सो जिण-देउ विसुद्धु॥
परमात्मप्रकाश, २।२००, पृष्ठ ३३७।

२. अप्पा गोरउ किण्हु ण वि अप्पा रत्तु ण होइ।
अप्पा सुहुमु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणे जोइ॥
अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु।
तरुणउ बूढउ बालु णवि अण्णु वि कम्म-विसेसु॥
परमात्मप्रकाश, १।८६, ९१, ५०९०, ९४।

३. अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमित्तु।
अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु॥
मुत्ति-विहूणउ णाणमउ परमाणंद-सहाउ।
णियमिं जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ॥
परमात्मप्रकाश, १।३१, २।१८, पृ० ३७, १४७।

४. जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ॥
परमात्मप्रकाश, १।२६, पृ० ३३।

५. जरइ ण मरइ ण संभवइ जो परि को वि अणंतु।
तिहुवणसामिउ णाणमउ सो सिवदेउ णिभंतु॥
पाहुड-दोहा, ५८वाँ दोहा, पृ० १६।

६. जो णिय-भाउ ण परिहरइ, जो पर-भाउ ण लेइ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर, सो सिउ संतु हवेइ॥
परमात्म प्रकाश, १।१८, पृ० २७।

७. णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्ध सिव संतु।
सो परमप्पा जिण-भणिउ एहउ जाणि णिभंतु॥
योगसार, ९वाँ दोहा, पृ० ३७३।

८. हरिहर बंभु वि सिव णही मणु बुद्धि लक्खिउं ण जाई।
मध्य शरीर हं सो वसइ अणंदा लीजइ गुरुहिं पसाई॥
फरसरसगंधबाहिरउ रूवविहूणउ सोई।
जीव सरीरहं भिण्णु करि अणंदा सद्‌गुरु जाणइ सोई॥
आमेर शास्त्र भण्डार की 'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति, १८, १९ पद्य।

धारा के भी अन्य कवियों में न बन पड़ा। उन्होंने कहा —इस मन को बिस्मिल करके, संसार से हटा करके, निराकार ब्रह्म के दर्शन करूं। किन्तु यह मार्ग आसान नहीं है। इस पर चलने वाले को सिर देना पड़ता है। यदि वह ऐसा न करेगा तो उस पर अंगारे दहकाये जायंगे।[1] इस सब का तात्पर्य है कि सभी सासारिक सुख-सुविधाओं की बलि देकर मन को ब्रह्म में लीन करना चाहिए, अन्यथा विकृत विश्व में फँसे रहने के कारण उसे नारकीय दुःख झेलने होंगे। ब्रह्म में मन समो देने से मलीमस स्वतः ही रह जायगा, छूट जायगा। ऐसा नहीं है कि हमने मन दिया तो ब्रह्म ने पवित्रता। कबीर में लेन-देन वाली बात नहीं थी। कबीर ने ऐसी शर्त कभी नहीं लगाई। "मन दीया मन पाइये, मन बिन मन नहिं होइ"[2] में केवल मन के उन्मुख होने की बात है, शर्त की नहीं। मन को संसार से उनमन करके निरंजन में खपाना मूलाधार है।

बिला शर्त्त मन को निरञ्जन में लगाने की बात जैसी जैन परम्परा में देखी जाती है, अन्यत्र नहीं। जैन सिद्धांत के अनुसार शर्त का निभाव नहीं हो सकता। जैन भक्त जिस ब्रह्म की आराधना करता है, उसमे कर्तृत्व शक्ति नहीं है। वह विश्व का नियन्ता नहीं है। उसे किसी की पूजा और निन्दा से कोई तात्पर्य नहीं है। फिर भी उसके गुणों का स्मरण चित्त को पवित्र बनाता है—पापों को दूर करता है।[3] ब्रह्म के कुछ न करते हुए भी, उसके स्मरण मात्र से ही पवित्रता मिलती है और उससे शुभ-कर्म बंधते

१. इस मन कौ विशमल करौं, दीठा करौ अदीठ।
जे सिर राखौ आपणाँ, तौ पर सिरिज अंगीठ॥
कबीर-साखी-सुधा, मन कौ अंग, छठा दोहा।

२. मन दीयाँ मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ।
मन उनमन उहा अंड ज्यू, अनल अकासाँ जोइ॥
देखिए वही, ९ वां दोहा।

३. न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे
न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥
आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र, १२।२

हैं, जो इहलौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार की विभूति देने में समर्थ हैं। इस भांति जैनभक्त के ब्रह्म में केवल प्रेरणा देने वाला कर्तृत्व होता है। अर्थात् उसके मूक और अकर्त्ता व्यक्तित्व में इतनी ताक़त होती है, जिसके स्मरण या दर्शन मात्र से भक्त को वह सब कुछ स्वतः ही मिल जाता है। जिसकी उसे आकांक्षा रहती है। किन्तु भक्त आकांक्षा रहित होता है। निष्काम होता है। कुछ न देने वाले का दर्शनाकांक्षी निष्काम होगा ही यह सत्य है किन्तु उसे ब्रह्म को देखने की इच्छा तो रहती है। वह सांसारिक इच्छा में न गिनी जाने के कारण 'कामना' नहीं कहलायेगी। अर्थ यह है कि पहले तो जैनभक्त के निष्काम होने से ही शर्त वाली बात नहीं टिक पायगी, फिर यदि टिकायी भी जाये तो किसके सहारे? जो सब कुछ झाड़ कर मोक्ष में जा विराजा हो, उसे तुम्हारे भले-बुरे से क्या तात्पर्य। उसके पास अपने गुण हैं, उन्हें तुम चाहो तो प्राप्त कर लो, वे तुम्हारे पास भी हैं—छिपे पड़े हैं, ढूंढ़ लो। अर्थात् शर्त को कहीं स्थान नहीं। एक जैन भक्त ने खोज कर लिखा—

"तुम प्रभु कहियत दीन दयालु, आपन जाइ मुकति में बैठे, हम जु रुलत जगजाल[1]।" जैन ब्रह्म क्या करे, जब उनसे विदित है कि उसने तुम्हें जगजाल में नहीं रुलाया, फिर उसे जग-जाल से न निकालने का उपालम्भ मिथ्या-जन्य है। तुम स्वय जग-जाल में रुले, स्वयं निकलो। वे लोग निकलने की प्रेरणा दे सकते है जो निकल चुके है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। बताइये ऐसों से आप क्या शर्त्त लगायेंगे। तो शर्त का मूल ही जैन-परम्परा में नहीं है।

इसके विपरीत जो अपने मन को बिला शर्त निःस्वार्थ भाव से ब्रह्म में केन्द्रित करता है, वह भी वैसा ही हो जाता है। पिछले पृष्ठों मे परमानन्द, अनन्तसुख और परमगति पाने की बात लिखी है, वह मन को परमात्मा में ध्यानस्थ करने से ही तो सम्भव हुआ था। परमात्मा परमानन्द का ही बना है। वह उसका स्वरूप है। योगीन्दु ने यहाँ तक

१. देखिए द्यानत-पदसंग्रह, कलकत्ता, ६७ वां पद, पृष्ठ २८

लिखा कि जो परमात्मा है, वह ध्यान का विषय होगा ही।[१] योगीवृन्द भी उस ज्ञानमय परमात्मा का ध्यान लगाते हैं।[२] ध्यान के बिना तो हरि-हर भी अपने ही अन्दर रहने वाले ब्रह्म को नहीं देख पाते। कबीर की भाँति ही योगीन्दु ने लिखा था कि अन्य सब परभावों को छोड़कर हे जीव! अपनी आत्मा की ही भावना करो। वह आत्मा जो आठ कर्म और सब दोषों से रहित है तथा दर्शन-ज्ञान और चारित्र से युक्त है।[३] उसका ध्यान करने से एक क्षण में स्वतः ही परमपद मिल जाता है।[४] पाहुड़-दोहा में लिखा है कि योगियों को उस परमात्मा का ध्यान करना चाहिए जो त्रैलोक्य का सार है। उन्होंने उनको मूढ़ कहा जो जगतिलक आत्मा को छोड़कर अन्य किसी का ध्यान करते हैं। मरकत मणि को पहचानने के उपरान्त कांच की क्या गणना रहती है।[५] आत्मदेव की भावना से पाप एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं। सूर्य एक निमेष में अन्धकार के समूह का विनाश कर देता है।[६] उनके अनुसार जो परम निरंजनदेव को नमस्कार करता है, वह परमात्मा हो जाता है।[७] जो

१. एयहिं जुत्तउ लक्खणहिं, जो परु णिक्कलु देउ।
सो तहिं णिवसइ परम-पइ, जो तइलोयहँ झेउ॥
परमात्मप्रकाश, १।२५, पृ० ३२

२. जोइय-विंदहिं णाणमउ, जो झाइज्जइ झेउ।
मोक्खहँ कारणि अणवरउ, सो परमप्पउ देउ॥
वही, १।३९, पृ० ४३.

३. अप्पा मेल्लिवि णाणमउ, अण्णु परायउ भाउ।
सो छंडेविणु जीव तुहुँ भावहि अप्प-सहाउ॥
अट्ठहँ कम्महँ बाहिरउ, सयलहँ दोसहँ चत्तु।
दंसण-णाण-चरित्तमउ, अप्पा भावि णिरुत्तु॥
वही, १।७४, ७५, पृ० ८०, ८१.

४. अप्पा झायहि णिम्मलउ, किं बहुएँ अण्णेण।
जो झायंतहँ परम-पउ, लब्भइ एक्क-खणेण॥
वही, १।९७, पृ० १०१.

५. अप्पा मिल्लिवि जगतिलउ, मूढ म झायहि अण्णु।
जिं मरगउ परियाणियउ, तहु किं कच्चहु गण्णु॥७१॥

६. अप्पाएवि विभावियइ, णासइ पाउ खणेण।
सूरु विणासइ तिमिरहरु, एक्कल्लउ, णिमिसेण॥७५॥

७. परमणिरंजणु जो णवइ, सो परमप्पउ होइ॥७७॥

अशरीरी का संधान करता है, वही सच्चा धनुर्धारी है।[१] महात्मा आनन्दतिलक ने लिखा है, "परमप्पउ जो झावई सो साच्चउ विवहारु"।[२] अर्थात् जो परमात्मा का ध्यान करता है, वह ही सच्चा व्यवहार है।

जहाँ तक अहेतुक प्रेम का सम्बन्ध है, वह भी जैन-परम्परा में ही अधिक खपता है। जो वीतरागी है वह राग को पसन्द न करेगा। किन्तु जैन-भक्त उसकी वीतरागता पर रीझ कर ही भक्ति करता है। वीतरागी से राग करने वाले के हृदय में प्रतीकार स्वरूप प्रेम पाने की आकांक्षा न रही होगी, यह सत्य है। किन्तु जैन हो या अजैन एक प्रेमी अपने दिल का क्या करे? भगवान चाहे निर्मोही हो या निर्गुण या शून्य-सनेही, जब उससे प्रेम किया है तो प्रेमी का हृदय उसके साथ रभस आलिंगन को मचलेगा ही। कबीर बाद में मचला, मुनि रामसिंह का मन पहले ही मचल चुका था। जैन आचार्यों ने सिद्धान्त की दृष्टि से लिखा है कि यह मचलन बुरी नहीं; अच्छी होती है। भगवान के प्रति किया गया राग पाप के बन्ध का कारण नहीं बनता।[३] इसी कारण तो जिस भांति कबीरदास की आत्मा पिय-मिलन के लिए बेचैन हुई, प्रिय-आगमन के लिए सचिन्त बनी, उसी भाँति मुनि रामसिंह की आत्मा ने अपनी सखी से कहा था—प्रियतम को पांच (इन्द्रियों) के बाहर स्नेह लग गया है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उसका आगमन नहीं होगा।[४] प्रिय-आगमन के लिए दोनों की बेचैनी समान है। दोनों का सन्देह समान है। दोनों की चिन्ता समान है। कबीर का प्रेम अहेतुक न बनता यदि उन पर केवल रामानन्दी भक्ति का प्रभाव होता—उन्हें वह योगधारा भी जन्म से मिली थी, जिसमें फक्कड़ता थी और मस्ती भी। उस योगधारा में जो अहेतुक वाला पुट था वह अवश्य ही

१. असरीरहँ संधाणु किउ सो धाणुक्कु णिरुत्तु॥१२१॥

२. देखिए 'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति, २४ वां पद्य।

३. देवगुरुम्मिय भत्तो साहम्मियसंजुदेसु अणुरत्तो।
सम्मंत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो॥
आचार्य कुन्दकुन्द, मोक्षपाहुड़, ५२वीं गाथा।

४. पंचहि बाहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स॥
पाहुड-दोहा, ४५वाँ दोहा।

जैन परम्परा से—जाने या अनजाने कैसे ही आया होगा। मैं नाथ-सम्प्रदाय को अनेक सम्प्रदायों का संकलन कह चुका हूँ। जैनों में योग वाली बात अधिक थी। इसीलिए अहेतुकता भी अधिक थी।

अहेतुक प्रेम का निर्वाह हिन्दी के जैन कवियों ने खूब किया। पत्नी पिय के वियोग में इस भाँति तड़फ रही है जैसे जल के बिना मछली।[1] उसके हृदय में पति से मिलने का चाव निरन्तर बढ़ रहा है। वह अपनी समता नाम सखी से कहती है कि पति के दर्शन पाकर मैं उसमें इस तरह मग्न हो जाऊँगी, जैसे बूँद दरिया में समा जाती है। मैं अपनपा खोकर पिय से मिलूंगी, जैसे ओला गल कर पानी हो जाता है।[2] और जब पति उसे मिला, तो रभस आलिंगन कौन कहे, एकमेक हुए बिना चैन न पड़ा। उन दोनों के 'एकमेक' को लेकर बनारसीदास ने लिखा—वह करतूति है और पिय कर्त्ता, वह सुख-सींव है और पिय सुख-सागर, वह शिव-नींव है और पिय शिवमन्दिर, वह सरस्वती है और पिय ब्रह्मा, वह कमला है और पिय माधव, वह भवानी है और पिय शंकर, वह जिनवाणी है और पति जिनेन्द्र।[3]

'भैया' का पति कहीं भटक गया है तो वह दुलराते हुए कहते हैं, "हे लाल! तुम किसके साथ लगे फिरते हो—तुम अपने महल में क्यों नहीं आते, वहाँ दया, क्षमा, समता और शान्ति जैसी सुन्दर रमणियाँ तुम्हारी सेवा में खड़ी हुई हैं। एक से एक अनुपम रूप वालीं हैं।"[1] दुलराना सफल हुआ पिय घर वापिस आ गया, तो सुमति की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह पिय के साथ परमानन्द की अनुभूति में डूब गई। महात्मा आनन्दघन की सुहागिन नारी के पति भी लम्बी प्रतीक्षा के बाद स्वयं आ गए हैं। उसकी प्रसन्नता अगाध है। उसने इस उपलक्ष में श्रृंगार किया है। सहज स्वभाव की चूड़ियां और स्थिरता का कंगन पहना है, ध्यानरूपी उर्वशी को उर में धारण किया है, सुरत के सिंदूर से माँग सजायी है, निरति की वेणी को आकर्षक ढंग से गूँथा है और भक्ति की महंदी रचाई है।[2]

शिवरमणी कुँआरी है। कुँआरियों के विवाह होते ही हैं। शिव रमणी का विवाह तीर्थंकर **शान्तिनाथ** (१६वें तीर्थंकर) के साथ होने वाला है। अभी विवाह मण्डप में दुलहा नहीं आ पाया है, किन्तु वधू की उत्सुकता दबती नहीं और वह अपने मन-भाये के अभी तक न आने से उत्पन्न हुई बेचैनी सखी पर प्रकट कर देती है। उसका कथन है कि उसका पति सुख-कन्द चन्द्र के समान है तभी तो उसका मन-उदधि आनन्द से आन्दोलित हो उठा है

---

१. मैं विरहिन पिय के आधीन।
यों तड़फो ज्यों जल बिन मीन ।।३।।
अध्यात्म गीत, बनारसीविलास।

२. होहुँ मगन मैं दरसन पाय,
ज्यों दरिया में बूंद समाय।
पिय कों मिलौ अपनपो खोय,
ओला गल पाणी ज्यों होय।।
देखिए वही, ६ वा पद्य, पृ० १६०।

३. पिय मो करता मैं करतूति,
पिय ज्ञानी मैं ज्ञानविभूति।
पिय सुखसागर मैं सुखसींव,
पिय शिव मन्दिर मैं शिव नींव।
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम,
पिय माधव मैं कमला नाम।
पिय शंकर मैं देवि भवानि,
पिय जिनवर मैं केवल वानि।।
देखिए वहीं, पृ० १६१।

१. कहाँ कहाँ कौन संग लागे ही फिरत लाल,
आवौ क्यों न आज तुम ज्ञान के महल में।
नैंक हू विलोकि देखौ अन्तर सुदृष्टि सेती,
कैसी कैसी नीकी नारि ठाड़ी है टहल में।
एक तै एक बनी सुन्दर सुरूप घनी,
उपमा न जाय गनी वाम की चहल में ।।२७।।
भैया भगवतीदास, शत अष्टोत्तरी, ब्रह्मविलास,

२. सहज सुभाव चूरियाँ पेनी, थिरता कंगन भारी,
ध्यान उरबसी उर में राखी, पिय गुन माल अधारी।
सुरत सिंदूर माँग रंग राती, निरते बेनी समारी,
उपजी ज्योत उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल कारी।
मंहिंदी भक्ति रंग की रांची, भाव अंजन सुखकारी।
आनन्दघन पद संग्रह, २०वां पद

और उसके नेत्र चकोर सुख का अनुभव कर रहे हैं।[१] यह सच है कि अभी उसे आनन्द हो रहा है, किन्तु जब पति से मिलने जायगी तो आनन्द के साथ-साथ भय भी उत्पन्न होगा। पति अनजाना है, अनजाने से मिलने में भय तो है ही। कबीर की नायिका कांप रही है—थरहर कम्पै बाला जीव, ना जाने क्या करसी पीव।[२] जायसी की नायिका घबड़ा रही है—अनचिन्ह पिउ कांपै मन माहाँ, का मैं कहब-गहब जौ बाँहाँ।[३] इसी प्रकार बनारसीदास की नव-यौवना भी भड़भड़ा गई है—बालम तुहुँ तन चितवन गागर फूटि। अँचरा गौ फहराय सरम गै छूटि।[४] इस विवेचन से सिद्ध है कि निर्गुनिए सन्तों के अहेतुक प्रेम पर सूफियों का नहीं अपितु उस श्रमण धारा का प्रभाव था जो कबीर से शताब्दियों पूर्व चली आ रही थी।

जैनसाहित्य में सतगुरु पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। उसकी महिमा यहाँ तक बढ़ी कि 'पंचपरमेष्ठी' (अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) को 'पंचगुरु' की संज्ञा से अभिहित किया गया। जहाँ कबीर ने गोविन्द और गुरु को दो बताया वहाँ जैन आचार्यों ने दोनों को एक कहा। उनकी दृष्टि में गोविन्द ही गुरु है। एक शिष्या ने कहा कि—मैं उस गुरु की शिष्यानी हूँ जिसने दो को मिटा कर एक कर दिया है।[५] आत्म और अनात्म के भेद को मिटाने वाला ही गुरु है।[८] केवल ग्रंथों का पारायण करने वाला गुरु नहीं है। कबीर ने भी केवल ग्रन्थ पढ़कर गुरु बनने वाले की निरर्थकता घोषित की है। गुरु वह है जो ब्रह्म तक पहुँचने का रास्ता दिखाये अथवा जिसके प्रसाद से ब्रह्म प्राप्त किया जा सके। रास्ता वह ही दिखा सकता है, जिसके पास ज्ञान का दीपक हो। यह दीपक कबीर के गुरु के पास था और जैन गुरु तो दीपक रूप ही था। एक जीव लोक और वेद के अन्धकार से ग्रस्त पथ पर चला जा रहा था, आगे उसे सतगुरु मिल गया तो उसने ज्ञान का दीपक दे दिया, मार्ग प्रकाशित हो उठा और वह अभीष्ट स्थान तक पहुँचने का रास्ता पा गया।[१] आचार्य देवसेन का भी कथन है कि अंधकार में क्या कोई कुछ पहचान सकता है। गुरु के वचनरूपी दीपक के बिना प्रकाश ही न होगा, तो फिर देखना कैसे हो सकेगा, पहचानना तो दूर रहा।[२] अनदेखा, अनचीह्ना लक्ष्य उपलब्ध भी न हो सकेगा। किन्तु गुरु के दीपक के साथ भी शर्त है कि वह ज्ञान का होना चाहिए। साधारण दीपक तो ६४ जला दिए जाये तो भी अंधकार दूर नहीं होगा। अंधकार तो चौदह चन्द्रों के एक साथ होने पर भी हटेगा नहीं, जब तक उसमें ज्ञान का प्रकाश न होगा।[३] ज्ञान का प्रकाश ही मुख्य है—वह प्रकाश जो आत्म-ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग दिखाता है। इस प्रकाश का प्रदाता ही गुरु है, फिर चाहे

---

१. सहि ए री! दिन आज सुहाया मुझ मन भाया,
आया नाहि घरे।
सहि ए री! मन-उदधि अनन्दा सुखकन्दा चन्दा देह धरे॥
चन्द जिवां मेरा वल्लभ सोहे, नैन चकोरहि सुक्ख करै।१
शान्तिजिनस्तुति, बनारसी विलास।

२. कबीरदास, सबद, ६१वाँ पद, सन्त सुधासार, दिल्ली, पृ० ८५।

३. जायसी, पद्मावती, रत्नसेन भेंट खण्ड, पद्मावत, काशी, पृ० १३२।

४. अध्यात्म पद पंक्ति, १० वां राग-बरवा, पहला पद्य, बनारसी-विलास, जयपुर, पृ० १५४।

५. वे भंजेविणु एक्कु किउ मणहं ण चारिय विल्लि।
तहि गुरुवहि हउं सिस्सिणी अण्णहि करमि ण लल्लि॥
पाहुड-दोहा, १७४वाँ दोहा, पृ० ५२।

८. गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ॥१॥
पाहुड-दोहा।

१. पीछै लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि॥११॥
गुरुदेव कौ अंग, कबीर-साखी-सुधा, पृ० ६

२. तं पायडु जिणवरवयणु, गुरुउवएसइं होइ।
अंधारइं विणु दीवडइं, अहव कि पिंछइ कोइ॥६॥
सावयधम्म दोहा,

३. चौंसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि।
तिहि घरि किसकौ चानिणौं, जिहि घरि गोविन्द नाँहि
गुरुदेव कौ अंग, १७ वाँ दोहा, कबीर-साखी-सुधा, पृ० ८

वह प्रकाश चन्द्र से आये, चाहे सूर्य से, चाहे दीपक से और चाहे किसी देव से।[1]

कबीर के गुरु के प्रसाद से गोविन्द मिलते है। सुन्दर दास के गुरु भी दयालु होकर आत्मा को परमात्मा से मिला देते हैं।[2] दादू के मस्तक पर तो गुरुदेव ज्यों ही आशीर्वाद का हाथ रखते हैं कि उसे 'अगम-अगाध के दर्शन हो जाते हैं।[3] जैन कवियों ने भी गुरु के प्रसाद को महत्ता दी है। कवि कुशललाभ को भी गुरु की कृपा से ही शिव-सुख उपलब्ध हुआ है।[4] सोलहवीं शताब्दी के कवि चतरुमल ने पंचगुरुओं के प्रणाम करने से मुक्ति का मिलना स्वीकार किया है[5] इसी शती के ब्रह्म जिनदास ने आदि-पुराण में गुरु के 'प्रसाद' से 'मुकतिरमणी' के मिलने की बात लिखी है।[6] पाण्डे रूपचन्द ने गुरु की कृपा से ही 'अवि-चलथान' प्राप्त होना लिखा है।[7] यह परम्परा विकसित और पुष्ट रूप में अपभ्रंश-युग से चली आ रही थी। जैन-अपभ्रंश-काव्य में सतगुरु की जी खोलकर प्रशंसा की गई है उनसे गुरु के प्रसाद की परम सामर्थ्य भी प्रकट हो जाती है मुनि रामसिंह ने लिखा है—तू तभी तक लोभ से मोहित हुआ विषयों में सुख मानता है, जब तक कि गुरु के प्रसाद से अविचल बोध नहीं पा लेता।[1] उन्होंने यह भी कहा कि लोग तभी तक धूर्तता करते हैं, जब तक गुरु के प्रसाद से देह के देव को नही जान लेते।[2] मुनि महचन्द का कथन है, "यह जीव गुरु के प्रसाद से परम पद (ब्रह्म) को अवश्य ही उपलब्ध कर लेता है।"[3] महात्मा आनन्दतिलक ने असीम श्रद्धा के साथ लिखा कि यदि शिष्य निर्मल भाव से सुनता है तो गुरु के उपदेश से उसमें असीम ज्योति उल्ल-सित हुए विना नहीं रहती।[4] यह सच है कि शिष्य का भाव निर्मल होना ही चाहिए, अन्यथा गुरु का उपदेश निरर्थक ही होगा। कबीर के अनुसार बपुरा सतगुरु क्या कर सकता है यदि शिष्य ही में चूक हो। उसे चाहे जैसे समझाओ, सब व्यर्थ जायगा, ठीक वैसे ही जैसे फूंक वंशी में ठहरती नहीं, बाहर निकल जाती है।[5] पाण्डे रूपचन्द ने लिखा है कि गुरु का अमृतमय उपदेश भी शिष्य को रुच

१. देखिए पाहुड-दोहा, प्रथम दोहा, पृ० १

२. परमातम सो आतमा जुरे रहे बहु काल।
सुन्दर मेला करि दिया सद्गुरु मिले दयाल॥
सुन्दर दर्शन, इलाहाबाद, पृ. १७७

३. दादू गैव माँहि गुरुदेव मिल्या, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धरिया देख्या अगम अगाध॥
दादू, गुरुदेव कौ अंग, पहली साखी, संतसुधासार, पृ० ४४६.

४. दिन दिन महोत्सव अतिघणा, श्री संघ भगति सुहाइ।
मन शुद्धि थी गुरु सेवीयइ, जिणि सेव्यइ शिव सुख पाइ॥
जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह, पूज्यवाहण गीतम्, ५३ वां पद, पृ० ११५।

५. लहहि मुकति दुति-दुति तिरै,
पंच परम गुरु त्रिभुवन सारु॥
चतरुमल, नेमीश्वरगीत, आमेरशास्त्रभण्डार की हस्त-लिखित प्रति, मंगलाचरण।

६. तेह गुण में जाणीया ए, सद्गुरु तणो पसावतो,
भवि-भवि स्वामी सेवसुं ए, लागुं सद्गुरु पाय तो।
ब्रह्म जिनदास, आदिपुराण, आमेरशास्त्र भण्डार-जयपुर की हस्त लिखित प्रति, प्रशस्ति।

७. सोते सोते जागिया, ते नर चतुर सुजानि।
गुरु चरणायुध बोलियो, समकित भयउ विहान॥
कालरयन तब बीतई, ऊगा ज्ञान सुभानु।
भ्राति तिमिर जब नाशियो, प्रगटत अविचल थान॥
पाण्डे रूपचन्द, खटोलनागीत, अनेकांत, वर्ष १०, किरण २ पृ० ७६।

१. लोहिं मोहिउ ताम तुहुँ विसयहं सुक्ख मुणेहि।
गुरुहुँ पसाएं जाम ण वि अविचल बोहि लहेहि॥
पाहुड़-दोहा ८१ वां दोहा, पृष्ठ २४।

२. ताम कुतित्थइं परिभमइं धुत्तिम ताम करंति।
गुरुहुं पसाएं जाम ण वि देहहं देउ मुणंति॥
वही, ८० वां दोहा, पृ० २४।

३. छुडु अन्तरु परियाणियइ, बाहिरि तुट्टइ नेहु।
गुरुहं पसाइं परम पउ, लब्भइ निस्संदेह॥
महीचन्द, पाहुड दोहा, हस्तलिखित प्रति, ७१ वां दोहा

४. सिक्ख सुणइ सद्गुरु भणइ परमाणंद सहाउ।
परम जोति तसु उल्हसई आणंदा कीजइ णिम्मलुभाउ।
देखिए 'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति, २६ वां दोहा।

५. सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषही माँहै चूक।
भावै त्यूँ प्रमोधि ले, ज्यूँ बंसि बजाई फूंक॥
गुरुदेव कौ अंग, २१ वां दोहा, कबीर-साखी-सुधा, पृ० ६।

नहीं सकता, यदि उसका ज्ञानी आत्मा मिथ्यात्व से आवृत है।[१] बनारसी दास का कथन है, "सहज मोह जब उपसमै, रुचै सुगुरु उपदेश। तब विभाव भव-थिति घटै जगै ज्ञान-गुण लेश॥"[२]

भारतीय धरती सद्गुरुओं की महिमा से सदैव महकती रही। उसका प्राचीन-साहित्य, पुरातत्त्व और इतिहास इसका साक्षी है। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि शनैः शनैः वह महिमा निःशेष प्राय हो गई। कुगुरु बढ़ते गये और साथ ही साथ अपयश भी। सद्गुरु के साथ कुगुरुओं की कभी कमी नहीं थी, किन्तु उस समय के संत दोनों के अन्तर को स्पष्ट घोषित करते रहे, जिससे जन-साधारण को उनकी पहचान बनी रहती थी। आचार्य कुन्दकुन्द ने कुगुरु से सुगुरु को पृथक् करते हुए लिखा कि जिसने अपनी शुद्ध, निरञ्जन और अविकार आत्मा को पा लिया वह ही सच्चा गुरु है[३]। वह ही भयंकर कानन रूप इस संसार में पथ-भ्रष्ट मानवों को प्रकाश प्रदान करता है[४]। उन्हें ही ऐसा करने का अधिकार है अन्य को नहीं। श्री योगीन्द्र ने मन और इन्द्रियों से छुटकारा पाने वाले को सद्गुरु कहा है। जिसने वह छुटकारा प्राप्त नहीं किया और जो केवल वेश-भूषा के आधार पर गुरु का पद सुशोभित करता रहा, वह अवश्य ही कुगुरु था। उससे सावधान रहने की बात योगीन्द्र ने लिखी है[५]। श्री जिनदत्तसूरि ने 'काल स्वरूप कुलक' में गुरु के दो भेद किये हैं—सुगुरु और कुगुरु। उन्होंने लिखा है कि सुगुरु वह है जो आकर्षक और शक्तिशाली वचनों से सोते हुए भी मानव को जगा देता है। इसके विपरीत कुगुरु अपने विषमय निर्देशन से उन्हें भ्रमाकुलित बना डालता है[४]। सुगुरु के वचन केवल आकर्षक ही होते तो बनावट की सम्भावना भी की जा सकती थी, किन्तु 'शक्तिशाली' ने 'वचन' के पीछे छिपी ठोस भूमिका को स्पष्ट कर दिया है। वचन तभी शक्तिशाली हो सकते हैं जबकि वक्ता ने अपने जीवन को तदनुरूप ढाल लिया हो। तात्पर्य यह है कि जिनदत्तसूरि ने कोरे उपदेष्टा को 'गुरु' संज्ञा नहीं दी। मुनि महचन्द ने निरञ्जन को प्राप्त कराने की सामर्थ्य गुरु में स्वीकार की, किन्तु उसी गुरु में जो निर्ग्रन्थ हो, जिसने आत्म और अनात्म की गाँठ को खोल दिया हो।[५] महात्मा आनन्द तिलक ने जीव को सावधान करते हुए कहा—कुगुरुओं की पूजा कर-करके अपना सिर क्यों धुनते हो, उस गुरु की आराधना करो जो सच्चा तत्त्व दिखलाता है[६]। कबीर ने कुगुरु की अन्धे से उपमा दी है और शिष्य तो ज्ञान-हीन होने से अन्धा होता ही है, अन्धा अन्धे को जब ठेलता है तो दोनों ही कुयें में जा गिरते हैं[७]। कबीर ने कहा सतगुरु पूरा होता है, पूरे का तात्पर्य है सब प्रकार से समर्थ, उससे जब शिष्य का परि-

६. देखिए परमार्थजकड़ी संग्रह, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्रथम पद्य।

७. बनारसीदास, अध्यात्म-बत्तीसी, २७ वां पद्य, बनारसी विलास, जयपुर, पृ० १४६।

१. देखिए मोक्षपाहुड, १०४ वीं गाथा।

२. पंचगुरुभक्ति, चौथा पद्य, दशभक्त्यादि संग्रह,

३. देखिए, योगसार, पद्य ५३-५४, पृ० ३८३।

४. दुद्धु होइ गो-यक्किहि धवलउ,
पर पेज्जंतइ अंतरु बहलउ।
एक्कु सरीरि सुक्ख संपाडइ,
अवरु पियउ पुणू मंसु वि साडइ॥१०॥
कुगुरु सुगुरु सम दीसहि बाहिरि
परि जो कुगुरु सु अंतरु बाहिरि।
जो तसु अंतरु करइ वियक्खणु
सो परमप्पउ लहइ सुलक्खणु॥११॥
कालस्वरूपकुलक, अपभ्रंश काव्यत्रयी, ओरियन्टल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, सन् १९२७ ई०,

५. दय धम्मु वि निग्गंथु गुरु, संतु णिरंजणु देउ॥
पाहुड दोहा, हस्तलिखित प्रति, २३८ वाँ दोहा।

६. कुगुरुह पूजि म सिर धुणहु तीरथ काइं भमेहु।
देउ सचेयणु संघ गुरु आणंदा जो दरिसायहि भेउ॥
'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति, ३७ वाँ पद्य।

७. जाका गुरु भी अंधला, चेला खड़ा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया, दोन्यूं कूप पड़ंत॥१५॥
गुरुदेव कौ अंग, , कबीर-साखी-सुधा, पृष्ठ ७।

मंगलोत्तमशरण पाठ

रतनलाल कटारिया

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥[1]

यह जैनसंस्कृति का अति प्रसिद्ध मूलमन्त्र है। यह *नमस्कार महामंत्र, अपराजित मंत्र, ओंकार, प्रणव (प्रणम)* मंत्र, पंचनमस्कार मंत्र, पंचमंगल, महाश्रुतस्कंध, अनादिसिद्ध-मन्त्र, पंचपरमेष्ठी मन्त्र—आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

यह एक ही मंत्र सब सम्पदाओं—अभ्युदय एवं निश्रेयस का दाता है। इसमें का एक प्रारम्भिक 'अर्हम्, पद ही ऐसा है कि उसमें अकार से लेकर हकार तक सब स्वर और व्यंजन आ जाते हैं। अनेक नवीन-नवीन मन्त्रों का जो निर्माण हुआ है, वे सब इसीके रूपान्तर हैं, अतः नवीन-नवीन मन्त्रों को सिद्ध करने के झमेले में न पड़कर एकाग्र-मन से एक मात्र इसी का सदैव आराधन करना चाहिए। इस मंत्र के विषय में बताया है कि—

[2]एसो पंचणमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि मंगलं ॥१३॥
'मूलाचार, अधिकार ७'

१. काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
आइरियउवज्झाए लोगम्मि य सव्वसाहूणं ॥१॥
—'मूलाचार, अधिकार ७

२. अपराजितमंत्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः।
मंगलेषु य सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः ॥

चय हो जाता है तो सब दुख दूर हो जाते हैं और आत्मा निर्मल होकर प्रभु की सेवा मे लीन रह उठती है[8]। कबीर का 'सब प्रकार से समर्थ' और जिनदत्त सूरि का 'शक्ति-शाली' एक ही अर्थ के प्रकाशक है। इस प्रकार कबीर आदि सन्त कवियों का सतगुरु जैन अपभ्रंश में पूर्णरूप से वर्तमान था। क्रमशः

८. पूरे सूँ परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मा, तातैं सदा हजूरि ॥
वही, ३५ वां दोहा, पृष्ठ १४।

अर्थ—यह पंचनमस्कार मन्त्र सब पापों का नाश करने वाला है और सब मंगलों में प्रथम मंगल है। श्वे० संप्रदाय में इस गाथा के ४ पद और नमस्कारमंत्र के ५ पदों को मिलाकर ९ पद वाला नवकारमंत्र भी माना है।

गुरुपंचनमस्कारलक्षणं मंत्रमूर्जितम्।
विचिन्तयेज्जगज्जंतुपवित्रीकरणक्षमं ॥३८॥
श्रियमात्यंतिकीं प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन।
अमुमेव महामंत्रं ते समाराध्य केवलं ॥४१॥
प्रभावमस्य निश्शेषं योगिनामप्यगोचरं।
अनभिज्ञो जनो ब्रूते य. स मन्येऽनिलार्दितः ॥४२॥
अनेनैव विशुद्ध्यंति जन्तवः पापपंकिताः।
अनेनैव विमुच्यंते भवक्लेशान्मनीषिणः ॥४३॥
असावेव जगत्यस्मिन्भव्यव्यसनबांधवः।
अमुं विहाय सत्त्वानां नान्यः कश्चित्कृपाकरः ॥४४॥
—ज्ञानार्णव, (शुभचन्द्र कृत) अध्याय ३८।

अर्थ—यह पचनमस्कार मंत्र सर्वोत्कृष्ट है और संसार के प्राणियों को पवित्र करने में समर्थ है अतः इसका ध्यान करना चाहिए। ३८। जिन ऋषियों ने मोक्ष प्राप्त किया है वह सिर्फ इस मन्त्र का आराधन करके ही प्राप्त किया है।४१। इसका प्रभाव योगियों के भी अगोचर है। अज्ञानीजन जो इसके विषय में कुछ भी कहने का दावा करते हैं वह पागल का प्रलाप समझना चाहिए।४२। एक-मात्र इसी के द्वारा पापी अपने पापों से शुद्ध होते हैं और इसीके द्वारा ज्ञानी संसार के दुःखों से विमुक्त होते हैं।४३। इस संसार में भव्यजीवों का संकट में यही एक बंधु है इसको छोड़कर संसारी प्राणियों का और कोई सहायक नहीं है।४४।

इस पंचनमस्कार महामन्त्र के साथ—

चत्तारि मंगलं—अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरणं पवज्जामि—अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहु सरणं पवज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥

यह 'चत्तारिदंडक पाठ' भी बोला जाता है। इस मंगलोत्तम शरण पाठ का सम्बन्ध नमस्कार मंत्र के साथ शुरू से ही बहुत प्राचीन समय से आज तक चला आ रहा है। नीचे एतद्विषयक कुछ प्राचीन प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं:—

(१) सामायिक दंडक (गौतम महर्षिकृत) में नमस्कार मंत्र मंगलोत्तमशरणपाठ पूर्वक दिया हुआ है इस पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत प्राचीन संस्कृत टीका भी है देखो "क्रियाकलाप" पृ० १४२ से १४४।

(२) पाक्षिकादिप्रतिक्रमण (गौतम कृत) देखो 'क्रियाकलाप पृ० १०५—

इच्छामि भंते! पडिक्कमणमिदं सुत्तस्स मूलपदाणं उत्तरपदाणमच्चासणदाए त जहा—णमोक्कारपदे अरहंतपदे सिद्धपदे आइरियपदे उवज्झायपदे साहुपदे मंगल पदे, लोगोत्तमपदे सरणपदे...अंगंगेसु पुव्वंगेसु पाहुडेसु .. से अक्खरहीणं वा पदहीणं वा सरहीणं वा वंजणहीणं वा अत्थहीणं वा......तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

इसमें नमस्कारमंत्र को मंगलोत्तमशरणपाठ पूर्वक उल्लेखित किया है और अंग पूर्वांग पाहुडादि से पूर्व स्थान दिया है इसमे इसकी महत्ता और अतिप्राचीनता का परिचय मिलता है।

(३) भावपाहुड (कुन्दकुन्दाचार्यकृत) (षट् पाहुड,—श्रुतसागरी टीकायुक्त पृ० २७३)

झायहि पंच वि गुरवे चउमंगलशरणलोयपरियरिए।
णरसुरखेचरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२२॥

(टीका—ध्याय त्वं हे मुने! पंचापि गुरून् पंचपरमेष्ठिनः चतुःमंगललोकोत्तमशरणभूतानित्यर्थः।)

(४) पउमचरिय (विमलसूरि कृत) पर्व ८६

इणमो अरहंताणं सिद्धाण णमो सिवं उवगयाणं।
आयरियउवज्झायाणं णमो सया सव्वसाहूणं ॥६३॥
अरहंतो सिद्धो वि य साहू तह केवलीण धम्मो य।
एए हवंति नियय, चत्तारि वि मंगलं मज्झं ॥६४॥
जावइया अरहंता माणुसखित्तादि होंति जयनाहा।
तिविहेण पणमिऊणं ताणं सरणं पवण्णोऽहं ॥६५॥

पर्व ४८—अरहंतसिद्धसाहूधम्मो तुह मंगलं होउ ॥१०७॥

(५) पद्मचरित (रविषेणाचार्य कृत) पर्व ८९

अर्हद्भ्योऽथ विमुक्तेभ्य आचार्येभ्यस्तथा त्रिधा।
उपाध्यायगुरुभ्यश्च साधुभ्यश्च नमो नमः ॥१०४॥
अर्हन्तोऽथ विमुक्ताश्च साधवः केवलीरितः।
धर्मश्च मंगलं शश्वदुत्तमं मे चतुष्टयं ॥१०५।
पर्व ४८—अर्हन्तो मंगलं संतु तव सिद्धाश्च मंगलं।
मंगलं साधवः सर्वे मंगलं जिनशासनम् ॥२१२॥

(६) वरांगचरित (जटासिंहनंदि कृत) सर्ग १५

शरणोत्तममांगल्यं नमस्कारपुरस्सरम्।
व्रतवृद्ध्यै हृदि ध्येयं सन्ध्ययोरुभयोः सदा ॥१२१॥

(७) हरिवंशपुराण (जिनसेनाचार्यकृत) सर्ग २२

पुण्यपंचनमस्कारपदपाठपवित्रितौ।
चतुरुत्तममांगल्यशरणप्रतिपादिनौ ॥२६॥

(८) महापुराण (जिनसेनाचार्यकृत) पर्व २५

चतुःशरणमांगल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्रधीः।
पंचब्रह्ममयो देव पावनस्त्वं पुनीहि माम् ॥७७॥

(९) अनेकार्थनाममाला (धनंजय कृत)

अर्हत्सिद्धमिति द्वावप्यर्हत्सिद्धाभिधायिनौ।
अर्हदादीनपि प्राहुः शरणोत्तममंगलात् ॥४६॥

(१०) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य कृत) अध्याय ३८

गुरुपंचनमस्कारलक्षणं मंत्रमूर्जितं।
विचिन्तयेज्जगज्जन्तुपवित्रीकरणक्षमं ॥३८॥
मंगलशरणोत्तमपदनिकुरंबं यस्तु संयमी स्मरति।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥५७॥

(११) सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति कृत) अध्याय ३१

नमस्कारादिकं ध्येयं शरणोत्तममंगलं।
संध्यात्रितये शश्वदेकाग्रकृतचेतसा ॥८०५॥

(१२) चारित्रसार (चामुंडराय कृत) के प्रारम्भ मे

अरिहननरजोहननरहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम्।
सिद्धान् सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून् ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रकथिताय सुमंगलाय,
लोकोत्तमाय शरणाय विनेयजंतोः।
धर्माय कायवचनाशयशुद्धितोऽहं,
स्वर्गापवर्गफलदाय नमस्करोमि ॥

(१३) सागारधर्मामृत (आशाधर कृत) अध्याय २
जिनानिव यजन्सिद्धान साधून् धर्म च नंदति।
तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणं मंगलं च यत् ॥४२।

(१४) जिनयज्ञकल्प (आशाधर कृत) अध्याय ५
ये मंगललोकोत्तमशरणात्मानः समृद्धमहिमानः।
पांतु जगंत्यर्हत्सिद्धसाधुकेवल्युपज्ञधर्मास्ते ॥६॥

(१५) जिनयज्ञकल्प (आशाधर कृत) अध्याय २
तेऽमी पंच जिनेन्द्रसिद्धगणभृत्सिद्धांतदिक्साधवो।
मांगल्यं भुवनोत्तमाश्च शरणं तद्वज्जिनोक्तो वृषः ॥
अस्माभिः परिपूज्य भक्तिभरतः पूर्णार्घ्यमापादिताः।
संघस्य क्षितिपस्य देशपुरयोरप्यासतां शांतये ॥२१॥

इन सब प्रमाणों से यह भलीभाँति स्पष्ट होजाता है कि—नमस्कारमन्त्र के साथ प्राचीन समय से ही चत्तारि मंगलोत्तम शरण पाठ प्रचलित रहा है। इस तथ्य को किस खूबी के साथ प्रत्येक प्रमाण में ग्रथित किया गया है यह इन प्रमाणों को ध्यान पूर्वक अध्ययन करने पर प्रत्येक पाठक को स्वयं अनुभव हो जायगा।

इस विषय में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अभिमत भी दिगम्बरवत् ही है इसके लिए ग्रन्थाभाव से सिर्फ एक ही प्रमाण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

(१) योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य कृत) प्रकाश ८
तथा पुण्यतमं मन्त्रं जगत्त्रितयपावनम्।
योगी पंचपरमेष्ठिनमस्कारं विचिन्तयेत् ॥३२॥
मंगलोत्तमशरणपदान्यव्यग्रमानसः।
चतुः समाश्रयाण्येव स्मरन्मोक्षं प्रपद्यते ॥४२॥

नोट—श्लोक ४२ की स्वोपज्ञटीका में पूरा और शुद्ध चत्तारिदण्डक पाठ दिया हुआ है जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं।

अब इस पाठ के कुछ पदों पर नीचे किंचित् ज्ञातव्य प्रस्तुत किया जाता है :—

१. आइरियाणं की जगह आयरियाणं, लोगुत्तमा की जगह लोगोत्तमा और पवज्जामि की जगह पव्वज्जामि पाठ भी पाया जाता है।
२. 'साहु, एकवचन है' और 'साहू' बहुवचन है (प्राकृत में)।
३. चत्तारि सरणं पवज्जामि···में पवज्जामि का संस्कृत रूपान्तर प्रायः विद्वान् 'प्रपद्ये' करते हैं और अर्थ इस प्रकार करते है :—

मैं चारों की शरण को प्राप्त होता हूँ—चारों की शरण अंगीकार करता हूँ किन्तु प्रभाचन्द्र ने अपनी संस्कृत टीका मे इसका अर्थ इस प्रकार किया है :—

अर्हदादीन् चतुरः शरणं प्रव्रजामि। इसमे 'पव्वज्जामि का अर्थ 'प्रपद्ये' न करके 'प्रव्रजामि' किया है। गमनार्थक 'व्रज' धातु से पहिले उत्कृष्टार्थक 'प्र' उपसर्ग लगाकर सम्भवतः यह द्योतित किया गया है कि—अन्य सबकी शरण में जाना छोड़कर इन चारों की ही शरण में जाता हूँ। वैसे 'प्रव्रजन' का अर्थ संन्यास, दीक्षा होता है। किन्तु प्राकृत में गमन और संन्यास दोनों होते है देखो 'प्राकृत शब्द महार्णव' और 'जैनागमशब्दसंग्रह' में—पव्वज्जा (प्रव्रज्या) तथा पव्वय (प्रव्रज) शब्द।

पद

मूरति श्री जिनदेव की।
मेरे नैनन माझि वसी जी ॥टेक॥
अदभुत रूप अनोपम है छवि।
राग दोष न तनक सी ॥१॥
कोटि मदन वारूँ या छवि पर।
निरखि निरखि आनन्द झर वरसी ॥
जगजीवन प्रभु की सुनि वाणी।
सुरति मुकति मगदरसी ॥२॥

काष्ठासंघ के लाटबागड़ गण की गुर्वावली

ले०—श्री परमानन्द शास्त्री

काष्ठासंघ के उद्गम के समय-सम्बन्ध में विवाद हो सकता है, परन्तु काष्ठासघ 'काष्ठा' नामक स्थान से निकला, इसके मानने में किसी को विवाद नहीं हो सकता यह 'काष्ठा' स्थान दिल्ली के समीपवर्ती है।[1] काष्ठासंघ का नामोल्लेख करने वाली अनेक ग्रंथ-प्रशस्तियां, लिपि-प्रशस्तियाँ और मूर्तिलेख मेरी नोट-बुक में दर्ज है। उनमें सबसे पुराना उल्लेख सं० ११५२ का दूब-कुण्ड के स्तम्भ-लेख में मिलता है। इससे पूर्व का कोई लेख मेरे देखने में नहीं आया। मूर्ति-लेखों का संकलन हो जाने पर प्राचीन लेख मिलना संभव है। इस संघ की चार शाखाओं का उल्लेख प्रथम लेख में (अनेकान्त की गत दूसरी किरण में) किया गया है, जिसका सम्बन्ध माथुरगच्छ से था, इस गुर्वावली का सम्बन्ध लाडबागड़ गण से है। बागड़संघ लाडबागड़ और बागड़ इन दो भेदों में विभक्त रहा है। लाडबागड़संघ के विद्वान जयसेन ने अपने धर्मरत्नाकर (सं० १०५५) में अपने संघ का सम्बन्ध भगवान महावीर के गणधर मेतार्य के साथ जोड़ा है। कुछ भी हो पर यह संघ पुराना अवश्य है। इसका संस्कृत रूप लाटवर्गट है। कवि श्रीचन्द ने सं० १०७७ और सं० १०८० में अपने ग्रंथों में इसका उल्लेख किया है।[2] इससे यह सघ १० वीं शताब्दी से भी पूर्व का जान पड़ता है। पहले इस संघ में अनेक विद्वान आचार्य हुए है। उनसे इस संघ का प्रभाव अच्छा रहा प्रतीत होता है। इसका सम्बन्ध गुजरात राज-स्थान में तो रहा ही है किन्तु बाद में मालवा में धारा और उसके आस-पास के स्थानों में और मध्यभारत में ग्वालियर के पासवर्ती इलाकों में भी रहा है। इस संघ का सम्बन्ध पुन्नाटसंघ से भी रहा प्रतीत होता है। पर उसके संबन्ध में विशेष जानकारी नहीं हो सकी।

प्रस्तुत गुर्वावली मे ६८३ वर्ष की श्रुतपरम्परा की गणना के अनन्तर चार आरातीय आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है। जिनका नाम श्रुतपरम्परा के विद्वानों मे विशेष ख्याति प्राप्त था, और वे अपनी खास विशेषताओं को लिए हुए होने के कारण आरातीय कहलाते थे[3] इनके पश्चात् अर्हद्‌बली, भद्रबाहु, धरसेन, भूतबली और पुष्पदन्त का नाम दिया है। और उसके बाद अन्य आचार्यों के नामों का उल्लेख हुआ है।

यहाँ यह बात खास तौर से विचारणीय है कि प्रस्तुत गुर्वावली जब लाडबागड गण की है तब उसमें मुख्यता से उन्हीं संघ वालों का ग्रहण होना चाहिए था। परन्तु इसके रचयिता प्रतापकीर्ति ने लाडबागड़सघ के कई सुप्रसिद्ध विद्वानों को छोड़ दिया है और अन्य विशिष्ट आचार्यों के समुल्लेख के साथ पुन्नाटसंघ के विद्वान अमितसेन, जिनसेन का और देवसघ के विद्वान समन्तभद्र अकलंकदेव आदि विभिन्न सघों के आचार्यो का उल्लेख किया है। जिसका कारण या तो उनके प्रति बहुमान प्रदर्शन करना है या अपने गण मे गौरव लाने की भावना अन्तर्निहित रही है। इन्ही प्रतापकीर्ति की एक गद्य गुर्वावली (पट्टावली) भी उपलब्ध है जिसका फुटनोट में उल्लेख किया गया है, उसमें और इसमें साम्य भी अधिक पाया जाता है। गुर्वावली में निम्न आचार्यो के नाम दिये हुए है :

१. अर्हद्‌बली, भद्रबाहु, धरसेन, भूतबली, पुष्पदन्त, समंत भद्र, सिद्धसेन, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, कुमारसेन, प्रभाचन्द्र, अकलंक, वीरसेन, अमितसेन।

---

१. दिल्ली के उत्तर में जमुना नदी के किनारे 'काष्ठा नाम की एक नगरी थी, जिस पर टांकवंश के राजा मदन-पाल की आम्नाय में पेदिभट्ट के पुत्र विश्वेश्वर ने 'मदन पारिजात' नामका निबन्ध १४ वीं शताब्दी के शेषभाग में लिखा था। ऐतिहासिक विद्वान ओझा जी के अनुसार वहाँ नाग वंशियों की एक छोटी शाखा का राज्य था।

२. देखो जैनग्रंथप्रशस्ति संग्रह में श्रीचन्द के पुराणसार और पद्मचरितटिप्पण की प्रशस्ति।

३. विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते।
आरातीया यतयस्ततोऽभवन्नङ्गपूर्वदेशधराः ॥८४॥
इन्द्रनन्दिश्रुतावतार

जिनसेन, वामवसेन, रामसेन, माधवसेन, धर्मसेन, विजयसेन जयसेन, सिद्धसेन, संभवसेनसूरि, केशवसेन, चारित्रसेन, महेन्द्रसेन, अनन्तकीर्ति, जयसेन, पद्मसेन, धर्मकीर्ति, मलय कीर्ति, नरेन्द्रकीर्ति और प्रतापकीर्ति ।

इन सब आचार्यों में से जिनका परिचय ज्ञात हो सका है उसे यहाँ देने का उपक्रम किया जाता है—

अर्हद्बली—यह अङ्ग-पूर्वों के पाठी आरातीय आचार्यों के बाद हुए हैं। ये पूर्वदेश में स्थित पुण्ड्रवर्धनपुर के निवासी एक अङ्ग के पाठी विद्वान, अष्टांग महानिमित्तज्ञ, संघ-नायक और शिष्यों का निग्रह-अनुग्रह करने में समर्थ आचार्य थे।[१] इनके समय तक मूल दिगम्बर परम्परा में प्राय संघ-भेद प्रकट रूपमें नहीं हुआ था; किन्तु वह अव्यक्त रूप में प्रस्फुटित हो रहा था. उस समय आन्ध्रदेश वेण्या नदी के किनारे बसे हुए वेण्यानगर में पंचवर्षीय युग प्रति-क्रमण के समय एक बड़ा यति सम्मेलन हुआ था जिसमें सौ योजन तक के मुनिगण ससंघ सम्मिलित हुए थे। उसमे आचार्य अर्हदबली ने समागत साधुओं की भावनाओं से पक्षपात एव आग्रह की नीति जानकर 'नन्दि' 'वीर' 'अप-राजित' 'देव' पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामों से भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये। जिससे उनमें एकता तथा अपनत्व की भावना, धर्मवात्सल्य और प्रभावना की अभिवृद्धि बनी रहे।

प्राकृतपट्टावली के अनुसार इनका समय वीर नि० सं० ५६५ (वि० सं० ६५) है। और पट्टकाल २८ वर्ष बतलाया है।[२]

भद्रबाहु (द्वितीय)—प्राकृत-पट्टावली में अर्हद्बली के बाद माघनन्दि का नाम दिया है; किन्तु इस गुर्वावली में भद्रबाहु का नाम दिया है, जो दिगम्बर सम्प्रदाय में द्वितीय भद्रबाहु के नाम से प्रसिद्ध हैं इनका समय विक्रम की पहली शताब्दी माना जाता है जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के निर्युक्तिकार भद्रबाहु का समय विक्रम की छठी शताब्दी है और उन्हें प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहर का भाई बत-लाया जाता है।

धरसेन—यह सौराष्ट्र देश के गिरिनगर (वर्तमान जूनागढ़) में स्थित चन्द्रगुहा के निवासी थे। और अग्रा-यणी पूर्व के पंचम वस्तु गत चतुर्थ महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के ज्ञाता थे, वे उस समय के साधुओं में बहुश्रुत विद्वान् तथा अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता थे। उन्होंने प्रवचन-वात्सल्य एवं श्रुत-विच्छेद के भय से एक पत्र वेण्यातट नगर के मुनि-सम्मेलन में दक्षिणापथ के आचार्यों के पास भेजा और पत्र में देश कुल और जाति से विशुद्ध, शब्द अर्थ के ग्रहण-धारण में समर्थ, विनयी दो विद्वान साधुओं को भेजने की प्रेरणा की। उन्होंने पत्र पढ़कर दो योग्य साधुओं को उनके पास भेजा।[३] उन विद्वानों के आने पर आचार्य धरसेन ने उनकी परीक्षा कर 'महाकर्म प्रकृति प्राभृत' नाम के ग्रंथ को पढ़ाकर उन्हें चातुर्मास से पूर्व ही विदा कर दिया और स्वयं ने संन्यास विधि से आत्म-साधना करते हुए भौतिक शरीर का परित्याग किया।

आन्ध्रदेशीय 'वेणातटपुर' एक इतिहासप्रसिद्ध नगर रहा जो वेणा नदी के किनारे बसा हुआ था, इसीसे वह वेणातटपुर नाम से उल्लेखित किया जाता रहा। इसका उल्लेख धवलाटीका, हरिषेण-कथाकोष और इन्द्र-

---

१. सर्वांगपूर्वदेशैकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगने।
श्रीपुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्बल्याख्यः ॥८५॥
स च तत्प्रसारणाधारणाविशुद्धातिसत्क्रियोद्युक्तः।
अष्टांगनिमित्तज्ञः संघानुग्रहनिग्रहसमर्थः ॥८६॥
देखो—इन्द्रनन्दिश्रुतावतार ८७ से १११ के पद्य

१. धवला पुस्तक १ प्रस्तावना पृ० २६।

३. सोरट्ठ-विसय-गिरिणयर-पट्टण-चंदगुहा-ठिएण अट्ठंग-महाणिमित्तपारएण गंथ-वोच्छेदो होहदि त्ति जाद-भएण पवयणवच्छलेण दक्खिणावहाइरियाण महिमाए मिलियाण लेहो पेसिदो। लेहट्ठिय-धरसेणवयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि बे साहू गहणधारण-समत्था धवलाऽमल-बहु विहविणयविहूसियंगा सील-मालाहरा गुरुपेसणासण-तित्ता देस-कुल-जाइ-सुद्धा सयल-कला-पारया तिक्खुत्तावुच्छियाइ-रिया अंधविसय-वेण्णायडादो पेसिदा।'

(धवला पु० १ पृ० ६७)

(क) इन्द्रनन्दि श्रुतावतार १०३ से १०६ तक के पद्य।
(ख) अन्ध्रदेशैकदेशस्थकर्मराष्ट्रजनान्तके।
वेण्यातटपुरं रम्यं विद्यते जनसंकुलम्॥
हरिषेणकथा० ६६, पृ० ६७

नन्दि के श्रुतावतार में मिलता है। उक्त मुनि-सम्मेलन वहीं हुआ था, यह सुनिश्चित है। अतः धवला टीका में प्रयुक्त 'महिमाए' शब्द का जो अर्थ 'महिमा नाम की नगरी' किया गया है वह संगत नही जान पड़ता। पूर्वापर कथन क्रम को देखते हुए वैसा अर्थ फलित भी नहीं होता। वहाँ नगरी अर्थ करने पर वीरसेनाचार्य द्वारा नीचे दिये हुए—अन्धविसय-वेणायडादो' वाक्यों के साथ सामंजस्य ठीक नही बैठता, और उसका जो अर्थ भाषाटीका में किया गया है कि—'आन्ध्र देश में बहने वाली वेणा नदी के तट से-वह संगत नहीं है। क्योंकि उसमें 'अन्धविसय' वाक्य साफ तौर पर बतला रहा है कि वेणातटपुर एक नगर का नाम था। श्रद्धेय मुख्तार साहब ने धवला टीका के उस वाक्य का अर्थ अपने 'श्रुतावतारकथा' नामक लेख मे[१] 'अन्ध्रदेश के वेणातट नगर से' किया है, जो संगत है।

अनेक विद्वानों ने 'महिमाए' का महिमा नगरी अर्थ किया है। उन विद्वानों में डा० हीरालाल जी, पं० जुगल-किशोर जी और डा० ज्योतिप्रसाद जी आदि है डा० हीरालाल जी ने धवला के अतिरिक्त 'गिरिनगर की चन्द्र-गुफा' नाम के लेख में 'महिमा नगरी' अर्थ किया है। (देखो, अनेकात वर्ष ५, किरण १, २) और मुख्तार साहब ने 'श्रुतावतार-कथा' नाम के लेख[१] मे महिमा नगरी अर्थ किया है—"जो उस समय महिमा नगरी में सम्मिलित हुए", यहाँ उन्होंने महिमा शब्द पर टिप्पण देते हुए स्थलकोष के आधार पर 'महिमानगढ़' नामक गाव को महिमा नगरी होने की सम्भावना भी व्यक्त की है, जिसे उक्त कोष में सतारा जिले का एक गाँव बतलाया गया है।"

डा० ज्योतिप्रसादजी ने भी अपने 'भारतीय इतिहास; एक दृष्टि' नामके ग्रंथ में भी पृष्ठ ११७ में महिमा नगरी लिखा है जो अभी-अभी भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हुआ है जैसा कि उनके निम्न वाक्य से प्रकट है :—

"सन् ६६ ई० में उन्होंने महिमा नगरी में एक महान मुनिसम्मेलन किया था।" इससे स्पष्ट है कि विद्वान लोग अब भी उक्त गलत अर्थ को बराबर दुहरा रहे हैं। उस पर जरा भी गहराई से विचार नहीं करते।

१. देखो, जैन सिद्धान्त भास्कर भा० ३ किरण ४।

दक्षिण भारत में ऐसे कई नगर थे, जो उस काल में नदियों के किनारे बसे हुए थे। आचार्य हरिषेण ने (वि० सं० ९८९) अपने बृहत्कथाकोश में इस नगर का 'वेणातटपुर' नाम से ही उल्लेख किया है—

दक्षिणापथदेशेऽस्ति विण्या नाम महानदी।
तत्तटे लोकविख्यातं विन्यातटपुरं पुरम्॥ (पृष्ठ १५०)

उदाहरण के लिये 'रम्यातटपुर' को ही ले लीजिए, इस नगर का उल्लेख ईसा की ७वी शताब्दी के आचार्य जटा-सिंहनन्दि ने अपने वरांगचरित के प्रथम सर्ग के ३२वें-३३वें पद्यों में किया है।

"तस्यास्तु दक्षिणतटे समभूमिभागे
रम्यातटं पुरमभूद् भुवि विश्रुतं तत्॥"३२
"रम्यानदीतटसमीपसमुद्भवत्वात्
रम्यातटं जगति तस्य हि नाम रूढम्॥" ३३

इसी तरह खान देश मे प्रसिद्ध 'नन्दीतट' नाम का नगर है जो वर्तमान में 'नांदेड़'[२] कहलाता है। आज भी मन्डी होने के कारण वह व्यापार का स्थल बना हुआ है। इसी स्थान से काष्ठासघ के 'नन्दीतट गच्छ' का उद्गम हुआ है।

धवला के अनुवादकों और सम्पादकों ने इन्द्रनंदी के श्रुतावतार के वाक्यों को पाद-टिप्पण में उद्धृत करके भी वीरसेनाचार्य के वाक्यों का अर्थ गलत किया है इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के श्लोक नं० १०६ का पाठ तत्त्वा-नुशासनादिसंग्रह मे—"देशेन्द्र (न्ध्र) देशनामनि वेणाक-तटीपुरे महामहिमा। समुदितमुनीन्" इस प्रकार छपा है। यहाँ महामहिमा के आगे पूर्णविराम चिन्ह (।) न देकर समास द्योतक चिन्ह (-) हाईफन देना चाहिये था, तब उक्त वाक्य का अर्थ—आन्ध्र देश के वेणातटपुर में हो रही महा पूजा में सम्मिलित हुए मुनियों के पास लेख भेजा—ऐसा होगा और यही अर्थ वहाँ विवक्षित है। टीकाकारों को अर्थ करते समय पूर्वापर की संगति का ध्यान रखना जरूरी है। उससे फिर ऐसी भूल—भ्रांतियों को स्थान नहीं मिलता।

२. यह नगर बम्बई प्रान्त में भी रहा है।

इस विवेचन पर से मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि अर्हद्बली धरसेन पुष्पदन्त और भूतबली ये चारों मान्य आचार्य सम-सामयिक थे। भले ही इनमें आयु-गत ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व रहा हो। पुष्पदन्त और भूतबली के दीक्षागुरु अर्हद्वली थे और विद्यागुरु धरसेन। जिसका समर्थन 'जैनशिलालेखसंग्रह' के लेख नं० १०५ से होता है।[१]

प्राकृत पट्टावली के अनुसार धरसेन का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी का पूर्वार्ध होता है। परन्तु यह भी अर्हद्बल्याचार्य के समकालीन होने से विक्रम की पहली दूसरी शताब्दी के विद्वान होने चाहिए। इनका पट्टकाल १९ वर्ष बतलाया गया है। (देखो, धवला पु० १ पृ० २६ में प्रकाशित प्रा० पट्टावली)

भूतबली पुष्पदन्त—गुर्वावली में भूतबली का नाम पहले और पुष्पदन्त का नाम बाद में दिया है किन्तु इनमें पुष्पदन्त ज्येष्ठ और भूतबली कनिष्ठ ज्ञात होते है। पुष्पदन्त ने ही सबसे पहले षट्खण्डागम के द्रव्यप्रमाणानुगम से पहले के सूत्र रचे और जिनपालित को दीक्षित कर एवं सूत्रों को पढ़ाकर भूतबली के पास भेजा। और भूतबली ने पूरे छह खण्डों की रचना कर उसे पुष्पदन्त के पास पुनः भेजा था। ये दोनों ही उस युग के प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान थे। इनका समय विक्रम की द्वितीय शताब्दी है। ये दोनो ही आचार्य अर्हद्बली के शिष्य थे, और उनके द्वारा प्रेषित होकर ही वे आचार्य धरसेन के पास आये थे। धरसेन ने उन्हें महाकर्मप्रकृति प्राभृत पढ़ा कर विदा किया था। इनके सम्बन्ध में फिर किसी समय विशेष प्रकाश डाला जायगा।

समन्तभद्र—योगीन्द्र, महावादि, आज्ञासिद्ध, वचन सिद्ध और उस काल के सबसे वरिष्ठ विद्वान थे। बड़े तपस्वी, जितेन्द्रिय, दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित और आद्यस्तुतिकार रूप से लोक में प्रसिद्ध थे। इनका समय विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना जाता है।

सिद्धसेन—इस नाम के अनेक विद्वान हो गए है, परन्तु प्रस्तुत सिद्धसेन वे ही ज्ञात होते हैं, जो दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। सम्मतितर्क और कुछ विशिष्ट द्वात्रिंशिकाओं के रचयिता थे। और सिद्धसेन दिवाकर के नाम से लोक में प्रसिद्ध थे। इनका समय विक्रम की पाँचवीं शताब्दी माना जाता है।

वज्रसूरि—वे ही ज्ञात होते हैं, जो दर्शनशास्त्र के अच्छे विद्वान थे इनका लिखा हुआ प्रमाण ग्रन्थ प्रसिद्ध था। जो अब उपलब्ध नहीं है। अनेक ग्रन्थकारों ने इनका उल्लेख किया है। भ० प्रतापकीर्ति ने अपनी दूसरी गद्यपट्टावली में लिखा है कि इन्होंने सौराष्ट्रदेश में प्रसिद्ध चण्डिका के मन्दिर में पाँच सौ भैंसों की बलि को रोका था।[२] इससे ये एक प्रभावक विद्वान हुए जान पड़ते हैं।

महासेन—ये मुनि लाडबागड संघ के पूर्णचन्द्र थे, जो आचार्य जयसेन के प्रशिष्य और गुणाकरसेन सूरि के शिष्य थे, सिद्धान्तज्ञ, वादी, वाग्मी और कवि थे। परमार वंशी राजा मुज के द्वारा पूजित थे। इन्होंने हरिहर भट्ट आदि वादियों को जीता था।[३] इनका समय १०२५ से १०५५ के मध्य में होना चाहिये, क्योंकि १०५० और १०५५ के मध्यवर्ती किसी समय तेलपदेव ने राजा मुज का वध किया था। इसलिए इनका समय वि० की ११वीं शताब्दी का मध्य काल है। इनकी एकमात्र कृति प्रद्युम्न-चरित उपलब्ध है, जो माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला में छप गया है। महासेन नाम के दो विद्वान और भी हुए है।

रविषेण—अर्हन्मुनि के प्रशिष्य और लक्ष्मणसेन के शिष्य थे। अर्हन्मुनि के गुरु दिवाकर और उनके गुरु इन्द्र थे। इन्होंने अपना पद्मचरित वीर नि० स० १२०७ (वि० सं० ७३३) मे अनुत्तरवादि-कीर्तिधरानुमोदित लेख के आधार से बनाया था। यह वि० की ८ वीं शताब्दी के विद्वान थे।[४]

१. देखो जैनलेखसंग्रह भा० १ लेख नं० १०५।

२. तदन्वये (सिद्धसेनाचार्यन्वये) सौराष्ट्र देश प्रसिद्ध चण्डिकायतने पंचशतमहिषमरणनिवारण श्रीवज्रसेनाचार्याणाम्। गुच्छक नं०६

३. देखो, गद्य पट्टावली पंचायती मन्दिर दिल्ली। गुच्छ नं० ६

४. प्रथम **कुमारसेन** वे हैं, जिनका उल्लेख पुन्नाटसंघीय जिनसेन ने किया है और उनके यश को प्रभाचन्द्र के समान उज्ज्वल और समुद्र पर्यन्त विस्तृत बतलाया है।

कुमारसेन—इस नाम के अनेक विद्वान हुए हैं। उनमें से गुर्वावलीकार को कौनसे कुमारसेन अभिप्रेत हैं। यह कुछ ज्ञात नहीं होता।

आऽकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्॥

अतः इनका समय उक्त हरिवंशपुराण कर्ता जिनसेन से पूर्ववर्ती है। जिनसेन ने अपना हरिवंशपुराण शक संवत् ७०५ (वि० सं० ८४०) में बनाया है। अतः कुमारसेन का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिए।

दूसरे **कुमारसेन** वे हैं, जो कुमारसेन भट्टारक के नाम से प्रसिद्ध थे, शक सं० ८२२ (वि० सं० ९५७) में सत्यवाक्य कोङ्गणिवर्म्मधर्म महाराजाधिराज ने जो कुवलाल नगर के स्वामी थे, और श्रीमत्पेर्म्मनाडि ऐरेयप्परस ने सफेद चावल. मुक्तश्रम, और घी सदा के लिए चुंगी कर से मुक्त कर पेर्म्मनाडिवाडि के लिए दिया था, इससे इनका समय १०वी शताब्दी जान पड़ता है (जैन लेख संग्रह भा० २ पृ० १६०)

तीसरे **कुमारसेन** वे हैं, जो जिनसेन के शिष्य विनयसेन द्वारा दीक्षित थे और जो काष्ठासंघी थे, जिनका उल्लेख दर्शनसार ग्रंथ में भी किया गया है, सम्भवतः गुर्वावली में प्रतापकीर्ति ने इन्हीं का उल्लेख किया हो।

चौथे **कुमारसेन** वे हैं, जो द्रविलसंघ नन्दिगण के विद्वान अजितसेन के सहधर्मा कुमारसेन मुनीन्द्र थे। जो दुरितकुल का नाश करने वाले थे, और स्मर रूपी मत्त हस्ती के कुंभस्थल को विदारने वाले सिंह थे। इनकी प्रसिद्धि आधुनिक गणधर के रूप में थी। इनका समय शक सं० ९९९ (वि० सं० ११३४) है, अर्थात् ये १२ वी शताब्दी के विद्वान थे। देखो, जैन ले० सं० भा० २ लेख नं० २५८

प्रभाचन्द्र—नाम के अनेक विद्वान हो गए हैं। परन्तु यहाँ गुर्वावलीकार को उन प्रभाचन्द्र की विवक्षा है, जिन्होंने चित्रकूट दुर्ग में राजा नरवाहन की सभा में विकट दुर्जय शैववादिवन्द को जीता था और जो आचार ग्रन्थों के कर्ता थे।[1] प्रस्तुत प्रभाचन्द्र कौन थे और उनकी गुरु परम्परा और समय क्या है? यह विचारणीय है।

अकलंकदेव—यह देवसंघ के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान थे, इनका समय विक्रम की ८वीं-९वीं शताब्दी बतलाया जाता है। इस नाम के अनेक विद्वान हुए है, पर उनकी यहाँ विवक्षा नहीं है।

वीरसेन—वही हैं जिनका परिचय अन्यत्र प्रकाशित है और जो धवला जयधवला टीका तथा सिद्धभूपद्धति जैसे ग्रन्थों के टीकाकार हैं।

अमितसेन—गुर्वावलीकारने वीरसेन के बाद इनका स्मरण किया है, यह पुन्नाटसंघीय विद्वान थे और जयसेनाचार्य के शिष्य थे। शतवर्ष-जीवी, जिनशासन में वात्सल्य रखने वाले तपस्वी, शास्त्रदान-दाता, और वाणी से ज्ञान के प्रकाशक थे। इनका समय विक्रम की ८वीं शताब्दी जान पड़ता है।

जिनसेन—गुर्वावलीकारने दोनों जिनसेनों को एक समझकर उल्लेख किया जान पड़ता है और उसे ही दूसरी पट्टावली में हरिवंश (पुराण) का कर्ता भी लिखा है। जो विचारणीय है।[2] दोनों जिनसेन सम सामयिक होते हुये भी भिन्न-भिन्न थे और उनकी रचनाएँ भी जुदी-जुदी उपलब्ध है।

वासवसेन—यह बागडान्वय के विद्वान थे। इनकी एक कृति 'यशोधर चरित' उपलब्ध है। जो अभी अप्रकाशित है। इसमें कवि ने अपने से पूर्ववर्ती कवि प्रभंजन और हरिषेणका उल्लेख किया है। इनसे इनका समय उत्तरवर्ती है। एक वासवसेन मुनि का उल्लेख मुनि श्रीचन्द्र ने अपने 'रयण करंडसावयायार' की प्रशस्ति में किया है। जिनका

१. प्रभवं क्रमतः कीर्ति ततोऽनुत्तरवाग्मिनं।
लिखितं तस्य संप्राप्यः रवेर्यत्नोयमुद्गतः। पद्म चरित सर्ग४२
कित्तिहरेण अनुत्तरवाएं—स्वयंभू पउम चरिउ।

१. "चित्रकूटदुर्गे राजा नरवाहनसभायां विकटदुर्जय-शैववादिवृन्दवनदहनदावानलविविधाचारग्रन्थकर्त्ता श्रीमत् प्रभाचन्द्रदेवानाम्।" (गद्य पट्टावली, प्रतापकीर्ति, पंचायती मन्दिर दिल्ली गु० ६)

२. "क्रमयमलकमलमधुकर-धवल-महाधवलवृन्दपुराण हरिवंशप्रभृतिकोटित्रयग्रंथकर्ता तत्पट्टालंकार श्री जिनसेनाचार्याणाम्। (देखो वही पट्टावली गु० नं० ६)

समय वि० सं० ११२३ है और वासवमुनि को वहाँ सहस्र-कीर्ति के पाँच शिष्यों में से एक प्रकट किया है। यदि ये वही वासवसेन हों तो इनका समय वि० की ११वी शताब्दी हो सकता है।

यशोधरचरित की एक प्रति वि० सं० १५८१ की लिखी हुई आरा जैन सिद्धान्त भवन में मौजूद है, जो रामसेनान्वयी भ० रत्नकीर्ति के प्रपट्टधर, भ० लखमसेन के पट्टधर भ० धर्मसेन के समय लिखी गई है। कवि प्रभंजन से हरिषेण बाद के विद्वान हैं। यदि प्रस्तुत हरिषेण कथाकोश के कर्त्ता हों, जिसका रचनाकाल शक सं० ८५३ (वि० ९८९) है तो वासवसेन का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का पूर्वार्ध हो सकता है।

रामसेन—यह काष्ठासंघ नन्दीतटगण के विद्वान थे। दर्शनसार के अनुसार इन्होंने सं० ९५३ में माथुर संघ की स्थापना की थी। परन्तु स० १०५० के आचार्य अमित-गति ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया। रामसेन नाम के अनेक विद्वान विविध संघो या गण-गच्छादि में हुए हैं। उन सबके सम्बन्ध में यहाँ प्रकाश डालना सम्भव नहीं है।

माधवसेन—इस नाम के भी कई विद्वान हो गए हैं। उनमें एक माधवसेन प्रतापसेन के पट्टधर थे और दूसरे माथुर सघ के जो नेमिषेण के शिष्य थे और अमितगति के गुरु थे। इनका समय विक्रम की ११वी शताब्दी का पूर्वार्ध है।[1]

जयसेन—इस नाम के सात विद्वानों का पता चला है, उनमें एक जयसेन लाडबागडसंघ के विद्वान मुनि पूर्णचंद्र के शिष्य थे। दूसरे जयसेन इसी संघ के विद्वान भावसेन के शिष्य थे, जो धर्मरत्नाकर के कर्त्ता हैं। जिनका समय वि०सं० १०५५ है।[2] शेष जयसेन लाडबागड़ संघ के नहीं ज्ञात होते।

धर्मसेन—का परिचय गत किरण में दिया जा चुका है। धर्मसेन नाम के कई विद्वान हो चुके है। एक दशपूर्व के पाठी विद्वान थे, दूसरे धर्मसेन शान्तिषेण के गुरु, तीसरे विमलसेन के शिष्य और चौथे भ० लक्ष्मीसेन के शिष्य और पाँचवें धर्मसेनाचार्य चन्द्रिकावाट वंश के थे।[3] यहाँ गुर्वावलीकार को कौन से धर्मसेन विवक्षित हैं। उपरोक्त हैं या अन्य, यह विचारणीय हैं।

संभवसेन सूरि, दामसेन, केशवसेन, चारित्रसेन और महेन्द्रसेन इन पांच विद्वानों का नामोल्लेख गुर्वावली में किया गया है इनमें से लाडबागड गण के विद्वान मलयकीर्ति ने अपनी मूलाचार की प्रशस्ति में केशवसेन सूरि को नय-प्रमाण-निक्षेप और हेत्वाभासादि के द्वारा वादियों का विजेता प्रकट किया है[4]। इससे वे बड़े विद्वान जान पडते हैं।

भट्टारक सम्प्रदाय में संभवसेन दामसेन और केशवसेन का नामोल्लेख नहीं है। और चारित्रसेन को 'चित्रसेन' लिखा है जो किसी भूल का परिणाम जान पड़ता है। दिल्ली पंचायती मंदिर के गुच्छक नं० ६ में स्थित गद्य पट्टावली में चारित्रसेन का नाम अंकित है। जैसा कि उसके निम्न वाक्यों से प्रकट है—

"तदन्वये श्रीमल्लाटवर्गटगच्छवंशप्रतापप्रकटन याव-ज्जीव बोधोपवासैकातरनीरसाहारेणातापनयोगसमुद्ध रणधीरश्रीचारित्रसेनदेवानां यैश्च लाटवर्गटदेशे प्रतिबोधं विधाय मिथ्यात्वमलनिरसनं चक्रे। ततः पुन्नाटगच्छ इति भाडागारे स्थितं लोके लाटवर्गट नामाभिधानं पृथिव्यां प्रथित प्रकटीबभूव।"

'भट्टारक सम्प्रदाय' में पृष्ठ २५२ पर पट्टावली के लेखांक ६३१ में जो अंश छपा है। उसमें 'चित्रसेन' छपने के साथ ही ४ अशुद्धियां और भी है।

प्रस्तुत चारित्रसेन की मलयकीर्ति ने मूलाचार प्रशस्ति में खूब प्रशंसा की है। यथा—

चारित्रसेनः कुशलो मीमांसावनितापतिः।
वेदवेदांगतत्त्वज्ञो योगी योगविदाम्बरः॥

अनेकान्त, वर्ष १३ कि० ४।

अनन्तकीर्ति—यह भी उस काल के बड़े विद्वान थे। इनका समय और गुरुपरम्परा का ठीक निश्चय नहीं हो सका।

१. देखो, सुभाषितरत्नसन्दोह-प्रशस्ति।
२. बाणेन्द्रियव्योमसोम-मिते संवत्सरे शुभे। (१०५५) ग्रंथोऽयं सिद्धतां यातः-सवलीकरहाटके॥धर्मरत्नाकर
३. देखो, जैनिज्म इन साउथ इन्डिया पृ० १३४-१३६।
४. जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह पृ० ३१।

विजयसेन—इस नाम के तीन विद्वानों का उल्लेख मेरे इतिहास-रजिस्टर में दर्ज है। उनमें एक विजयसेन माधवसेन के शिष्य थे। दूसरे विजयसेन भट्टारक सोमकीर्ति के पट्टधर थे। जो काष्ठासंघ स्थित नन्दीतट गच्छके रामसेनान्वयी भट्टारक भीमसेन के शिष्य और लक्ष्मीसेन के प्रशिष्य थे। जिनके तीन ग्रंथों की प्रशस्तियों का परिचय जैन ग्रंथ प्रशस्तिसंग्रह में दिया गया है। इनका समय वि० की १६ वीं शताब्दी है। तीसरे लाडबागड संघ के विद्वान विजयसेन भट्टारक अनन्तकीर्ति के शिष्य थे। गुर्वावलीकार को यही विवक्षित जान पड़ते हैं; क्योंकि गद्यपट्टावली में उन्होंने विजयसेन को वाराणसी में पांगुल हरिचन्द की राजसभा में चन्द्रतपस्वी को पराजित करने वाला सूचित किया है।[२]

पद्मसेन चारित्रसेन के शिष्य थे। इनके शिष्य त्रिभुवनकीर्ति ने एक मूर्ति-प्रतिष्ठा वि० सं० १३६० में कराई थी, उससे जान पड़ता है कि इनका समय विक्रम सं० १३६५ के लगभग होना चाहिए।

त्रिभुवनकीर्ति—यह काष्ठासंघ लाट बागड गण के विद्वान और पद्मसेन के शिष्य थे। सं० १३६० में माघ सुदी १३ सोमवार के दिन इनके उपदेश से किसी हूमड़ वंशी श्रावक श्राविका ने आत्मकल्याणार्थ प्रतिष्ठा कराई थी। उससे इनका समय विक्रम की १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है[३]।

धर्मकीर्ति—इन्होंने वि० सं० १४३१ में वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया बुधवार के दिन केशरियाजी तीर्थक्षेत्र पर विमलनाथ का मन्दिर निर्माण कराया था। इनका समय १५वीं शताब्दी है। इनके तीन शिष्य हुए—हेमकीर्ति, मलयकीर्ति और सहस्रकीर्ति। इन तीनों का गुजरात प्रदेश में विहार होता था। दिल्ली के शाह फेरू ने सं० १४६३ में श्रुतपंचमी व्रत के उद्यापन के निमित्त मूलाचार की प्रति लिखवाई थी[१]। वे उसे धर्मकीर्ति को भेंट करना चाहते थे, परन्तु उनका स्वर्गवास हो जाने के कारण बाद में वह भ० मलयकीर्ति को भेंट की गई।

मलयकीर्ति—इनका समय विक्रम की १५वी शताब्दी का उत्तरार्ध है।

नरेन्द्रकीर्ति—यह मलयकीर्ति के पट्टशिष्य थे। 'भट्टारक सम्प्रदाय' के अनुसार इन्होंने कलबुर्गा के फिरोजशाह की सभा में समस्यापूर्ति कर जिनमंदिर के जीर्णोद्धार करने की अनुज्ञा प्राप्त की थी[२]।

प्रतापकीर्ति—नरेन्द्रकीर्ति के पट्टशिष्य थे। इन्होंने सं० १४६८ में देवचन्द्र के पार्श्वनाथचरित की प्रति लिखवाई थी।[३] ये बड़े विद्वान थे, इन्होंने पावगी नगर के केदारभट्ट को वाद में पराजित किया था। इनकी प्रशंसा सूचक एक प्रशस्ति परिशिष्ट में दी गई है। जिससे इनके सम्बन्ध में विशेष बातें ज्ञात हो सकेंगी। इस गद्य पट्टावलि के कर्ता प्रस्तुत प्रतापकीर्ति ही है।

गुर्वावली

वृषभादिवीरपर्यन्तान्नत्वा तीर्थकृतस्त्रिगः।
सगणेशानहं वक्ष्ये गुरूणामावली मुदा ॥ १
त्रयः केवलिनः पञ्च ते चतुर्दशपूर्विणः।
क्रमेणैकादश प्राज्ञा विज्ञेया दशपूर्विणः ॥ २
पञ्च चैकादशाङ्गानां धारकाः परिकीर्तिताः।
आचाराङ्गस्य चत्वारः पञ्चधेति युगस्थितं ? ३
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्यैवेन्द्रभूतिः श्रुत दधौ।
ततः सुधर्मा तस्माच्च जम्बूनामाऽन्त्यकेवली । ४

१. प्रमाण-नय निक्षेपैर्हेत्वाभासादिभिः परैः।
विजेता वादिवृन्दस्य सेनः केशवपूर्वकः ॥
—मूलाचार प्रशस्ति अनेकान्त, वर्ष १३, कि. ४।

२. 'तत्पट्टे विजयसेनभट्टारकः वाराणस्यां पांगुल हरिचन्द्रराजान प्रबोध्य तस्यैव सभायामनेकशिष्य समूहसमन्वित चंद्रतपस्विन विजित्य महावादीति नाम प्रकटीचकार।
पट्टावली, दिल्ली पंचायती मंदिर गुच्छक ६

३. 'सं० १३६० वर्षे माघ सुदी १३ सोमे श्री काष्ठा संघे श्री लाटबागडगणे श्रीमत् त्रिभुवनकीर्ति गुरूपदेशेन हुंबड़ज्ञातीय व्या० बाहड भा० लाछी सुत व्या० खीमा भार्या राजू देवी श्रेयोर्थ सुत दिवा भा० सम्भवदेवी नित्यं प्रणमंति। जैन लेख सं० भा० १ ले० नं० ११३५

१. देखो, अनेकान्त वर्ष १३ कि० ४।
२. देखो, भट्टारकसम्प्रदाय पृ० २५६।
३. पार्श्वनाथ चरित लिपि प्रशस्ति।

तस्माद्विष्णुः क्रमात्तस्मान्नन्दिमित्रो ऽपराजितः ।
ततो गोवर्धनो दध्रे भद्रबाहु श्रुतं ततः ।५
दशपूर्वी विशाखाख्यः प्रोष्ठिलः क्षत्रियो जयः ।
नाग-सिद्धार्थनामानौ धृतिषेणगुरुस्ततः ।६
विजयो बुद्धिल्लाभिख्यो गंगदेवयतिस्ततः ।
दशपूर्वधरोऽन्यस्तु धर्मसेनमुनीश्वरः ।७
नक्षत्राख्यो यशःपालः पाण्डुरेकादशाङ्गधृत् ।
ध्रुवसेनमुनिस्तस्मात् कंसाचार्यस्तु पञ्चमः ।।८
सुभद्रोऽथय शोभद्रो भद्रबाहुरनन्तरः ।
लोहाचार्यस्तुरीयोऽभूदाचाराङ्गधृतस्ततः ।९
देशे बागडसञ्ज्ञके परिलसद्द्रव्यावलीसंकुले
ख्याते श्रीवटपद्रके पुरवरे श्री शान्तिनाथालये ।
यस्याश्चर्यकरी महर्द्धिरभवत्पादानुससारिणी
यत्सिंहासनमस्ति भूधरगुहान्तस्थं सदा व्योमनि ।१०
विहृत्य पूर्वामपरां स याम्या तथोत्तरां भव्यजनान्प्रबोध्य ।
श्री बागडाख्यातियुतं स्वसघ भूमौ प्रशस्त प्रथयांचकार ।११
तस्य वंशे गणेशा ये तपसा सूर्यवर्चसः ।
सम्भूतास्तानहं वक्ष्ये भक्तिभाववशीकृतः ।१२
सघे सुकाष्ठाऽभिधया प्रसिद्धे श्रीबागडाख्ये च गणे सुगच्छे ।
सत्पुष्कराख्ये विमलान्मुनीशान् क्रमागतानत्र मुदाभिभास्ये ।
जिनचन्द्रधरश्रीदत्तौ शिवदत्तोऽप्यरुहद्दत्तनामाख्यो ।
पूर्वाङ्गाना देशधरा ऋषयो ये च चत्वारः ।१४
अरुहद्बलिं भद्रबाहुं वन्दामि यतीश्वरं च धरसेनम् ।
भूतबलिपुष्पदन्तौ पुष्पाञ्जलिना यजामि सुरपूज्यौ १५
समन्तभद्रं प्रणमामि सिद्धसेनं तथा देव-सुवज्रसूरिम् ।
मान्यं महासेनमुनीश्वरं त वन्दामि येणं रविपूर्वमीशम्
आरातीयानथाऽऽचार्यानङ्गार्थस्योपदेशकान् ।
कुमारसेनमाचार्यप्रभाचन्द्रं प्रभान्वितम् ।१७
अकलङ्कमथो स्तौमि कलंकरहितं विभुम् ।
वीरसेनं तथा वन्दे ऽमितसेनं मुनीश्वरम् ।१८
जिनसेनं यजे भक्त्या सेनं वासवपूर्वकम् ।
रामसेनमथाप्यन्यानष्टधाऽर्चे सपर्यया ।१९
ततोऽभवन्माधवसेनसंज्ञो गणस्य नेता समवान्गुणज्ञः ।
पट्टे बभूवास्य च धर्मसेनस्तपोविजित्श्रीमदकामसेनः
ततः कृतस्तेन गणे गणेनो जेता ऋषिः श्रीविजयादिसेनः ।
जीयात्सदावादिगणस्य वक्ता जयादिसेनो भुवि दत्त शास्ता ।
सिद्धान्तपाथोनिधिलब्धपारः श्रीसिद्धसेनोऽपि गणस्य सारः ।
आसीद् वृतो येन चरित्रभारः शश्वज्जितो येन रणेषु मारः२२
बभूव सेनो विजयादिनामा तत्पट्टरत्नाकररत्नधामा ।
ततोऽभवत् सम्भवसेनसूरिः स्तोत्रत्रयं सैष चकार भूरि २३
अभिजितमुनिमुख्यामादिवृत्त महात्मा (?)
दमितकरण-सप्तिर्दामसेनो जितात्मा ।
कलिकलुषविमुक्तः केशवादिस्तु सेनो ।
जयतु भुवि महेन्द्रो यस्य चारित्रसेनः ।। २४
महेन्द्रसेनो महनीयवृत्तः संस्थापितस्तेन पदे निजे च ।
महेन्द्रमुख्यामहिमानमुच्चैमर्हन्त मर्त्या अपि किं तदीयम् ?
अनन्तकीर्तिः पृथुपुण्यमूर्तिः स्तुतिर्गुणानामपहारितार्तिः ।
कीर्तिप्रभापूरितविष्टपोऽयमितो त्यजन्तं पदमाप्य तस्थौ ।
नीहार-कुन्द-कलिकाऽमलचन्द्रतार—
हारोज्ज्वलस्फटिकशुभ्रयशोविशारः ।
आसीत्ततो विजयसेनमुनिः कुमारः
सिद्धान्तसूत्ररचनानवसूत्रधारः । २७
धुर्योधीनाम्यो जयादिस्तु सेनो जिग्ये सेना मोहमल्लस्य तेन ।
उच्चैरासीत्तत्पदस्य प्रसेनः सङ्घस्यान्ते हन्तुकामः स्वमेनः ।२८
कति न कति न वन्द्या. कारिता येन भव्याः ।
प्रति प्रतिकृतये वै पुण्यपूर्णा जनानाम् ।।
जगति विदितयात्रो दानसम्पूर्णपात्रः ।
स जयतु भुवि सेनो कोऽत्र वाद्यादिसेनः ।।२९।।
तदासनव्योमनि सौम्यमूर्तिर्ज्योतिर्गणस्येव गणस्य कान्तिः ।
पुण्यौघपीयूषमयप्रचारश्चारित्रसेनो धृतसङ्घभारः ।।३०।।
यो भव्याब्जनिबोधनं प्रतिदिनं प्रह्लादयन्वाक्करैः
सङ्कोच्याऽन्यमतानि कैरववनान्यो वादिनेन्द्राचले (?)
पट्टे पूर्वमुनीन्द्रगे पुरतया सङ्कीर्णचित्युत्कटै—
स्तं भव्या नमत प्रदर्शनकृते श्रीपद्मसेनं मुनिम् ।।३१।।
भ्रमति भुवनमध्ये यस्य कीर्तिः स जीयात्
त्रिभुवनगुतकीर्तिः सोमवत्सौम्यमूर्तिः
वचनरचनज्योतिः पीतवन्तं घनौघं ।
हतमवदवघर्मं धर्मकीर्तिः करोति ।।३२।।
गुरूणां पादपद्मे यो धत्ते सच्चञ्चरीकताम् ।
लभते स यशो धर्म कीर्ति रूपं च सम्पदम् ।।३३।।
एनेषामनवद्यचन्द्रचरितानां भाषितानां गण-
स्यैषा भक्तिवराऽप्यधाय्यहरहः स्तौत्येकतानेन यः ।।

तस्य श्रीर्विपुला यशोऽतिविमलं पापक्षयश्चान्वहं ।
जायेताऽऽशुकविप्रणीतविषयेऽभ्यासः कवित्वे सदा ॥२४॥

× × ×

यः सर्वदा तनुभृतां जनितप्रमोदः ।
सद्बन्धुमानस समुद्भवतापनोदः ॥
सर्वज्ञभाषितसुवृत्तविकासनाय ।
जीयादसौ भुवि यतिर्मलयादिकीर्तिः ॥३५॥

पूर्वं श्रीजगदीश्वरेण शुचितां मत्वाऽऽमनन्तं मुने ।
तुभ्यं ब्रह्मविदे चिदेशगुणिने दैगम्बरत्वं निजम् ॥
संसारार्णवमोहवारिपतितानुद्धृत्य मेवाद्भुतं ।
जम्बूनामृषिराज सृष्टिकृपया नारेन्द्रकीर्तिर्ददे ॥३६॥

आबालकालाच्च दिगम्बरत्वं योगीश्वराणां प्रथमात्परेषाम् ।
नौमीह लोकेषुप्रतापकीर्ति संसारकंदेन पदं तपोभिः ॥३७॥

परिशिष्ट

यस्य प्रताप-तपन-त्रासित-मिथ्यात्व-तिमिर-धन-पटलम् ।
सोऽयं प्रतापकीर्तिर्जगदभिवन्द्यो चिरं जयतु ॥१॥

ओं-अजन्य-सौजन्य-पुण्य-लावण्य-निःसामान्य-प्रावीण्य - कारुण्य-दाक्षिण्य-च्छेक-प्रवेक-सद्विवेक-नय-विनय-विचारा - ऽऽचार-चातुर्य-गाम्भीर्य-स्थैर्य-प्रभृति-वितत-सकल-विमल-गुण गण-मणि-गणाऽऽरोहण-भूधराणाम्, भव्य-जन मनः-कुमुद-समुदय-द्वैतीकरण-कारण-पार्वण-शरन्निशीथकरप्रसर-निशा-कराणाम्, शरीर-कारागार-मोह-पाश-स्त्री-निगड-निबद्ध-मूढत्व-तिमिर-व्याप्त-जन्तुमोचन-प्रबल-पराक्रमाणाम्, आसनाऽऽहार-निद्रा-कषायेन्द्रियजय-लब्धकीर्ति-पताकानाम् । उद्दाम-कामिनी कटाक्ष-कौक्षेयक-प्रहारैरखण्डितसन्नाहधराणाम्, क्षमा-हरित-चन्दन-प्रलेपन प्रध्वस्त-क्रोध-पित्त-प्रसराणाम्, अपार-सारस्वत-प्रवाह-क्षालित-मूढत्व-जम्बालानाम्, सुशब्दजलसुधा-पाथोनिधि-कल्लोलमालानाम्, परवादिमत्तेभनिर्भेदनप्रयुक्त्याऽऽयुक्त-तर्कोपन्यास-प्रसराणाम्, भारती-लक्ष्मीसंकेत-स्थान-भूत-देवताऽवसर-व्यापार-परम्पराणाम्,-यम-नियमाऽऽसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणाध्यान-समाधि ध्वस्तपाप प्रसराणाम् विविध-तीर्थ-सत्पुरुष-स्थापनाकेलि-दुर्ललितदक्षिणकरकमलानाम्, सद्देशना-नदी-क्षालित-भव्य-जनान्तर्गतपापमलानाम्, श्रीलाटवर्गटगच्छ-विपुल-गगन-मार्तण्ड-मण्डलानाम्, भट्टारक-श्रीमन्नरेन्द्रकीर्तिसद्गुरुदेव-चरणकमलाराधनकुशलानाम्, सकलविबुध-मुनिमण्डली-मण्डितचरणारविन्दानाम्, समुन्मूलितमिथ्यात्व-तरुकन्दानाम्, श्रीमत्प्रतापकीर्तियतिचक्रचक्रवर्तिनाम्, तेषां पट्टे दयावल्ली-समुद्भूतनयविनयतपःशौचसंयमादिकुसुमपरिमलाऽऽस्वादन-भव्यजन-मधुकरससेव्यमानानाम्, भट्टारकश्रीत्रिभुवनकीर्ति-महामुनीन्द्रान्तश्रीमद्गुरुणाम् ।

गुच्छक ६ श्री दि० जैन, पंचायती मन्दिर दिल्ली ।

पद (राग उभाभ)

लागि गई ये अखियां
जिन बिन रह्यो हु न जाय ॥ टेक ।
जब देखे तब ही सुख उपजै
बिन देख्या अकुलाय ।
मिटत हृदे से सूर्य उदय तैं
मिथ्या तिमिर मिटाय ॥ १ ॥

इन्द्र सरीमा तृप्त न हूवा
लोचन महस बनाय ।
चरम आंख अब है यह मेरै
चबलूं कहूँ बनाय ॥ २ ॥
अनुभव रस उपज्यो अब मेरे
आनन्द उर न समाय ।
'दास किसन' ऐसे प्रभु पाये
लखि लखि ध्यान लगाय ॥ ३ ॥

आदिकालीन 'चर्चरी' रचनाओं की परंपरा का उद्भव और विकास

लेखक—डाक्टर हरीश

हिन्दी साहित्य की आदिकालीन रचनाओं का अध्ययन करते समय चर्चरी संज्ञक रचनाओं को नही भुलाया जा सकता। "चर्चरी" शब्द इतना अधिक प्रयुक्त हुआ है कि प्राचीन काल से लेकर अद्यावधि इसके विभिन्न अर्थ तथा रूप देखने को मिल जाते हैं। "चर्चरी" नाम से अभिहित की गई रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन करते समय चर्चरी शब्द के विभिन्न अर्थ, उसके उद्भव और विकास पर प्रकाश डालना भी आवश्यक प्रतीत होता है। यह शब्द ऐतिहासिक होने के साथ साथ सांस्कृतिक और अनुभूति प्रधान साहित्यिक शब्द है और इसीलिए इसका सम्यक् विश्लेपण चर्चरी शब्द की परम्परा के विशेष प्रकाश में किया जा सकता है।

संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी के कोश ग्रंथों में भी चर्चरी शब्द के विभिन्न अर्थ मिलते है। कुछ में एक साम्य मिलता है तो कुछ में अर्थो मे पर्याप्त असाम्य। स्थिति इस शब्द के लिए मतैक्यवाली नही है। वास्तव में इस शब्द की परम्परा का इसके विकाश के लिए विश्लेपण आवश्यक प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में क्योंकि चच्चरी, चर्चरी चर्चरिका, चांचरि, चांचरिका आदि शब्द एक ही साथ प्रयुक्त हुए मिलते है। अतः 'चच्चरी' शब्द का सम्यक् परिशीलन करना और अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। सच तो यह है कि पर्याप्त प्राचीन काल से चर्चरी शब्द इतना प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुआ कि विभिन्न कालों में इसके विभिन्न अर्थ प्रचलित होने लगे और इस प्रकार अकेला चर्चरी शब्द कई अर्थो का द्योतक बना रहा।

विभिन्न प्रमाणों के आधार पर चर्चरिका शब्द का विश्लेषण आगे किया जायगा। चर्चरी का जो प्राचीनतम उल्लेख है उसी से चर्चरी का उद्भव स्पष्ट हो सकता है। चर्चरी का प्राचीनतम उल्लेख हरिभद्रसूरि की प्राकृत कादंबरी नामक समराइच्चकहा (समरादित्यकथा) मे मिलता है। उसमे चर्चरी विषयक चार उल्लेख है जिनसे उसका अर्थ यह स्पष्ट होता है कि यह गायकों की टोली है जो वसन्त के समय में खड़ी रहती है और चौक में वाद्य बजाती है, नाचती है, घोष करती है और लोगों का अनुरंजन करती है। इन उल्लेखों से "चर्चरी" के प्राचीनकाल में अभिहित शिल्प पर प्रकाश पड़ता है। कुछ महत्वपूर्ण उल्लेख इस प्रकार हैं :

१. भगवया भणित सुण एत्थ चेवाणन्तर जम्मे पवत्ते मयण महूसवे निग्गयासु विचित्तवेसासु नयर चच्चरीसु तरुण जणविंद परिगएण वसंतकील मणुहवंतेन दिट्ठा समासन्नचारिणी वत्थ सोहग चच्चरि त्ति। दट्ठूण य अन्नाण दोसेण जाइ-कुलाइ गव्विएणं कहनीय चच्चरी अम्हाण चच्चरीए समासेन्नं परिव्वयइ त्ति कयत्थि या वत्थ सोहगा[1]—

(भगवान ने कहा—सुनो। यहाँ अवान्तर जन्म में मदन महोत्सव करते हुए विचित्र वेश वाली नगर की गायक टोलियों ने बाहर निकल कर तरुण जन समूहों से व्याप्त हुई वसन्त क्रीड़ा देखकर पास में बैठी हुई भाग लेती हुई धोबियों की गायक टोली को देखकर, अज्ञात दोष से, जाति-कुल आदि से गर्ववाणी में कहा—कि किस लिए यह नीच चर्चरी गायक टोली हमारी टोली के पास बैठकर फिरती है—और इन वचनों से धोबियों का अपमान किया)[2]

उक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि लेखक ने 'चर्चरी' शब्द का जिस रूप में प्रयोग किया है वह निम्न श्रेणी-वर्ग द्वारा गाये जाने वाले गीत के लिए या संगीत के किसी घटिया प्रकार के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता हैं। परन्तु इसी ग्रंथ मे यही शब्द अन्य अर्थो में भी प्रयुक्त किया गया है, उदाहरणार्थ :—

२. तओ तत्थेव चिट्ठमाणस्स आगओ—वसन्तसमओ वियम्भओ मलयमारुओ फुल्लियाइं काणणुज्जाणाइं उच्छलियो परहुयाओ पयत्ताओ नयरि चच्चरीओ—

(फिर वहीं रहते वसन्त का समय आया मलयपवन विस्तार को प्राप्त हुआ, कानन, अरण्यक, उद्यान तथा बाग प्रफुल्ल हुए, कोयल की आवाज उछलती और नगर की चर्चरियाँ प्रवर्ती। क्रमशः

---

१. समराइच्च कहा : प्रो० हर्मने जेकोबी संपादित, पृ० ५३

२. वही।

साहित्य-समीक्षा

आत्मानुशासनम्

रचयिता—आचार्य गुणभद्र, संस्कृतटीकाकार—आचार्य प्रभाचन्द्र, सम्पादक—प्रो० आ० ने० उपाध्ये, प्रो० हीरालाल जैन तथा पं० बालचन्द्र शास्त्री, प्रस्तावना लेखक—सम्पादक मण्डल, प्रकाशक—गुलाबचन्द हीराचन्द दोशी जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, सन् १९६१, पृष्ठ—२४६, मूल्य—५ रुपया।

आत्मानुशासन के कर्त्ता आचार्य गुणभद्र एक ख्याति प्राप्त विद्वान् थे। उन्होंने अपने गुरु आचार्य जिनसेन के अधूरे आदिपुराण को पूरा किया था। उसमें जिस सरसता और लालित्य का निर्वाह हो सका, वह उनकी अपनी देन थी। आचार्य ने उनकी सरस काव्यशैली देखकर ही आदि-पुराण उन्हें पूराकरने के लिए सौंपा था। गुणभद्र एक जन्मजात कवि थे और उनका कवित्व उनकी सैद्धान्तिक कृतियों में भी मुखर बना रहा। यह ही कारण है कि आत्मानुशासन में वह शुष्कता न आ पाई जो आध्यात्मिक ग्रन्थों में पाई जाती है। आत्मा का विवेचन सिद्धान्त का विषय हो सकता है किन्तु उसकी अनुभूति का भावोन्मेष भी सम्भव है यदि रचयिता कोरा विद्वान् ही नहीं साधक भी है। आत्मानुशासन में विद्वत्ता और साधना का समन्वय है। आचार्य गुणभद्र शक सवत् ८ वीं शती के अन्त में हुए थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ जीवराज जैन ग्रन्थमाला का प्रकाशन है। यह ग्रन्थमाला प्राचीन जैन ग्रन्थों के सम्पादन और प्रकाशन के लिए प्रसिद्ध हो चुकी है। आत्मानुशासन इसका ११ वां ग्रन्थ है। इसका सम्पादन दो मुद्रित और तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है। मुद्रित प्रतियों में पहली का प्रकाशन सनातन जैन ग्रन्थमाला, निर्णय सागर प्रेस बम्बई से सन् १९०५ में और दूसरी का जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई से सन् १९१६ में हुआ था। पहली केवल मूलमात्र थी और दूसरी पं० बंशीधर जी शास्त्री की हिन्दी टीका के साथ थी। हस्तलिखित में दो प्रतियाँ भंडार कर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टिटयूट पूना की और एक प्रति श्री आदिनाथ दि. जैन शेतवाल मन्दिर शोलापुर की है। जहाँ तक सम्पादन का सम्बन्ध है, उत्तम है। प्राचीन ग्रन्थों का ऐसा सम्पादन सभी प्रकार स्वागत योग्य है।

ग्रन्थ के मूल के साथ आचार्य प्रभाचन्द्र (वि० सं० १३ वीं शती का अन्तिम भाग) की संस्कृत टीका भी है। साथ में विस्तृत हिन्दी अनुवाद है। इस ग्रन्थ पर सर्वप्रथम हिन्दी-टीका पं० टोडरमल की लिखी हुई पाई जाती है, किन्तु यह अपने समय की ढूँढारी भाषा में थी। दूसरा अनुवाद पं० बंशीधर जी का है। किन्तु प्रस्तुत अनुवाद जैसी विश्लेषणात्मकता उस में नहीं है। अनुवाद की विशेषता सरलता और विशदता में सन्निहित है वह यहाँ मौजूद है। अच्छा होता यदि 'विशेषार्थ में अन्य आचार्यों के तत्सं-बन्धी कथनों के साथ तुलना भी कर दी जाती।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है प्रस्तावना। वह लगभग १०० पृष्ठों में पूर्ण हुई है। उसे एक छोटा सा शोध प्रबंध ही समझना चाहिए। वह दो भागों मे विभक्त है—पहले में ग्रन्थ और ग्रन्थकार तथा टीका और टीकाकार का परि-चय एवं कालक्रम ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। दूसरे भाग में—मूल ग्रन्थ के विषय का तुलनात्मक अध्ययन दिया है। उसमें आत्मानुशासन पर पूर्ववर्ती ग्रन्थों का प्रभाव और आत्मानुशासन का जैन वाङ्-मय में स्थान दिखाया गया है ऐतिहासिक शोध और तुल-नात्मक विवेचन दोनों ही सम्पादकों के परिश्रम और विद्वत्ता के परिचायक हैं। ग्रंथ विद्वानों के मध्य समादर पा सकेगा, ऐसा हमें विश्वास है।

परम ज्योति महावीर

रचयिता कवि—धन्यकुमार जैन 'सुधेश', प्रकाशक—श्री फूलचन्द जवरचन्द गोधा जैन ग्रन्थमाला, ८ हुकुमचन्द मार्ग, इन्दौर, सन् १९६१, पृ०—६६६, मूल्य—७ रु०।

'परम ज्योति महावीर' एक महाकाव्य है। उसमें २३ सर्ग और २४८६ पद्य हैं, जिनमें भगवान् महावीर के समूचे जीवन—गर्भावस्था से निर्वाण पर्यन्त का वर्णन है। कवि

ने इसके निर्माण में महाकाव्य की शास्त्रीय और पाश्चात्य दोनों ही प्रकार की परिभाषाओं का सहारा लिया है। इससे महाकाव्य केवल परम्परा-पालन की घोषणा भर करके नहीं रह गया, अपितु उसमें सौंदर्य और रोचकता का भी समावेश हो सका। वह समय बीत गया जबकि काव्य-शास्त्र के नियमों का रत्ती-रत्ती पालन ही विद्वानों के मध्य गौरव का विषय बनता था, भले ही उसमें काव्यत्त्व नाम को भी न हो। शायद इसी कारण गुप्त जी के साकेत और प्रसाद के कामायनी जैसे काव्य शास्त्रीयत्त्व की परिधि से निकल आने पर भी महाकाव्य कहे जाते हैं। 'परम ज्योति महावीर में भी महाकाव्योचित बाह्य और अन्तः प्रकृतियों को अंकित किया गया है।

भगवान् महावीर के जीवन को लेकर सबसे पहला महाकाव्य हिन्दी भाषा में अनूप शर्मा ने 'वर्धमान' नाम से रचा था। उसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से हुआ है उसमें १९६७ पद्य है। भले ही उसमें "महावीर सम्बन्धी घटनाओं का क्रमवार इतिहास" न हो और भले ही वह "संस्कृत वृत्तों" में लिखा गया हो किन्तु जहाँ तक भाव, विभाव और अनुभावों के चित्राङ्कन का सम्बन्ध है, वह एक अनूठी कृति है। काव्य की दृष्टि से इतिहास गौण होता है और उसमें सन्निहित मार्मिक-स्थल मुख्य। मै यह भी नहीं मानता कि संस्कृत-वृत्तो मे लिखे जाने से ही किसी काव्य की प्रवाहमयता मर जाती है।

'परमज्योति महावीर' की भाषा अपेक्षाकृत सरल है। शब्दों का उपयुक्त स्थान पर चयन हुआ है और वाक्यो में सरसता है। अर्थात् प्रसाद गुण की कहीं कमी नही है किन्तु साथ ही यह भी सच है कि महाकाव्य के कतिपय मार्मिक स्थल भावुकता के साथ अंकित न किये जा सके। महावीर के गृह-त्याग का दृश्य 'यशोधरा' के बुद्ध-गृहत्याग की भाँति करुण रस को चित्रित न कर सका। इसी तरह गर्भ और जन्मोत्सव वात्सल्य रस को साक्षात् करने में अधूरे रहे। नायिका त्रिशला और उसका दाम्पत्य-जीवन पाठक के हृदय को छू नहीं पाते। वैसे अधिकांश स्थल ऐसे भी हैं जहाँ कवि की प्रतिभा और हृदय रमे हैं। उनमें विभोर बना देने की ताकत है। प्रतीत होता है कि प्रकृति के अवलोकन में कवि को रुचि विशेष है। 'वसन्त' और 'हेमन्त' का सौन्दर्य देखते ही बनता है। इसके अतिरिक्त महावीर के उदात्त-गुणों का चित्रांकन सात्विकता से भर देता है। भक्त हृदय उससे अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। रानी मृगावती और चन्दना का विवेचन भी रसमय है।

यद्यपि कवि ने "दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है और फिर उसे जो सत्-शिव-सुन्दर प्राप्त हुआ उसे लिया है, किन्तु मेरी दृष्टि में भगवान महावीर से सम्बन्धित दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं के मूलस्वर में अन्तर नही है। एक कवि के लिए यह महत्वपूर्ण नहीं है कि तीर्थंकर की मां ने १६ स्वप्न देखे या १४, अपितु यह विशेष है कि स्वप्न अवलोकन के अनन्तर माँ की भावनाए कैसी बनी और जब उनका फल विदित हुआ कि तीर्थंकर बालक उत्पन्न होगा तो मां की मर्यादित प्रफुल्लता किस दिशा में प्रभावित हुई। मुझे प्रसन्नता है कि कवि सुधेश ने महावीर के विवाद ग्रस्त पहलुओं से काव्योचित स्थलों को तटस्थ होकर चुन लिया है। उनकी परख प्रशसनीय है। इससे उनके कवि-हृदय की उदात्त भावना प्रकट होती है।

कवि की यह प्रतिज्ञा कि इस महाकाव्य को सर्वसाधारण पढ़ सकेंगे, समझ सकेंगे और रुचि ले सकेंगे, पूरी हुई है, इसके लिए बधाई के पात्र है।

अनेकान्त पर अभिमत

(१) 'अनेकान्त' मासिक पत्र के मैंने कई अंक देखे हैं। यह पत्र लगातार जैन सिद्धान्त-सम्बन्धी उच्चकोटि की सामग्री उपस्थित करता है जो भारतीय संस्कृति के मूल्यांकन में विशेष रूप से सहायक होती है। इस पत्र की मैं उत्तरोत्तर उन्नति चाहता हूँ। **—डा० बाबूराम सक्सेना**

हिन्दी निदेशालय, दिल्ली।

(२) 'अनेकान्त' के दो अंक मिले। बहुत सुन्दर प्रयास है। सब आपके प्रयत्नों का फल है। इसी तरह निकालते रहें तो अच्छा है। **—सेठ बद्रीप्रसाद जी सरावगी, पटना**

(३) 'अनेकान्त' के अंक देखे। अंक उत्तरोत्तर सुन्दर और उपयोगी होते जा रहे हैं। विश्वास है वह समय दूर नहीं, जब अनेकान्त एक अच्छी शोध-पत्रिका के रूप में प्रतिष्ठित हो जाएगा। **—लक्ष्मीचन्द जैन एम० ए०, कलकत्ता**

(४) आपके भेजे अनेकान्त के अंक प्राप्त हुए। मैंने उन्हें अक्षरशः पढ़ा है। लेख उत्तम हैं। पत्र आपका ख्याति प्राप्त है। अनेकान्त गवेषणापूर्ण लेखों के लिए प्रसिद्ध है। आप सतत् उन्नति कर रहे हैं। इससे मुझे प्रसन्नता है।

—पं० माणिकचन्द न्यायाचार्य, फिरोजाबाद

(५) 'अनेकान्त' के दो अङ्क प्राप्त हुए। वर्षों से बन्द पड़े इस अनेकान्त के पुनः प्रकाशन की व्यवस्था कर आपने इतिहास और पुरातत्त्व प्रेमियों का वस्तुतः उपकार किया है। प्रस्तुत दोनों ही अङ्क पठनीय सामग्री से परिपूर्ण हैं। इसके सभी सम्पादक अध्ययनशील एवं अन्वेषण प्रिय विद्वान् है।

मुझे आशा है आपकी निगरानी में पत्र बराबर प्रगति करता हुआ नियमित रूप से प्रकाशित होता रहेगा।

—पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

(६) जून सन् १९६२ की दूसरी प्रति प्राप्त हुई। अनेकान्त अपने ढंग की अनूठी पत्रिका है। वास्तव में इस युग में ऐसी पत्रिका की जैन समाज को आवश्यकता थी। छपाई, कागज, लेख सब उत्तम हैं। मैं इसका स्वागत करता हूँ। पत्रिका के सम्पादक तथा प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं। मेरी कामना है पत्रिका सतत् उन्नति करती रहे।

—पं० रामलाल जैन, वैद्य शास्त्री

स्पेशल रेलवे मजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी, अलीगढ़

(७) 'अनेकान्त' का जून का अङ्क पढ़कर परम प्रसन्नता हुई। प्रमुख पृष्ठ का चित्र भी एक नवीनीकरण की भावना को लिए पत्र के नाम के अनुरूप ही लगा। सुयोग्य सम्पादकों द्वारा सुचारु रूप से सम्पादित होकर और नियमित रूप से समय पर प्रकाशित होकर अनेकान्त अपने धर्म तथा समाज साहित्य और संस्कृति की सेवा करने में उतना समर्थ हो जितना भी उसे शक्य और सम्भव हो। यही कामना है।

—लक्ष्मीचन्द जैन 'सरोज' एम. ए. रतलाम

(८) 'अनेकान्त' के अङ्क पढ़े। अतीव आनन्द मिला। जैन शोध के क्षेत्र में ऐसे एक पत्र की आवश्यकता थी। आपने अनेकान्त को पुनर्जीवन देकर पुण्य का ही कार्य किया है। इससे अनुसन्धित्सु और साधारण जन दोनों ही लाभान्वित होंगे। अनेकान्त से भारतीय संस्कृति के लुप्त पहलू प्रकाश में आ सकेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। मैं उसकी सतत उन्नति की कामना करता हूँ। **—डा० ए० के० दीक्षित, बड़ौत**

(९) आपके सत्प्रयत्नों से अनेकान्त पत्रिका फिर से अपने पूरे वैभव के साथ प्रकाशित हो रही है, अत्यन्त प्रसन्नता हुई। परम पूज्य महाराज श्री समन्तभद्र स्वामी जी ने अतिशय आनन्द व्यक्त करते हुए आपके इस स्तुत्य उपक्रम को हृदय से अभिनन्दन एवं अनेक शुभाशीर्वाद लिखने को कहा है। हम सब गुरुकुलवासी आपके इस सत्प्रयत्न की सराहना करते हुए उसके लिए हृदय से सफलता चाहते हैं और आपको बधाई देते हैं। **—माणिकचन्द भिसीकर**

प्रिन्सिपल, बाहुबली विद्यापीठ

तीन महत्वपूर्ण पत्र

(१) श्री महेन्द्र जी, आगरा

प्रिय बन्धु;

आपका कृपा पत्र मिला। अनेकान्त ने अपने जीवन में जो सेवा साहित्य और समाज की की है वही मूल्यवान और प्रशंसनीय रही है। उसका प्रकाशन पुनः प्रारम्भ करके आपने बड़ी भारी आवश्यकता की पूर्ति की है। साहित्य के एक ऐसे अङ्ग की पूर्ति आप इसके द्वारा कर रहे हैं जो शताब्दियों से जन साधारण के सामने नहीं आया और जिसके प्रकाश में लाने की महान् आवश्यकता है। आप अपने प्रयत्न में सफल हो रहे हैं और आशा है कि दिन पर दिन और अधिक सफल होते जाएँगे।

(२) डा० दशरथ शर्मा एम० ए० डी० लिट् कृष्णनगर

आदरणीय शास्त्री जी;

'अनेकान्त की जून १९६२ की प्रति के लिए अनेक धन्यवाद। अनेकान्त के खोजपूर्ण लेखों के लिए मैं सदा ही उत्सुक रहा हूँ। जून के अंक में भी आपने विविधरूप और ज्ञानवर्धक सामग्री प्रस्तुत की है। अनेकान्त के पुनः प्रकाशन के लिए सभी जैन समाज अभिनन्द्य है। क्या हम आशा रख सकते है कि 'सर्वोदय तीर्थ संरक्षण-व्रती' यह पत्र भविष्य में निराबाध गति से अपना कार्य सम्पन्न करता रहेगा।

(३) पं० अमृतलाल दर्शनाचार्य वाराणसी

'अनेकान्त' की दूसरी किरण मिली। एक बार आद्योपान्त पढ़ गया। चित्त प्रसन्न हो उठा। रानी मृगावती की कहानी को कुछ जैनेतर विद्वानों ने भी चाव से पढ़ी। आपका अध्यवसाय श्लाघ्य है। अनेकान्त का प्रकाशन बहुत ही आवश्यक था। इसके प्रकाशन से पूरी जैन समाज को प्रसन्नता है।

वीर सेवा मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवनदास जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री बैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड़्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५०) श्री बंशीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी,
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी आर सी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल, कलकत्ता
१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) श्री पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री प्रतापमल जी मदनलाल जी पांड्या, कलकत्ता
१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ, कलकत्ता
१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता
१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आत्माराम, पटना

वीर सेवा मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

(दशलक्षण पर्व तक सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में)

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल्य-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थ में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डाक्टर कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Forewod) और डा. ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज सजिल्द १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का विश्लेषण करती हुई महत्त्व की गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठ की प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों से जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्ल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोर की ७८ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना से भूषित। ... १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥।)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्तिकी १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-महित ॥।)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रंथों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्त्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१२) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र। १)

(१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡)। (१६) महावीर पूजा। ।)

(१७) जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंश के ११६ अप्रकाशित ग्रंथों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह इतिहास ७४ ग्रन्थकारों के परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। सम्पादक पं० परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १२)

(१८) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर शासन संघ प्रकाशन ... ५)

(१९) कसायपाहुड सुत्त—मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साईज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज, और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)

(२०) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

प्रकाशक—प्रेमचन्द, वीर सेवा मन्दिर के लिए नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

अक्टूबर १९६२

द्वै मासिक

अनेकान्त

सत्साहित्य का निर्माण उन्हीं व्यक्तियों द्वारा संभव है, जिन्होंने अपने जीवन को संयम और साधना से पवित्र कर लिया है।

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मंदिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिये सम्पादक मंडल उत्तरदायी नहीं है।

चित्र-परिचय

अनेकान्त के मुख पृष्ठ पर जो चित्र दिया गया है। उसका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है:—

'हाथी के एक-एक अंग को स्पर्श करने वाला प्रत्येक व्यक्ति अंश रूप से सच्चा है—पर उस एक अंग के वर्णन से पूरे हाथी का रूप ज्ञान नहीं हो सकता है। विभिन्न अंगों को स्पर्श करने वाले सभी छहों व्यक्तियों के विचार मिला लेने पर पूर्ण हाथी का रूप स्पष्ट हो जायगा। इस प्रकार पूर्ण सत्य को प्राप्त करने के लिए सभी आंशिक सत्यों को सम्मिलित करना होगा, यही भाव इस चित्र से प्रकट होता है।

आरोग्य कामना

केकड़ी दि० जैन समाज के उत्साही विद्वान् और अनेकान्त के सम्पादक क्षयरोग से प्रपीड़ित है। उनका इलाज मीरशाली अस्पताल (अजमेर) में सावधानी से हो रहा है। अब उनका स्वास्थ्य अपेक्षाकृत सुधार पर है। आशा है वे बिल्कुल ठीक हो जायेंगे। अनेकान्त परिवार उनके स्वास्थ्य की कामना करता है।

अनेकान्त परिवार, वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य छः रुपया है। अतः प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि वे छह रुपया ही मनीआर्डर से निम्न पते पर भेजें।

मैनेजर
'अनेकान्त' वीर-सेवा-मंदिर
२१ दरियागंज, दिल्ली

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष १५ किरण, ४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६ | आश्विन शुक्ला १२, वीर निर्वाण सं० २४८८, विक्रम सं० २०१९ | अक्टूबर सन् १९६२

चतुर्विंशति तीर्थंकर-जयमाला

[इस तीर्थंकर-जयमाला स्तवन के कर्ता ब्रह्म जीवंधर हैं, जो माथुरसंघ विद्यागण के प्रख्यात भट्टारक यशःकीर्ति के शिष्य थे। आप संस्कृत और हिन्दी भाषा के योग्य विद्वान् थे। आपकी अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिन्हें अवलोकन करने से उन पर गुजराती भाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी रचनाओं में गुणस्थानवेलि, खटोलारास, झुंबुक गीत श्रुतजयमाला, नेमिचरित, सतीगीत, तीन चौबीसी स्तुति, दर्शन स्तोत्र, ज्ञान-विराग-विनती, आलोचना, बीस तीर्थंकर जयमाला और चौबीस तीर्थंकर जयमाला प्रसिद्ध हैं। इनमें अन्तिम रचना संस्कृत पद्यबद्ध रचना है, जो चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति को लिये हुए है। पद्य सुन्दर और सरल हैं। यह मूल रचना पं० दीपचन्द जी पांड्या केकड़ी को टोंक राजस्थान शास्त्र भंडार से प्राप्त हुए एक जीर्ण गुच्छक पर से संगृहीत की गई है। ब्रह्म जीवंधर विक्रम की १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान् है। इन्होंने सं० १५६० में वैशाख वदी १३ सोमवार के दिन भट्टारक, विनयचन्द की स्वोपज्ञ चूनड़ी टीका की प्रति लिपि अपने ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयार्थ की थी। इससे वे १६वी शताब्दी के विद्वान् निश्चित होते हैं।

—परमानन्द जैन]

त्रिंशद्भिश्चतुरुत्तरैरतिशयैः सत्प्रातिहार्याष्टभि—
र्दृष्टि-ज्ञानसुवीर्यसौख्यविशदैरेतैरनन्तैः परैः ।
ये रम्याष्टसहस्रलक्षणयुतैरेभिःसमस्तैर्गुणैः
पूर्णा मर्त्यसुराऽसुरेन्द्रविनुतास्तांम्तीर्थनाथान् स्तुवे १

वृषभं वृषचक्राङ्कितदेहं नाशितवस्तुविषयसन्देहम् ।
अजितं जितमन्मथरिपुमानं कृतशाश्वतसौख्यामृतपानम् ।।

शम्भवजिनममराधिपवन्द्यं निर्वस्त्राभरणादपि लब्धम् ?
अभिनन्दनमालोकितसर्वं देशितदशविधधर्ममपूर्वम् ।।
सुमतिं सन्मतिविधिदातारं प्राप्तसमस्तभवोदधिपारम् ।
पद्मप्रभदेवं कमलाऽऽभं सञ्चितमुक्तिमहाऽद्भुतलाभम् ।।
वन्दे तीर्थंकरं च सुपार्श्वं त्रिभुवनजनसमभीप्सितपार्श्वम् ।
चन्द्रनिभं चन्द्रप्रभदेवं सुरनरखगपतिकृतपदसेवम् ।।
पुष्पदन्तजिनमुज्ज्वलकायं क्रन्दितदुर्जयदुष्टकषायम् ।
निष्टप्ताऽर्जुनवर्णमनिन्द्यं शीतलजिनममलं निरवद्यम् ।।
श्रेयस्करमभिवन्दे धीरं श्रेयांसं हतमनसिजवीरम् ।
विगताऽष्टादशदुर्धरदोषं वासुपूज्यजिनमुपगततोषम् ।।
विमलं शिवपदसुखसम्पन्नं नवकेवलवर-कमलाऽऽपन्नम् ।
लब्धाऽनन्तचतुष्टयराज्यं देवमनन्तं सुरपतिपूज्यम् ।।
धर्ममहारथधरणसमर्थं धर्मं स्वीकृतमोक्षपदार्थम् ।
शान्तिकरं सततं सभयानां शान्तिजिनेन्द्रं भक्तिमयानाम् ।।
कुन्थुं सर्वोत्तमगुणनिलयं विहितजननमरणाऽऽमयविलयम् ।
मिथ्यामतगजवारणसिंहं प्रणमाम्यरजिनमुज्झितमोहम् ।।
पञ्चेन्द्रियवनदहनहुताशं मल्लिं छेदिनसंसृतिपाशम् ।
मुनिसुव्रतमुपमानगिरीन्द्रं भव्यकुमुदवनबोधनचन्द्रम् ।।
नमिजिनमुपहतकर्मविपक्षं लोकत्रयपरिबोधनदक्षम् ।
नेमिं समलङ्कृतदृढशीलं सेवितसिद्धिवधूसुखलीलम् ।।
विधुरितविघ्नं पार्श्वजिनेशं दुरिततिमिरभरहननदिनेशम् ।
अज्ञानद्रुमतीव्रकुठारं वाञ्छितसुखदं करुणाधारम् ।।
"जीवन्धर" नुत-चरणसरोजं विकसितनिर्मलकीर्तिपयोजम् ।
कल्याणोदयकदलीकन्दं वन्दे वीरं परमानन्दम् ।।

विविधगुणविचित्रा पुष्पमालेव रम्या
नृसुरमुनिपवृन्दाराधितानां जिनानाम् ।
प्रपठति जयमालां योऽनिशं तां सुभक्त्या
जिनपतिपदलक्ष्मीस्तं समभ्येति शीघ्रम् ।।

इति चतुर्विंशतितीर्थङ्करजयमाला ।।

*

सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासन

श्री कालिकाप्रसाद शुक्ल, एम० ए०, व्याकरणाचार्य

यह तो सबको विदित ही है कि अनेक प्रतिभासम्पन्न वैयाकरणों ने शताब्दियों तक अत्यन्त सुव्यवस्थित पद्धति से अनेक संस्कृत व्याकरण शास्त्रों का निर्माण किया। उन व्याकरण शास्त्रों के बल से संस्कृत भाषा आज भी अमर है। केवक इस देश के ही नहीं, विदेश के विद्वानों ने भी आज के अपने भाषाशास्त्रों मे उन व्याकरणों का उपयोग किया है, यह किसी से छिपा नहीं है। व्यवस्थित व्याकरण शास्त्र के अभाव से ही अनेक भाषायें नष्ट हो गईं अथवा वे आज भी दुर्बोध बनी हुई हैं। उन व्याकरणों की ही कृपा से, संस्कृत वाङ्मय सैकड़ों आघात-प्रत्याघातों को सहन करते हुए भी, आज भी सुगठित एवं स्थिर करने के के लिए आजकल उपलब्ध व्यवस्थित व्याकरणों में एक सिद्ध हेम चन्द्र शब्दानुशासन' भी है, जिसके सम्बन्ध में यहां कुछ विचार किया जाता है।

निर्माण का उद्देश्य

सर्वाङ्गपूर्ण पाणिनीय व्याकरण के रहने पर भी विद्यानुरागी श्री भोजराजा की सी प्रख्यात कीर्ति प्राप्त करने रूप गुर्जर नरेश श्री सिद्धराज की महत्वाकांक्षा की पूर्ति ही इस ग्रन्थ के निर्माण का उद्देश्य है, यह इतिहास के पर्यालोचन से स्पष्ट है। इम तथ्य को प्रकट करने वाले, जैनाचार्यों के अनेक ग्रन्थ है। जिनमें ऐतिहासिक दृष्टि से श्री प्रभाचन्द्र सूरि विरचित 'प्रभावक चरित्र,[१] अत्यन्त प्रामाणिक है इस ग्रन्थ के अनुसार सिद्धराज मालव देश को जीतकर अपनी राजधानी पाटन लौटते समय धारा नगरी की सारी सम्पत्ति के साथ ही भोजराज के ग्रन्थ रत्नों को ले आए। उसी समय श्री हेमचन्द्राचार्य ने महाराज को बड़ा ही उदात्त एवं भावपूर्ण आशीर्वाद दिया।[१] उस आशीर्वाद को आदर पूर्वक स्वीकार करते हुए महाराज सिद्धराज ने आचार्य से पुनः पधारने की प्रार्थना की।

एक समय अवन्ती से लाई हुई पुस्तकों का निरीक्षण करते हुए एक पुस्तक के सम्बन्ध में महाराज ने पूछा—यह कौनसी पुस्तक है। ग्रन्थपाल ने उत्तर में कहा कि यह भोज निर्मित व्याकरण की पुस्तक है, विशेष रूप से यह भी कहा कि मालवाधीश परिनिष्ठित विद्वान.थे तथा उन्होंने व्याकरण तर्क आदि अनेक शास्त्रों की पुस्तकें लिखी हैं। यह सुन कर सिद्धराज दुखी हुए और बोले—क्या हमारे यहां शास्त्र-निर्माण-पद्धति नहीं है ? क्या सम्पूर्ण गुजरात देश में कोई पण्डित नहीं है ? तद सभी राजपण्डितों ने हेमचन्द्राचार्य की ओर देखा। महाराज ने इस अवसर को हाथ से नही जाने दिया और आचार्य से ससम्मान प्रार्थना की कि "मुनिवर ! एक नवीन व्याकरणशास्त्र रचकर हमारी इच्छा पूरी कीजिए। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस कार्य में समर्थ नही है। इस समय हमारे राज्य में अति संक्षिप्त कलाप-व्याकरण ही का प्रचार है। उसके बार-बार परिशीलन से भी यथोचित शब्द-व्युत्पत्ति नहीं होती। पाणिनीय व्याकरण वेदाङ्ग है। अतः ब्राह्मण लोग इसे औरों को नही पढ़ाते। अतः सबके कल्याण के लिए नवीन व्याकरण का निर्माण कीजिए। इससे मेरी तथा आपकी ख्याति होगी।"

१—प्रभावक चरित्र के सम्बन्ध में इसके सम्पादक ने लिखा है—"रचना की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा प्रवाहपूर्ण तथा प्रभावशाली है। वर्णन सुसम्बद्ध तथा परिमित है। कही भी अत्युक्ति एवं असम्भवोक्ति नही है। समग्र संस्कृत साहित्य में महाकवियों एवं प्रभावशाली धर्माचार्यो का ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण ग्रन्थ दूसरा नहीं है।" इस प्रकार का अपना आशय प्रकट करते हुए सम्पादक ने प्रभावक चरित्र' को इतिहास ग्रन्थ स्वीकार किया है। [रचना काल—वि० सं० १३३४। सिन्धी जैन ग्रन्थमाला ग्रंथाङ्क १३, प्रभावक चरित्र की प्रस्तावना पृ० ६।]

१—"भूमिं कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकराः।
मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप ! त्वं पूर्ण कुम्भोभव॥
धृत्वा कल्पतरोर्दलानिसरलैर्दिग्वारणास्तोरणा—।
न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः।

भोजराज की ग्रन्थ राशि तथा भोज नामाङ्कित व्याकरण को देखकर और उनकी रची हुई व्याकरण के अतिरिक्त शास्त्रों की भी पुस्तकें हैं, ऐसा सुनकर सिद्धराज ने सोचा होगा कि मेरे राज्य (गुजरात) में ऐश्वर्य है उत्तम विलास स्थान भी हैं, सम्पत्ति की सरितायें भी प्रवाहित हैं। विद्यालय भी हैं और बड़े-बड़े विद्या-व्यसनी विद्वान् भी हैं, सब कुछ है, किन्तु स्वकीय (अपना) साहित्य नहीं है। हम लोगों को परकीय (पराये) साहित्य पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे परकीय साहित्य की परवशता दूर होकर अपने स्वतन्त्र साहित्यसे हमारा देश प्राणवान् हो। राजा आयेंगे और जायेंगे उनका अधिकार समाप्त हो जाएगा राज्याधिकारी भी इस नियम के अपवाद न होंगे, राज्य-नियम बदलेंगे, राज वैभव विलीन हो जायेगा। सम्पूर्ण संहारक वस्तुयें भी नष्ट हो जायेंगी, परन्तु संस्कृति और साहित्य ही अमर होंगे। ये ही अतीतकाल के भव्य इतिहास की सूचना देते हुए रमणीय रचना को प्रेरणा देकर गुजरात का गौरव बढ़ायेंगे। इतना ही नहीं, गुजरात का यश, सूर्य और चन्द्र के सदृश दिगन्त-व्यापी होगा। सिद्धराज की इस महत्वाकांक्षा ने ही हेमचन्द्राचार्य के हृदय में रचना का भाव अंकुरित किया। वही रचना 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी आशय को आचार्य ने ग्रंथ की प्रशस्ति में प्रकट किया है:—

तेनाति विस्तृतदुरागमविप्रकीर्ण—
शब्दानुशासनसमूहकदर्थितेन।
अभ्यर्थितो निरुपमं विधिवद् व्यधत्त
शब्दानुशासनमिदं मुनिहेमचन्द्रः ॥३५॥

इसका तात्पर्य यह है कि "मालवराज भोज व्याकरण निर्माता थे। अपने राज्य में अपना ही व्याकरण चलाते थे। विद्याभूमि गुजरात में भी कलाप-व्याकरण की तुलना में भोज-व्याकरण की अधिक प्रतिष्ठा थी। अतएव सम्भवतः सिद्धराज अपने देश में अपना व्याकरण न होने से दुखी हुए होंगे तथा उनको अपने पुस्तकालय में इस प्रकार की शास्त्र रचना का अभाव खला होगा। प्रत्येक राज्य में वहीं के पण्डितों के रचे व्याकरणों का प्रचार है अतः मेरे राज्य में भी यहीं के विद्वानों द्वारा निर्मित सर्वाङ्गपूर्ण शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन होना चाहिए।"

'मालव राज्य वैभव के साथ विद्वानों तथा उनकी रचनाओं से पूर्ण है; किन्तु मेरे राज्य में विविध वैभव होते हुए भी साहित्य एवं साहित्य निर्माता क्यों न हों, इस अभिलाषा से भी सिद्धराज क्षुब्ध हुए होंगे।

अध्ययन काल में अति विस्तृत होते हुए भी अपर्याप्त एवं अति परिश्रम करने पर भी सम्यग्ज्ञान कराने में असमर्थ, अन्य व्याकरणों से भयभीत गुर्जरदेश के छात्रों के भय को समूल उन्मूलन करने के प्रयत्न ने भी राजा को व्यग्र किया होगा। यह सारा रहस्य 'कदर्थितेन' इस पद से विभावित हो रहा है। इतना ही नहीं, नवीन साहित्य के निर्माण की नरेश प्रेरणा से समृद्ध राज्य को साहित्य से समृद्ध बनाने की भावना के साथ ही गुर्जरदेशवासियों के गौरवपूर्ण जीवन निर्वाह करने की अनेक तथ्यात्मक भावनायें भी पूर्वोक्त प्रस्तावना-पद्य से प्रकट होती है। अतएव राजा को जितना धन्यवाद दिया जाय, स्वल्प है। इस प्रसङ्ग के सम्यक् आलोचन से, पूर्वोक्त पद्य के अर्थानुसन्धान से तथा इस महान् ग्रंथ के परिशीलन से अनेक अन्य तथ्य भी अभिव्यक्त होते है। तथापि प्रशस्ति में कहे हुए तीन दोषों को व्याकरण शास्त्र से दूर करने के लिए ही इस शब्दानुशासन की रचना हुई, यह बात तो स्पष्ट ही प्रकट होती है।

'आजकल जितने भी व्याकरण प्रचलित हैं, ये सब अति विस्तृत, अव्यस्थित तथा दुर्गम है, परिणामत. बोध कराने में अपर्याप्त हैं, यह यदि सिद्ध हो जाय तो यही व्याकरण सर्वश्रेष्ठ व्याकरण है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। गुणग्राही विद्वानों ने इस व्याकरणकार को 'कलिकाल-सर्वज्ञ' की उपाधि दी है।

इस शब्दानुसान की [1]दोषत्रय से विमुक्ति की चर्चा अमरचन्द्र सूरि ने अपनी बृहत्अवचूर्णि में की है।

शब्दानुशासनजातमस्ति, तस्माच्च कथमिदं प्रशस्यतममिति ? उच्यते, तद्धि अतिविस्तीर्णं विप्रकीर्णं च। कातन्त्रं तर्हि साधु भविष्यतीति चेन् न, तस्य सङ्कीर्णत्वात्। इदं तु सिद्धहेमचन्द्राभिधानं नातिविस्तीर्णं न च सङ्कीर्णं इति अनेनैव शब्द-व्युत्पत्तिर्भवति।

अन्य व्याकरणों में तीन दोष

जहाँ दो तीन सूत्रों से विवक्षित विषय स्पष्ट हो जाता हो वहाँ अधिक सूत्र बनाना बुद्धिमानी नहीं है। हेमचन्द्र शब्दानुशासन को छोड़कर अन्य व्याकरणों में विषय विभाग की दृष्टि से यह दोष स्पष्ट है। व्याकरणों के विषय में यह प्रसिद्धि है "अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।" अतः प्रत्येक व्याकरण अपना विवक्षित अर्थ सक्षेप में कहना चाहता है। किन्तु इस कार्य में हेमचन्द्राचार्य सर्वाधिक सफल हुए है। अल्प वाक्यों वाले प्रकरण से तथा अल्प अक्षरों वाले सूत्र से यदि प्रतिपाद्य विषय एवं विवक्षित अर्थ प्रकट हो जाय तो वही रचना सुन्दर तथा विस्तार-दोष से विमुक्त समझी जाती है। किन्तु विस्तार दोप को हटाने के लिए यदि भाषा कठिन अथवा भाव दुरूह हो जाय, तो ऐसा संक्षेप तो "अजा (बकरी) निकालने के प्रयत्न में ऊँट प्रविष्ट हो गया।" इस लोकोक्ति की भाँति हास्यास्पद ही होता है।

सूत्रो की रचना कठिन शब्दों में हो, उनकी व्याख्या भी कठिन शब्दों एवं दुर्गम शैली में हो, बार-बार विचार करने पर भी अर्थ सहज ही समझ में न आता हो, सूत्रों के अर्थ ज्ञान के लिए वृत्ति लिखी जाय, उस वृत्ति को समझने में अनेक संशय खड़े हो, जिस सूत्र का बोध सरलता से हो सकता हो उसके लिए कठिन मार्ग का अवलम्बन किया जाय और कठिन विषय का स्पर्श ही न किया जाय—आदि ऐसी अव्यवस्थाएँ है। जिनसे व्याकरण सर्वथा दुष्ट हो जाता है। इस दोष के निराकरण के लिए ऐसे व्याकरण की रचना होनी चाहिए, जिसमें ऐसी शैली अपनाई जाय, पढ़ने के साथ ही विषय का सम्यक् ज्ञान हो तथा कठिन विषय भी सरलता से वर्णित हों।

प्रत्येक विषय को स्पष्ट करने के लिए शृंखला की कड़ियों की भाँति सूत्र आपस मे सुव्यवस्थित एवं सुसम्बद्ध हों, सूत्रों का समन्वय करते समय पूर्व सूत्रो से अनुवृत्त या अधिकार द्वारा प्राप्त पद बिना किसी बुद्धि-व्यायाम के स्वयं उपस्थित हो सकें, सूत्रों मे आने वाले पदों के विवरण के सम्पादक उदाहरण भी गंगा के निरवच्छिन्न प्रवाह की भाँति निरायास उपस्थित होकर विषय को अधिक सुस्पष्ट कर सकें, सूत्रों के उद्देश्य की सीमा का निर्धारण करने वाले प्रत्युदाहरण यह निश्चित रूप से बता सकें कि इस सूत्र के इतने ही उदाहरण होंगे, अधिक नहीं; उदाहरणों एवं प्रत्युदाहरणों के ज्ञान के साथ ही ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विषयों का ज्ञानोपार्जन भी साक्षात् या परम्परा से हो सके; इतना ही नही अपितु, पढ़ते-पढ़ाते समय यदि अनायास ही विषय स्पष्ट हो तथा जितना अपेक्षित हो, उतने ही अंश का ज्ञान प्राप्त कर सन्तोष हो जाय तभी व्याकरण, व्याकरण है। इसमें सन्देह नही कि इस व्याकरण में व्यापक रूप से ये सभी तथ्य प्रस्तुत हुए हैं। यदि एक विषय के प्रतिपादन के समय अन्य विषय का प्रतिपादन होने लगे, सन्धि के प्रकरण में समास विधायक सूत्र आ जायं; नाम के प्रकरण में कारक सूत्रों की चर्चा हो तथा कारक के प्रकरण में षत्व-णत्व एवं समास-विधायक सूत्रो को पढ़ दिया जाय तो विद्यार्थियों को बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

ये उपर्युक्त दोष न्यूनाधिक रूप से प्रत्येक व्याकरण में पाये जाते है। इसकी थोड़ी चर्चा यहाँ कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पाणिनीय व्याकरण में अतिविस्तृतत्व दोष

पाणिनि ने जिस कार्य के लिए चार सूत्र[1] पढ़े है उसी कार्य को हेमचन्द्र ने अप्रयोगीत १।१।३७ इस एक सूत्र से सम्पादित किया है।

आगे चलकर कारक प्रकरण मे पाणिनि ने 'ध्रुवमपायेऽपादनम्" (पा० १।४।२८) इस सूत्र से अपादान कारक की व्यवस्था की है, किन्तु वह व्यवस्था भी अपूर्ण रह गई, अतः उन्होने अन्य सूत्र भी लिखे है। तथापि उसकी पूर्ति न

१. "उपदेशे ऽजनुनासिक इत्" (पा० १।३।२), 'हलन्त्यम्" (पा० १।३।३) "अदर्शनं लोपः" (पा० १।१।६०) तथा "तस्य लोपः" (पा० १।३।९)।

देख वार्तिककार ने वार्तिक बनाकर उसे पूरा किया है[1] किंतु इन सब सूत्रों एवं वार्तिकों के लिए हेमचन्द्र ने एक ही सूत्र पढ़ा है। अपायेऽवधिरपादानम्। सिद्ध हैम० २।२।१९। उन्होंने अपाय के दो भेद किये हैं—

१—काय संसर्ग पूर्वक और २—बुद्धिसंसर्गपूर्वक।

इस प्रकार अधर्माज्जुगुप्सते, अधर्माद्विरमति, धर्मात्प्रमाद्यति इत्यादि स्थलों में विवेकशील व्यक्ति बुद्धि से ही अधर्म को दुःख का हेतु समझकर उससे निवृत्त हो जाता है। नास्तिक व्यक्ति तो बुद्धि से ही धर्म को जानकर 'मैं ऐसा नहीं करूंगा' यह निश्चय कर उससे निवृत्त होता है। निवृत्ति-गर्भ जुगुप्सा, विराम, प्रमाद अर्थ में उक्त धातुएं हैं[2]।

भाष्यकार पतञ्जलि ने ध्रुवमपायेऽपादानम्" (पा० १।४।२४) इस एक सूत्र से ही पूर्वोक्त सूत्रों एवं वार्तिकों के उदाहरणों की व्याख्या करके उनका प्रत्याख्यान कर दिया है[3]।

उक्त प्रकरणों के देखने से यह स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने महाभाष्य का सम्यक् आलोचन किया था, क्योंकि पूर्वोक्त सूत्रों एवं वार्तिकों के प्रत्याख्यान में महाभाष्यकार ने जिस पद्धति का अवलम्बन किया है, हेमचन्द्र ने सूत्रों के लाघवीकरण में ठीक उसी पद्धति का आश्रय लिया है। यदि हेमचन्द्र ने महाभाष्य न देखा होता, तो सम्भवतः यह लाघव दुष्कर ही होता। उस समय पाणिनि व्याकरण की महती प्रतिष्ठा थी एवं उसका बहुत प्रचार था। इसमें सन्देह नहीं कि परवर्ती आचार्यों नेपूर्ववर्ती आचार्यो का अनुसरण किया है। अतः हेमचन्द्र का ऐसा करना उचित ही था। किंतु पूर्वोक्त स्थल में भाष्यकार का अनुसरण करनेपर भी कई स्थलों पर हेमचन्द्र की स्वतन्त्र नूतन उद्भावनायें भी हैं। उदाहरणार्थ—'आख्यातोपयोगे' (पा० १।४।२९) इस सूत्र के भाष्य का आचार्य ने अनुसरण नही किया है, अपितु "आख्यातर्युपयोगे" (हैम० २।२।७३) इस सूत्र का उल्लेख कर उसकी वृत्ति भी लिख दी है।

सम्भवतः आचार्य का यह अभिप्राय हो कि 'नटस्य शृणोति' यहां पर उपयोग की अविवक्षा रहने पर भी बुद्धिकृत अपाय की विवक्षा में पञ्चमी न हो सकेगी, इसलिए यह सूत्र आवश्यक है। किन्तु अनभिधान से ही वैसी विवक्षा नहीं हो सकती। अतः इस सूत्र का कोई विशेष प्रयोजन नहीं ज्ञात होता। अन्यथा पूर्वोक्त सूत्रों में भी इसी प्रकार की कोई कल्पना की जा सकती थी, जो आचार्य ने नहीं की। इस पर विद्वान् लोग ही विचार करें।

हैम शब्दानुशासन का उपजीव्य

व्याकरण भाषा का नियामक होता है। यदि एक भाषा के अनेक व्याकरण हैं, तो पूर्ववर्ती व्याकरण की भांति परवर्ती व्याकरणों में भी शब्दसिद्धि समान ही होती है। उनमें कोई नवीनता तो होती नहीं, केवल रचना पद्धति में सरलता या कठिनता, सर्वदेशीयता या एकदेशीयता होती है, जो प्रत्येक व्याकरण में पूर्णतः या अंशतः पाई जाती है। यद्यपि सूत्र और वृत्ति आदि के पर्यालोचन से यह प्रतीत होता है कि[1] शाकटायन व्याकरण ही इसका

---

१. (क) "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" (का. वा.)—पापाज्जुगुप्सते, पापाद्विरमति धर्मात्प्रमाद्यति।

(ख) "भीत्रार्थानां भयहेतुः" (पा० १।४।२५)—चौराद्बिभेति, चौरात्त्रायते। (ग) "पराजेरसोढः" (पा० १।४।२६)—अध्ययनात्पराजयते। (घ) "वारणार्थानामीप्सितः (पा० १।४।२७)—यवेभ्यो वारयति। (ङ) "अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति" (पा० १।४।२८)—मातुर्निलीयते कृष्णः (च) जनिकर्तुः प्रकृतिः (पा० १।४।३०)—ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते। (छ) "भुवः प्रभवः" (पा० १।४।३१)—हिमवतो गङ्गा प्रभवति (ज) पञ्चमी विभक्ते (पा० २।३।४२)—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः। (झ) यतश्चाध्वकाल निर्माणं तत्र पञ्चमी (का० वा०)—कार्तिक्या आग्राहयणी मासे वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा।

२. अपायश्च कायसंसर्गपूर्वको बुद्धिसंसर्गपूर्वको विभाग उच्यते, तेन—

"बुद्धया समीहितैकत्वान् पञ्चालान् कुरुभिर्यदा।
बुद्धया विभजते वक्ता तदापायः प्रतीयते॥"
—इत्यत्राऽपादानत्वं भवति।......देखो हैम० सू० २।२।१९

३. जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् कर्तव्यम्... [देखो, महाभाष्य १।४।२४ (पा.सू.) से १।४।३१ (पाणिनि सू.) तक]

१. शाकटायन अपरनाम पाल्यकीर्ति नामक दि० जैन आचार्य का चार अध्यायों में विभक्त यह व्याकरण ग्रन्थ अनेक टीका वृत्तियों से युक्त पाया जाता है।

उपजीव्य रहा है, तथापि सूत्रों में जैनेन्द्र व्याकरण का प्रभाव भी यत्र-तत्र परिलक्षित होता ही है। शाकटायन व्याकरण किस व्याकरण से प्रभावित है, इसका विचार स्वतन्त्र लेख में किया जायेगा। शाकटायन व्याकरण को उपजीव्य बनाकर प्रवृत्त हेमचन्द्र ने महाभाष्य और शाकटायन के विस्तृत विषयों का थोड़े ही शब्दों में इस कौशल के साथ अपने सूत्रों एवं वृत्तियों में समाविष्ट किया है कि उनको समझने के लिए अधिक आयास की आवश्यकता नहीं है। किं बहुना, गहन विषयों के तत्त्वों को थोड़े शब्दों में ही निबद्ध करते हुए तथा सूत्रों एवं वृत्तियों की रचना में अतिविस्तृतपन के दोष का परिहार करते हुए इस नूतन रचना से आचार्य ने महती प्रतिष्ठा प्राप्त की है। शाकटायन व्याकरण के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के २० सूत्र अविकल इस शब्दानुशासन में संगृहीत हैं। जिनकी तालिका इस प्रकार है—

इस तालिका में प्रथम अङ्क शाकटायन के सूत्रांक हैं और दूसरे अङ्क सिद्धहेम० के सूत्राङ्क हैं—

(१) अप्रयोगीत् १।१।५, १।१।३७
(२) आमन्न. १।१।७, ७।४।१२०
(३) सम्ब्रन्धिनां सम्बन्धे १।१।८, ७।४।१२१
(४) बहुगणं भेदे १।१।१०, १।१।४०
(५) क समासेऽध्यर्धः १।१११, १।१।४१
(६) क्रियार्थो धातुः १।१।२२, ३।३।३
(७) गत्यर्थवदोच्छः १।१।३०, ३।१।८
(८) तिरोऽन्तर्धौ १।१।३१, ३।१।६
(९) स्वाम्येऽधिः १।१।३४, ३।१।१३
(१०) प्राध्वं बन्धे १।१।३८, ३।१।१६
(११) परः १।१।४४, ७।४।११८
(१२) स्पर्धे १।१।४६, ७।४।११६
(१३) नं क्ये १।१।६३, १।१।२२
(१४) मनुर्नभोऽङ्गिरोवति १।१।६७, १।१।२४
(१५) स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम् १।१।८५, १।२।१५
(१६) वौष्ठौतौ समासे १।१।८८, १।२।१७
(१७) इन्द्रे १।१।६७, १।२।३०
(१८) सम्राट् १।१।११३, १।३।१६
(१९) सुचो वा १।१।१७०, २।३।१०
(२०) समासेऽसमस्तस्य १।१।१७३, २।३।१३

यदि कुछ मात्रा और अक्षरों के हेर-फेर से सूत्रों की तुलना की जाय तो शाकटायन व्याकरण के प्रथमाध्यायगत द्वितीय पाद के अनेक सूत्र इसमें संगृहीत मिलेंगे। यदि शाकटायन व्याकरण के ४ अध्यायों एवं १६ पादों को देखा जाय, तो एक स्वतन्त्र तुलनात्मक ग्रन्थ तैयार हो जायेगा। अतः कुछ ही उदाहरण यहां दिये गये हैं।

सूत्र की समता के साथ-साथ वृत्ति की समता भी निश्चित रूप से देखी जाती है। यह सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन की तत्त्वप्रकाशिकावृत्ति और शाकटायन की अमोघवृत्ति की परस्पर तुलना से स्पष्ट है।[१]

१—इह शास्त्र उपदिश्यमानो वर्णः स्तीत्समुदायो वा लौकिकशब्दप्रयोगे न, स इत्संज्ञो भवति। अतएव चास्य प्रयोगाभावः सिद्धः। उपदेशस्तु कार्यार्थः। एधि—एधते।" (शा० सू० अमोधवृत्ति १।१।५)

"इह शास्त्रे उपदिश्यमानो वर्णस्तत्समुदायो वा यो लौकिके शब्द प्रयोगे न दृश्यते स एति—अपगच्छतीति इत्संज्ञो भवति। अप्रयोगित्वानुवादेनेत्संज्ञा विधानाच्चास्य प्रयोगाभावः। उपदेशस्तु धातु-नाम-प्रत्यय-विकारागमेषु कार्यार्थः। धातौ-एधि-एधते।" (है० सूत्र तत्व० वृत्ति—१।१।३७)

२—बहुगण इत्येतौ शब्दौ भेदे वर्तमानौ संख्यावद् भवतः। भेदो नानात्वम्—एकत्वप्रतियोगि। बहुकः बहुधा, बहुकृत्वः। भेदे किम्? वैपुल्ये संघे च सङ्ख्या कार्यं मा भूत्। बहुगणनाऽत्यन्ताय संचक्षते इति वचनम्। अतएव भूर्यादीति निवृत्ति.।" (शा० सू० अमो० १।१।१०)

"बहुगण इत्येतौ शब्दौ भेदे वर्तमानौ संख्यावद् भवतः। भेदो नानात्वमेकत्वप्रतियोगि। बहुकः, बहुधा, बहुकृत्वः। भेद इति किम्? वैपुल्यै संघे च संख्याकार्यं मा भूत्। बहुगणौ न नियतावधिभेदाभिधायकाधिति संख्याप्रसिद्धे रभावाद् वचनम्। अतएव भूर्यादिनिवृत्तिः।"

तत्व० वृत्ति १।१।४०)

इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने पूर्वाचार्यों के अविकल वचनों को लेकर भी, परिष्कार करके इस प्रकार लिखा है

कि वे सर्वथा नवीन से प्रतीत होते हैं। अनायास अर्थावबोध के लिए कुछ शाकटायन के सूत्र भी थोड़े से परिवर्तन के साथ इन्होंने ले लिए हैं।

१—शा० सू०		सिद्ध०	सू०
प्रादिर्ना प्रत्यये	१।१।२४	न प्रादिरप्रत्ययः	३।३।४
कणे मनः श्रद्धोच्छेदे	१।१।२८	कणे मनस्तृप्तौ	३।१।६
नित्यं हस्ते-पाणौ स्वीकृतौ	१।१।३६	नित्य हस्ते-पाणावुद्वाहे	३।१।१५
ह्रस्वो वाऽपदे	१।१।७४	ह्रस्वोऽपदे वा	१।२।२२
प्रस्योढोढ्यूहैषैष्ये	१।१।८४	प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण	१।२।१४
एवेऽनियोगे	१।१।८७	अनियोगे लुगेवे	१।२।१६
चादेरचोऽनाङः	१।१।१०१	चादिः स्वरोऽनाङ	१।२।३६
सौ वेतौ	१।१।१०३	सौ न वेतौ	१।२।३८
अब्धौ चोदन्वान्	१।२।६६	उदन्वानब्धौ च	२।१।६७

किन्तु अक्षर परिवर्तन या स्थान परिवर्तन से अर्थमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यही आचार्य का कौशल है।

क्रमशः

तक्षशिला के निकट मण्डन नामक एक जैन मुनि से सिकन्दर ने साक्षात्कार चाहा। मुनि ने उसके निमन्त्रण का तिरस्कार कर दिया, इस पर सम्राट् स्वयं मुनि के पास गया। प्रश्न करने पर मुनि ने कहा कि यदि हम से कुछ पूंछना और लेना चाहता है तो पहले हमारी ही तरह अन्तर-बाह्य से नग्न हो जा। और फिर उन्होंने राज्यतृष्णा एवं भोगलिप्सा का त्याग करके आत्मा की चिंता करने का उसे उपदेश दिया। एक दूसरा साधु जिसका नाम कल्याण था सिकन्दर के साथ ही बाबुल चला गया। बाबुल में जाकर उसने समाधिमरणपूर्वक चितारोहण किया। अपनी तथा स्वयं सिकन्दर की निकट मृत्यु की सूचना इस मुनि ने सम्राट् को पहले ही दे दी थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य की क्या दशा होगी, यह भी बता दिया था।

—डा० ज्योतिप्रसाद जैन

रागविलावल

दूलह नारि तु बड़ी बावरी, पिया जागे तूं सोवे।
पिया चतुर हम निपट अयानी, न जानुं क्या होवे ॥दुल०॥
'आनन्दघन' पिया दरस पियासें, खोल घूंघट मुख जोवे ॥दुल०॥

—आनन्दघन

समय और हम

लेखक—श्री जैनेन्द्र

[श्री जैनेन्द्रजी हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार हैं। श्री प्रेमचन्द जी के उपरान्त उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में उन्हें सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। किन्तु 'जैनेन्द्र के विचार' का अध्येता उन्हें उत्तम दार्शनिक माने बिना भी नहीं रहता। उत्तम इसलिए कि उनका दर्शन उनका मस्तिष्क-विलास नहीं, अपितु उनका अपना जीवन ही है। यह ही कारण है कि वे उसे सहजता के साथ रम्य शैली में अभिव्यक्त कर सके हैं।

'समय और हम' नामके ग्रन्थ में श्री वीरेन्द्रकुमार गुप्त के द्वारा पूछे गये ४५० प्रश्नों के उत्तर हैं। श्री जैनेन्द्रजी ने उनमें से कतिपये मुझे सुनाए। मन रमा और रुचि तल्लीन हुई। यद्यपि जैनेन्द्रजी का अपना कोई पक्ष नहीं, किन्तु मुझे ऐसा लगा कि वे 'अनेकांत' से प्रभावित हैं—जाने या अनजाने। यह अस्वाभाविक भी नहीं। उनका किशोरावस्था का वातावरण ऐसा ही था।

यह ग्रन्थ 'सर्वोदय ग्रन्थमाला' से प्रकाशित होने वाला है। दादा धर्माधिकारी भूमिका लिखेंगे। जैनेन्द्र जी ने कुछ अंश 'अनेकान्त' के लिए दिया है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।] **—सम्पादक**

प्रश्न—आत्मा और परमात्मा के बीच अद्वैत के विषय में आपका क्या मत है?

उत्तर—अद्वैत हर दो के सर्वथा दो-पन का इन्कार है। किन्हीं खास के आपसी दो-पन का नहीं। जिस तरह जड़ और चेतन उसी तरह जीवात्मा और परमात्मा, उसी तरह सत्य और असत्य, रूप-अरूप, साकार-निराकार आदि जितनी द्वैत की कल्पनीय अवस्थाएँ है, अद्वैत में उन सबका समाहार है। आपके प्रश्न को देखते हुए कहा जा सकता है कि परम अद्वैत (परमेश्वर) जीव के साथ जिस तरह एक है, उस तरह ही एक है जड़ के भी साथ। ईश्वर की परमता में द्वैत को अवकाश नहीं। द्वैत का स्थान हमसे है। लेकिन वह सब चर्चा से अगम जो है सो उस तट से इधर ही हमें बात को रखना चाहिए। आगे जाना डूब जाना है, वह बात से सम्भव नहीं है।

प्रश्न—जीवन के व्यवहार में कदम-कदम पर हमें द्वैत का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में आपके अद्वैत का इस संसार में क्या स्थान है?

उत्तर - समझ के संसार में तो सचमुच कोई स्थान नहीं है। अद्वैत के सम्बन्ध में जिसको 'समझना' कहा, वह तो सम्भव ही नहीं है। पर अनुभूति और प्रतीति में, द्वैत से जूझते हुए भी, अद्वैत अवश्य हमारे भीतर रह सकता है। क्या यह सच नहीं है कि दुश्मन मानकर हम किसी से लड़ भी तभी सकते हैं, जब दोनों एक धरती पर हों। गाली तभी दी जा सकती और लगती है जब भाषा बीच में एक हो। लड़ते वक्त दुश्मनी से हम इतने भर जाते हैं कि एक जमीन पर खड़े हैं, एक स्वार्थ पर अड़े है, यह याद नहीं रहता। अगर याद रहे तो दुश्मनी में भी अर्थ मिल जाए और बिल्कुल सम्भव है कि दुश्मनी रहने पर उसका दोस्ती से मेल हो जाए। अद्वैत की श्रद्धा से यदि हम द्वैतात्मक जगत से निबटना सीखेंगे तो इसी संस्कारिता का उदय होगा। केवल द्वैत को ही मानकर उससे उलझेंगे तो मूर्खता से पार नहीं जा सकेंगे। न संस्कारों का उदय अपने बीच कर पाएंगे। कुत्ते को क्या इसीलिए कुत्ता नही कहा जाता कि वह देखते ही दूसरे कुत्ते को गैर व दुश्मन समझता है। यह दो-पन और परायापन देही को अनायास अनुभव होता है। किन्तु मनुष्य को यह प्राप्त है कि वह भिन्न में अभिन्नता भी मान सके। इसी दर्शन और साधना को, विकास का मूल और मन्त्र मानना चाहिए। इस तरह अद्वैत से द्वित्वपूर्ण जगत के प्रति शक्ति ही कुछ प्राप्त होती है, बाधा नही।

प्रश्न—क्या आस्तिकता का प्रचार करने की आवश्यकता है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रचार द्वारा हम अपनी मान्यता का प्रचार कर रहे हैं, जो दूसरों की मान्यता से टक्कर में आती है लेकिन आस्तिक्य चरितार्थ प्रेम में होता है। प्रेम में व्यक्ति अनायास विस्तार पाता है। यह विस्तार उसमें अपने को खोने की तैयारी में से मिलता है। मैं अपने स्व-त्व को पर में खो देने को आतुर होता हूँ, तभी प्रेम की अनुभूति पाता हूँ। अर्थात् प्रेम के माध्यम से ही आस्तिक्य का प्रचार जिस मात्रा मे हो उतना ही इष्ट है। प्रेम से अन्यत्र एवं अन्यथा उपाय से प्रचार आस्तिक्य का नहीं; आग्रह का होता है, मतवाद का होता हैं, और उसमें से प्रतिवाद, विवाद या वितंडा फलित होता है।

प्रश्न—एक आस्तिक के ऊपर, आपकी दृष्टि में क्या और कितनी जिम्मेदारी आती है?

उत्तर—प्रेम उस परम दायित्वशीलता का ही नाम है प्रेम को सेवा विना तृप्ति नहीं। प्रेम के सम्बन्ध में एक अपने को दूसरे से श्रेष्ठ नही मान पाता। जब जानबूझ कर दूसरे को ज्ञान देने, उसका सुधार करने, कल्याण करने का दायित्व ओढ़ते हैं, तो इससे हमारे अहंकार को स्वाद और आधार मिलता है। दुनिया को प्रकाश और सद्ज्ञान देने के दावे में अपने अहंकार का मद यत्किंचित् समाया ही रहता है। ऐसे उपकारीजन अत्याचारी बनगए देखे जाते हैं। जान-मानकर जब दूसरों के प्रति हम कोई दायित्व उठाते है तो जैसे उस दूसरे के अहम् का सही सम्मान नही करते है। प्रेम में यह पर-पना पूरी तरह भरा रहता है। प्रेम से चलकर व्यक्ति अपने को नेता, गुरु अथवा उद्धारक मान नहीं पाता। वह सेवक बनता है। इससे अनायास दूसरे के अहं को संस्कार मिलता है, धार नहीं मिलती। इसलिए मेरा मानना है कि जिसने सचमुच आस्तिक्य पाया हो वह विनम्र और आदरशील ही हो सकता है, प्रचार और उद्धार का दावा उसमें नही दीख सकता। इस आदर शीलता में दायित्व-शीलता सहज ही देखी जा सकती है। अर्थात् ऐसा व्यक्ति अपने में लीन व मग्न नहीं रह पाता उसे अपनी मग्नता सब ओर लुटानी और बांटनी होती है। आनन्द वही है जो अपने में घिरा-सिमटा बन्द नहीं रह सकता, सब ओर मानों बाहें पसार कर फैलना चाहता है। आनन्द और दायित्व में कोई विरोध नहीं देखता हूँ।

प्रश्न—इतिहास साक्षी है कि आततायियों ने सदा सशक्त और हिंसा के बल से अपने धर्म का प्रचार किया। इसे आप क्या कहेंगे, आस्तिकता की अधिकता या न्यूनता?

उत्तर—न्यूनता, बल्कि अभाव। मैं समझता हूँ कि आदमी अत्याचार जिस पर करता है वह उपलक्ष्य नहीं होता है, लक्ष्य वह स्वयं होता है। क्रोध में माँ बच्चे को मारती है तो वह असल मे अपने को मार रही होती है। ऐसे ही वे आस्तिक जन जो सत्ता और शस्त्र लेकर उसकी प्रतिष्ठा में लगे, असल में कहीं अपने भीतर की शंका से ही लड़ना चाह रहे थे। अतः मैं मानता हूँ कि आततायी मूलतः दयनीय होता हैं। आतंक के द्वारा वह अपने अहम् की तुष्टि चाहता है। अस्त्र शस्त्र के योग से वह जिस आतंक की सृष्टि करता है, उससे उसे कुछ अपने महत्त्व का आभास मिलता है। आतंक यदि वह न डाल सके तो उसे ही गहरी विफलता का बोध होता है। आतंक यदि लोग स्वीकार न करें तो अत्याचारी और आततायी देख पाये कि वह भीतर से रुग्ण पुरुष है, महापुरुष नहीं है। इतिहास के जिन कतिपय उदाहरणों को आप याद करके पूछते है कि क्या जोर के साथ हित का और सत् का प्रचार नही किया जा सकता, तो हाँ, मुझे कहना होता है कि जोर का प्रेम के साथ मेल नही है। हित और सत्य के साथ भी उसका मेल नही है अच्छाई और सच्चाई के लिए हिंसक बल का जिन्होंने उपयोग किया, उनमें कही आस्तिक्य की न्यूनता अवश्य रही, यह मेरे लिए स्पष्ट है। सत्य के साथ बल के रूप मे अहिंसा का ही योग हो सकता है। सूक्ष्म में अहिं-सक बल ही सच्चा बल है। जिसमें किसी का सत्व संकुचित नही होता, परस्परता मे मिलकर गुणानुगुणित ही होता जाता है: अहिंसा के युद्ध में भी सर्वोदय है।

प्रश्न—यह सृष्टि कैसे सृष्टि में आई? और इसका फैलाव किस प्रकार हुआ?

उत्तर—विज्ञान इसकी खोज में है। उसने कुछ कल्प-नाएं भी इस बारे में हमें दी है। मैं समझता हूँ कि विज्ञान की बात को हमें स्वीकार करना चाहिए। ब्रह्मांड के और सृष्टि के बारे में विज्ञान क्या व्याख्या देता है, यह शायद आप मुझसे सुनना नहीं चाहते। मेरा उधर बहुत अधिक ध्यान भी नहीं है। पर विज्ञान की अंतिम से अंतिम खोज

इस मेरे विश्वास से उल्टी न होगी कि सृष्टि सब ईश्वर में से है। मेरा काम उस श्रद्धा से चल जाता है और मैं उसे अटूट भी मानता हूँ।

इसीको दूसरे शब्दों में कहें तो अधिक से अधिक वैज्ञानिक ज्ञान रखकर भी रहस्य जैसा कुछ रह ही जाएगा। इस तरह श्रद्धा और भक्ति विज्ञान की पूरक ही है, विरोधी नही है।

सृष्टि समक्ष है। जिस गर्भ में से उसका उद्भव हुआ, उसके तल को पाना हमारे लिए असम्भव है। असम्भव इसलिए कि हम सृष्टि के अंग है, यानी जन्म पा गये हैं और गर्भ के बारे में अनुमान ही रख सकते है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं पा सकते। फिर भी जो प्रत्यक्ष और निःसंशय है वह यह कि सृष्टि स्रष्टा की लीला है। वैसा न होता तो हममें जीवन के आनन्द की अनुभूति न होती।

प्रश्न—सृष्टि ईश्वर से उत्पन्न हुई, या उसे ईश्वर ने बनाया, या वह स्वयम्भूत है?

उत्तर—'उसने बनाई', 'उससे बनी', ये दोनों बातें हमारे मन में दो अलग चित्र पैदा करती है। यह हम पर है कि चित्र हमे कौन सा भाता है। लेकिन उस चित्र की सच्चाई हम तक है, स्रष्टा तक वह नही पहुँचती। आशय कि लीलामय और लीला से अधिक कुछ नही कहा जा सकता। लीला में कर्तृत्व का भाव है भी, और नहीं भी। उसने बनाई इसमें कर्तृत्व है और हेतु की अपेक्षा है। 'उससे बनी' यह स्वभावज है, इसमें जैसे अपेक्षा की आवश्यकता नहीं। स्वयंभूत भाव भी इसमें समा सकता है, सृष्टि और स्रष्टा में हम इतना अभेद क्यों न मानें कि बीच में क्यों "कैसे" आदि प्रश्न सम्भव न रह जाएं। सृष्टि समक्ष है, क्यों न मानें कि सृष्टा ही उस रूप में समक्ष है। कठिनाई इतनी होती है कि सृष्टि दीखती अनन्त है। अनन्त, उसकी विचित्रता और विविधता है। असंख्य रूप-रसमय इस नानात्व में स्रष्टा की एकता और अखंडता दीख नहीं पाती तो यह कि एक अनेक कैसे हुआ? और अनेक एक क्योंकर है? इसको हम विस्मय-प्रश्न के रूप में ही क्यों न अपने में धारें और कहें कि उसके रहस्य-मूलक का सदा स्पन्दन पाते रहें। जीवन ऐसे प्रसन्न और प्राणवन्त रहेगा। उसमें जिज्ञासा लगी रहेगी और अभीप्सा चिरंतन होकर हमें सदा उन्मुख बनाये रखेगी।

प्रश्न—'ईश्वर ने बनाई' को न मानकर क्या हम आस्तिकता को क्षुब्ध-कुठित नहीं करते?

उत्तर—नहीं, बिल्कुल कुठित नहीं करते। बल्कि भगवन्निष्ठा को, उसकी आस्तिकता को ज्वलन्त और अखण्ड करने के प्रयास में हम देखेंगे कि यह 'ने' की भाषा, कर्तृत्व की धारणा, सहज पार होती जाती है।

अभी हाल के इतिहास के महात्मा गांधी को लें। उनसे बड़ा आस्तिक कौन होगा? लेकिन अन्त में "ईश्वर सत्य है" की जगह "सत्य ईश्वर है" कहना उन्हें अधिक मान्य और प्रिय हुआ। जवाहरलाल नेहरू जैसे उनके साथी इसका आशय नहीं समझ पाये। कैसे समझते? फिर भी वक्तव्य में गहरा सार है वह यह कि सत्य में 'कर्तृत्व' का आरोप नहीं रहता, 'ईश्वर' शब्द में जाने-अनजाने कर्ता का भाव आ जाता है। लेकिन ईश्वर की जगह सत्य को रखने से गांधी जी में क्या तनिक भी शिथिलता आई? आस्तिकता क्या ढीली होती मालूम हुई? नहीं, वैसा नहीं हुआ। बल्कि सत्येश्वर के प्रति उनका समर्पण अमोघ और अनन्य होता ही चला गया।

सत्य निर्वैयक्तिक है। इसलिए खतरा यह रहता है कि उसके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध, रागात्मक सम्बन्ध, भावात्मक सम्बन्ध नही बन पाता। सम्भव यह भी रह जाता है कि सत्य के नाम पर हममें स्वार्पण-भाव, भक्ति-भाव न हो, बल्कि एक स्वत्व और अहंभाव हो; यानी वह माना हुआ सत्य हमारे ही अहं का प्रक्षिप्त रूप हो, यह खतरा ईश्वर कहने से एकदम बच जाता है। उसमें अनिवार्य एक दास्यभाव प्राप्त होता है। अहं की सीमा उसमें गल जाती है और सिर झुक जाता है। यह आर्जव (नम्र) भाव जीवन को सम्पन्न व स्वस्थ करता देखा गया है। इसलिए सत्य में ईश्वरत्व को मिटा देने का मैं हामी नहीं हूँ। काम काज में लगे सामान्य मनुष्य के लिए ईश्वर बहुत उपयोगी और आवश्यक होता है, उस संज्ञा के सहारे परम से उसका निजी व रागात्मक सम्बन्ध बना रहता है। वे दर्शन पूजा द्वारा अनन्तानन्त समष्टि से अपना नाता जोड़ पाते हैं और इस तरह अपनी निजता से ऊँचे उठने और पार जाने की

राह पा जाते हैं। कारण अनन्तानन्त को एक में, अखण्ड को खण्ड में, मूर्त और व्यक्त देख पाते हैं।

जैसे-जैसे उस व्यक्त, मूर्त और सगुण से एकात्मता पाने की कोशिश होगी, वैसे ही वैसे व्यक्त अव्यक्त मूर्त अमूर्त और सगुण, निर्गुण बनता जायेगा। साधना साधक को आकार का सहारा देकर फिर निराकार में उठाती ही जायेगी। इस प्रकार साधना-शील आस्तिक अनायास वैज्ञानिक होता जाता है। पूजा-प्रार्थना से आगे अपने प्रत्येक आचरण में वह जो परमेश्वर का दर्शन और अवधारण चाहता है, तो जान पड़ता है कि उसके दर्शन-ज्ञान में अनायास सत्य का स्वरूप उत्तरोत्तर व्याप्ति में उद्घाटित और आविष्कृत होता जाता है। सत्य की उस भांति आरती नहीं उतारी जा सकती जैसे मूर्ति की उतारी जाती है। सत्य अमूर्त रहता है, इसलिए मंदिर में मूर्ति-पूजा से जो सहज सन्तोष सम्भव है, वह सत्य-पूजा में अनुपलब्ध रह जाता है। यहाँ गहरी तितिक्षा की आवश्यकता होती है। कारण, अगर मन्दिर या मूर्तिकलाका ईश्वर उपस्थिति से उठ जाता है, सारे विश्व में फैल जाता है। तब उसको पाना व पकड़ना मुश्किल होता है। उसकी आराधना भी मुश्किल होती है। यह ध्यानियों-ज्ञानियों का काम है। गृहस्थ उस राह दिशा को भी भूल जा सकता है। इतना कि श्रद्धा उससे खो जाए और मार्ग तक उसकी दृष्टि से लुप्त हो जाए।

मुझे लगता है कि आज यही हो रहा है। सगुण रूप में हम उसे मान्य कर नहीं पाते। इस तरह अभ्यंतर की वेदी पर से जब कि ईश्वर खंडित होता है तब सत्य उसकी जगह प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। कारण, सत्य के प्रति सर्वस्वार्पण का भाव पाना अत्यन्त दुःसाध्य है। इसी से एक प्रकार की नास्तिकता फैली दीखती है और बौद्धिकता जैसे बौखलाई हुई है।

इसलिए संस्था तक के रूप में धर्म को मैं अनुचित नहीं मानता। विशुद्ध अथवा सघन होकर संस्था, संगठन, सम्प्रदाय से धर्म अनायास उत्तीर्ण होता है। व्यवहार में उसके संस्थागत रूप को बाहर से तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। वह स्पर्द्धा अहंजन्य और प्रतिक्रियात्मक है।

प्रश्न—विद्वान, यन्त्र अथवा ज्ञान को ही जो अन्तिम मानकर चलते हैं, उसी की उपासना में दत्तचित्त रहते और ईश्वर का निर्णय करते हैं, उन्हें आप क्या कहेंगे आस्तिक या नास्तिक?

उपासना में स्वसेवन की जगह स्वार्पण की वृत्ति हो तो आस्तिक। लेकिन अधिकांश ऐसा हो नहीं पाता। सिर नहीं झुकता। प्रार्थना नहीं होती, भक्ति नहीं फूटती। इस नमन से भावनाओं को जो एक सहजता, एक आर्द्रता प्राप्त होती है, हृदय को जो संस्कारिता प्राप्त होती हैं, निरे बौद्धिक अनुसन्धान में व्यक्ति को उससे वंचित रह जाना पड़ता है। यों कहिये कि उस उपासना से दिमाग को खुराक मिलती है। मस्तिष्क पुष्ट-प्रखर होता है, दिल सूखा रह जाता है, अर्थात् मूल 'अहं' को संस्कार नहीं मिलता। व्यक्तित्व को दाक्षिण्य नही प्राप्त होता है। प्रेम मुरझाता है और ज्ञान-विज्ञान का सहारा लेकर भीतर ही भीतर अहं और कस जाता है। मस्तिष्क की तीक्ष्णता के साथ तब व्यक्तित्व को धार मिलती है और सामाजिक सम्बन्धों में स्पर्धा अधिक काम करने लग जाती है। उन्नति बढ़ती है, संस्कृति घटती है। आज की मानव सभ्यता का दृश्य कुछ यही है। विज्ञान के जोर से हम ग्रहों, उपग्रहों के पास पहुँच गए हो सकते हैं, पर पड़ोसी से दूर हो गये हैं। विज्ञान के विस्तार ने पड़ोसी को उड़ा दिया है, उसकी आवश्यकता को जैसे खत्म कर दिया है। परिणाम क्या है? परिणाम यह है कि मानसिक रोग और विकार बढ़ती पर हैं। एक सूनापन और अकेलापन सभ्य, व्यक्ति को घेरे रहने लगा है, जिससे छूटने के लिए वह नशे रोमांच और अपराध (Crime) में शरण लेता है। सभ्यता ने तीखा नशा देने के नाना आविष्कार किये हैं। रोज-रोज नई विधियाँ सामने आती हैं। मानों सभ्य आदमी अपने को जैसे भी हो कुछ देर के लिए भुला डालना चाहता है। उधर पैसे की दुनिया है, जिससे हर क्षण वह अपने को याद रखने को मजबूर है, होश जरा भी खो नहीं सकता। तो फिर दूसरी तरफ उसे क्षण चाहिए जब वह अपने को खो डाले, होश से बेहोश हो जाए। अपने को एकदम छोड़ दे और कहीं तनिक संभाले न रखे। यह जो आदमी तरेड़ खाकर दो बन गया है, दिमाग से तेज, दिल से सूना, ऊपर से मर्यादित, भीतर से निरंकुश, व्यवहार से सभ्य, आकांक्षा से जंगली—यह आज के उत्कर्ष का विद्रूप क्या इसी वजह

से नहीं है कि मन के भुलावों में उड़कर हमने अपने को ऊंचा मान लिया है और उस मन को वहीं समर्पित करने की जरूरत से बेखबर हो रहे हैं। ईश्वर से आत्मार्पण की उसी गहरी आवश्यकता की पूर्ति होती है। मानव की वह आवश्यकता आज अधूरी है, अतृप्त है और उन्नति के मद में उसको सहसा और हठात् भुलाया जाता है। यन्त्र धुआं-धार पैदा कर रहा है और इस तरह उत्पन्न धन की बहुतायत हमारे सम्पन्न वर्ग को बहाये लिये जा रही है, फुर्सत नहीं है कि अपने भीतर के गहरे अभाव पर निगाह डाल सके, शायद यह करते डर भी लगता है। इस बाढ़ में उन्नति अपने को उन्नत करती हुई अन्त में युद्ध में आ फूटी है और लोग घबरा गये हैं। संशय शायद मन में उठ गया है, लेकिन उन्नति का वेग अब भी है और शस्त्रास्त्र की धड़ाधड़ तैयारियां हो रही हैं, किन्तु विज्ञान के उत्कर्ष के सहारे हम वहां आ गये है, जहाँ आगे राह बन्द दिखाई देती है। उस वेग में एक कदम बढ़ा कि सर्वनाश स्पष्ट है। इससे सोचने वालों के मन डिग गये हैं और वहां गम्भीर मंथन मचा है। सिर्फ 'करने-धरने' वाले व्यस्त हैं और उन्हें लौटने की-सोचने की ताब नहीं है। अन्यथा सिद्ध है कि उन्नति का रूप एकांगी रहा है और व्यक्ति के आधे अंश को छोड़ गया है। मस्तिष्क प्रखर बना है, हृदय सूखने को अलग रह गया है। धर्म हृदय का विषय है और ईश्वर उस हृदय की मांग को भरता है।

आस्तिक का आवश्यक लक्षण नम्रता और निरहंकारता है। विज्ञान अथवा यन्त्र-ज्ञान की उपासना ने जिनको यह ऋजुता दी, स्वार्पण-भाव दिया, उन्हें तो आस्तिक ही कहना चाहिए। क्योंकि उपासना की वेदी वहां शून्य नहीं है, उस पर कुछ अवश्य विराजमान है, जिसके समक्ष वे नत-मस्तक हैं। नत-मस्तकता का यह प्रसाद उस क्षेत्र में विरले ही पाते हैं। जो उस प्रसाद से वंचित हैं, और अधिकांश वंचित हैं, उन्हें आस्तिक कहने से शब्द पर जोर पड़ता है। ईश्वर का एक रूप नहीं है, सब रूप उसी के हैं। वृक्ष में, पत्थर में, जब उसे पूजा जाता है तो ज्ञान-विज्ञान के निर्मित से क्यों नहीं पूजा जा सकता? प्रश्न नमन का, प्रत्यर्पण का है। बौद्धिक उपासना में से वह आवश्यकता पूरी नहीं होती, ऐसा देखने में आता है।

पद

चेतन सुमति सखी मिल। दोनों खेलो प्रीतम होरी जी ॥टेक॥
समकित व्रत को चौक वणावो। समता नीर भरावो जी ॥
क्रोध मान को शीघ्र हटाओ। मिथ्या दोष भगावो जी ॥१॥
ग्यान ध्यान की ल्यो पिचकारी। तौ खोटा भाव छुड़ावो जी ॥
आठ करम को चूरण करि कै। तौ कुमति गुलाल उड़ावो जी ॥२॥
जीवदया का गीत राग सुणि। संजम भाव बधावो जी ॥
वाजा सत्य वचन थे बोलो। तौ केवल वाणी गावो जी ॥३॥
दीन सील तौ मेवा कीज्यौ। तपस्या करो मिठाई जी ॥
'देवा ब्रह्म' या रति पाई छै। तौ मन वच काया जोड़ी जी ॥४॥

'सप्तक्षेत्र-रास' का वर्ण्य विषय

श्री अगरचन्द नाहटा

अपभ्रंश भाषा और प्राचीन राजस्थानी में हिन्दी की जैन रचनाएँ प्रचुर परिमाण में प्राप्त हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रची हुई जैनेतर रचनाएँ बहुत ही कम उपलब्ध हैं। जो थोड़ी सी उपलब्ध है वे भी अपने मूल रूप में नहीं रहीं। इसलिए इस समय की जैन रचनाओं का उपयोग हिन्दी, राजस्थानी व गुजराती तीनों भाषाओं के साहित्यिक इतिहास-ग्रंथों में समान रूप से किया जा रहा है। एक ही रचना को राजस्थानवालों ने प्राचीन राजस्थानी, गुजरात वालों ने पुरानी गुजराती और हिन्दी वालों ने पुरानी हिन्दी के रूप में उल्लिखित किया है। वस्तुतः प्रान्तीय भाषाओं के प्रारम्भिक विकास काल में उतना अन्तर नहीं होता। फिर भी प्रादेशिक विशेषताएँ तो रहती ही हैं। जैन विद्वान राजस्थान व गुजरात में समान रूप से घूमते रहे हैं, इसलिए दोनों प्रान्तों में रचित प्रारम्भिक काल की रचनाओं में भाषा की समानता होना स्वाभाविक ही है। हिन्दी प्रदेश में रचे हुये जैन ग्रन्थ भी थोड़े ही मिलते हैं और बहुत से ग्रन्थों का विषय जैनधर्म से सम्बन्धित होने के कारण हिन्दी के विद्वान उन रचनाओं को ठीक-से समझ नहीं पाते। यही नही, उनको समझने के लिए जितनी गहराई से उनका अध्ययन करना चाहिये, उतना श्रम वे प्रायः नही कर पाते। इसलिए कई बार उन रचनाओं के सम्बन्ध में वे असंभव भी भूल-भ्रान्तियाँ कर बैठते हैं। बहुत से शब्दों का तो अर्थ ही उनकी समझ में नहीं आता, अतः मनमाना तोड़-मरोड़ कर अर्थ कर डालते हैं। ग्रन्थ के विषय को भी ठीक से न समझने के कारण कुछ का कुछ लिख डालते हैं। यहाँ ऐसा ही एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंन्दी के प्राध्यापक डा० दशरथ ओझा ने नागरीप्रचारिणी सभा से "रास और रासान्वयी काव्य" नामक एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सम्पादित करके प्रकाशित करवाया है। रास की परम्परा को जैन विद्वानों ने ही सबसे अधिक अपनाया है और १२वीं शताब्दी से लेकर अब तक छोटे-बड़े सैकड़ों रास जैन कवियों के रचे हुये उपलब्ध हैं। यही नही श्वेताम्बर जैन समाज में रासों के रचे जाने और गाये जाने की परम्परा आज भी विद्यमान है। फलतः 'रास और रासान्वयी काव्य' में सबसे अधिक जैन रास ही संगृहीत किये गये हैं। इस ग्रन्थ की भूमिका में डा० ओझा ने 'जैन रास का विकास' शीर्षक स्वतन्त्र अध्याय लिखा है, उसमें १२वीं शताब्दी से १५वी शताब्दी तक के जैन रासों का संक्षिप्त परिचय और उल्लेख पाया जाता है। यही अध्याय अभी एक स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में 'आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रंथ' के चतुर्थ अध्याय के पृष्ठ १०८ से ११५ में भी प्रकाशित हुआ है। सम्भव है डा० ओझा को नये निबन्ध लिखने का अवकाश मिला न हो और अभिनन्दन ग्रंथ के सम्पादकों का विशेष अनुरोध व तकाजा रहा हो इसलिए 'रास और रासान्वयी काव्य की भूमिका वाले अध्याय को ही उन्होंने इस ग्रंथ में पुनः प्रकाशनार्थ दे दिया हो।

दो वर्ष पहले रास और रासान्वयी काव्य की एक प्रति मुझे डा० ओझा ने भेजी थी। उसी समय मैंने उन्हे सूचित कर दिया था कि आपके इस ग्रन्थ में कई महत्त्व की भूल-भ्रान्तियाँ रह गई है और उनका संशोधन किया जाना अत्यावश्यक है। इतना ही नहीं, मैंने बहुत सी अशुद्धियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करने के लिए एक संशोधनात्मक लेख भी उन्हें लिख भेजा था। पर आ० तुलसी अभिनन्दन ग्रंथ में 'जैन रास का विकास' नामक उनका जो लेख छपा है उसमें मेरी दी हुई सूचनाओ का कुछ भी उपयोग न कर, अपने ग्रंथ के उक्त अध्ययन को कुछ उद्धरणादि को छोड़कर प्रायः ज्यो का त्यों प्रकाशित करा दिया है। इसीलिये उन भूलों की पुनरावृत्ति हो गई है। यहां उसी का एक उदाहरण दिया जा रहा है।

संवत् १३२७ माघ वदी १० गुरुवार को रचित 'सप्त-क्षेत्र रास' का प्रकाशन सन् १९२० में प्रकाशित 'प्राचीन

गुर्जर-काव्य-संग्रह' में हुआ था। स्व० चिमनलाल दलाल के द्वारा सम्पादित यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा से (ग्रंथाक १३ में) निकला था।

१४वीं शताब्दी के प्रमुख जैन रासों का विवरण देते हुये डा० ओझा ने इस सप्तक्षेत्र रास का विवरण इस प्रकार दिया है—

"इस युग की एक निराली कृति 'सप्तक्षेत्र रास' है। जैनधर्म में विश्व (ब्रह्माण्ड) की रचना, सप्तक्षेत्रों की सृष्टि एवं भरतखण्ड के निर्माण की विशेष प्रणाली पाई जाती है। 'सप्तक्षेत्र रास' में ऐसे नीरस विषय का वर्णन सरस-संगीतमय भाषा में पाया जाना कवि के चातुर्य एवं रास-माहात्म्य के परिचायक हैं। इस रास में सप्तक्षेत्रों के वर्णन के पश्चात् श्रावक के बारह मुख्य व्रतों का उल्लेख भी किया है।"

"११६ श्लोकों वाले इस रास में व्रत, उपवास, चारित्र आदि का स्थान-स्थान पर विवेचन होने से यह रास पाठ्य सा प्रतीत होने लगता है किन्तु सम्भव है, जैनधर्म की प्रमुख शिक्षाओं की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए नृत्यों द्वारा इस रास के सरस एवं चित्ताकर्षक बनाने का प्रयास किया गया हो। यह तो निस्संदेह मानना पड़ेगा कि जैनधर्म का इतना विस्तृत विवेचन एकत्रित किया हुआ एक रास में मिलना कठिन है। कवि इसके लिए भूरि-भूरि प्रशंसा प्राप्त करने का भाजन है। कवि ने विविध गेय छंदों का प्रयोग किया है; अत. यह रास काव्य अभिनेय साहित्य की कोटि में भी आ सकता है।"

"गणितानुयोग के आधार पर निरचित रासों में भूगोल और खगोल के वर्णन को महत्त्व दिया जाता है। इस पद्धति पर विरचित रास सृष्टि की रचना, तारा-ग्रहों के निर्माण, सप्त क्षेत्रों, महाद्वीपों, देश-देशान्तरों की स्थिति आदि का परिचय देते है। ऐसे रासों में विश्व के प्रमुख पर्वतों, नदी-सरोवरो, वन-उपवनों, उपत्यकाओं और मरुस्थलों का वर्णन एवं प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा का वर्णन ही प्रिय विषय रहा है। किन्तु गणितानुयोग पर निर्मित रासों में प्राकृतिक छटा की अपेक्षा प्रकृति में पाये जाने वाले पदार्थों की नामावली पर अधिक बल दिया जाता है। ऐसे रासों में 'सप्तक्षेत्री रास' बहुत अधिक प्रसिद्ध है।"

—वास्तव में डा० ओझा, सप्तक्षेत्र क्या है? जिसका कि इस रास में विवेचन है, बिल्कुल समझ ही नहीं पाये। केवल पद्यांक ६-७-८ में भरतक्षेत्र—६ खण्ड, वैताढ्य, ३ खण्ड, मध्य खण्ड यह सब देखकर ही यह मान लिया कि इसमें गणितानुयोग व सप्तक्षेत्रों की सृष्टि आदि का वर्णन है। डा० ओझा ने इस रास में सप्तक्षेत्रों के वर्णन के पश्चात् श्रावक के १२ मुख्य व्रतों का उल्लेख किया जाना लिखा है इससे तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने प्रारम्भिक भरतक्षेत्र में आदि के नामों को देखकर उन्हें ही ७ क्षेत्र समझ लिया है, जबकि ७ क्षेत्रों का वर्णन मूल रचना में १२ व्रतों के नाम बतलाने के बाद ही प्रारम्भ होता है। उन ७ क्षेत्रों में अपना धन खर्च करने के लिए वहाँ प्रेरणा दी गई है यथा—

समकित मूल व्रतु बारइ, गहिय-धरमि पालेवउ।
सप्तक्षेत्रि जिन भणिया, तिह वित्तु वावेवउ॥१७॥
सप्तक्षेत्रि जिन कहिया महामुनि, वितु वावेजिउ विवहपरे।
जिन वचनु आराधीउ अवक्रमु साधिउ, लहइपारू
संसारूसरे॥१८॥

सप्तक्षे[illegible] जिन सासणिहि, सघली कहीजइ।
अथिरू रिधि धनु द्रव्यु, बीजउ तहि जि वावीजइ।
तेहि क्षेत्रि वावेत्रणा थानकि, लाभइ देवलोको।
कणनी थाहरू मुक्तिफलो, पामउ निसंदेहो॥१९॥

इसके बाद पद्यांक २० से पहले क्षेत्र, पद्यांक २८ से दूसरे क्षेत्र, पद्याक ५५ से तीसरे क्षेत्र, फिर पद्यांक ७० से साधु-साध्वी, श्रावक, श्राविका इन चारों क्षेत्रों का वर्णन किया गया है। यथा—

१. पहिलउ क्षेत्र सु 'जिणह भुवण' करावउ चंगू।
२. बीजउ 'सु जिनह बिंबु' ते यहा विचारो।
३. त्रीजउ क्षेत्र सु संभलउ ए वर लोयण,
जं भणिउ वीयराइ।
गुण गंभीर सो 'जिणइ वयणु' मृगलोयण,
ज तमु नवि उपम काइ॥५६॥

४ से ७—पद्यांक ७१ से श्रमण क्षेत्र, पद्यांक ७९ से श्रमणी, पद्याक ८६ से श्रावक क्षेत्र और पद्यांक १०० से श्राविका। पद्यांक १०८ से श्रावक श्राविका कारित पौषधशाला का वर्णन प्रारम्भ होता है और पद्यांक ११३ में उपसंहार करते हुए कवि कहता है—

ईइ 'सातइ क्षेत्र' इम बोलिया, आगम अणुसारे ।
पुण तुम्हें वावीयं भलीयपरि, वित्त आपणरे ॥११३॥

अर्थात् १. जिन-भवन के निर्माण, २. जिन बिंब याने मूर्ति के निर्माण, प्रतिष्ठा और ३. जिन वचन रूप सिद्धांत शास्त्र को लिखने लिखाने तथा ४. साधु, ५. साध्वी, ६. श्रावक, ७. श्राविका की सेवा भक्ति में अपना द्रव्य खर्च करने का विधान इस रास में किया गया है। श्वेताम्बर जैन समाज में ये सात क्षेत्र बहुत ही प्रसिद्ध हैं। 'पाइअ सद्दमहण्णवो' नामक प्राकृत कोष के पृष्ठ १०७६ में भी सातों क्षेत्रों का उल्लेख हुआ है। सत्त (सप्तन्) सात संख्या वाला, सात। [सत्त]खित्ती, खेती (सप्त क्षेत्री) १. जिन-चैत्य, २. जिन-बिम्ब, ३. जैन आगम, ४. साधु, ५. साध्वी, ६. श्रावक और, श्राविका, ये सात धन-व्यय स्थान।

वस्तुतः उक्त रास में केवल इन सात क्षेत्रों का ही विवरण पाया जाता है। इसमें गणितानुयोग या विश्व ब्रह्माण्ड की रचना सप्तक्षेत्रों की सृष्टि, भरतक्षेत्र के निर्माण प्राकृतिक छटा की अपेक्षा प्रकृति में पाये जाने वाले पदार्थों की नामावली आदि का वर्णन, जैसा कि डाक्टर ओझा ने समझा है, बिल्कुल नहीं हैं।

प्रथम क्षेत्र। जिन-मन्दिर के निर्माण के प्रसंग में मूल गुंभारा, गूढ़ मंडप, ६ चौकी, रंग-मंडप, बलावणु, उतंग तोरण, कनक-कलश, दण्डध्वज, कपाट, तालाकूची, अष्ट प्रातिहार्य, आदि छोटी-छोटी वातों का उल्लेख ही कवि ने किया हैं। इसके बाद जीर्णोद्धार अर्थात् मंदिर की मरम्मत कराने में अपार पुण्य होने की सूचना दी गई है।

दूसरे क्षेत्र—जिन-बिम्ब के विवरण में मणि, रत्न, स्वर्ण, रौप्यमय मूर्तियों, गृहचैत्य, पाषाण और पीतल की मूर्तियां, सुगंधित जल से स्नान कराने, अंगलूहन से पूछने, धूप, बालाकुंची, कस्तूरी, कुंकुमादि द्वारा पूजा और सोने, हीरे, माणिक, मोती के आभरण (आभूषण) कुण्डल, मुकुट माला, हार, बहरखा, श्रीवत्स, बीजौरा, आदि द्वारा मूर्ति को आभूषित करने और विविध प्रकार के पुष्पों द्वारा पूजा करने के कार्य में द्रव्य-व्यय करने का उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में उत्सव के समय जिन-भवन में तालारस, लकुटारस, खेलने और नाचने का उल्लेख है। मधुर-स्वरों से जिनेश्वर के गुणों का गायन बाद्यों सहित किये जाने आदि का कवि ने विस्तार से वर्णन किया है। तदनन्तर आरती उतारने, जल-लवण उतारने, घण्टा बजाने का उल्लेख करके हर्ष के साथ उत्सव मनाने का उल्लेख करते हुए विषय का उपसंहार किया है।

तीसरे क्षेत्र—'जिन वचन' को अमूल्य बतलाते हुए गणधर, पूर्वधर, श्रुतकेवली, दशपूर्वधर द्वारा सिद्धान्तों के कहे जाने का उल्लेख किया है। पूर्व और ११ अङ्ग इन आगम-ग्रन्थों में भवनों के पदार्थों का वर्णन होना लिखा है। गौतम गणधर ने महावीर से त्रिपदी का सूत्र-रूप ज्ञान पाकर विस्तार से आगमों की रचना की। काल प्रभाव से केवल ज्ञानी और पूर्वधर की परम्परा विच्छिन्न हो जाने के बाद इतने बड़े श्रुतज्ञान को कंठस्थ रखना कठिन हो गया तो पुस्तक के रूप में लिखा गया। इसलिए इन सिद्धान्तों को लिखाने में अपने द्रव्य को लगाकर ज्ञान भक्ति करनी चाहिए।

चौथा क्षेत्र—श्रमण-साधु को बतलाया है। उनको वस्त्र पात्रादि १४ उपकरण देना चाहिये। उन्हें ४२ दोष रहित आहार कराना चाहिये, जिससे मुनिजनों के संयम तथा चरित्र पालन में सुविधा रहे।

पांचवें क्षेत्र—श्रमणी-साध्वी को बतलाया है। उन्हें २५ प्रकार के उपकरण देने का उल्लेख करके यह कहा गया है कि अच्छे स्थानों में धन को खर्च किये बिना भवांतर में द्रव्य प्राप्त कैसे होगी। अच्छे क्षेत्र में धन का व्यय करने से अनंत गुना फल प्राप्त होता है, (पद्यांक ३-४) इसलिए साधु-साध्वी को आहार, पानी, औषध और विद्या-दान में श्रावक को अपने धन का उदारता से खर्च करना चाहिये। वंदन, विनय, वैयावच्च, द्वारा उनकी सेवा करनी चाहिये। इसके बाद जिन लोगों ने मुनियों को दान दिया और उनका उन्हें सुफल मिला, उनका उल्लेख पद्यांक ६१ से ६४ में किया गया गया है।

छठा और सातवां क्षेत्र श्राविका का बतलाया है जो वीतराग के वचनों पर श्रद्धा रखने वाले और व्रतों को धारण करने वाले होते हैं। उनकी भोजन, वस्त्र आदि से भक्ति करनी चाहिये। स्वधर्मी की भक्ति से बड़ा लाभ होता है। तदनन्तर धर्मानुष्ठान करने के लिए पौषधशाला के निर्माण और धर्म आराधन के काम में आने वाली वस्तुओं को वहाँ रखने का विधान किया गया है। इस तरह श्रावक श्राविका इन ७ क्षेत्रों में अपने धन का सद् व्यय करके पुण्यलाभ करें, यही इस रास के रचे जाने का उद्देश्य है।

कविवर बनारसी दास की सांस्कृतिक देन

डा० रवीन्द्रकुमार जैन, तिरुपति विश्वविद्यालय (आंध्र)

अध्यात्म-सन्त बनारसीदास जी समर्थ विचारक साहित्य-मनीषी एवं सुकवि होने के साथ-साथ अदम्य उत्साही तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता भी थे। जहाँ भी सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय चेतना को विकृत, विगलित एवं मूर्च्छित होते देखा कि समस्त आपत्तियों और कटु आलोचनाओं की चिन्ता न कर उन्होंने अपनी पूर्ण शक्ति से उसकी शल्य क्रिया की। कवि ने धर्म और संस्कृति के उदात्त-जीवन्त तत्त्वों से जन-मानस को उद्वेलित किया।

आपके समय (१७वीं शती) में समाज में आचार-विचार सम्बन्धी संकीर्णता इतनी बढ़ चुकी थी कि सामान्य जनता ने धर्म का मूलरूप उसी को मान लिया था। धर्म की व्याख्या करने वाले स्वार्थान्ध भट्टारक एवं पाण्डे उसे अधिकाधिक विकृत, अव्यवहार्य एवं बोझिल बना रहे थे। उन्होंने तब मनमानी कठोर आचार परक व्याख्या करके धर्म को अति-व्ययसाध्य, जटिल एवं इतना कृत्रिम कर दिया था कि सामान्य जन के अन्तस् में क्रान्ति की लहरें उठने लगीं, उसका मस्तिष्क इस धर्मान्धता की कटु आलोचना (मूक रूपेण) करने लगा। यह क्रम एक लम्बे समय तक चलता रहा। खुलकर विरोध करने की सामर्थ्य अभी जनता में न थी। पांडे, पंडे (पुजारियों) और भट्टारकों का मंदिरों और धर्म पर इतना गहरा आधिपत्य था कि उनका विरोध करने अथवा उनके प्रति अविश्वास प्रकट करने का सीधा अर्थ था मनुष्य का 'अधार्मिक', 'नास्तिक', 'शिथिलाचारी' एवं 'मिथ्यादृष्टि आदि उपाधियों से 'विभूषित' होना, तथा आए दिन अनेक रूपों में अपमानित होना। बनारसीदास ने भी इस धार्मिक संकीर्णता से अभिव्याप्त घुटन का तीव्र अनुभव किया। धर्म को इतना विकृत एवं दुराचारित होते देख उनकी आत्मा क्रान्ति के लिए विचलित हो उठी। उन्हें स्पष्ट प्रतीत हुआ कि इस देश की एकात्म संकृति में कटुता, भिन्नता और वैमनस्य के बीज इसी निःसार आडम्बर युक्त धार्मिक कट्टरता के कारण पनप रहे हैं। अध्यात्म मूलक धर्म जो इस वसुन्धरा की संस्कृति का प्राण है; धीरे-धीरे कुछ अवसन्न एवं मूर्च्छित सा हो रहा है। क्रान्तद्रष्टा बनारसीदासजी ने अपनी पूर्ण शक्ति से निर्भीकतापूर्वक धर्म की शुद्ध अध्यात्म मूलक व्याख्या की और उन्होंने 'जो आचार तथा क्रियाकाण्ड मानव की अध्यात्मदृष्टि में सहायक हो वही श्रेयस्कर है—ऐसा घोषित किया। कुछ समय पश्चात् उनका यह आन्दोलन अध्यात्ममत के रूप में बड़ी लोकप्रियता के साथ प्रचलित हो गया। यही अध्यात्म मत और आगे चल कर तेरहपन्थ के नाम से जैनों के सुप्रसिद्ध दोनों ही सम्प्रदायों (दिग० श्वेताम्बर) में प्रचलित एवं मान्य हो गया। धर्म में इस नये परिवर्तन के कारण उनका प्रारम्भ में विरोध भी पर्याप्त मात्रा में हुआ; विरोध मूलक ग्रन्थ भी रचे गए, परन्तु आगे चलकर जनता के हृदय में उनकी वास्तविक दृष्टि घर कर गई और उनका यह अध्यात्ममत सम्पूर्ण समाज में प्रतिष्ठित हो गया जो आज तक उसी मान्यता से प्रचलित है।

> **बनारसीदास निश्चिन्त होकर छं-सात महीने तक दोनों वक्त एक कचौड़ी वाले से कचौड़ियां लेकर भरपेट खाते रहे, और फिर जब पैसे पास हुए तो चौदह रुपये देकर हिसाब भी साफ कर दिया। चूंकि हम भी आगरे जिले के ही रहने वाले हैं, इसलिए हमें इस बात पर गर्व होना स्वाभाविक है कि हमारे यहाँ ऐसे दूरदर्शी श्रद्धालु कचौड़ी वाले विद्यमान थे जो साहित्य सेवियों को छं-सात महीने तक निर्भयतापूर्वक उधार दे सकते थे। कैसे परिताप का विषय है कि कचौड़ी वालों की वह परम्परा अब विद्यमान नहीं, नहीं तो आजकल के महंगी के दिनों में वह आगरे के साहित्यिकों के लिए बड़ी लाभदायक सिद्ध होती।**
>
> **—बनारसीदास चतुर्वेदी**

अध्यात्म संत बनारसीदास जी के जीवन और साहित्य का अध्ययन उनके सांस्कृतिक उदात्त कार्यों के अध्ययन-मनन के अभाव में अपूर्ण ही कहा जायगा। किसी जाति

और सम्प्रदाय विशेष के धर्म में सीमित करके हम उनका वास्तविक अध्ययन नहीं कर सकते। वे सम्प्रदायगत संकीर्णता, समाजगत कुरीतियों तथा खण्डन-मण्डन के असार शून्य झंझटों से पृथक् एक ऐसे जाज्वल्यमान प्रकाश स्तम्भ थे, जिन्होंने मानव-मात्र में एक जीवन स्पन्दित होते देखा। कुछ समय के पश्चात् समष्टि ने भी आपके उदात्त भावों से स्वयं में सुखी और सम्मान्य जीवन के चिन्ह अनुभव किए।

'संस्कृति' शब्द के विद्वानों द्वारा अनेक अर्थ किए गए हैं। यहां उन सब की चर्चा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। यहां, 'संस्कृति' शब्द के आधार पर जो उसकी सर्वमान्य परिभाषा बन सकती है उसी को लेकर हम कविवर बनारसीदास की सांस्कृतिक देन का अध्ययन कर रहे हैं।

'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर संस्कृति शब्द बनता है इसका अर्थ है सम् अर्थात् समभाव और सदाचारपूर्वक किए गए कृति अर्थात् कार्य।

[1]आक्सफोर्ड डिक्शनरी में संस्कृति (कल्चर) शब्द की यह व्याख्या है—मस्तिष्क, रुचि और आचार-व्यवहार की शिक्षा और शुद्धि; इस रीति से शिक्षित और शुद्धीकरण की अवस्था, सभ्यता का बौद्धिक पक्ष, विश्व की सर्वोत्कृष्ट ज्ञात और निर्दिष्ट-कथित वस्तुओं से स्वयं को परिचित करना।

संस्कृति शब्द के उल्लिखित इन अर्थों से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीवन को शुद्ध और परिमार्जित (अन्तः बाह्य से) करना ही संस्कृति का आशय है। वेशभूषा और बाह्याचार आदि की अपेक्षा संस्कृति मानव जीवन के आत्म-शोधन की ओर ही अधिक अग्रसर

१. To adorn, grace, decorate, (2) to refine, polish, (3) to Consecrate by repeating mantras, (4) to purify a person by scriptual ceremonies. to perform purificatory ceremany over a person, (5) to cultivate, educate, train, (6) make ready, proper, equip, fitout, (7) to cook, (8) to purify cleanse, (9) to collect, to heap togather.

होती है। अन्तिम रूप में विश्व मानव की संस्कृति एक ही कही जायगी, फिर भी हम विश्लेषण की दृष्टि से और विभिन्न देशों की आचार-विचार की पद्धति की भिन्न २ दृष्टियों से सम्पूर्ण विश्व की संस्कृति को ६ वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

१—आर्य (भारतीय) संस्कृति।
२—अनार्य (अफ्रीकी) ,,
३—मंगोल (चीनी, जापानी ,,
४—रूसी (रूस की साम्यवादी) ,,
५—इस्लामी (अरबी, फारसी) ,,
६—ईसाई (यूरो-अमरीकी) ,,

जहाँ तक भारतीय संस्कृति की बात है वह एक है; फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से प्रान्त, नगर, ग्राम, जाति, कुटुम्ब और व्यक्ति की संस्कृति अपनी कुछ मौलिक विशेषताओं के साथ अलग-अलग है इस महान् देश की विभिन्न प्रकार की संस्कृति का मूलाधार अध्यात्म ही है। यह इसी प्रकार है जैसे एक सूत्र में गुंथे हुए अनेक पुष्प अपनी अनेकता लिए हुए भी माला के रूप में एक अद्वितीय ऐक्य का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।[1] संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। धर्म के समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है। भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सबसे सुन्दर परिणति को ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है।" संस्कृति के सम्बन्ध में इतना सभी विद्वान् मानते हैं कि मानव समाज की श्रेष्ठ साधनाएँ ही उस देश की संस्कृति हैं। श्रेष्ठ साधनाएँ क्या हैं? इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों की पृथक् २ मान्यताएँ हो सकती हैं। पाश्चात्य संस्कृति भोग-प्रधान है। भौतिक विकास को उसमें सर्वाधिक मान्यता है। पूर्वीय और विशेषतः भारतीय संस्कृति त्याग-प्रधान है। इसमें आध्यात्मिक विकास को ही सर्वाधिक मान्यता दी गई है। पाश्चात्य संस्कृति स्थूल है। सभ्यता (बाह्य विकास) के अधिक निकट है। सभ्यता की जहाँ तक बात है वह [2]"मनुष्य कि बाह्य प्रयोजनों को सहज लभ्य बनाने का विधान है और

१. 'अशोक के फूल' पृ० ८३. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
२. "अशोक के फूल" पृ० ८३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

संस्कृति अयोध्यातीत अन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति है।"

कविवर बनारसीदास के सम्पूर्ण साहित्य में अध्यात्म प्रधान भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल रूप मिलता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सन्तों से इस देश की जो संस्कृति-निधि प्राप्त की थी, उसे अत्यन्त विकसित, परिमार्जित एवं जनग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया। सन्तों की उन्नत-भाव भूमि पर पहुंचकर कविवर के साहित्य ने वही दशा ग्रहण की जो सम्प्रदायगत, रूढ़िगत एवं जातिगत आचार-विचारों की तंग गली की उपेक्षा कर सम्पूर्ण मानव जगत का दिव्यादर्श बन सकती है। बनारसीदास ने मानव-विकास (आत्मोन्नति) में बाधक जिन तत्त्वों का अनुभव किया उनका भी निराकरण किया। अनेक मौलिक विवेचनाओं द्वारा सांस्कृतिक इतिहास में नवीन जीवन का संचार किया। शुद्ध ज्ञान की चर्चा करते हुए कविवर उसे ही अध्यात्म का आधार बताते है—

[1]"ज्ञान उदै जिनके घट अन्तर,
ज्योति जगी मति होति न मैली।
बाहिज दृष्टि मिटी जिनके हिय,
आतम ध्यान कला विधि फैली।
जे जड़ चेतन भिन्न लिखें,
सुविवेक लिए परखें गुन थैली।
ते जग में परमारथ जानि,
गहें रुचि मानि अध्यातम सैली॥"

वास्तव में जिनके अन्तरंग में सम्यग्ज्ञान का उदय हो गया है; जिनकी ज्योति जागृत है; जो शरीर में आत्म-बुद्धि नहीं रखते और जो जड़-चेतन को पृथक्-पृथक् जानते हैं वे ही शुद्ध आत्मानुभव करते है।

भारतीय संस्कृति समभाव प्रधान है। उसमें श्रम, शम और सम ये तीन मूल-तत्त्व हैं। जिस श्रमण संस्कृति का उज्ज्वल ध्वज बनारसीदास ने फहराया और देश की गहरी तन्द्रा भङ्ग की वह वरेण्य है—उसी के श्रम आदि ये तीन आधार स्तम्भ है। भारतीय समाजवाद अहिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास करता आया है। यही स्वर आचार्यों और सन्तों द्वारा हमें बड़ी तीव्रता से अपरिग्रह (असंग्रह) अनेकान्त-दर्शन और अहिंसा द्वारा मिलता रहा है। भारतीय सन्तों का मनोराज्य वस्तुतः अनुपम है—

[1]"रे मन कर सदा सन्तोष।
जातैं मिटत सब दुःख दोष॥
बढ़त परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तृसना होति।
बहुत ईंधन जरत जैसे, अगिनि ऊँची जोति॥
लोभ लालचि मूढ़जन सो कहत कंचन दान।
फिरत आरत नहिं विचारत, धरम-धन की हान॥
नार किन के पाइ सेवत, सकुच मानत संक।
ज्ञान करि बूझै "बनारसि" को नृपति को रंक॥"

भारतीय संस्कृति का मूर्तरूप समन्वय की चिरन्तन भावना है। बनारसीदास ने अपने साहित्य में ऊर्ध्वबाहु होकर इसकी उद्घोषणा की है। पूर्ण सत्य का साक्षात्कार और पूर्ण सुखानुभव सर्व समभाव में ही सम्भव है।"[2] "समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति की भावना को जनता में बद्धमूल करने और मूर्तरूप देने के लिए आवश्यक है कि हम विभिन्न सम्प्रदायों के उत्कृष्ट साहित्य को भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न धारा से सम्बद्ध मानते हुए उसे अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति और अपना दाय समझें और उससे लाभ उठाएँ। उनके अपने-अपने महापुरुषों को सब का पूज्य और मान्य समझें और अपने विचारों को साम्प्रदायिक परिभाषा से निकालकर उनके वास्तविक अभिप्राय को समझने का यत्न करें। दूसरे शब्दों में प्राचीन ग्रन्थों के वचनों के शब्दानुवाद के स्थान पर भावानुवाद की आवश्यकता है।" हमारे आराध्य क्रान्तद्रष्टा सन्तो ने इसी दिशा में सुदीर्घ काल से हमें भव्य सन्देश दिए है। कविवर बनारसीदास ने आज से साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व ही सम्प्रदाय, जाति एवं रूढ़ियों की दल-दल से ऊपर उठ कर मानवैक्य की आदर्श घोषणा की थी—

[3]"एक रूप हिन्दू तुरक दूजी दसा न कोय।
मन की दुविधा मानकर भये एक सों दोय॥

१. "नाटक समय सार" (निर्जराद्वार) छन्द २५

१. 'बनारसी विलास' (अध्यात्म पद पंक्ति) २२८
२. "भारतीय संस्कृति का विकास (वैचक द्वारा)" ले०— डा० मङ्गलदेव शास्त्री, पृष्ठ ८५
३. "बनारसी विलास" (फुटकर पद)

दोऊ भूले भरम में करैं वचन की टेक।
"राम राम" हिन्दू कहें, तुरक "सलामालेक"।
इनके पुस्तक बांचिए, वेहू पढ़ें कितेब।
एक वस्तु के नाम द्वै, जैसें शोभा-जेब॥
जिनकों दुविधा सो लखें, रंग बिरंगी चाम।
मेरे नैनन देखिए, घट घट अन्तर राम॥"

उल्लिखित पंक्तियां कवि के निर्भीक, राष्ट्रीय, सम-भाव परक एवं सुलझे हुए दृष्टिकोण की स्पष्ट सूचना देती हैं। अपने पश्चात् वर्ती हिन्दी-कवियों (विशेषत: जैन कवियों) के लिए तो काव्य-दशा-निर्देशन में बनारसीदास जी का साहित्य एक प्रकाश स्तम्भ ही बन गया है। भैया भगवतीदास, सन्त आनन्दघन, भूधरदास, द्यानतराय एवं दौलतराम आदि कवियों पर बनारसीदास की आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय भावना की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। परवर्ती हिन्दी काव्य जगत को बनारसीदास जी की यह अनुपम देन है।

बनारसीदास जी ने संस्कृति के क्षेत्र में एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस देश की संस्कृति भोगप्रधान नहीं है फिर भी कवियों में इंद्रियों के भोगों से परिपूर्ण साहित्य-सृजन की प्रवृत्ति (उस समय) बढ़ रही थी। 'सुन्दरी' सुरा और स्वर्णमय रीति युग में कवि अपनी कविता का स्वर और मिलाने लगे थे। 'कवि' वह जो देश के चारित्र और संस्कृति को अपनी कविता से सुदृढ़ बनाता है,— इस अपने उदात्त कर्म को कवि समुदाय विस्तृत कर चुका था। सुन्दरियों के अंग-प्रत्यंगों और हाव-भावों का कामुकतापूर्ण वर्णन कविगण राजाओं के दरबारों में करने लगे थे। कविता प्राय: भौतिक मांसल हो चुकी थी। बनारसीदास जी ने कवि-समुदाय की इस मार्गभ्रष्टता और उत्तरदायित्व-हीन प्रवृत्ति की कटु-आलोचना की तथा वास्तविक कवि-कर्म (ज्ञातव्य) का आदर्श स्वयं प्रस्तुत किया। बनारसीदास जी ने कवि को सत्य का ही प्रचारक एवं व्याख्याता माना है। सच्ची प्रतिभा द्वारा सत्य का चित्रण अत्यन्त रोचक एवं लालित्यमय सर्वथा सम्भव है। असमर्थ और निम्नकोटि के कवि ही सरसता को इन्द्रिय भोगों और अश्लील वर्णनों में खोजते हैं। ऐसे कवियों के प्रति बनारसीदास का यह उद्घोष आज भी वरेण्य है—

"मांस" की गरंथि कुच कंचनकलस कहैं,
कहैं मुख चंद जो सलेसमा को घरु है।
हाड़ के दसन आहि हीरा-मोती कहैं ताहि,
मांस के अधर ओंठ, कहैं बिम्बफरु है।
हाड़ दण्ड भुजा कहैं कौंलनाल कामधुजा,
हाड़ ही के थंभा जंघा कहैं रम्भातरु है;
योंही झूठी जुगति बनावें औ कहावें कवि,
एते पर कहैं हमें सारदा को वरु है॥

सौंदर्य की यथार्थवादी विवेचना कवि ने आज से साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व ही कर दी थी। जो कवि समाज एवं राष्ट्र के चरित्र का निर्माता एवं नियन्ता कहा जाता है उसके द्वारा उक्तकोटि का स्थूल-अश्लील वर्णन कहां तक उचित है? आश्चर्य तो बनारसीदास जी को तब होता है जबकि ऐसे कवि भी स्वयं को सरस्वती का वरद पुत्र मानते हैं "एते पर कहैं हमें सारदा को वरु है।" बनारसीदास जी कविता में सरसता और चित्तानुरञ्जन का विरोध नहीं करते। हां, जिन कवियों को सरसता और मनोरंजन निम्न कोटि के अश्लील वर्णनों में ही दृष्टिगोचर होते हैं उनका ही कवि ने विरोध किया है तथा उन्हें ही असमर्थ एवं कुत्सित कवि माना है। समर्थ एवं प्रतिभावान कवि जो सरस्वती का सच्चा उपासक है ऐसी धारणा को कभी प्रश्रय न देगा। स्पष्ट है कि बनारसीदास जी ने कविता के क्षेत्र में भी एक उज्ज्वल मर्यादा और व्यवस्था के लिए क्रान्तिकारी एवं आदर्श सांस्कृतिक अभ्युत्थान का सुधा-सन्देश दिया है।

अंत में निष्कर्ष में हम कह सकते है कि कविवर बनारसीदास का सम्पूर्ण चिन्तन समाजवादी धरातल का था, समन्वयात्मक था, "वसुधैव कुटुम्बकम्"—का था। वे किसी वर्ग, सम्प्रदाय या जाति-विशेष के न होकर मानव मात्र के अपने थे। उनकी कृतियों में भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण और नवनिर्माण का जो स्वर है—सन्देश है, वह हमें अस्थिरता के विषम क्षणों में सदैव बल देता रहेगा।

———

कार्त्तिकेय

लेखक—श्री सत्याश्रय भारती

[१]

उस दिन राज सभा में बड़े-बड़े विद्वानों का जमघट था। महाराज ने निमन्त्रण देकर दूर-दूर के विद्वानों को बुलाया था। बड़े-बड़े वेदपाठी ब्राह्मण, और सिद्धांतरहसज्ञ विद्वान् एकत्रित हुए थे। खबर थी कि आज महाराज सब विद्वानों के सामने एक गम्भीर प्रश्न रखेंगे, और उस पर विद्वानों का तर्क-वितर्क होगा।

महाराज आये। सबने उठकर उनका अभिवादन किया महाराज की उमर क़रीब बत्तीस-तेतीस वर्ष की थी। चेहरा गौर और भरा हुआ था छाती विशाल थी। मस्तिष्क से बुद्धिमत्ता झलक रही थी। आँखों में भी तेज था परन्तु वह ऐसा शुद्ध न था जैसा कि चाहिए।

महाराज के एक तरफ प्रधान मंत्री बैठे थे। उनकी नज़र महाराज की तरफ़ थी। ऐसा मालूम होता था कि वे महाराज के किसी इशारे की बाट देख रहे हैं। सभा में शान्ति थी। सभी सोच रहे थे कि, न मालूम कौन सा प्रश्न है ? विद्वानों को मन ही मन यह चिन्ता सता रही थी कि आज कहीं विद्वत्ता में दाग़ न लग जाय।

जब सभी लोग उत्सुकता के साथ आँखें फाड़-फाड़कर महाराज की ओर देख रहे थे तब महाराज ने प्रधान मंत्री को इशारा किया। इशारा पाते ही मन्त्री महोदय उठे और धीरे-धीरे किन्तु गंभीर स्वर में बोलने लगे—

"आज महाराज ने एक गम्भीर प्रश्न पर विचार करने के लिए आप लोगों को कष्ट दिया है। यद्यपि महाराज साहिब ने और मैं ने इस प्रश्न पर खूब विचार कर लिया है, फिर भी आप लोग विद्वान हैं, आप लोगों के तर्क-वितर्क से जो बात तय होगी वह बिल्कुल सत्य होगी। जो प्रश्न महाराज को और मुझे बहुत विकट मालूम होता है, संभव है वह आपको बहुत सरल मालूम हो, क्योंकि आप लोग विद्या-बुद्धि में बढ़े चढ़े हैं जिसका कि हमें सदा भरोसा है।"

पंडितों ने जब अपनी प्रशंसा सुनी तो फूलकर कुप्पा हो गये। आपस में कहने लगे—वाह ! कैसी विनय है। अजी फूल झड़ते हैं। बड़े पद पर पहुँचकर भी लेश-मात्र घमण्ड नहीं है। जब इस प्रकार फुसफुसाहट फैली तो मंत्री महोदय एक मिनिट को चप हो गये और उसने अर्थपूर्ण दृष्टि से महाराज की तरफ देखा। महाराज ने अपनी आखें और मुंह इस तरह मटकाया जैसे कोई किसी को शाबासी दे रहा हो। बाद में मंत्री महोदय ने फिर बोलना शुरू किया—

"महाराज आप लोगों से पहिले यह पूछना चाहते हैं कि कोई मनुष्य अगर किसी चीज़ को पैदा करता है तो उस चीज़ का पूरा मालिक वह मनुष्य है कि नही ?"

प्रश्न सुनते ही प्रायः सभी विद्वानों के मुंह पर ईषद्धास्य की रेखा बिजली की तरह चमक गई। एक वृद्ध विद्वान् ने उठकर जरा मुसकराते हुए गम्भीरता से कहा—महाराज ! आप सरीखे विद्या-प्रेमी नरेश को पाकर हम लोग सौभाग्य-शाली हुए हैं। यद्यपि प्रश्न साधारण है लेकिन साधारण से साधारण बात भी आप विद्वानों की सलाह लेकर मानते हैं, —यह बात असाधारण है। महाराज इसमें सन्देह नहीं कि उत्पन्न हुई वस्तु पर उत्पादक का पूर्ण अधिकार है। हम सब लोग इस बात को मानते हैं।

वृद्ध विद्वान् की बात सुनकर मन्त्री और महाराज ने इस तरह मुसकरा दिया जैसे कोई व्याध चिड़ियों को अपने जाल में फँसा हुआ देखकर मुसकुराता है। इसके बाद महाराज ने मन्त्री से कहा—प्रधानजी, आगे बढ़ो, ! मन्त्री फिर कुछ कहने को तैयार ही हुए थे कि एक तरफ़ से आवाज़ आई—"ठहरिये मुझे कुछ कहना है।"

अथ से इति तक सभी लोग चौंक पड़े। सबकी नज़र एक पतले और लम्बे कद के युवक की तरफ़ पड़ी। महाराज ने कहा—विद्वन् ! क्या कहना चाहते हो ? युवक विद्वान् बोला—महाराज उत्पादक होने से ही कोई किसी चीज का मालिक नहीं कहला सकता। यह नियम जड़ या जड़ तुल्य पदार्थों के लिए ही बनाया जा सकता है, न कि चेतन पदार्थों के लिए। मनुष्य चेतन पदार्थों का संरक्षक हो सकता है न कि मालिक "

एक छोटी-सी बालिका भी तालियां पीटकर बोल उठी 'मजा, मजा।' परन्तु गेंदवाले लड़के को यह बात रुचिकर न हुई। वह बोला, हूँ! खराब हो जायगी।

'तो क्या देखने के लिए है?'

'खेलना नहीं था तो लाये ही क्यों?'

'गेंद वाले लड़के ने सोचा, कहीं मेरी गेंद छिन न जावे इसलिए उसने गेंद पाकिट में रख ली और पाकिट को हाथ में पकड़कर बोला—'नहीं दूंगा'। अभी तक देने-लेने की बात ही न थी। लेकिन बात जब निकली तो सभी लड़के चिल्ला उठे—'क्यों न दोगे?' परन्तु इसी समय इस समर-क्षेत्र में एक नए सैनिक का प्रवेश हुआ।

एक पन्द्रह वर्ष का बालक जिसमें सुन्दरता के साथ हृष्ट-पुष्टता और चञ्चलता के साथ गाम्भीर्य था, वहां आया। उसे देखकर सब लड़के शांत हो गए। जिसकी गेंद छुड़ाई जा रही थी वह लड़का बोल उठा कुंवर जी, ये हमारी गेद छीनते हैं। कुंवर जी कुछ बोलें, इसके पहिले ही एक लड़का बोल उठा—हम तो खेलनेके लिए गेंद मांग रहे थे, छुड़ाते थोड़े ही थे। कुँवर ने कुछ न कहकर चुपचाप अपने पाकिट से एक सुन्दर गेंद निकाली और कहा कि—लो, इससे खेलो!

'अहा! क्या बढ़िया गेंद है!'

'उससे सौ गुणी अच्छी है।'

एक छोटा लड़का सोच रहा था कि अच्छी गेंदें सबके नाना ही दिया करते हैं, इसलिए वह उस लड़के से बोला जिसकी गेंद छुड़ाई जा रही थी—'लो! कुंवर जी के नाना तुम्हारे नाना से भी अच्छे हैं। उनकी गेंद तेरी गेंद से सौ-गुनी अच्छी है।' फिर उसने कुवर की तरफ मुड़कर कहा क्या कुंवर जी! तुम्हारे नाना ने दी है न यह गेंद?

लड़कों में जो सबसे बड़ा और समझदार था उसने उस छोटे लड़के को धमकाकर कहा—'चुप ऐसी बात मत कहना।

'क्यों, इसमें क्या बुराई है?

उसका यह प्रश्न सुनकर सब लड़के अपने अपने मन की बात कहने लगे। एक बोला—'जब कुंवर जी के नाना नहीं हैं तब उनसे नाना की बात क्यों पूछना?'

'क्यों? क्या रहे नहीं हैं?'

'नहीं रे! उनके नाना हैं ही नहीं'

'वाह! बिना नाना के भी क्या कोई हो सकता है?'

'क्यों नहीं हो सकता?'

'उनके बाप ही नाना हैं।

'तुम्हें नाना के साथ खेलना है या गेंद के साथ?—यह कह कर उस बड़े लड़के ने एक लड़के को गेंद दे मारी। उसने उठाकर तीसरे पर गोला छोड़ दिया। बस, उस समर-क्षेत्र में नाना की जगह गेंद ने ले ली। गेंद-युद्ध मध्यान्ह पर जा पहुँचा, परन्तु कुंवर वहां से टस से मस न हुए। वे आंखें फाड़कर जमीन की तरफ़ देखते हुए इस तरह खड़े रहे जैसे कोई पत्थर की मूर्ति हो।

[३]

रानी ने अपने बाल्य-जीवन पर पर्दा डाल रक्खा था। राज-महल में किसी की ताक़त नहीं थी जो उसके बाल्यजीवन की चर्चा मुंह पर ला सके। बड़ी-बड़ी दासियाँ भी जिस ने रानी को इसी घर में अपनी गोद में खिलाया था, कुछ न कह सकती थीं। श्रावण के दिन थे युवती दासियों को अपने पीहर के दिन याद आते थे। कदम की डाल पर झूला बांधकर झूलने की इच्छा होती थी। आपस में यह चर्चा भी करती थीं, परन्तु छिपकर बाल्यकाल की प्रत्येक बात पर्दे में ही होती थी। यह पर्दा-प्रथा रानी को ऐसी ही मालूम होती थी जैसे कि कुरूपा स्त्री को घूंघट की प्रथा।

ऐसी कौन माता होगी जिसे अपरी सन्तान से प्रेम न हो? फिर माताओं को पुत्रियों से तो ज्यादा प्रेम होता है। परन्तु रानी को अपनी पुत्री से विशेष प्रेम न था। यदि होगा भी तो किसी कारण से उसने प्रकट नहीं किया था। लड़की का कोई भी खेल रानी को अच्छा न लगता था। वह चाहती थी कि मेरी बेटी खेले और हँसे, परन्तु परन्तु उसे हँसते-खेलते देखकर रानी की आंखों में आँसू आ जाते थे। बालिका इसका रहस्य न समझती थी, परन्तु या तो वह स्वयं रोने लगती थी या हँसना खेलना बन्द कर देती थी।

लड़की के बाद रानी के एक लड़का भी हुआ। रानी के हृदय का सन्तान प्रेम, जो कि हृदय में किसी तरह बंधा हुआ था, प्रवाह के जल की तरह बांध फोड़कर बह निकला

रानी की कुछ न चली। वह भी उसी प्रेम के प्रवाह में बह चली। वह माता बन गयी। उसे पुत्र, प्राणों से भी प्यारा मालूम होने लगा। लड़के को खिलाने हँसाने में उसका दिन बीतने लगा।

लड़की को भी वह ऐसा ही चाहती थी परन्तु उसे देखते ही उसके हृदय में चिन्ता शोक और पश्चाताप का दौरा हो जाता था। उसे अपने बाल्यकाल की घटनाएँ याद आने लगती थीं। आंखों से आंसू निकल पड़ते थे। अब यह कौन कहे कि उसका जी-वात्सल्य आँसुओं के रूप में ही बाहर निकलता था।

पुत्री ज्यों ही चौदह वर्ष की हुई कि उसका विवाह कर दिया गया। अपनी निश्चिन्तता के लिए उसने इस बाल-विवाह की कुछ भी पर्वाह न की। सचमुच इससे रानी को बहुत निश्चन्तता हो गई। अब वह पुत्र प्रेम में अपनी अतीत घटनाएँ भूलने लगी। वह पुत्र को जरा भी चिंतत और दुःखी न देखना चाहती थी। उसकी प्रसन्नता की एक एक अदा पर वह न्यौछावर होने को तैयार थी।

उस दिन उसका लाल बड़ी देर तक न आया। भोजन का समय हुआ, वह भी निकल गया, परन्तु रानी का लाल न आया, रानी को खाना पीना हराम हो गया। दासियों से चिल्लाकर कहने लगी—'मेरे लाल को देखो!' बाहर भी खबर भेजी गई। परन्तु यहाँ से खबर आई की बड़ी देर हुई कुंवर जी अन्दर पहुँचे हैं। रानी ने बिगड़कर कहा—अरे तो कहां गया? सभी दासियाँ भौंचक्की सी रह गईं। इतने में एक दासी ने कहा—अभी तो उस तरफ जाते हुए हमने देखा था। रानी उसी तरफ झपटी। उस तरफ कई कमरे थे। सभी पर बाहर से साँकल चढ़ी थी। सिर्फ एक कमरा जिसकी तरफ लोगों का आना जाना बहुत कम होता था—लटका था। रानी ने जल्दी जाकर उसी को थपथपाया! जोर लगाने पर मालूम हुआ कि भीतर से बन्द है। रानी ने घबराई आवाज में कहा—'भीतर कौन है?' परन्तु कुछ उत्तर न मिला। सब लोगों ने द्वार पर जोर लगाया। रानी ने कुछ रुंधे गले से कहा—'भैया कार्तिक'।

अबकी बार आवाज आई 'भाई से क्या कहती हो मां आवाज के साथ ही द्वार खुल गया। कुंवर ने रानी से कहा—'मां! मैं तुम्हारा भाई हूँ। रानी का माथा ठनका उसने कहा इसका क्या मतलब?

'मतलब यह कि हमारे तुम्हारे पिता एक ही हैं।'

अब रानी से न सहा गया। उसे चक्कर आ गया। वह ज़मीन पर गिर पड़ी। लाज का जो पर्दा रानी ने बड़े यत्न से डाल रक्खा था, आज सहसा खुल गया।

[४]

दासियों ने इस समय वहाँ खड़े रहना मुनासिब न समझा। कमरे में माँ और बेटे के सिवाय कोई न रहा। रानी होश में थी। रानी ने बड़े करुण स्वर में कहा—बेटा जो हुआ अब वह वापिस नहीं हो सकता। अब इस दुखिया माँ को और क्यों दुखी करते हो?'

परन्तु कुंवर ने कुछ उत्तर न दिया। रानी न बड़ी दीनता से कहा—भूल जाओ मेरे लाल! पुरानी बातें भूल जाओ! मैं पापिनी हूँ तो तुम्हारी माँ हूँ और पिशाचिनी हूँ तो तुम्हारी मां हूँ। माता का नाता अमिट और अपरिवर्तनीय होता है।'

कुंवर ने फिर भी मौन रखा। किसी अज्ञात भय से रानी का दिल दहल गया। उसे मालूम पड़ा कि कोई उसके लाल को छीन कर ले जाना चाहता है। उसने झपट कर कुंवर को छाती से लगा लिया और अपनी कोमल भुजाओं से इतने जोर से जकड़ लिया मानों किसी छीनने वाले के हाथ से कुंवर की रक्षा कर रही हो।

कुंवर को जकड़ कर रानी खूब रोई। कुंवर भी रो रहा था। घृणा से उसका हृदय जल रहा था। साथ ही करुणा की वेदना भी असह्य थी। थोड़ी देर में जब दोनों के आंसू रुके तब रानी ने कहा—'बेटा!'

'मां!'

'तेरा क्या विचार है? यह कहकर रानी फिर हिलक हिलककर रोने लगी। कुंवर ने कहा—

'मां! तुम रोओ मत! मैं तुम्हारा रोना नहीं देख सकता। तुम कैसी भी रहो, तुम्हारे विषय में आलोचना करने का मैं अपने को अधिकारी नहीं समझता। तुम मेरी माँ हो। फिर भी मैं इस घर में तो क्या, इस राज्य में भी नहीं रह सकता।'

फिर मैं कैसे जीऊँगी? यह कहकर रानी फिर जोर

ज़ोर से रोने लगी। उसने दोनों हाथों से कुंवर को पकड़ लिया कुंवर ने कहा—

'मां ! इस राज्य में हमारा तुम्हारा पवित्र सम्बन्ध भी कायम नहीं रह सकता।

'क्यों ?'

क्योंकि इस राज्य में नारी-जाति सम्पत्ति समझी जाती है। इस राज्य में पिता रक्षक नहीं स्वामी है। यहां पर पुरुष भोक्ता है, स्त्री भोज्य है। ऐसी हालत में पुरुष नारी के साथ जैसा चाहे बर्ताव कर सकता है, वह उसे दान में दे सकता है, बेंच सकता है। इस राज्य में पुत्रियों का विवाह नहीं होता, वे दान में दी जाती हैं। अगर दान देने के भाव न हों तो वे काम में लाई जाती हैं। जहां कन्या-दान की प्रथा है, वहां ऐसा करना ग़ैरकानूनी नहीं कहा जा सकता। मां, तुम्हारे साथ जो व्यवहार हुआ सो हुआ इसके पीछे मेरी बहिन का भी दान ही किया गया—उसका विवाह नहीं हुआ।

रानी ने कहा—विवाह क्यों नहीं हुआ ?

कुंवर ने कहा—मां बिना इच्छा के चाहे जिसके साथ बांध देना क्या विवाह है ? जब कोई किसी को गोदान करता है तब क्या गाय का विवाह कहलाता है ?

रानी इसका कुछ उत्तर न दे सकी। वह चुपचाप पैर के अंगूठे से जमीन खोदती रही। कुछ देर बाद कुंवर ने फिर कहा—

'मैं गत वर्ष बहिन के यहां गया था। वह रानी है परन्तु क्या भिखारिन के बराबर भी उसे सुख है ? क्या उसका जरा भी अधिकार है ? यह दुख चुपचाप इसीलिए सहना पड़ता है कि वह पिताजी की सम्पत्ति थी। उन्हें अधिकार था कि वे चाहे जिसको सौंप दें। जब नारियां दान की जा सकती हैं अपने काम में लाई जा सकती हैं, तब बेची और खरीदी भी जा सकती हैं, अर्थात् नारी एक पशु है।

रानी ने फिर भी कुछ उत्तर न दिया। कुंवर कहता ही गया—मां ! जब नारी सम्पत्ति है 'उसका कोई न कोई स्वामी है तब जिस प्रकार पिता के मरने पर उसका पुत्र पिता की अन्य सम्पत्ति का स्वामी होता है उसी प्रकार पिता की सम्पत्ति रूप उनकी स्त्री का अर्थात् अपनी माता का भी स्वामी होगा। जिस राज्य में नारी जाति सम्पत्ति मानी जाती हो उसका दान किया जाता हो, उस राज्य में अन्धेर न हो वही थोड़ा है। मां ! ऐसे अन्धेर राज्य में कैसे रहूँ ?'

कुंवर की बात सुनकर रानी का हृदय तिलमिला गया। परन्तु कुंवर का कहना अप्रिय होने पर भी सत्य था। उसने नारी जाति के पददलित हृदय को उत्तेजित किया था, उसे दासता की निद्रा से जगाया था। उसके कठोर शब्द में महिलाओं के महत्व का संगीत प्रवाहित हो रहा था।

रानी को अपने ही ऊपर घृणा होने लगी। इसलिए नहीं कि वह अपने ही पिता की पत्नी है, किन्तु इसलिए कि वह पुरुषों की सम्पत्ति है। वह गाय, भैंस, की तरह किसी एक पुरुष का धन है। अब उसे भी इस राज्य में रहना पाप मालूम होने लगा। उसने कहा—बेटा, जो तुम करोगे वही मैं करूंगी। यह राजमहल तो मुझ कारागार ही नहीं वरन् नरक मालूम होता है।

[५]

नदी से थोड़ी दूर एक छोटी-सी पहाड़ी थी। उसके ऊपर एक मैदान था। मैदान लम्बा-चौड़ा था परन्तु भूतल से बहुत ऊँचा न था। पहिले ये मैदान यों ही पड़ा रहता था, परन्तु अब इसकी हालत बदल गई थी। पहिले जो यहां पर एक कुंआ था वह बिल्कुल अव्यवस्थित-सा पड़ा था। अब उसके चारों तरफ ऊँचा चबूतरा-सा बन गया था। उस पर छोटी-छोटी शिलाएँ बिछ गई थीं। उसके चारों तरफ एक नाली बना दी गयी थी। कुएँ से पानी निकालते समय जो पानी इधर-उधर गिरता था वह इस नाली में से बहकर पास के पौधों में चला जाता था। लाइनवार कुछ पौधे लगे थे, जिससे वहां का दृश्य एक वाटिका सरीखा हो गया था। उस वाटिका के किनारे एक झोंपड़ी थी। झोंपड़ी में तीन कमरे थे। पहला कमरा रसोई घर मालूम होता था; क्योंकि उसमें एक तरफ चूल्हा रक्खा था, कुछ मिट्टी के बर्तन थे जिसमें शायद कुछ अनाज होगा, मिट्टी के दो घड़ों में पानी भी था। कुछ धातु के बर्तन एक तरफ रक्खे थे। दूसरे कमरे में रानी रहती थी। कमरे में एक तरफ दीवाल से लगा हुआ एक मिट्टी का

चबूतरा था जो पत्थरों से सटा था। दिन में यह बैठने के काम आता था और रात्रि में शय्या बन जाता था। थोड़े से कपड़े, एक तलवार, दो तीन ताल-पत्र की पुस्तकों के सिवाय इस कमरे में और कुछ न था। तीसरा कमरा भी इसी तरह का था। इसमें एक धनुष और एक तूणीर बाणों से भरा हुआ टँगा था। ये तीनों कमरे एक ही लाइन में थे इसलिए दूसरा कमरा बीच में आ जाता था। इन कमरों के द्वार के आगे एक दालान था, जिसमें तीनों दरवाजों के बीच में दीवाल में लगे हुये दो चबूतरे बने हुए थे, जो बैठने के काम आते थे।

घर से निकल कर कई मास तक घूमकर कुंवरने अपने रहने के लिए यही स्थान चुना था। अपनी माता के साथ रहते-रहते उन्हें यहाँ आठ वर्ष हो गये थे। आस-पास के ग्रामों के कृषक इन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ देखते थे। कुंवर ने भी यहां पर खेती करना शुरू कर दिया था सबेरे स्नानादि से निवृत्त होकर वे अपने खेत में जाते, वहाँ से आस-पास के ग्रामों में चक्कर लगाते। किसी को सहायता की जरूरत होती तो सहायता करते। सबसे क्षेम-कुशल के समाचार पूछकर लौट आते। भोजन करने के बाद माता के साथ बैठकर कुछ वार्तालाप या तत्त्वचर्चा करते, फिर खेत पर चले जाते। शाम को लौटकर भोजन करते। इस समय दो-चार कृषक आकर उनसे गप-शप करते। आस-पास ग्रामों में कहीं कोई छोटा-मोटा झगड़ा होता तो उसे ये ही निपटा देते। आज तक किसी ने इनका फैसला अमान्य नहीं किया। सब इनके वचनों को प्रमाण मानते थे। नौ-दस बजे रात तक यही चहल-पहल रहती। रानी भी इसमें भाग लेती थी। इस तरह शान्ति के साथ माँ-बेटे के दिन कट रहे थे।

जिस समय कुंवर घर से निकले थे, उस समय एक बार उनके मन में साधु बनने के विचार पैदा हुए थे। लेकिन पीछे बहुत विचारने पर उनने यही निश्चय किया कि इस छोटी-सी अवस्था से ही समाज के ऊपर अपना निरर्थक बोझ डालना अच्छा नहीं। कुंवर के विचारों के अनुसार उसी मनुष्य को साधु बनने का अधिकार था—जिसने युवावस्था में समाज की सेवा की है, और वृद्धावस्था में पेन्शन के तौर पर समाज के ऊपर हलके से हलका बोझ डालकर शरीर निर्वाह कर लेना चाहता है; अथवा जिस मनुष्य ने विशेष स्वार्थ त्याग करके युवावस्था के प्रारम्भ में ही काफी समाज-सेवा कर ली है; अथवा जिस मनुष्य ने ज्ञान और चरित्र में असाधारणता प्राप्त कर ली है; और उसके बल पर जो अपनी आत्मोन्नति के साथ समाजोन्नति का कुछ ठोस काम करता रह सकता है। अगर कोई मनुष्य इन तीन श्रेणियों में से किसी श्रेणी में नहीं आता तो समाज पर बोझ डाल कर उसका साधु बनना अन्याय है। कुंवर ने सोचा—मैं अभी किसी भी श्रेणी में नहीं आता। इसलिए दूसरी और तीसरी श्रेणी की योग्यता प्राप्त करने के लिए वे प्रयत्न करने लगे थे। इन आठ वर्षों के भीतर कुंवर ने अच्छी समाज-सेवा की थी। माता की सेवा करके गुरुओं का ऋण भी चुकाया था, शास्त्र-ज्ञान और अनुभव के बल पर पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था और साधु बनने के योग्य संयम का अभ्यास भी कर लिया था।

[६]

रानी का जीवन निरुद्देश था। अगर उसका कुछ उद्देश था भी, तो इतना ही कि अपने पुत्र के साथ प्रेम से रहना, यहाँ जीवन उसे इतना अच्छा मालूम होता था कि वह अपने राज्य-वैभव को बिलकुल भूल गई थी। उसे रानी कहलाने की अपेक्षा एक कृषक माता कहलाना अच्छा मालूम होता था। वह नहीं चाहती थी कि उसका बेटा राजा बनें, परन्तु यह जरूर चाहती थी कि वह विवाह करले। परन्तु इस विषय का प्रस्ताव वह पुत्र के सामने कभी रख न सकी।

अपनी पुत्री से उसने मनभर प्रेम न कर पाया था। अब वह उसकी कसर पुत्रवधू से निकालना चाहती थी। परन्तु पुत्रवधू मिले कैसे? एक दिन अवसर पाकर उसने कुंवर से कहा—

'कुंवर! जब तुम बाहर चले जाते हो तब मैं यहाँ बैठी-बैठी ऊब जाती हूँ'।

'तो चलो माँ! गांव में रहने लगें। वहां पड़ोस की स्त्रियां तुम्हारे पास बैठा-उठा करेंगी'।

'परन्तु यह स्थान छोड़ने को जी नहीं चाहता। घर में कोई एकाध लड़की होती तो सब सुविधा हो जाती'।

'माँ! अपन गरीब हैं, एक झोंपड़ी में रहते हैं इसलिए

बहिन को लाना तो ठीक नहीं हो सकता। जीजा का स्वभाव भी बहुत रूखा है' इसलिए वहाँ जाने को जी भी नहीं चाहता। अगर गया भी तो वे बहिन को इस झोंपड़ी में कभी न भेजेंगे। उनका इसमें अपमान है। चौथी बात यह है कि किसी भी बड़े आदमी से नातेदारी लगाना मुझे बिलकुल पसंद नहीं है। अब तुम्हीं बताओ मां, मैं किसे बुला दूँ?'

'बेटा! तू अपना विवाह क्यों नहीं कर लेता?'

कुंवर हँसे! परन्तु हँसी में न तो कोई उल्हास था, न शोक! केवल उपेक्षा थी। कुंवर ने कहा—

'मां! आजकल इतने बच्चे पैदा होते हैं, कि उन्हें पालने वाले और पाल-पोसकर सच्चा मनुष्य बना देने वाले नहीं मिलते। इसलिए अब और बच्चे पैदा करने की क्या जरूरत है? रही सांसारिक सुख की बात, सो जब तक मुझ से इंद्रिय-दमन हो सकता है तब तक मैं विवाह करने की कोई जरूरत नहीं समझता। मां, इस विषय में तुम से माफी मांगता हूँ।'

रानी ने हँसते हुए कहा—हर बात में तुम तर्क ही चलाया करते हो। अच्छी बात है। जिस तरह तुम सुखी रहो मुझे उसी में सुख है।

कुंवर के हृदय में कोई स्थायी चिन्ता न बैठ जाय इसलिए रानी ने हँसते-हँसते ये बातें कही थीं। परन्तु वास्तव में उसका मुँह ही हँसा था, हृदय नहीं हँसा था।

दूसरे दिन से कुंवर ने अपनी दिनचर्या में परिवर्तन कर डाला। वे सबेरे से उठकर काम पर तथा लोगों की खबर लेने चले जाते थे और ग्यारह बजे लौटकर भोजन करते थे। रानी इस समय स्वाध्याय, ध्यान और रोटी-पानी करती थी। भोजन के बाद दोनों ही बैठकर कुछ धर्म-चर्चा करते थे। कुंवर इधर-उधर के समाचार भी सुनाते थे। दो-तीन बजे के बाद रानी फिर काम में लग जाती थी। इस समय कुंवर फिर काम कर आते थे। इसका फल यह हुआ था कि रानी को फालतू समय में अकेला न बैठना पड़ता था।

रानी को इससे सुविधा तो हुई परन्तु हृदय की अशांति बढ़ गई। मेरे लिये ही कुंवर को इतनी तकलीफ उठानी पड़ती है, इस विचार से उसका हृदय धिक्कारने लगा। एक दिन उसने कुंवर से कहा—

'कुंवर! मेरे लिये क्यों इतना कष्ट उठाते हो?'

कुंवर ने हँसते-हँसते कहा—'मां! इसमें कौनसा कष्ट है? दिनचर्या बदल देने में भी क्या कुछ कष्ट है?' फिर ज़रा विचार कर कुछ हँसते हुए कहा—'मां! अगर तुम्हारा थोड़ा-बहुत ऋण चुकाऊँ तो तुम्हें क्या बुरा लगता है?'

'कैसा ऋण?'

'वाह! क्या यह भी कोई पूछने की बात है? पुत्र के ऊपर माता का कितना ऋण है, यह तो सभी जानते हैं। लेकिन तुम तो ऐसी माँ हो जिसने पुत्र के लिये सर्वस्व खोया। राजपद को लात मारकर कृषक जीवन व्यतीत किया। मैं तुम्हारा ऋण तो क्या, उसका व्याज भी नहीं चुका सकता हूँ।'

'कुंवर! माता के हृदय की ये स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। माताएँ साहुकारी नहीं किया करतीं।'

कुंवर लज्जित हो गये। उनने सोचा—मैं जो कुछ करता हूँ ऋण या व्याज चुकाने के लिये। परन्तु माता के उपकार में व्याज या ऋण का हिसाब नहीं है। वह उसकी स्वाभाविक वृत्ति है। कहाँ माँ और कहाँ मैं?

[७]

सन्ध्या का समय था। रसोई बन चुकी थी, परन्तु किसी कारण से कुंवर अभी तक नहीं आये थे। रानी की चिन्ता बढ़ रही थी। यद्यपि रानी जानती थी कि कुंवर किसी दुःखी के काम मे ही लगे होंगे परन्तु वह माता थी—वह निश्चिन्त नहीं रह सकती थी। सूर्य अस्त हो गया, बादलों की ललाई भी मिट गई, परन्तु कुंवर न आये। हलका-सा अन्धकार चारों ओर फैल गया। इसी समय थोड़ी दूर पर एक आर्तध्वनि सुनाई दी। रानी चौंक उठी। उसने देखा कि थोड़ी दूर पर एक लकड़हारिन चिल्ला रही है। लकड़ी का गट्ठा जमीन पर पड़ा है, उसका आठ-नव वर्ष का बालक उसके पैरों से लिपट गया है और थोड़ी दूर पर एक चीता उनकी तरफ घूर रहा है। रानी को समझने में देर न लगी। परन्तु हाय! कुंवर इस समय घर पर नहीं थे।

रानी ने ज्यादः सोच-विचार नहीं किया। वह झपट-कर कमरे के भीतर गई और तलवार उठाकर नीचे उतरी। चीता पास आ गया था। लकड़हारिन ने अपने लड़के को छाती के नीचे [illegible] था। अपनी सूखी हड्डियों के शरीर का लड़के [illegible] तरफ वितानसा तान दिया था। चीता लकड़हारिन के ऊपर झपटने वाला ही था कि रानी ने एक लम्बी छलाँग मारकर चीते के ऊपर तलवार का वार कर दिया। परन्तु वार पूरा न बैठा और रानी छलाँग मारने से गिर पड़ी।

चीते ने लकड़हारिन को छोड़ा परन्तु रानी के ऊपर आक्रमण किया। रानी की गर्दन पर चीते का पञ्जा जम-कर बैठा। फिर भी रानी उठी, उठकर बैठ भी गई परन्तु उसी समय चीते ने पञ्जा वक्षःस्थल पर जमाया, जिसने वक्षःस्थल और पेट को चीर दिया। खून का प्रवाह छूटा। इसी अवस्था में चीते ने रानी को शिकार की तरह उठाया। परन्तु वह उठा ही न पाया था कि एक तीर ने उसे ढेर कर दिया।

कुंवर ने चीते को ढेर कर दिया, परंतु माता की अवस्था देखकर घबरा गये। लकड़हारिन रो रही थी, परन्तु कुंवर के हृदय में इतना उत्ताप था कि बहने के लिये उनके हृदय में आँसू बचे ही न थे।

[८]

रानी, अर्धमृतक अवस्था में पड़ी थी। कोठरी मे कुंवर, दो-तीन पुरुष और तीन-चार स्त्रियाँ थी। कुटी के बाहर सैंकड़ों स्त्री-पुरुष बैठे-बैठे रो रहे थे। अभी तक रानी के मुंह से एक शब्द भी न निकला था। आधी रात के समय रानी ने आंखें खोलीं। कुछ देर तक कुंवर की तरफ देखती रही, फिर धीरे से बोली—'कुंवर तुम मेरे पीछे राजा से भिखारी हुए मुझे क्षमा करना, और घर लौटकर राज्य सम्हालना।'

कुंवर का गला रुंध गया था। उनकी आंखें आंसू बहा रही थीं। बड़ी मुश्किल से उनने कहा—'माँ ! मैं भिखारी बना, परन्तु अपनी इच्छा से बना। मुझे इसी में सुख मालूम हुआ, परन्तु तुम्हें भिखारी की माँ बनने में कौनसा सुख था ? तुम्हें तो मेरे पीछे ही रानी से भिखारी की माँ बनना पड़ा।

'कुंवर ! पुत्र होकर के भी तुमने गुरु का काम किया है। तुमने मुझे दासता की नींद से जगाया है। तुमने जो मेरी सेवा की वह तो अलग, परन्तु तुम्हारे इसी काम से तुम उऋण हो गये हो।'

रानी ने ये बातें बड़ी मुश्किल से, एक-एक शब्द पर ठहरकर कह पाई थीं। इसके बाद रानी फिर अचेत हो गई और सदा के लिये सो गई। उस भीषण रात्रि में सैंकड़ों कण्ठों से निकले हुए करुण क्रन्दन से आकाश गूंज गया।

दूसरे दिन हजारों आदमियों ने मिलकर रानी का अग्नि-संस्कार किया। उसी दिन शाम को कुंवर शौच को गये थे। परन्तु फिर वे नहीं लौटे। किसानों ने बहुत खोज की, परन्तु वे सफल न हुए।

अब उस टेकरी पर एक मन्दिर बन गया है, जिसे लोग 'माँ बेटे का मन्दिर' कहते हैं। साल में वहाँ एक बार मेला भी लगता है। कहा जाता है कि अनेक लोगों को माताजी अब भी दर्शन दिया करती है और उस टेकरी के आस-पास कोई जंगली जानवर नहीं आ पाता। क्रमशः

भगवान कश्यप : ऋषभदेव

श्री बाबू जयभगवान एडवोकेट

[बाबू जयभगवान जैन एडवोकेट, पानीपत का यह लेख उनकी गहन विद्वत्ता का परिचायक है। जैन होते हुए भी वे वेदों के उत्तम ज्ञाता माने जाते हैं। इस लेख से ऐसा स्पष्ट है। किंतु मोहन-जोदड़ो की मूर्ति के सम्बन्ध में उन्होंने तीसरे पैराग्राफ में जो लिखा है, वह भारतीय पुरातत्वों के मत से भिन्न है। मत-वैभिन्न विद्वानों का गुण है। बाबू छोटेलाल जैन एम० आर० ए० एस० (जैन पुरातत्व के विशेषज्ञ) ने इस विषय में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे इस प्रकार हैं, "यह मूर्ति हार कंकणादि आभूषण और ऊर्ध्व लिंग-युक्त है। शिव जी की ई० पू० की तथा बाद की मूर्तियों में इसी प्रकार ऊर्ध्वलिंग प्रचलित रहा है। जबकि एक भी जैनमूर्ति इस प्रकार उर्ध्वलिंग सहित आज तक न प्राप्त हुई है और न कोई प्रमाण ही उपलब्ध है। अतः यह मूर्ति शिवमूर्ति ही है और सब पुरातत्त्वज्ञों ने इसे शिवमूर्ति ही माना है।"—सम्पादक]

वृषभ भगवान् का एक नाम 'कश्यप' भी है। इनका यह नाम सम्भवतः मानव जाति की उस शाखा के कारण है, जिसमें भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ और जो विद्वानों के विचारानुसार कर्मभूमि की आदि में कश्यप (Caspian) क्षेत्र से चलकर ब्रह्मपुत्र नदी के रास्ते भारत के पूर्वी भाग मगध देश में आकर आबाद हुई। अस्तु; भगवान् का नाम कश्यप था। इनकी स्तुति करते हुए[1] जैन आगम में कहा गया है कि "जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा श्रेष्ठ है, वैसे ही धर्म-प्रवर्तकों में कश्यप श्रेष्ठ हैं[2] यजुर्वेद में भी तत्सम्बन्धी ऐसा ही बखान किया गया है "जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा (इन्द्र) श्रेष्ठ है, वैसे ही धर्म-प्रवर्तकों में वृषभ श्रेष्ठ है। अमृतदेव (अमृत के चाहने वाले) योगीजन शुद्ध और हर्षित मन से आह्वान करते हुए उसका अभिनन्दन करते हैं।

इन कश्यप भगवान् की दुर्धर तपस्या की एक झाँकी हमें[3] गोपथ ब्राह्मण[4] में मिलती है। इसमें वशिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम, भारद्वाज, गंगु, तपस्वी और अगस्त्य आदि अनेक ऋषियों के तथा उनके तप-पूत गिरि-खंडों का उल्लेख करते हुए कहा है कि, "स्वयम्भू कश्यप ने कश्यप पर्वत पर तप किया।"

कश्यप ने यह तप भेड़िया, रीछ, बाघ, लकड़बग्घा, वराह, सर्प, नेवला आदि अनेक क्रूर और हिंसक जन्तुओं से घिरे हुए क्षेत्र में किया है। इस कश्यपतुङ्ग के दर्शनमात्र से अथवा इसकी प्रदक्षिणा करने से सिद्धि मिलती है। सम्भवतः यह कश्यप पर्वत हिमालय का ही कोई भाग मालूम होता है, जहाँ भगवान् वृषभ ने तप किया था।

भगवान् की उक्त प्रकार की घोर तपस्या का परिचय हमें शिव, रुद्र, वृषभ व महादेव की ३००० वर्ष ईसा पूर्व की उस प्राचीन मूर्ति से भी मिलता है जो सिन्धु-उपत्यका के पुराने ध्वस्त नगर मोहन-जो-दड़ो की खुदाई से मिली है वह शिर पर त्रिशूल धारण किये हुए त्रिमुखी मूर्ति है, वह सिंह, हाथी, गेंडा आदि अनेक जंगली पशुओं से घिरे वन में पद्मासन मुद्रा में ध्यानस्थ बैठी हुई है।

इन्हीं भगवान् वृषभ की तथा इनके परम्परागत मार्ग

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २५-२६ नक्खणाणं मुह चंदो धम्माणं कासवो मुहं।

२. स्तोकानामिन्दुं प्रति शूर इन्द्रो वृषायमाणो वृषभ-स्तुराषाट्।
घृतप्रुषा मनसा मोहदाना स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्। —"यजु० २०.४६"

३. गोपथ ब्राह्मण (पूर्व) २.८।

4. mohanjodaro and Indus civilisation-by John marshall—Vol 1 Plate 12 Figure N. 17Further excavation at mohanjodaro by J. H. Mackay Vol II folate N, XCW Figure N, 420

पतियान दाई मन्दिर का द्वार, द्वार पर तोरण में तीन तीर्थंकर-मूर्तियां
नीचे दाहिनी ओर मकर-वाहिनी गंगा और यक्ष, बाईं ओर कूर्मवाहिनी यमुना और यक्ष।

पतियान दाई

(एक भूला बिसरा जैन मन्दिर)

नीरज जैन

मध्य प्रदेश के सतना जिले में सतना नगर से दक्षिण-पश्चिम लगभग ६ मील पर सिन्दूरिया पहाड़ नाम से एक सुन्दर पहाड़ी है जिसका विस्तार पूर्व-पश्चिम है।

उसी पहाड़ी के एक सधारण ऊँचे टीले पर एक भग्न मंदिर का छोटा परन्तु पुर्ण सुरक्षित और सुन्दर गर्भालय खड़ा है जिसे आस पास के लोग 'डुबरी की मढ़िया' या 'पतियान दाई' के नाम से जानते हैं।

पुरातत्त्व की चर्चा में इस मन्दिर का उल्लेख शक्ति मंदिर के नाम से किया गया है और इस क्षेत्र से एकाधिक बार अनमोल मूर्तियां ढोकर ले जाने वाले तथा कथित पुरातत्त्व ज्ञाता अन्वेषकों ने अद्यावधि न केवल इस महत्त्वपूर्ण स्थान की घोर उपेक्षा की है वरन् इस मन्दिर की एकमात्र सुन्दर देवी-मूर्ति भी स्थानांतरित करके इस स्थान को अस्तित्व-विहीन बना देने के प्रयास में भी संकोच नहीं किया।

यह तो इस गर्भग्रह की निर्माण शैली का प्रभाव है कि अपना सर्वस्व खोकर भी आज तक यह खण्डहर अपनी गौरव-गरिमा से मस्तक उठाए खड़ा हुआ है, और यद्यपि यहाँ से जो देवी-मूर्ति उठाकर ले जाई गई है, वह देख पाने का सौभाग्य मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ परन्तु फिर भी इन्हीं अवशेषों में मुझे ऐसे प्रमाण प्राप्त हो गए हैं जिनके आधार पर मैं इसे जैन मन्दिर कहने का साहस कर पा रहा हूँ।

यह समूचा मन्दिर बाहर से ६॥ फुट लम्बा, ६॥ फुट चौड़ा और ७॥ फुट ऊँचा है। यह ऊँचाई सीढ़ी के ऊपर से लेकर छत की ऊपरी कोर तक की है। भीतर से इस गर्भालय की लम्बाई साढ़े चार फुट चौड़ाई पांच फुट, एवं ऊँचाई ६ फुट रह जाती है। चारों दीवारों को एक आठ इंच मोठे चौकोर शिला खण्ड से ढक कर छत का निर्माण किया गया है जिसने इस बनावट को बहुत अधिक मजबूत कर दिया है। इस स्थान को इसी दशा में अब तक सुरक्षित रखने में सचमुच इस छत के शिला खण्ड का योग महत्त्वपूर्ण है।

मंदिर का सामना उत्तर की ओर है और उसी ओर उसका एक मात्र द्वार है जो केवल दो फुट चौड़ा और साढ़े तीन फुट ऊँचा है। द्वार के दोनों ओर सवा फुट ऊँची गंगा यमुना की मूर्तियाँ कलश लिए हुए—भावपूर्ण मुद्रा में अंकित हैं। दोनों देवियों के वाहन के रूप में मकर और कूर्म का स्पष्ट अंकन है। इन मूर्तियों के एक हाथ में कलश

के अनुयायी यतियों की तपश्चर्या की ओर संकेत करते हुए ईस्वी प्रथम शती के सुप्रसिद्ध जैन आचार्य वट्टकेरिने अपने 'मूलाचार' ग्रन्थ में कहा है, "गिरि गुफाओं और वनों में रहते हुए ये यतिजन यद्यपि भेड़िया, रीछ, बाघ, चीता, मृग भैंसा, वराह, सिंह, हाथी आदि जंगली पशुओं से घिरे रहते हैं; उनकी भयानक चीख-चिंघाड़ों को भी सुनते रहते हैं; परन्तु ये निर्भय बने हुए कभी भी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होते :" योगियों के तपस्वी जीवन का यही वर्णन 'महाभारत' में दिया हुआ है। यही कारण है कि ३ ब्राह्मण ग्रंथों में समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव रखने के कारण ये 'भूतपति', और पशुओं के मध्य में रहने के कारण 'पशुपति' नाम से प्रसिद्ध थे।

१. एयंतम्मि वसंता वय-वग्घ-तरच्छ (च्छु) अच्छ-भल्लाणं।
आगुंजिय मासरियं सुणंति सद्दं गिरिगुहासु।
मूलाचार अनगारभावनाधिकार गाथा २४।

२. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १६२।

३. ऋषभो वै पशूनामधिपतिः—ताण्ड्यब्राह्मण १६-१२-३
—ऋषभो वै पशूनां प्रजापतिः—शतपथ ब्राह्मण ५-२-५-१७।

तथा दूसरे हाथ में चमर अंकित किया गया है जो इस मंदिर की विशेषता है। देवियों के खड़े होने की मुद्रा विशेष कला-पूर्ण है और शरीर के त्रिभंग को इस संयम के साथ उभारती है कि उसकी प्रतिकृति करने में खजुराहो का कलाकार भी असफल रहा प्रतीत होता है।

इन दोनों प्रतिमाओं के मुकुट, कुण्डल, रत्नहार, किंकणी, कँगन तथा वस्त्र बड़े सुन्दर बन पड़े हैं, प्रत्येक अङ्गोपाङ्ग, अलंकार, एवं मुद्रा बड़े सुन्दर संयोजन के साथ प्रस्तुत किए गए हैं।

द्वार के दाहिनी ओर, मकर वाहिनी गंगा के पार्श्व में एक चतुर्भुज यक्ष-मूर्ति भामण्डल सहित अंकित है। इस प्रतिमा का एक हाथ खण्डित है शेष तीन हाथों में क्रमशः गदा, नाग, और श्वान अंकित किए गए है।

बायीं ओर कूर्म वाहिनी यमुना के पार्श्व में भी इसी प्रकार चतुर्भुज यक्ष-मूर्ति भामण्डल सहित दिखाई गई है। इसका भी एक हाथ खंडित है जिसमें किसी चतुष्पद प्राणी की रस्सी रही है, जिसके पैर और पूंछ का आकार अभी भी दिखाई देता है। शेष तीनों हाथों में गदा, कमल और नाग दिखलाये गए हैं।

गंगा यमुना के शिरोभाग से द्वार की बराबरी तक सीधे पाषाण पर साधारण बेलि का अंकन है, और द्वार के ऊपर के तोरण पर तीन दिगम्बर जैन तीर्थंकरों का स्पष्ट अंकन किया गया है, जो इस मन्दिर को जैन मन्दिर सिद्ध करता है।

द्वार पर के इस तोरण में दोनों छोरों पर तथा मध्य में, दो-दो स्तम्भों की सहायता से तीन अतीव सुन्दर कोष्ठकों का निर्माण हुआ है। इनमें से मध्य के कोष्ठक में वृषभ चिह्नांकित युगादि देव भगवान आदिनाथ की सुन्दर प्रतिमा उत्कीर्णित है तथा दोनों ओर के कोष्ठकों में भगवान पार्श्वनाथ की फणावलि सहित प्रतिमाएँ बनी हैं। ये तीनों मूर्तियां ५ इन्च ऊँची पद्मासन विराजमान हैं। सौम्यता, मनोज्ञता और शारीरिक अनुपात की दृष्टि से ये प्रतिमाएँ सुन्दर हैं।

इस मंदिर के भीतर एक सुन्दर और सुसज्जित देवी प्रतिमा विराजमान थी जो अभी लगभग बीस वर्ष पूर्व यहां से हटाई गई है, अस्तु इस आधार पर मेरा अनुमान है कि यह मंदिर 'जैन शासन देवियों के स्वतंत्र मंदिरों की शृंखला में' तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की यक्षी 'पद्मावती' का मन्दिर होना चाहिए। इस स्थान का अपभ्रंश नाम 'पतियान दाई भी इस स्थान को 'पद्मावती-मंदिर मानने की मेरी धारणा की पुष्टि करता है। द्वार के तोरण पर उत्कीर्णित पार्श्वनाथ की दो प्रतिमाओं का अस्तित्व भी इस विश्वास का एक कारण है। जहां तक तोरण पर मध्य में स्थित आदिनाथ की मूर्ति का प्रश्न है, परम मंगल-कर्त्ता आदीश्वर के रूप में ऐसे स्थानों पर उनका अंकन साधारणतः पाया जाता है, परन्तु दोनों ओर पार्श्वनाथ का चित्रण साभिप्राय ही हुआ है।

गुप्तकाल में सतना के आस पास भुमरा के एक मुख शिव, नचना के चतुर्मुख शिव और पार्वती मंदिर तथा सीरा पहाड़ के जिनबिम्बों के निर्माण के काल में धर्मायतनों के माध्यम से कला के प्रदर्शन की—सत्यं शिवम् के साथ सुन्दरम् के सविशेष प्रदर्शन की—होड़ सी लग गई थी। नचना का अति सुन्दर पार्वती मंदिर एवं उसके भग्नावशेष भी इसके प्रमाण हैं। यदि उसी समय जैन-वास्तु निर्माताओं में भी इस भावना ने जोर मारा हो तो इसे स्वाभाविक ही माना जाना चाहिए। जैन मूर्ति-विधान में उपास्य देव की गृहस्थ अवस्था का अंकन या उनके माता-पिता की मूर्तियों का निर्माण कभी प्रचलित नही रहा, केवल भित्ति चित्रों में दक्षिण के तिरुपरुत्तिकुनरम—जिन कांची—आदि कुछ स्थानों में ऐसे चित्रण मध्य युग के प्राप्त हुए हैं। ऐसी अवस्था में सम्भवतः कला की अभिव्यक्ति की लौकिक एषणा पूरी करने के अभिप्राय से ही जैनवास्तु-निर्माताओं ने जैन-शासन-देवियों के स्वतन्त्र मंदिरों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया होगा।

सतना से लगभग सत्तर मील दूर कटनी के पास बिलहरी नामक स्थान में आदिनाथ की शासन देवी 'चक्रेश्वरी' का एक स्वतन्त्र मन्दिर स्थित है जिसका उल्लेख प्रसिद्ध पर्यटक मुनि कांतिसागर जी ने अपनी पुस्तक खण्डहरों का वैभव' में किया है। विलहरी का प्राचीन नाम 'पुष्पावती' भी कहा जाता है और वहाँ का उपरोक्त मंदिर पूर्व मध्यकाल की कलचूरी कला की देन है।

सम्भवतः सतना का यह पद्मावती मंदिर उक्त चक्रे-

श्वरी मंदिर से पूर्व का बना है। मेरी इस घोषणा के दो कारण हैं। एक तो यह कि यहां आस-पास गुप्तकालीन अवशेष अधिक पाये जाते हैं और मध्यकाल में यहाँ बहुत कम निर्माण हुआ है, दूसरे उस पद्मावती मंदिर की निर्माण पद्धति भी उस धारणा को पुष्ट करती है।

गुप्तकाल के उपरान्त कलाकार की दृष्टि कला की आत्मा से उठकर उत्तरोत्तर कला के शरीर की ओर आकृष्ट होती चली गई है। जैन, शैव, वैष्णव और शाक्त सभी प्रकार के मंदिरों के निर्माण में इस भावना का प्रसर स्पष्ट दिखाई देता है। मध्य युग में दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी में—खजुराहो तक आते तो ऐसा लगता है कि सांसारिकता और स्थूल मांसलता ही जैसे कला का ध्येय रह गया हो। कलाकार के मानसिक धरातल की अभि-*व्यक्ति के उस जन-मानस-समर्थित आधार की पृष्ठ भूमि* में यदि पद्मावती-मन्दिर का निरीक्षण किया जाय तो उसके निर्माण काल का अनुमान करना आसान हो जायगा।

ऐसा लगता है जैसे सौन्दर्य के पुजारी कलाकार की छेनी पर यहाँ संयम का पहरा था। तत्कालीन साम्राज्य की सीमा का उद्घोषक होने के कारण गंगा-यमुना का अनिवार्य-अङ्कन करके ही मानों कलाकार ने छेनी को कृत कृत्य मान लिया है। तोरण के नीचे स्तम्भों पर मिथुन-युगल, या भक्ति के व्याज से अप्सराओं का सौन्दर्यांकन उसे तब अभीष्ट नहीं था। गर्भालय भी जितना भीतर अलंकार विहीन है। बाहर भी उतना ही सादा होकर वीतरागता का उद्घोष कर रहा है।

इस प्रकार प्राप्त आधारों पर और साधार अनुमान से मेरी धारणा है कि यह स्थान पद्मावती-मन्दिर ही है और इसका निर्माण उत्तर गुप्तकाल अथवा पूर्व मध्यकाल में हुआ होगा। वहाँ भ्रमण करते हुए एक दिन कोटर की एक झाड़ी में मेरे साथी श्री पन्नालाल को एक आम्र-मञ्जरी का अवशेष प्राप्त हुआ है जिसका आलेखन बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी देवी अम्बिका के परिकर में किया जाता है, अतः मुझे आशा है कि इस स्थान पर शोध किये जाने पर संभवतः कुछ और भी सामग्री मिल सकेगी और कालान्तर में इस स्थान की महत्ता सिद्ध हो सकेगी।

जैन मित्र की भूल

मैं प्रेमचन्द जैन, जैनसमाज को सूचित करता हूँ कि जैन मित्र के दिनांक २७-९-६२ के अङ्क में 'वीरसेवा-मन्दिर देहली सम्बन्धी सूचना' के अन्तर्गत मेरे नाम से जो कुछ छापा गया है, वह भ्रमात्मक है। जैनमित्र के सम्पादक ने मेरे पत्र के आशय को बिना समझे, उसे काट-छाँटकर छाप दिया है। मैंने यह नहीं लिखा कि 'ट्रस्ट की ओर से हमने किसी को चन्दा माँगने के लिए नहीं भेजा है।' यह वाक्य सम्पादक ने अपनी ओर से ही जोड़ा है।

जैन मित्र के दिनांक ‑-१०-६२ के अङ्क में 'खेद-प्रकाशन' शीर्षक के अन्तर्गत जो यह लिखा गया है कि—"पं० बलभद्र जी वीरसेवा मन्दिर में महीनो मे काम कर रहे हैं", बिल्कुल गलत है। वीर सेवामन्दिर ने पं० बलभद्र जी को कभी नियुक्त नहीं किया, न वह वीरसेवामन्दिर में काम कर रहे हैं और न वीरसेवामन्दिर ने उन्हें चन्दा के लिए कही भेजा था।

जैन मित्र ने इसी अङ्क में आगे चलकर लिखा है, "लेकिन प्रेमचन्द जी वीरसेवामन्दिर के सदस्य नहीं हैं।" इस विषय में इतना बताना पर्याप्त है कि मैं वीरसेवामन्दिर का आजीवन सदस्य हूँ और उसका मन्त्री हूँ। मैंने जो सूचना जैनमित्र मे भेजी थी, वह वीरसेवामन्दिर की ओर से भेजी थी, ट्रस्ट की ओर से नहीं। अच्छा हो यदि जैन-मित्र के सम्पादक सूचनाओं का ठीक सारांश दिया करें। उन्हें शायद यह विदित नहीं है कि वीर-सेवा-मन्दिर एक पब्लिक संस्था है और वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट एक व्यक्तिगत ट्रस्ट है।

मन्त्री
वीरसेवामन्दिर, दिल्ली

आदिकालीन 'चर्चरी' रचनाओं की परंपरा का उद्भव और विकास

लेखक—डा० हरीश

[गतांक से आगे]

इस उद्धरण में चर्चरी शब्द गायक टोलियों या उत्सव मंडलियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार शेष दो उद्धरण देखे जा सकते है :—

३: अन्नयायं समागओ वसन्त समओ।—सुइ सुह सुवन्तचच्चरीतूरमहुरनिग्घोसो।

(इसके बाद वसन्त समय आ पहुँचा।—कैसा ? अनेक विशेषणों में से एक विशेषण प्राप्त करता है जो चर्चरी और तूर्य वाद्य को सुन कर मधुर निर्घोष श्रुति सुख देने वाला होता है ऐसा[1]।

४: एवं गुणाहिरामे य पवत्ते वसन्त समए सो सेण कुमारो किलानिमित्तमेव विसेसुज्जलनेवच्छेण संगओ परियणेणं पयट्टो अमरनन्दणं उज्जाणं। दिट्ठो य—पवज्ज-माणेयाँ वसन्तचच्चरीतूरेणं नच्चमाणेहि किंकरगणेहि एरावणगओ विय तिय सकुमार परियरिओ देवराओक्ति—

(इस प्रकार के गुणों से सुन्दर वसन्त समय के आने पर वे सेनकुमार क्रीड़ा के लिए ही विशेष उज्ज्वल नेपथ्य वाले परिजनों सहित अमरनन्दन उद्यान में प्रवृत्त हुए और उन्होंने देखा (क्या ? माने) वसन्त की चर्चरी गायक टोलियों के बजते हुए तूर्य वाद्यों पर नाचते हुए किंकर गण के साथ ऐरावत हाथी पर बैठा हुआ त्रिदशकुमारों अर्थात् देवकुमारों के परिकर वाला देवराज अर्थात् इन्द्र हो, ऐसा[2]।

इस प्रकार इस विवेचन में तृतीय उद्धरण में चर्चरी का अर्थ सुन्दर वाद्यगान करके उसे मधुर निर्घोष श्रुति सुख देने वाला कहा गया हैं। अन्तिम या चतुर्थ उद्धरण में चर्चरी को वसन्त गान बताया है। वे टोलियाँ जो वसन्त में चर्चरी प्रस्तुत करती हैं जिनके साथ तूर्य आदि वाद्य बजाये जाते थे। पर ये टोलियाँ किंकर जैसे निम्नस्थ वर्ग की होती थी।

चर्चरी सम्बन्धी अन्य प्रमाण, जो प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, संक्षेप में इस प्रकार हैं।—इन उल्लेखों में चर्चरी सम्बन्धी अर्थों में परिवर्तन मिलते है। चर्चरी का दूसरा अर्थ एक प्रकार का गीतविशेष है।

श्री हेमचन्द्र आचार्य अभिधान चिंतामणि[1] में लिखते हैं :—शुभाकल्या चर्चरी चर्मरी समे ये वस्त्र प्राप्त कर उसकी वृत्ति में चारुमयते अनया—(जो बड़े चारु थे, ऐसे सुन्दर बोलों वाली शुभ वाणी चर्चरी।[2]

१. समराइच्च कहा : प्रो० हर्मनजैकोबी संपादित पृ० ६३६।

२. समराइच्च कहा : प्रो० जेकोबी, पृ० ६३८।

१. अभिधानचितामणि (२-१८७) हेमचंद्राचार्य।

२. प्राकृतापभ्रंशादिभाषायां चच्चरी, चार्चार, इति-नाम्ना संस्कृतभाषायां च चर्चरी इति सज्ञया प्रसिद्धाया गीतनृत्य पूर्वगान क्रीडन गुम्फनादिपद्धतिः प्राचीना परिज्ञायते यतः कविकालिदासो विक्रमोर्वश्याश्चतुर्थेंके प्रभूतानि चर्चरी पदान्यपभ्रंशभाषायां व्यरचयत्। हरिभद्रसूरिः समरा दित्यकथाऽदौ दाक्षिण्यचिह्नोद्योतनाचार्यः कुवलयमाला कथा-ऽदौ, शीलांकाचार्यश्चतुष्पंचाशन्महापुरुषचरिते, कविः श्री हर्षो रत्नावलीनाटिकायाः प्रारंभे चान्यत्र स्मरंति स्म चर्चरी मा। पिंगलनागहेमचन्द्रादयः प्रतिपादयन्ति स्म चर्चरी-लक्षणानि निजच्छन्द. शास्त्रच्छन्दोनुशासनादौ।

प्रसिद्धं यत् खलु कवि सोलणकृता चर्चरी इत एव प्रका-शितप्राचीनगूर्जरकाव्यसंग्रहे। उपलभ्यते चान्या पत्तनीय जैन भाण्डागारादौ वेलाउली (विलावल) रागेण गीयमाना शत्रुञ्जय माउनादि जिनस्तुतिरूपा पंचत्रिंशगाथाप्रमाणा-प्रायो विक्रमीयचतुर्दशशताब्दीसम्भवा, इतरा च गूर्जरी रागेण गीयमाना गुरु-स्तुति रूपा संक्षिप्ता पंचदशगाथा

अपभ्रंश काव्यत्रयी में चर्चरी पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है तथा उसमें जिन-जिन विभिन्न विद्वानों द्वारा चर्चरी का प्रयोग किया गया है उनका भी उल्लेख है। अपभ्रंश काव्यत्रयी के साथ-साथ कुवलय माला कथायाम् में भी चर्चरी को सम्बोधित करते हुए उल्लेख मिल जाता है[1]।

इस प्रकार प्राचीनकाल में चर्चरी का स्वरूप जिस प्रकार का गीतिशिल्प लिए था, उसकी प्राचीनता और चच्चरी-चांचरि इस नाम की सार्थकता के प्रमाण प्राकृत और अपभ्रंश में चच्चरी-चाचरि और संस्कृत में चर्चरी शब्दों आदि के रूप में मिल जाते हैं। वस्तुतः ये नाम अत्यन्त प्रसिद्धि-प्राप्त गीत, नृत्ययुक्त गान-क्रीड़ा गुदनादि पद्धति की भांति प्राचीन हैं। महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अंक में बहुत से चर्चरी-पद्यों की रचना अपभ्रंश भाषा में की है। हरिभद्र सूरि ने भी 'समराइच्च-कहा' के प्रारंभ में, उद्योतन आचार्य ने 'कुवलय-माला-कथा' के पूर्वार्द्ध में, शीलंकाचार्य ने 'चउप्पान्न महा-पुरिसचरिय' में, सर्वश्री हर्ष ने रत्नावली-नाटिका के प्रारंभ में और भी अन्य कइयों ने चर्चरी का वर्णन किया है। हेमचंद्राचार्य के पहले के प्राकृत और अपभ्रंश ग्रन्थ कर्ताओं ने भी चर्चरी का वर्णन किया है। वस्तुत. यह चर्चरी गीत बहुत ही प्रसिद्ध गीत रहा है। विक्रम की दशवी शताब्दी में धनपाल विरचित भविसयत्तकहा में भी इस गीत का उल्लेख मिलता है।[2] इन उल्लेखों के अतिरिक्त और भी कई तथ्य, जो चर्चरी शब्द की महत्ता विभिन्न रूपों में स्पष्ट करते हैं, व्यवहृत हुए हैं।

परिमिता।

यमकालंकाराद्यलंकृता प्रस्तुता चर्चरी तु सप्तचत्वारिं-शत्पद्यप्रमिता जिनवल्लभसूरिस्तुतिरूपा चैत्यविधि प्रधाना संस्कृतवृत्तिसमन्विता वृत्ति कृत्सूचनानुसारेण पढ़ (ट) मंजरीभाषया नृत्यद्भिर्गीयमाना च ज्ञायते। पट-मंजरीरागो ऽसूचि खलु नारदकृते इत एव प्रकाशिते संगीतमकरंदादौ दृश्यन्ते प्रभूतानि पटमंजरी पद्यानि विक्र-मीय सप्तमशताब्दीसम्भूतैं लूईपाद प्रभृतिभिर्विरचितेषु चर्चचर्यविनिश्चयादिषु श्रीयुत महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री महाशयैः सम्पादिते बंगीय साहित्य परिषदा प्रकाशिते बौद्धगाने ओ दोहा संज्ञके पुस्तके वि० सं० १३५८ वर्षे पटमंजरी भाषया रचितं गौतम चरित कुलक मुपालभ्यते पत्तनीय जैन भाण्डागारे। अनेन पट(ढ)मंजरीरागस्य चिरात् प्रतिष्ठाऽवसीयते। (अपभ्रंश काव्यत्रयी पृ० ११४ सी० डी० दलाल, भूमिका भाग)।

१. जहातेण केवलिया अरणं पएसिऊण पंचचोरसयाइं रासणच्चणच्छलेण महामोहगहगहिआइं अक्खिविऊण इमाए चच्चरीए संबोहियाइं। अविय—
संबुज्झह किण्ण बुज्झह एत्ति लएवि मा किंचि मुज्झह
करिउ जं करियव्वयं पुण ढुक्कइ तं भरिअव्वयं॥
कसिणकमलदललोयण चलक्खोंह तउ पीण-पिहुलथण कडिअल भार। किलंतउ
तालयलि रयलयावलिकलयलसद्दउ रासयम्मि जइ-लब्भइ जुअतीसत्थउ संबुज्झह किण्ण बुज्झह पुणोधुवयं
(कुवलयमाला कथायाम्)

२. घरि घरि मंगलइं पघोसियाइं, घरि घरि मिहुणइं परिओसि आइं
घरि धरि तोरणइं पमाहियाइं, घरि घरि सयणइं अप्पाहियाइं।
घरि घरि बहुचंदनच्छडय दिन्न, मरू कुदवणयदवणाय पइन्न
घरि घरि सरेणुरइ पिंजरीउ, सोहंति चूयतरूमंजरीउ
घरि घरि चच्चरि कोऊहलाइ,
घरि घरि अंदोलय सोहलांहिं।
घर घरि कयवत्था हरण सोह,
घरि घरि आइद्ध महाजसोह।
घत्ता-घरि घरि जस मंगल कलस किय घरि घरि घर देवय अवयरिय।
घरि घरि सिंगार वेसु धरिणि नच्चउ वरजुवइहिं उत्थरिवि
(भविसयत्तकहा—८-६।

(घर-घर मंगलों का प्रघोष था, घर-घर वर वधू की जोड़ी परितुष्ट थी। घर घर तोरण बंधे थे, घर-घर मनुष्य आत्महित साधते थे, घर घर चंदन का छिड़काव होता था। और मरवे के वृक्ष कुंदवन में होने वाले

अपभ्रंश के चर्चरी-ग्रन्थों के भाष्यों में चर्चरी शब्द का अर्थ खल बताया गया है।[1] जिनदत्तसूरि की एक चर्चरी में उसके टीकाकार श्री जिनपाल उपाध्याय ने लिखा है कि यह भाषा-निबद्ध-गान नाच-नाच कर गाया जाता है। इस चर्चरी का प्रथम पद इस प्रकार है—

कवव अउववु जुविरवइ नवरसभरसहिउ
लद्ध पसिद्धिहि सुकइहिं सायर जो महिउ
सुकइ माहुति पसंसहि जे तसु सुहगुरूहु
साहु न मुणइ अयाणुय मइजिय सुरगुरूहु।

चर्चरी शब्द की व्युत्पत्ति का अनुमान (पा० चच्चर) चौरट्टा-चौटुं, चौक से भी किया जा सकता है, (जहां लोग इकट्ठे होकर नृत्य सहित गान करते हैं)। नृत्य सहित गाने वालों के समूह को भी चर्चरी कहते है। संस्कृत में चर्चरी का अर्थ है हाथ की ताल की आवाज और इस कारण भी उसका यह नाम पड़ा हो यह असम्भव नहीं है संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में चर्चरी के कई अर्थ दिए हुए हैं।[2] पाइयसद्दमहण्णवो' में चर्चरी के अनेक प्राचीन अर्थ स्पष्ट होते है।[1] हिन्दी शब्द सागर ने भी इन्हीं कोष ग्रन्थों के अर्थों का समर्थन किया है[2]।

वास्तव में इन अर्थो से यह स्पष्ट होता है कि चर्चरी एक प्रकार का गीत विशेष था जो समूह में गाया जाता था। यह ज्ञान इतना अधिक लोक प्रचलित था कि इसे लोकगीत की संज्ञा सरलता से दी जा सकती है। वास्तव में इसकी पुष्टि १३वीं शताब्दी के जिनदत्त सूरि नामक जैन संत कवि ने लोक प्रचलित चर्चरी और रासक जाति के गीतों का सहारा लिया था, इस तथ्य से होती है।चर्चरी उन दिनों जनता में बड़े चाव से गाई जाती रही होगी। श्री हर्षदेव की रत्नावली तथा बाणभट्ट की रचनाओं से भी चर्चरी गीत की सूचना प्राप्त होती है। १२ वी शताब्दी में सोमप्रभ ने वसन्त काल में चर्चरी का गान सुना था[3]।

१३वीं शताब्दी के लवखण नामक कवि ने यमुना नदी के आस-पास बसे रायवड्डिय नगर का वर्णन किया है[4]।

दवणा जैसे फूल फूल रहे थे। घर घर रेणु (रज) सहित रति पिंजरित (व्याप्त) रहने वाली) आम्रतरू की मंजरी शोभा पाती थी, घर-घर चर्चरी कौतूहल थे। घर-घर हिंडोले खाते हुए झूलते हुए सोहला गाते थे, घर-घर वस्त्र-आभूषणों की शोभा की गई थी। घर-घर महान यश के ओघभरे थे। घर-घर रूप से रंजित मनवाली युवतियाँ दर्पण सहित देखतीं थी, घर-घर यश के मंगल कलश सजाए हुए थे। घर-घर देवता अवतरित थे और घर-घर शृंगार वेश धारण करती हुई उत्तम युवतियों ने नाच आरंभ किए थे। (भविसयत्तकहाधनपालकृत ८-९)

१. देखिए अपभ्रंश काव्यत्रयी—श्री सी० डी० दलाल—प्रस्तावना भाग।

२. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ—संग्राहक द्वारका प्रसाद शर्मा चतुर्वेदी चर्चरिका (स्त्री०) १—गीत विशेष, २—ताल देना। चर्चरी—पंडितों का पाठ ३—उत्सव के समय का खेल ४—उत्सव का उल्लास ५—उत्सव ६—चापलूसी, ७—घुंघराले बाल।

१—देखिये पाइयसद्दमहण्णवो—पं० हरगोविंददास सेठ कृत—पृ० ३९७। चच्चरिया (स्त्री०) (चर्चरिका) नृत्य विशेष (रंभा)

चच्चरी—स्त्री [चर्चरी] १. गीत विशेष, एकप्रकार का गान—"वित्थरिय चच्चरीरव मुहरिय उज्जाण भू भागे" (सुर ३,५४)। "पारंभिय चच्चरीगीया" (सुपा ५५)। २. गाने वाली टोली, गाने वालों का यूथ "पवत्ते मयण महूसवे निग्गयासु विचित्तवेसासु नयर चच्चरीसु कह नीय चच्चरी अम्हाणा चच्चरीये समासन्नं परिव्वाइ" (स० ४२)। ३. छन्द विशेष (पिंग)। ४. हाथ की ताली की आवाज।

२—चच्चरी संज्ञा (स्त्री) सं० १—भ्रमरा, भंवरी, २—चांचरि होली में गाने का यह गीत, ३—हरिप्रिया छंद ४—एक वर्णवृत्त। चचरा। चंचली। विबुध प्रिया ५—छब्बीस मात्राओं का एक छन्द—संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर—रामचन्द्र वर्मा पृ० ३४७।

३. पसरन्त चाए चच्चरिय भालु। जनपद—वर्ष १, अंक ३, पृ० ५-८

५. जउणा णइ उत्तर तडित्थ रायवड्डिय—वही।

आगरे के पास स्थित सम्भवतः इस पुर में कवि ने नगर के चौराहे का वर्णन किया है, जो चर्चर ध्वनि से उद्दाम था। श्री अगरचन्द नाहटा का मत है कि रास की भांति तवल एवं नृत्य के साथ विशेषतः उत्सव आदि में गाई जाने वाली रचना को चर्चरी संज्ञा दी गई है[1]।

इन सब उल्लेखों के अतिरिक्त चर्चरी का एक छन्द विशेष के रूप में भी वर्णन मिलता है। यह वर्णिक छन्दों में समवृत्त का एक भेद है। भानु के छन्द प्रभाकर में इस चर्चरिका छंद का लक्षण रस जब भरगण के योग से बनता है जिसका रूप (ऽ।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।।, ऽ।ऽ) है। प्राकृत पिंगल में(देखो २:१८४) इस छन्द का नाम चर्चरी मिलता है। छंदोनुशासन (देखो हेमचन्द कृत २:३१२, ३१२) में उज्जवल, छन्द : सूत्र (८-१६) में विबुध प्रिया आदि नाम मिलते है। आलोचकों ने इस चर्चरी छन्द का शिल्प इस प्रकार माना है। इस छन्द में १०,८ वर्णों पर यति होती है पर पिंगल में ८,१० वर्णों पर यति मानी है। इसका मात्रिक रूप गीतिका छन्द है।

उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध चर्चरी सम्बन्धी और भी जितने प्रमाण तथा विभिन्न अर्थ-सूचक विवरण एवं वर्णन मिलते हैं वे इस प्रकार है।

(१) सं० १०६४ में चन्द्रावती में धनेश्वर सूरि द्वारा विरचित प्राकृत सुरसुन्दरीचरिय ग्रन्थ में चच्चरी का उल्लेख देखिए—

तो एरिसे वसंते दिसि-दिसि पसरंतपरहुयासद्दे।
वित्थरिय-चच्चरी-रव मुहरिय-उज्जाण-भूभागे ॥३,५४

इस प्रकार की वसंत ऋतु में दिशा-दिशा में कोयल के शब्द प्रसारित हैं और विस्तार को प्राप्त हुए चर्चरी के रव से मुखरित उद्यान के उस भूभाग में—(आवाज करते थे)

कीलंत कामिणी—यण रणंत—नेउर रवेण तक—नियरो (तरुणी-नियरो)

मयण-महूसव-तुट्ठो गायइ इव चच्चरिं जत्थ ॥३,१०८
'चच्चरी-सद्द जच्चंत बहु-वामणं' ॥३,३१५

(२) सं० ११६६ में लक्ष्मणगणि द्वारा विरचित सुपासनाहचरिय में भी चच्चरी का उल्लेख मिलता है—

तवणीय-दंड-ऊसिय-चीणांसुय-धय-सहस्स-रमणीया।
रमणीय-रमणि-सहरिस-पारंभिय चच्चरी-गीया ॥२३,५५

तपाकर शुद्ध किए हुए सोने के दंड ऊपर ऊँचे किए हुए चिनाई कपड़े के सहस्रों रमणीय धय (ध्वज) और सहर्ष चर्चरी गीतों को प्रारम्भ करने वाली रमणीक रमणियों वाली (वाराणसी नगरी)।

(३) सं० १२११ मां जिनदत्तसूरि ने अपने गुरु श्री जिनवल्लभसूरि के लिए गुरु स्तुति अपभ्रंश और तत्कालीन देशी भाषा में की है।

उस पर संस्कृत में सं० १२६४ में जिनपाल उपाध्याय ने एक भाष्य लिखा है। उन्होंने उस स्तुति का नाम चर्चरी रक्खा है। यह प्रथम मंजरी भाषा[1] में तथा नृत्य के सहित गाई जाती हैं। उन्ही जिनपाल उपाध्याय ने जिनदत्तसूरि के अपभ्रंश काव्य नाम से 'उपदेश धर्म-रसायन-रास' नामक संस्कृत टीका रची है उसके प्रारम्भ में बताया गया है—

चर्चरी-रासक-प्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल।
वृत्ति प्रवृत्ति-माधत्ते प्रायः कोऽपि विचक्षणः ॥

(४) 'प्राकृत—पिंगल' में चर्चरी नामक एक छन्द विशेष है। प्राकृत पिंगल सूत्र तथा हेमचन्द्र अपने ग्रन्थ छन्दोनुशासन में २३१ वें पद्य में चर्चरी का लक्षण इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—आदि में रगण (गालगा) फिर सगण (ललगा) फिर एक लघु फिर ताल आदि गुरु त्रिकल मध्य में हो। फिर एक गुरु। फिर एक लघु और एक गुरु, दो लघु एक गुरु, एक लघु और एक गुरु—उद्धृत पद को देखिए —

---

[1] देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४' सं० २०१०, पृ० ४३२ पर श्री अगरचन्द नाहटा लिखित प्राचीन भाषा काव्यों की विविध संज्ञाएं—लेख।

[1] पटमंजरी नामक राग नारद कृत संगीत मकरंद में बताई गई है। वि० की ७वीं शताब्दी में हुए अनेक पटमंजरी काव्य यथा लूइपाद विरचित चर्याचर्य आदि काव्य महामहो० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा बंगीय-परिषद् द्वारा प्रकाशित बौद्ध गान और दोहा ग्रन्थ में मिल जाते हैं। पदमंजरी भाषा में सं० १३५८ में रचा हुआ एक अपभ्रंश का काव्य है उससे स्पष्ट होता है कि पट-मंजरी भाषा में प्रणीत रागों की प्रतिष्ठा अवश्य रही होगी।

आइ रगण रत्थ काहल ताल दिज्जहु मल्हहा,
सद्दहार पसन्त विण्णवि सव्व लोअ विबुज्झिआ।
वेवि का हल हार पूरहु संख कंकण सोहणा।
णाअराअ भणन्त सुन्दरि चच्चरी मणमोहणा।।२३१।।

उक्त पद्य की संस्कृत टीका भूषण में प्रकारान्तर से इस प्रकार मिलती है।

हारयुक्त सुवर्णकुण्डल पाणि शंख विराजिता,
पाद नूपुर संगता सुपयोधरद्वय भूषिता।
शोभिता वलयेन पन्नगराज पिंगलवर्णिता,
चर्चरी तरुणीव चेतसि-चाकसीति सुसंगता।।

(५) प्राकृत पिंगल सूत्र में चर्चरी छंद का उदाहरण इस प्रकार दिया हुआ है—

पाअणेउर झंझणक्कइ हंस-सद्द-सुसोहिरा,
थोव-थोव थणग्ग णच्चइ मोत्तिदाम मणोहरा।
वाम-दाहिण बाण धावइ तिक्ख चक्खु कडक्खिआ,
काहि पूरिस नेह-मंडलि खेह सुंदरि पक्खिआ।।२३२

(जिसके पैरों में नूपुर हंस शब्द जैसा सुशोभन झनकार करता है, जिसके थोड़े-थोड़े नवीन उभरे हुए स्तनों के ऊपर मनोहर मुक्ताहार नाचता है जिसके दाहिनी बाई ओर तीक्ष्ण आंख के कटाक्ष बाण की भांति दौड़ते है ऐसी सुन्दरी किस पुरुष के घर की शोभा बढ़ाती है सो तू देख)।

(६) हेमचन्द्राचार्य ने अपने छन्दोनुशासन के अध्याय (७,४६) में रथ्या वर्णक छन्द का एक सूत्र दिया है कि "षचृता रथ्या वर्णकं ठजैं रितिपण्-मात्रमेकं, चतुर्मात्रंस-पूतकं त्रिमात्रंश्च रथ्यावर्णकं ठजैरित्ति द्वादशभिरष्टभिश्च यतिः। इस प्रकार एक ६ मात्रा, सात-चार मात्रा और एक त्रिमात्र अर्थात् कुल ३७ मात्राओं का रथ्यावर्णक है कि जिसमें १२वीं और फिर आठवीं और २०वीं मात्रा पर यति आती है। इसके पश्चात् (७,४७) में चच्चरी ठजैः ठजैरिति चतुर्दशभिरष्ठभिश्च यतिश्चेत् तदा तदैव रथ्यावर्णकं चच्चरी। जिसमें १४वीं और २२वीं मात्रा पर यति आती है वह रथ्यावर्णक चच्चरी कहलाती है।

(७) स्वयंभूछन्द (४,१९५ तथा १९६) में भी रथ्या-वर्णक का उदाहरण मिलता है। निम्नांकित उदाहरण में दोनों का अन्तर देखिए—

विरह रहक्कइ सुहय न जंपइ न हसइ भावइ केवलु पिअपच्चासइ अहवा किन्तिउ रत्थावरूणणु करिसहुं निश्चइ मरिसहुं (राइ) तुह्यु जसु नासइ (४६)

(विरह के सुख से वह न तो देखती न हंसती है परन्तु केवल प्रियतम की प्रत्याशा का ध्यान करती है या कितना रथ्यावर्णन करूँ वह तो शून्य वर्णन होगा, वह निश्चय ही मरेगी और उसका यश नाश को प्राप्त होगा)।

चर्चरी छन्द का उदाहरण देखिए—

चर्च्चरि चाच्चवहिं अच्छर किवि रासउ पेस्सहि
किवि-किवि गायहिं वर धवलु.
रचहि रचण-सत्थिअ कि वि दहि अक्खय गिण-
हहिं किवि भूमुसवि तुह जिणधवलह (४६)

(जिन वृषभ जन्मोत्सव में कोई अप्सरा सुन्दर चर्चरी बोलती है, कोई रास खेलती है, कोई उत्तम धवल मंगल गाती है, कोई रत्न के साथ रचती है, कोई दही अक्षत लेती है)।

(८) सं० १२४१ में सोमप्रभ सूरि रचित कुमारपाल प्रतिबोध में[1] भी चर्चरी का उल्लेख मिलता है—

अह पत्तु कयाइ वसंतसमउ जो,संजणिय सयलजण चित्तपमओ
उल्लासिय रूक्ख-पवाल-जसु पसरंत चारू चच्चरि च मासु

(फिर एक बार वसंत समय आया। वह समस्त शोकों से मन को मुक्त करने (प्रमुदित) वाला, तथा वृक्षों के पल्लव समूह को प्रफुल्लित करने वाला था जिसमें वेल (लता) समान सुन्दर चर्चरी गीत प्रसारित होते थे)।

(९) संदेश रासक नाम अपभ्रंश काव्य में चर्चरी संज्ञक[2] कड़ी देखिए—

चर्च्चरिहि गेउ मुणि करिवि तालु
नरिचयह खउव्व वसंत कालु
घणनिविड़हार परिखिल्लरीहि,
रूणझुण रउ मेहल किंकिरणीहि

(चर्चरी गाकर ताल सहित नृत्य करके अपूर्व वसन्त काल नृत्य करता आता है वन निविड़ हारवाली खेतली स्त्रियों से उनके मेखला की किंकिणी बड़ी रूणझुण शब्द करती थी)।

१. देखिए कुमारपाल प्रतिबोध : सोमप्रभ सूरि, पृ.५४४
२. जैन गुर्जर कवियो—प्रस्तावना, पृ० ५९

(१०) ढोला मारू रा दोहा—में भी चर्चरी का प्रसंग मिलता है—

फागुण मासि वसंत रूत आयउ जइन सुणंकि
चाचरिउइ मिस खेलती होली झंपावरू (१४५)

(वसंत ऋतु के फागुन मास में यदि तुम्हारा आना मुझे न सुनाई दे, तो चर्चरी के बहाने मैं होली में खेलूंगा)।

इसमें सम्पादक चर्चरी सम्बन्धी टिप्पणी लिखते है कि फागुण में होलिकोत्सव के उपलक्ष्य में होने वाले गीत नृत्य आदि से चाचरि चर्चरी होली में गाये जाने वाले एक राग विशेष को कहते है।

(११) हिन्दी साहित्य में कबीरदास की रचनाओं में बीजकमें चांचर नामक एक अध्याय है। इस चांचर में चर्चरी के प्राचीन शिल्प के अंकुर विद्यमान हैं। इसका एक उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है :—

खेलनी माया मोहनी जिन जो कियो संसार
रच्यो रंगते चूनरी कोई सुन्दरि पहिरे आय
नारद को मुख मांडिके लीन्हो वमत छिनाय
गरब गहली गरब ते उलटि चली मुसकाय
एक ओर सुर नर मुनि ठाढ़े एक अकेली आय
दिष्टि परे उन काहू न छाड़े कै लीन्हो एक धाय

(१२) जायसी और तुलसी ने भी चर्चरी के रामगुण ग्रामका उल्लेख किया है—

१. खिनहिं चलहिं खिन चांचरि होइ
नाच कूद भूला सब कोइ—(जायसी)

२. तुलसीदास चाचरि मिस, कहे रामगुण ग्राम (तुलसी)

(१३) हिन्दी भाषा कोश में चाचर, और चांचर चांचरी—वसंत ऋतु के एक राग होली में गावंतु गीत, चर्चरी राग, होली के खेल-तमाशे, धमाल, उपद्रव, हलचल, हल्लागुल्ला, शोर आदि प्रथमाक्षर अनुस्वार बिना व अनुस्वार सहित रूप वाले शब्द हैं।

यह तो हुई चच्चरी शब्द के विविध अर्थों में प्रयुक्त हुए स्वरूप के पारंपरिक प्रमाण सम्बन्धी बात। अब आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में प्रयुक्त चर्चरी की भी थोड़ी सी चर्चा करली जाए। गुजराती साहित्य में चर्चरी के लिए कहा जाता है कि जहां दो या दो से अधिक मार्ग मिलने है। चत्वर (संस्कृत, प्राकृत चच्चर और पुरानी हिन्दी में—चाचर)।

सं० १२८९ वसंत में रचे हुए आबूरास की कुछ पंक्तियाँ देखिए:—

गूजर देसह मज्झि पहतणं, चंद्रावती नयरि वक्खाणं
त्रिग्चाचरि चउहह धारा पढमंदिर धवल हर पगारा

मैं उक्त पद में गुर्जर देश के मध्य में 'चंद्रावती' नामक नगरी का वर्णन प्रस्तुत करता हूँ। उसमें तीन रास्ते जहां मिलते हों ऐसा त्रिक, चाचर-चार रास्ते मिलें, ऐसा चौक, चउहट्ट—चौहटों का तथा विद्या-मंदिरों का विस्तार हो, महल तथा बड़ी-बड़ी हवेलियां हों।

एक अन्य कोष में चाचर शब्द का अर्थ पु० (सं० चत्वर) मण्डप के बाहर जो खुला चौक होता है वह, चकलो अर्थ भी दिया है जो अनेक प्रमाणों से अक्षरशः गुजराती शब्द कोष में भी मिलता है—वह चाचर के आधार से बना—चाचरियां शब्द का मूल रूप चर्चरी गीत ही है। यह चाचर में बोला जाने वाला, गाया जाने वाला गीत ही है। फिर ना० कोश में इसका अर्थ कर्त्ता को जैसा भी लगा विस्तार से उदाहरण प्रस्तुत करके ऐसा स्पष्ट किया है—चकलाकी—देवी के गण लग्न के चौथे आठवें दिन चकला की रक्षा करने वाली देवी का पूजन कर बलिदान करते थे फिर उसके गणों की पूजा करते थे चारों दिशाओं को चार उपहार रखे जाते थे और फिर एक के पीछे एक पानी की धार करके पूछते थे—चाचरियां। चाचरियाँ। तुम कौन सी बात कहने के लिए आये हो तो पास में खड़ा कोई गणों का प्रतिनिधि बोल उठता था—कि अमुक व्यक्ति के लिए—उनमे कोई सम्बन्धी का नाम ही होता था। फिर उनसे पूछा जाता था कि इस अमुक ने क्या किया है? तो उत्तर होता था कि इसने सारी जाति को तो खूब भोजन कराया पर धर के अनुसार दक्षिणा नहीं दी। हंसो रे भाई हा हा। इस प्रकार के चार प्रश्न होते है। इस प्रकार चांचरियों मे अधिकतर उपहास व हास्य होता है।

चाचर— चौक मे गाने वाले चर्चरी गायकों की टोली या उनका प्रमुख गायक—चाचरीया कहलाता था। उसके सम्बन्ध में पुरातन प्रबन्ध संग्रह तथा वस्तुपाल प्रबंध के क्रमशः

पृ० ७६, १६६ और पृ० ७८ तथा १७६ में प्रयुक्त हुए हैं[1]। उनका सारांश इस प्रकार है :—

(१) एक वक्त एक रात्रि में पाठशाला में रहनेवाले श्री विजयसेनसूरि को नमस्कार करके मंत्री वस्तुपाल दूसरे भाग में रहते श्री उदयप्रभसूरि को वंदन करने गये परन्तु वे वहां नहीं थे। इस प्रकार तीन दिन तक उनकी प्रतीक्षा करके चौथे दिन विनय पूर्वक बड़े गुरू जी से पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया मंत्री। आजकल इस नगर में एक चाचरीयक महाविद्वान् आया है। उसके विशेष वचनों को सुनने के लिए प्रतिदिन वेश परिवर्तन करके सूरि जाते थे। यह जानकर मंत्री वस्तुपाल वहां गये और सूरि को प्रच्छन्न रूप में देखा। प्रातः मंत्री ने उस चर्चरीयक को बुलाकर २०००) रुपया देकर कहा। तुम्हारे पौषधशाला के द्वार के पास के चच्चर (चौक) में चच्चर मांडो। इस प्रकार ६ महीने तक वह मांडता रहा, फिर उसका उचित सत्कार करके उसको विदाई दी।

(२) वीरधवल राजा के ना दउदी (नांदोद) नगर में रहने वाला अठारहीयो बडुआ हरदेव था। वह बडुआ जिन चाचर याचक का शिष्य था। वह एक बार आशा-पल्ली में आ गये सात दिन बाद उनके परिवार का खाना समाप्त हो गया। हमें चाचर प्रदान करो। उसने कहा धैर्य धारण करो। मैं सदैव मनुष्यों का मनोभिप्राय देखता रहता हूँ। इतने में ही महाराष्ट्र का गोबिंद चाचरीयाक आ पहुँचा। उसे अठारह पुराण ६० व्याकरण चौपाई छंद में कंठस्थ थे। उसने उसको चच्चर दी तो फिर हरदेव ने चाचरीयाक को अपने साथियों द्वारा प्रोत्साहन होने पर साथ-साथ चलते स्वाभाविक रूप से बातें करते सीताराम प्रबंध को कथा-रूप में कहना प्रारंभ किया। पहले १० हजार मनुष्य इकट्ठे हुए। धीरे-धीरे और अधिक हुए। मध्य रात्रि में सुखासन में स्थित मन्त्री आदि भी सुनते थे। यहां से उठकर श्रोताओं को ज्ञात न हो ऐसा प्रयास करता हुआ वह साबरमती नदी के किनारे गया। फिर विशेष गान छेड़ा। ठंड से आक्रान्त मनुष्यों ने उसे कहा कि आप सबके सुख के लिए नगर में चलिए। फिर उसने पुनः उत्तर रामचरित का गान प्रारम्भ किया। फिर सर्व रस में निमग्न श्रोताओं को लेकर चौक में आया। लोगों ने अंगूठी कर्णफूल आदि के दान से ३ लाख रु० दिया[2]।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि गुजरात में काव्य में कथा प्रबंध कहने वाले, चार रास्ते जहाँ मिलें ऐसे चौरास्ते या चौकमें बैठकर जनता के मन का अनुरंजन करते थे। उनको द्रव्य मिलता था और वे संस्कृति की उन्नति में पर्याप्त सहायता करते थे। अतः इससे चर्चरीयाक और चर्चरी शब्द के तत्कालीन रूप और महत्व पर प्रकाश पड़ता है। सं० १४८१ में जयसागर विरचित जिनकुशल सूरि चतुष्पदिका में मुनिजी की दीक्षा समय के वर्णन में चर्चरी का उल्लेख आता है—

नारि दियह तव चाचरी ए,
गुरू गरूआडिग दहादिसि संचरी ए।
सरल मनोहर रूपिनरिए फिर
कुठिहिं कोइल अवतरीए॥

अतः इसका सम्बन्ध किसी राग विशेष से स्पष्ट होता है।

उक्त वर्णनों तथा प्रसंगों द्वारा चर्चरी के विविध प्रसंगों में विविध अर्थों की सूचना मिलती है। वास्तव में चर्चरी क्या थी यह इन्हीं उद्धहरणों के आधार पर जाना जा सकता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि चर्चरी छोटी जाति की टोली का एक वासन्तिक गीत विशेष था, जो प्राचीनकाल से चौहट्टों आदि पर गाया जाता था। यह चर्चरी स्त्री और पुरुष दोनों गाते थे।

इन तथ्यों के आधार पर चर्चरी के शिल्प सम्बन्धी निष्कर्षों या आवश्यक तथ्यों पर इस प्रकार विचार किया जा सकता है—

१. यह एक गीत विशेष है जो उल्लास प्रधान क्षणों की अनुभूति है।

२. यह निम्न वर्ग की गायक टोलियों और उनके गीतों के लिए भी प्रयुक्त है।

३. ताली बजाकर विशेष ध्वनि उत्पन्न करने वाले वाद्य को भी चर्चरी कहते हैं।

४. चर्चरी एक प्रकार का गान विशेष है, जिसमें

---

१. देखिए पुरातन प्रबंध संग्रह : मुनिजिन विजय, पृ० ७६ और वस्तुपाल प्रबंध पृ० १६६

२. वही, पृ० ७८, वही पृ० १७६

नृत्य, ताल समन्वित फागुन की वासन्ती सुषमा का समावेश होता है।

५. आनन्द प्रधान मनमोहक नगर के स्थानों पर उत्पन्न होने वाली चर्चर ध्वनि।

६. वसंत में गाया जाने वाला विशुद्ध वसंत गीत।

७. मंगल पर्वों पर आनंदोत्पत्ति करने वाला मनोहारी गान।

८. चर्चरी एक प्रकार का खेल विशेष होता है।

९. एक भाषा निबद्ध गान, जो नृत्य विशेष के साथ गाया जाता है।

१०. यह एक प्रकार का छन्द विशेष है, जो विभिन्न ग्रंथों में शास्त्रीय छन्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

११. यह एक लोक गीत का प्रकार विशेष था।

१२. चर्चरी एक प्रकार का राग था, जिसको परवर्ती साहित्य में चर्चरी राग नाम से अभिहित किया गया। तुलसीदास ने भी चर्चरी राग को अपनाया था।

इस प्रकार चर्चरी के शिल्प का अनुमान हो सकता है। वस्तुतः डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में चर्चरी में केवल गान का रूप नहीं लिया है। आध्यात्मिक उपदेश में चर्चरी जैसे लोकप्रिय गान के प्रिय विषय शृङ्गार रस का आभास देने का भी प्रयत्न है। बीजक से यह आभास हो जाता है कि चांचर फगुआ से सम्बद्ध है फिर बीजक[1] में दो पद चांचर के हैं दोनों के छन्द अलग-अलग हैं इससे भी सूचित होता है कि इसके लिए कोई एक ही छंद नियत नहीं था[2]। अतः वह तो स्पष्ट है कि चर्चरी का प्रचलन लोकगीतों के विशिष्ट प्रकार के रूप में १२ वीं शताब्दी में ही हो गया हो, क्योंकि जिनदत्तसूरि ने चच्चरी का प्रयोग किया है। शास्त्रीय दृष्टि से इस छन्द के लक्षणों का वर्णन मिलता है, जो विविध नामों के रूप में प्रचलित रहा होगा परन्तु फिर भी चर्चरी को हम कोई निश्चित छन्द विशेष नहीं कह सकते। हाँ, लोक प्रचलित रूपों में आगरा और उसके आस-पास यह लोक गान खूब गाया जाता रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। यों कोई भी सहृदय इस बात का भी अनुमान लगा सकता है कि यह गीत कबीर के बीजक में चाँचर बन बैठा है, साथ ही जायसी में भी फागुन और होली के प्रसंग में चाचरि या चांचर का उल्लेख मिलता है। कालिदास और हर्ष के नाटकों में इस गीत का शिल्प अधिक स्पष्ट तो नहीं है, परन्तु उनमें चर्चरी का वर्णन अवश्य मिलता है। अतः इतने प्रसिद्ध गीत से यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि चर्चरी लोकप्रिय गेयता-प्रधान है। यह चांचर से भिन्न, किसी सामूहिक उत्सव या क्रीड़ा या खेल नहीं होकर सरल सम्मोहन पूर्ण वसन्त में नाच-नाच कर उल्लास के द्वारा प्रकट की हुई आकर्षक गीत शैली विशेष है। यह भी संभव है कि लोक साहित्य की सरल तथा मोहक लोकप्रिय गीत शैली या गान शैली होने के कारण ही जैन कवि श्री जिनदत्तसूरि ने इसको अपने ग्रन्थों में अपनाया हो। एक विशिष्ट बात यह भी है कि जनरुचि का कण्ठहार बनने और लोकप्रिय होने के कारण इस चर्चरी गीत की ध्वन्यात्मकता ने सबका मन मुग्ध कर दिया हो और यह छन्द या गीत प्रत्येक मनुष्य का लोकप्रिय गीत या छन्द बन गया, यही बात इसके मूल

---

१. जनपद-वर्ष १, अंक ३, पृष्ठ ५-८ देखिए—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का "लोक साहित्य का अध्ययन" शीर्षक लेख।

२. बीजक की दूसरी चांचर ठीक इस पद में तो नही है पर मिलते-जुलते छंद में अवश्य है। जान पड़ता है कि चर्चरी या चांचर की दीर्घ परम्परा रही होगी। इन दो चार उदाहरणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि बीजक में जिन काव्य रूपों का प्रयोग किया गया है उनकी परंपरा बहुत पुरानी है और आलोचना काल में विभिन्न संप्रदायों के गुरुओं ने धर्म प्रचार के लिए इन काव्यरूपों को अपनाया था। स्वयं तुलसी ने चर्चरी राग को अपनाया था।

जनपद : वर्ष १, अङ्क ३, पृ० ५-८

दूसरी चांचर के कुछ शब्द इस प्रकार हैं :—

जारहु जग के नेहरा, मन बौरा हो।
जामें सोग संताप, समुझ मन बौरा हो।
तन धन सौं का गर्वसी, मन बौरा हो,
भसम किरिमि जाकी साज' समुझु मन बौरा हो।
बिना नीव का देवघरा मन बौरा हो,
बिनु कहगिल की ईंट, समुझु मन बौरा हो।
काल बंत की हस्तिनी, मन बौरा हो,
चित्र रच्यौ जगदीश समुझु मन बौरा हो।

में रही हो और शिल्प अनेक बार सफलता से प्रयुक्त होने के कारण ही इसे विभिन्न प्रकार का विषय बनाया गया होगा।

इस प्रकार उक्त चर्चरी संज्ञक प्रमाणों शब्दों अर्थों तथा अन्य बातों के आधार पर चर्चरी की परम्परा तथा उसका शिल्प पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है। चर्चरी की यह परम्परा संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश से अक्षुण्य रूप से चली आ रही है। जिसके प्रमुख स्थलों का विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

वस्तुतः अद्यावधि प्राचीन प्राप्त साहित्य में चर्चरी सम्बन्धी जितने उल्लेख तथा प्रमाण उपलब्ध हो सके हैं उनका परिचय यहां दिया गया है। चर्चरी का इस समय राजस्थान में जो स्वरूप है, वह आज भी भली भांति देखने को मिल जाता है। चर्चरी गान यहां उल्लास प्रधान लोक-गीत के रूप में आज भी गाया जाता है। इसका सही व यथार्थ स्वरूप फाल्गुन के दिनों में गाए जाने वाले चंग-के गीतों में देखा जा सकता है। चंग के गीत जिस तरह आदि काल के साहित्य काव्य रूप (फाग) का प्रतिनिधित्व करते हैं ठीक इसी प्रकार इसमें चर्चरी का रूप भी देखा जा सकता है। चंग के गीत फागुन में ही गाये जाते हैं मधुमास के उल्लास प्रधान वातावरण को मुखरित करने वाले ये लोक गान शत शत रूपों में राशि राशि की संगीत मधुर ध्वनियों में फूट पड़ता है। ये चर्चरी गीत चंग बाजे पर गाये जाते हैं, जो वसन्त की शोभा कही जा सकती हैं। प्राचीन काल की भांति चर्चरी गान की इन टोलियों में मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग की ही टोलियां रहती हैं जो नाच कर अपने दबे अथव अबोले उल्लास को वाणी प्रदान करती हैं। अतः चंग के इन गीतों में इस समय चर्चरी का सम्यक् तथा क्रमिक विकास देखा जा सकता है।

जहां तक चांचर शब्द का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि इस शब्द के अर्थ में थोड़ा अन्तर परिलक्षित होता है। चांचर इन दिनों राजस्थान की नृत्य, वाद्य प्रधान, उल्लासमय अभिव्यक्ति को तो कहते ही हैं, पर विवाह में नृत्य करती हैं। यह एक प्रकार का उल्लास प्रधान टोना या क्रिया विशेष होती है, जिसे वे हाथों की उंगलियों के दूल्हे पर सिर से लेकर पैर तक और पैर से सिर तक पूजा के सामान का प्रयोग करती हैं शेष स्त्रियां वाद्यों पर नृत्य करती तथा गाती रहती हैं। इस क्रिया को चांचर करना कहते हैं। इसके मूल में क्या बात है? यह तो निश्चित नहीं कही जा सकता; क्योंकि पूछने पर वे बतलाती हैं, कि यह रूढ़ि है पुरातन नियम है, अतः आंख मींच कर इसे पूरा करना ही पड़ता है ऐसा उनका दृष्टिकोण है परन्तु मैं वर वधू के उल्लासपूर्ण सुखी जीवन और भविष्य की शुभ-कामना करने के लिए ही यह सब कुछ किया जाता होगा ऐसा लेखक का अनुमान है।

जो भी हो, चर्चरी या चांचर के राजस्थान में अद्या-विधि जो भी रूप देखने को मिलते हैं, उन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। बहुत संभव है कि लोक प्रथा या रिवाज होने से इस चर्चरी ने अब तक सबसे अधिक लोकप्रियता पाई हो। चर्चरी के शिल्प पर विस्तार में और भी विद्वानों के विचार मिलते हैं[1] जिनसे चर्चरी के शिल्प को समझने में सहायता मिलती है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में अवधि चर्चरी की जो भी परंपरा तथा स्वरूप की स्थिति है, उसे स्पष्ट कर दिया है। यह भी बहुत सम्भव है कि शोध होने पर इसके शिल्प पर और भी नये ज्ञातव्य प्राप्त हों।

१. विशेष विस्तार के लिए देखिए जैन सत्यप्रकाश वर्ष १२, अङ्क ६ में प्रकाशित श्री हीरालाल कापडिया का 'चर्चरी' शीर्षक लेख।

अकबर जैन धर्म से स्नेह करता था, इसका कारण उसकी क्षणिक उत्तेजना नहीं थी। उसके जीवन का अन्तिम भाग जैन उपदेशकों के प्रभाव में उनकी शिक्षानुसार ही बीता था।

—एम. एस. रामस्वामी आयंगर

राजस्थानी जैन वेलि साहित्य : एक परिचय

प्रो० नरेन्द्र भानावत, एम० ए० साहित्यरत्न

वेलि साहित्य की परम्परा संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई आगे चलकर राजस्थानी, गुजराती और ब्रज-भाषा में विकसित हुई। इस वेलि साहित्य का अधिकांश भाग जैन संतों द्वारा लिखा गया है। प्रस्तुत निबन्ध में 'जैन वेलि साहित्य' का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

'वेलि' का नामकरण—पहले अपभ्रंश से उद्भूत हो कर हिन्दी और राजस्थानी साहित्य में कई काव्य-रूप प्रचलित हुए। रास, पवाड़ा, ढाल, फागु, चर्चरी, विवाहलो, मंगल, धवल आदि के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'वेलि' नाम भी इसी प्रकार है। वाङ्मय को उद्यान मान कर ग्रंथों को वृक्ष और वृक्षांगवाची नाम से पुकारने की परिपाटी प्राचीन रही है। कुछ उपनिषदों में अध्यायों या अध्यायों के विभाग का नाम 'वल्ली' मिलता है।[1] काल-प्रवाह के साथ 'वल्ली' शब्द अध्याय या सर्ग का वाचक न रहकर एक स्वतन्त्र काव्य-विधा का ही प्रतीक बन गया।

'वेलि' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में प्रधानतः दो मत प्रचलित हैं। पहले मत के अनुसार 'वेलि' शब्द का विकास संस्कृत 'वल्ली' और प्राकृत 'वेल्ली' से हुआ। संयुक्त वर्ण के पूर्व का जब लघु वर्ण दीर्घ होता है तब आगे के वर्ण दीर्घ होने पर लघु होने लगते हैं। वल्ली का 'व' दीर्घ हुआ अर्थात् 'वे' हुआ तो 'ली' ह्रस्व हो गई। दूसरे मत के अनुसार 'वेलि' शब्द संस्कृत विलास' से बना है। इसकी विकास रेखा यों है—विलास > विलास > विल्ल > वेल्लि > वेलि।

इनमें अन्तःसाक्ष्य के आधार पर पहला मत अधिक संगत प्रतीत होता है।

वेलि साहित्य का वर्गीकरण—राजस्थानी वेलि साहित्य विभिन्न जैन भंडारों और पुस्तकालयों में लिखित प्रतियों के रूप में बिखरा पड़ा है। अब तक पृथ्वीराज कृत 'कृष्ण रुक्मणी की वेलि' ही प्रकाशित होकर विद्वानों के सामने आई है। उसके आधार पर सामान्यतः यह धारणा बना ली गई है कि वेलि-साहित्य शृङ्गारपरक होता है और उसमें विवाह अथवा विलास की ही प्रधानता रहती है पर वास्तव में ऐसी बात नही है। वेलि साहित्य विषय की विविधता को लिए हुए है। विषय की दृष्टि से सम्पूर्ण राजस्थानी वेलि साहित्य को स्थूल रूप से तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) चारणी वेलि साहित्य, (२) जैन वेलि साहित्य, (३) लौकिक वेलि साहित्य।

'चारणी वेलि साहित्य' में एक ओर राजकुल तथा सामन्त कुल के विभिन्न वीरों का यशोगान किया गया है, तो दूसरी ओर विष्णु और शिव के प्रति अपनी भक्ति-भावना भी प्रकट की गई है। 'लौकिक वेलि साहित्य' में रांमदेव जी, आईमाता तथा उनके भक्तो का जीवन चरित वर्णित है।

जैन-वेलि-साहित्य; विषय और शैली की दृष्टि विशिष्टता को लिए हुए है। इसके तीन प्रधान भेद हैं—१. ऐतिहासिक स्तवनात्मक, २. कथानक और ३. उपदेशात्मक।

(१) ऐतिहासिक जैन वेलि साहित्य—इसमें वेलिकारों द्वारा अपने गुरुओं (धर्माचार्यों) का ऐतिहासिक जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है। भट्टारक धर्मदास ने भट्टारक गुणकीर्त्ति की (गुरुवेलि), कांतिविजय की (सुजस वेलि), सकलचन्द्र ने हीरविजयसूरि की (हीरविजयसूरि देशना वेलि), वीरविजय ने शुभविजय की (शुभवेलि), तथा साधुकीर्त्ति ने जिनभद्र सूरि से लेकर जिनचन्द्र सूरि तक की खरतर-गच्छीय पाट-परम्परा का वर्णन करते हुए युगप्रधान जिनचन्द्र सूरि की (सव्वत्थ वेलि प्रबन्ध) जीवन-गाथा को अपने-अपने काव्य का विषय बनाया है। समय-

---

१. कठोपनिषद् में दो अध्याय और छः वल्लियाँ हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के सातवें, आठवें और नवमें प्रपाठक को क्रमशः 'शिक्षावल्ली', 'ब्रह्मान्द्र वल्ली' और 'भृगुवल्ली' कहा गया है।

सुन्दर ने श्रमण होकर भी 'सोमजी निर्वाण वेलि' में संघपति श्रावक सोमजी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। कनकसोम ने 'जइतपद वेलि' में खरतरगच्छ और तपागच्छ के बीच हुई ऐतिहासिक पौषध चर्चा (वि० सं० १६२५ मिगसर वदी १२, आगरा) का वर्णन किया है।

(२) **कथानक जैन वेलि साहित्य**—इसमें जैन कथाओं को काव्य का विषय बनाया गया है। कथाएँ विशेषकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, सती तथा अन्य महापुरुषों से सम्बन्धित हैं। तीर्थंकरों में ऋषभदेव (ऋषभगुण वेलि, आदिनाथ वेलि) नेमिनाथ (नेमिपरमानन्द वेलि, नेमीश्वर की वेलि, नेमीश्वर स्नेह वेलि, नेमिनाथ रसवेलि, नेमि-राजुल बारहमासा वेलि-प्रबन्ध, नेम राजुल वेलि) पार्श्वनाथ (पार्श्वनाथ गुण वेलि) और वर्द्धमान महावीर (वीर वर्द्धमान जिन वेलि, वीर जिनचरित्र वेलि) का आख्यान गाया गया है और चक्रवर्तियों में भरत (भरत की वेलि) बलदेवों में बलभद्र (बलभद्र वेलि) तथा सतियों में चन्दन बाला (चन्दन-बाला वेलि) और राजमती का वृत्त अपनाया गया है। अन्य महापुरुषों में जम्बूस्वामी (जम्बूस्वामी वेलि, प्रभवजम्बू स्वामी वेलि) बाहुबली (लघु बाहुबली वेलि) स्थूलिभद्र (स्थूलिभद्र मोहन वेलि, स्थूलीभद्रनी शीयल वेलि, स्थूलिभद्र कोश्या रस वेलि) रहनेमि (रहनेमि वेल) वल्कलचारी (वल्कलचीर ऋषिवेलि) सुदर्शन (सुदर्शन स्वामीनी वेलि) मल्लिदासनी वेलि) आदि की कथा को काव्यबद्ध किया। तीर्थव्रतादि के महात्म्य को बतलाने के लिए 'सिद्धाचल-सिद्ध वेलि' तथा 'कर्मचूर-व्रतकथा वेलि' की रचना की गई है।

(३) **उपदेशात्मक जैन वेलि साहित्य**—इसमें आध्यात्मिक उपदेश दिया गया है। संसार की सुखद दशा और असारता का वर्णन कर जीव को जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए प्रेरित किया गया है। यह उपदेश इंद्रिय (पंचेन्द्रिय वेलि) गति (चिहुगति वेलि, पंचगति वेलि, वृहद् गर्भ वेलि, जीव वेलड़ी) लेश्या (षट्लेश्या वेलि) गुणस्थान (गुणगणा वेलि) कषाय (चार कषाय वेलि, क्रोध वेलि) भावना (बारह भावना वेलि) आदि का तात्त्विक विश्लेषण कर दिया गया है। 'अमृत वेलिनी सज्झाय' तथा छीहल कृत 'वेलि' में सामान्य रूप से मन को विषय-वासना से हटाकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गई है और ('प्रतिमाधिकार वेलि' में जिन प्रतिमा के पूजने की देशना दी गई है।

वेलि काव्य की सामान्य विशेषताएँ—अन्तःसाक्ष्य के आधार पर वेलि काव्य की सामान्य विशेषताओं का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) वेलि काव्य की परम्परा काफी पुरानी और प्रसिद्ध रही है।[1] यही कारण है कि कवि लोगों ने अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में या अन्त में संज्ञा के रूप में वेलि या 'वेल' शब्द का प्रयोग किया है।

(२) वेलि काव्य का वर्ण्य-विषय प्रमुख रूप से देव तुल्य श्रद्धेय पुरुषों का गुण-गान करना रहा है। ये पुरुष राजा महाराजा तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, सती, धर्माचार्य और लौकिक देवता आदि रहे हैं। जैन वेलियों में जहां केवल 'भव सम्बोधन काजै' उपदेश दिया गया है वहां भी आरम्भ मे तथा अन्त में तीर्थंकरों, धर्माचार्यादि का प्रायः स्तवन कर लिया गया है।

(३) इस वेलि साहित्य का प्रमुख तत्व गेयता है। जैन साधु इसकी रचना कर बहुधा गाते रहे हैं। पाठ करने की परम्परा भी रही है।[2] पृथ्वीराज ने अपनी वेलि में

१—आलोचकों ने पृथ्वीराज कृत 'किसन रुक्मणी री वेलि' को सबसे प्राचीन बतलाया है जो ठीक नहीं है—

(क) डिंगल में लिखित वेलियों में सबसे प्राचीन पृथ्वीराज की किसन रुकमणी की वेलि है—नरोत्तमदास स्वामीः वेलिः प्रस्तावना— पृ० २३

(ख) पृथ्वीराज का यह ग्रन्थ (वेलि) एक परम्परा की स्थापना करता है जिसे राजस्थान तथा व्रजमण्डल के भक्त कवियों ने आगे तक निवाहने का प्रयत्न किया है—
डा० आनन्द प्रकाश दीक्षितः वेलिः भूमिका पृ० ४७

२—१८वीं शदी के कवि जयचन्द ने एक स्थल पर लिखा है कि साधु लोग पृथ्वीराज रासो, वेलि, नागदमण पंचार मान, हरिरस आदि का वाचन क्यों नहीं करते ?

पृथ्वीराज रासौ, 'वेलि' वचनिका, पंचाख्यान न बांचै।
नागदमणि, हरिरस, अंग, सुकन सामुद्रिक सांचै॥
दम काक विचार अंग फरिकै, जै सारक भाषै।
विसहरा पल्लिभेद, द्विपूछि त्रिपुच्छि से भेद फाषैं॥

पाठ विधि तक दी है[1]। आई-पंथ में लोक-वेलियां अब भी गाई जाती हैं।

(४) वेलि-काव्य स्तोत्रों का ही एक रूप प्रतीत होता है, जिसमें दिव्य पुरुषों के साथ साथ लौकिक पुरुषों का वीर-व्यक्तित्व भी समा गया है। वेलिकारों ने रचना के प्रारम्भ या अन्त में वेलि माहात्म्य बतलाया है। ऐतिहासिक चारिणी वेलियां प्रशस्ति बनकर रह गई हैं। उनमें कहीं भी अन्तः साक्ष्य के रूप में 'वेलि' शब्द नहीं आया है। वहां 'वेलियों' छन्द में रचित होने के कारण ही उन्हे 'वेलि' नाम दे दिया गया प्रतीत होता है।

(५) वेलि काव्य विविध छन्दों में लिखा गया है। जैन वेलियों में ढालों की प्रधानता है। मात्रिक छन्द दोहा कुंडलियां, सार, सखी, सरसी, हरिपद भी अपनाये गए हैं। लौकिक वेलियां लोक-धुन प्रधान है।

घूघू कल्प चोर काढ़णो स्वेतोक गणेस, विधि जै कहै।
गाइ उगाल अर मंझारिनी पूजि जै-जै चन्द भागे लहि॥
—मुनि कांतिसागर जी का 'यति जयचन्द और उन की रचनायें शीर्षक लेख।

१. महि सुइई खटमास, प्रात जलि मजे,
अपसपरस हरू, जित-इंद्री (२८०)

(छै मास तक पृथ्वी पर सोवे, प्रातः काल उठकर जल से स्नान कर और सबका स्पर्श त्याग कर—एकाकी मौन धारण कर-तथा जितेन्द्रिय होकर नित्य वेलि का पाठ करे)

(६) वेलि काव्य में दो प्रकार की भाषा के दर्शन होते हैं। एक साहित्यिक डिंगल-अलंकारों से लदी हुई और दूसरी बोलचाल की सरल राजस्थानी, अलंकार विरल पर मधुर और सरस। पहले प्रकार की भाषा चारणी वेलियों का प्रतिनिधित्व करती है तो दूसरे प्रकार की भाषा जैन तथा लौकिक वेलियों का।

वेलि काव्य की प्रबन्धात्मकता एक सामान्य विशेषता है। गीत शैली होते हुए भी प्रबन्ध धारा की रक्षा हुई है। मुक्तक के शरीर में भी प्रबन्ध की आत्मा है।

(८) प्रारम्भ में मंगलाचरण और अन्त में स्वस्ति-वाचन भी वेलि काव्य की एक सामान्य विशेषता है।

उपर्युक्त सामान्य परिचय से यह स्पष्ट है कि जैन वेलि काव्य-परम्परा ने हिन्दी साहित्य के विशिष्ट काव्य-रूप की लुप्त कड़ी को संयोजित किया है! यह वेलि-काव्य छोटे-छोटे गुटको के रूप में विभिन्न दिगम्बर एवं श्वेताम्बर जैन मन्दिरों के शास्त्र भण्डारो में बिखरा पड़ा हैं। मुझे शोध प्रबंध लिखते समय राजस्थान के विभिन्न भंडारों को देखने का सौभाग्य मिला। इधर महावीर भवन, जयपुर के डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल ने राजस्थान के छोटे-बड़े कई भण्डारों में घूमकर वहां के प्राप्य हस्तलिखित ग्रन्थों का ४ भागों में सूची-ग्रन्थ तैयार किया है। इससे कई अलभ्य एवं अज्ञात ग्रन्थ सामने आए है। इस प्रकार के भारत-व्यापी प्रयत्न की नितान्त आवश्यकता है! इससे अन्य काव्य-रूपों की विलुप्त परम्परा भी जुड़ सकेगी।

पद

मूरति देखि सुख पायो। मैं प्रभु तेरी मूरति देखि सुख पायो॥
एक हजार आठ गुन सोहत। लक्षण सहस सुहायो॥टेक॥
जनम जनम के अशुभ करम को। रिनु सब तुरत चुकायो॥
परमानन्द भयो परि पूरित। ज्ञान घटाघट छायो॥१॥
अति गम्भीर गुणानुवाद तुम। मुखकरि जात न गायो॥
जाके सुनत सरदहे प्राणी। कर्म फन्द सुरझायो॥२॥
विकलपता सुगई अब मेरी। निज गुण रतन भजायो॥
जात हतो कोड़ी के बदले। जब लगि परख न आयो॥३॥ (देवीदास)

साहित्य-समीक्षा

मयण पराजय चरिउ

सम्पादक—डा० हीरालाल जैन एम० ए०, डी० लिट० प्रधान सम्पादकीयवक्तव्य—डा० आ० ने० उपाध्ये, अंग्रेजी हिन्दी प्रस्तावना लेखक—डा० हीरालाल जैन, प्रकाशक—भारतीयज्ञानपीठ, काशी, श्री मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला-अपभ्रंश ग्रन्थ नं० ५, सन्—अप्रेल १९६२, पृष्ठ संख्या—१७४, मूल्य—८ रुपये।

'मयण पराजय चरिउ' अपभ्रंश का ललित काव्य है। इसमें सिद्धि रूपी वधू को प्राप्त करने के लिए जिनेन्द्र और कामदेव का युद्ध दिखाया गया है। जिनेन्द्र चरित्रपुरी के राजा हैं और कामदेव भावनगर का, जिनेन्द्र का मुख्य सेनापति सम्यक्त्व है और कामदेव का मोह। दर्शन और ज्ञान सम्यक्त्व के तथा राग और द्वेष काम देव के उपसेनापति हैं। पांच महाव्रत, सात तत्त्व, दशविध धर्म-शुक्ल ध्यान और निर्वेद आदि जिनेन्द्र के प्रमुख भट है। कामदेव के साथ भी मिथ्यात्व, पाँच आस्रव, पांच इन्द्रियां, आर्त-रौद्र ध्यान, अठारह दोष और तीन शल्य आदि बलशाली योद्धा हैं। जिनेन्द्र क्षायक-दर्शन हाथी पर सवार है और मोह मिथ्यात्वरूपी हाथी पर चढा है। जिनेन्द्र के कोई पत्नी नहीं है, मोह के रति और प्रीति नाम की दो पत्नियां हैं। विश्वभर में केवल सिद्धि एक ऐसी रमणी है, जो कामदेव का वरण नहीं करना चाहती, इसी कारण कामदेव ने उसके साथ विवाह करने की हठ ठानी है। सिद्धि जिनेन्द्र से प्रेम करती है; किन्तु उसकी प्रतिज्ञा है कि जब तक कामदेव का समूल नाश न कर लेंगे, मेरे साथ विवाह न कर सकेंगे। जिनेन्द्र ने ऐसा ही किया और वे सिद्धि के साथ विवाह करने में समर्थ हो सके।

'मयण पराजय चरिउ' की इस प्रतीकात्मक शैली के पीछे एक लम्बी परम्परा है। उत्तराध्ययन सूत्र में बिखरी कथायें, छठा श्रुताङ्ग-णाय-धम्मकहाओ, प्राकृतकथा वसुदेव हिण्डी (छठी शताब्दी), हरिभद्र सूरिकृत समरादित्य कथा (८ वीं शती), उद्योतन सूरि की कुवलयमाला कहा (शक सं० ७००) सिद्धर्षिकृत उपमिति भवप्रपंचकथा (वि० सं० ९६२) और सोमप्रभाचार्य की 'मनः करण संलापकथा' (वि० सं० १२४१) वे पूर्व-चिह्न हैं, जिनकी आगे की कड़ी 'मयण पराजय चरिउ' है। दो जैन प्रतीकात्मक नाटक भी हैं जो 'मयण पराजय चरिउ' के पहले लिखे गए। यशःपाल मोढ़ का 'मोह पराजय' (१२२९-३२ ई०) गुजरात के सम्राट् कुमारपाल द्वारा बनवाये गए कुमार विहार में महावीरोत्सव के समय खेला गया था। 'ज्ञान सूर्योदय' अध्यात्म का एक सुन्दर प्रतीकात्मक नाटक है। उसके रचयिता एक जैन साधु वादिचन्द्र सूरि थे।

तुलनात्मक परीक्षण से सिद्ध है कि प्रतीकात्मक शैली के सभी काव्यों और नाटकों में 'मयण पराजय चरिउ' का अपना एक विशिष्ट स्थान है। उसके रचयिता श्री हरदेव एक मंजे हुए कवि तथा जैन सिद्धान्त के ज्ञाता थे। आगे चलकर उन्हीं के वंशज श्री नागदेव ने संस्कृत में मदन पराजय चरित का निर्माण किया था; किन्तु उसमें भी वैसा काव्य सौष्ठव नहीं है। मध्कालीन हिन्दी के जैन कवियों ने अनेक रूपक-काव्यों का निर्माण किया। उनमें अध्यात्म परकता है और लालित्य भी। मयणपराजय चरिउ का उन पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

डा० हीरालाल जैन ने तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। सम्पादन उत्तम और सभी दृष्टियों से पूर्ण है। प्राकृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों के सम्पादन में डा० हीरालाल को प्रामाणिक माना जाता है। मूल का हिन्दी अनुवाद अत्यावश्यक था, उसके बिना हिन्दी-पाठक ग्रन्थ के रसास्वादन से वञ्चित ही रह जाते। सरलभाषा में होने से अनुवाद उपयोगी प्रमाणित होगा। प्रस्तावना अंग्रेजी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में लिखी गई है। उसका अपना एक पृथक् महत्व है। उसे यदि हम एक शोध-निबन्ध कहें तो अत्युक्ति न होगी। उसमें मयण पराजय चरिउ से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विचार किया गया है परिशिष्ट सात भागों में विभक्त है। उसमें प्रस्तावना की आधारभूत मूल सामग्री का संकलन है। इसके अतिरिक्त अर्थ बोधक टिप्पण और शब्द कोष ग्रन्थ के अध्ययन की कुञ्जी हैं। ऐसे आकर्षक,

महत्त्वपूर्ण और उपयोगी प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ काशी धन्यवाद का पात्र है।

भारतीय इतिहास : एक दृष्टि

लेखक—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, लोकोदय ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक—१८५, ग्रन्थमाला सम्पादक—श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, पृष्ठ संख्या—७१४, मूल्य—आठ रुपये।

जैन पुरातत्त्व और साहित्य का भारतीय इतिहास के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस बात को सभी बड़े इतिहासज्ञ स्वीकार कर चुके हैं। किन्तु अभी तक उसका विधिवत् और क्रमिक रूप में अध्ययन नहीं हुआ था। उसके दो मुख्य कारण थे—एक तो जैनों की अपने साहित्य को गोपनीय रखने की प्रवृत्ति और दूसरे लगनशील व्यक्ति का अभाव। समय की गति ने 'गोपनीयता' की आदत को ढीला किया और समय ने ही डा० ज्योतिप्रसाद जैसे लगनशील व्यक्ति को जन्म दिया। डा० साहब का समूचा जीवन जैन इतिहास के अनुसन्धान में बीता है। यह ग्रन्थ उसका प्रतीक है। 'एक दृष्टि' की मौलिकता असंदिग्ध है। उसमें पाठक नवीनता पायेंगे और इतिहासज्ञ अपने स्थापित तथ्यों में परिवर्तन का विचार करेंगे।

नये तथ्य आकर्षक हैं। बिम्बसार और कुणिक तथा चाणक्य और चन्द्रगुप्त को प्राचीन इतिहास के सभी विद्यार्थी जानते होंगे, किन्तु उन्हें यह विदित न होगा कि बिम्बसार भगवान् महावीर के मौसा थे और उनके जीवन का उत्तरार्ध जैनधर्म के प्रचार में ही खप गया था। उन्हें यह भी विदित न होगा कि सम्राट् चन्द्रगुप्त २५ वर्ष निर्बाध शासन करने के उपरान्त जैन साधु होकर दक्षिण चले गए थे। वहां जिस पर्वत पर समाधि मरणपूर्वक उनका स्वर्गवास हुआ, वह आज भी चन्द्रगिरि के नाम से प्रसिद्ध है। डा० ज्योतिप्रसाद ने सिद्ध किया है कि यूनानी सम्राट् सिकन्दर ने पंजाब में फैले दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधुओं से भेंट की थी। कुछ साधु उसके साथ यूनान गए थे। वहां वे जैनविधि का पालन करते हुए दिवंगत हुए। ग्रन्थ में प्रमाणित किया गया है कि अशोक बौद्ध नहीं, अपितु जैन था। मध्यकाल में सम्राट् अकबर पर जैनधर्म का विशेष प्रभाव पड़ा और उसने अपने राज्य में ईद जैसे त्योहार पर कुर्बानी बन्द करवा दी। अकबर पर जैन धर्म के प्रभाव की बात अन्य इतिहासज्ञ भी बता चुके थे, किन्तु उसका समूचा वृतांत प्रामाणिक रूप से इस ग्रन्थ में उपस्थित किया गया है। ऐसे ही ऐसे अनेक तथ्य इस ग्रन्थ में सञ्चित हैं। इतिहास के जिज्ञासु पाठक उनका निष्पक्षभाव से सन्मान करेंगे, ऐसा हमें विश्वास है। भाषा और वाक्यविन्यास की सरलता से अध्ययन सुगम ही है।

ग्रन्थ में दो कमियां भी हैं—पहली तो यह कि अन्त में शब्द संकेत नहीं है, जिसके आधार पर ग्रन्थ का अभीष्ट स्थल सुगमता से प्राप्त कर लिया जाता। और दूसरी यह कि ग्रन्थ में लिये गए उद्धरणों के अपने मूल ग्रन्थ और पृष्ठ आदि का कहीं हवाला नहीं है। यदि दे दिया जाता तो अनुसन्धित्सुओं को पर्याप्त सहायता मिलती। वैसे ग्रन्थ उत्तम है। उसके लोक-प्रसिद्ध होने की कामना करता हूं।

—डा० प्रेमसागर जैन

प्रमाण प्रमेय कलिका

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन-ग्रन्थ मालायाः सप्त चत्वारिंशो ग्रन्थः। मूल लेखक—नरेन्द्रसेन, सम्पादक—दरबारी लाल जैन कोठिया, प्राक्कथन—श्री हीरावल्लभ शास्त्री, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी पृ० ३६, ६०, ८,५३। मूल्य १—५०।

समीक्ष्य ग्रन्थ 'प्रमाण प्रमेय कलिका' का प्रथम प्रकाशित संस्करण है और जैन-भण्डारों से उपलब्ध दो प्रतियों के आधार पर सम्पादित किया गया है। प्राचीन लिपिकारों के स्खलनों का संशोधन सजगता से किया गया है और सर्वथा समीचीन है। विद्वान सम्पादक ने समग्र पाठ को विषय की दृष्टि से अवतरणों में विभक्त किया है और उसका क्रमिक एवं सूक्ष्मतर संकेत विषय-सूची में दिया है। मूल-पाठ में उद्धृत अवतरणों के स्रोत, लोकन्याय, निदर्शन-वाक्य और विशिष्ट तथा लाक्षणिक शब्दों के महत्वपूर्ण संग्रह परिशिष्ट में दिए गए हैं। 'प्रमाण प्रमेय कलिका' तुलनात्मक महत्व की कृति है अतः सम्पादक ने पाद टिप्पणियों में पाठ भेद उल्लेख के अतिरिक्त अन्य दार्शनिक परम्पराओं के ग्रन्थों के तुलनीय प्रसङ्गों के यथा स्थान उद्धरण भी दिए हैं। कहीं कहीं संस्कृत-व्याख्या मूल पाठ

को स्पष्ट करने के लिए काफी उपयोगी हैं । (पृष्ठ ६, १४ आदि ।)

विषय प्रवेश करने वालों के लिए श्री हीरावल्लभ शास्त्री का प्राक्कथन कुछ उपयोगी है और पाठ सम्पादन को समझने के लिए सम्पादकीय द्रष्टव्य है किन्तु इस संस्करण का विशेष उल्लेखनीय अंश इसकी प्रस्तावना है जो 'ग्रन्थ' और 'ग्रन्थकार' दो भागों में लिखित है। 'ग्रन्थकार' काफी संक्षिप्त है किन्तु इसमें नरेन्द्रसेन के विषय में ज्ञात और ज्ञातव्य सामग्री का प्रमाण सङ्कलन है। प्रस्तावना के 'ग्रन्थ' भाग में जैनत्व की विशद समीक्षा है—विशेषतः 'प्रमाण प्रमेय कलिका' के प्रसंग में। संस्कृत न जानने वाले पाठकों के लिए मूल-ग्रंथ गत विषय का बोध प्रस्तावना के इस भाग में हो जाता है। किन्तु मूल-पाठ न समझ पाने वाले जिज्ञासुओं के लिए हिन्दी-अनुवाद उपयोगी होता !

संस्कृत-ग्रन्थों के सम्पादन की कठिनाइयों और उत्प्रेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए, 'प्रमाण प्रमेय कलिका' का यह संस्करण अपने में प्रायः पूर्ण है।—अवधेशकुमार शुक्ल

आत्म-विश्वास

आत्म-विश्वास एक विशिष्ट गुण है। जिनका आत्मा में विश्वास नहीं वे मनुष्य धर्म के उच्चतम शिखर पर चढ़ने के अधिकारी नहीं हैं।

मुझसे क्या हो सकता है ? मैं क्या कर सकता हूँ ? मैं असमर्थ हूँ, दीन-हीन हूँ, ऐसे कुत्सित विचार वाले मनुष्य आत्म-विश्वास के अभाव में कदापि सफल नहीं हो सकते।

सती सीता में यही वह प्रशस्त गुण (आत्म-विश्वास) था जिसके प्रभाव से रावण जैसे पराक्रमी का सर्वस्व स्वाहा हो गया। सती द्रौपदी में वह चिनगारी थी, जिसने एक क्षण में ज्वलन्त-ज्वाला बनकर चीर खीचने वाले दुःशासन के दुरभिमान-द्रुपद (अहंकाररूपी विष वृक्ष) को दग्ध करके ही छोड़ा। सती मैना सुन्दरी में यही तेज था जिससे वज्रमयी फाटक फटाक से खुल गये। सती कमलश्री और मीराबाई के पास यही विषहारी अमोघ मन्त्र था, जिससे विष शरबत हो गया और फुंकारता हुआ भयंकर सर्प सुगन्धित सुमनहार बन गया।

अस्सी वर्ष की बुढ़िया आत्मबल से धीरे-धीरे पैदल चलकर दुर्गम तीर्थराज के दर्शन कर जो पुण्य संचित करती है वह अविश्वासी-जनो को, जो डोली पर चढ़कर यात्रा करने वालों को कदापि सम्भव नहीं है।

बड़े-बड़े महत्वपूर्ण कार्य जिनपर संसार आश्चर्य करता है आत्म-विश्वास के बिना सम्पन्न नहीं हो सकते।

—वर्णी वाणी

आगामी साहित्य

विविध जैन प्रकाशन संस्थाओं से निवेदन है कि वे अपने 'आगामी प्रकाशनों' का पूर्ण परिचय 'अनेकान्त' में भेजने की कृपा करें। इससे यह लाभ होगा कि एक ही ग्रंथ के प्रकाशन में दो संस्थाओं की शक्ति और धन एक साथ व्यय नहीं होंगे। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक दूसरे की गतिविधियों को न जानने के कारण दो संस्थाएँ एक ही ग्रंथ के प्रकाशन में जुट पड़ती हैं। यदि वे पृथक्-पृथक् ग्रंथों को प्रकाशित करें तो विपुल अप्रकाशित जैन साहित्य प्रकाश में आ सकेगा।

व्यवस्थापक
अनेकान्त

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवनदास जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड़्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) सेठ सोहनलाल जी जैन
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५०) श्री वंशीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी,
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल, कलकत्ता
१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) श्री पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री प्रतापमल जी मदनलाल जी पांड्या, कलकत्ता
१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ, कलकत्ता
१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता
१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आत्माराम, पटना
१०१) श्री मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी

'अनेकान्त' के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्याति प्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-प्रेमियों, शिक्षा-संस्थानों, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों और जैनश्रुत में प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे शीघ्र ही अनेकान्त के ग्राहक बनें। इससे समूची जैन-समाज में एक शोध-पत्र प्रतिष्ठा और गौरव के साथ चल सकेगा। भारत के अन्य शोध-पत्रों की तुलना में उसका समुन्नत होना आवश्यक है।

व्यवस्थापक
अनेकान्त

प्रकाशक—प्रेमचन्द, वीर सेवा मन्दिर के लिए नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

द्वै मासिक

दिसम्बर १९६२

अनेकान्त

आदर्श एवं यथार्थ का समन्वय ही मनुष्य को
मनुष्य बनाता है। आज के युग में आदर्श
कुछ है यथार्थ कुछ। —अमरेश

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिये सम्पादक मंडल उत्तरदायी नहीं है।

चित्र-परिचय

मुख पृष्ठ का चित्र—सित्तन्नवासल (पदुदुकोट्टै, दक्षिण भारत) के जैन गुफा-मन्दिर का रंगीन भित्तिचित्र है। इसकी रचना ६ वीं शती में हुई।

सूचना

अनेकान्त के प्रेमी पाठकों से निवेदन है, कि उनके पास अनेकांत की चारकिरणें भेजी जा चुकी हैं, यह पांचवी किरण हैं। जिनका वार्षिक मूल्य अभी तक भी प्राप्त नहीं हुआ, उन्हें अनेकांत की आगामी किरण वी० पी० से भेजी जावेगी। यदि किसी कारण से आप अनेकांत के ग्राहक नहीं बनना चाहते हों, तो तुरन्त ही सूचना देने की कृपा करें। ताकि अनेकांत कार्यालय को वी० पी० भेजने का व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

व्यवस्थापक
'अनेकान्त'
वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।

अनेकान्त की सहायता के मार्ग

१. अनेकान्त वीर सेवा-मन्दिर का ख्याति प्राप्त शोध-पत्र है। जैनसमाज को चाहिए कि वह विवाह, पर्व और महोत्सवों आदि पर अच्छी सहायता प्रदान करे।

२. पाँच सौ, दो सौ इक्यावन और एक सौ एक प्रदान कर संरक्षक, सहायक, और स्थायी सदस्य बनकर अनेकात की आर्थिक समस्या दूर कर उसे गौरवास्पद बनाएं।

—व्यवस्थापक

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य छः रुपया है। अत: प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि वे छह रुपया ही मनीआर्डर से निम्न पते पर भेजें।

मैनेजर
'अनेकान्त' वीर-सेवा-मंदिर
२१ दरियागंज, दिल्ली

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १५ किरण, ५ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६
मगसिर शुक्ला १२, वीर निर्वाण सं० २४८९, विक्रम सं० २०१९ | दिसम्बर सन् १९६२

श्री वीर-जिन-शासन-स्तवन

तव जिन ! शासन-विभवो जयति कलावपि गुणाऽनुशासन-विभवः ।
दोष-कशाऽसनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभा-कृशाऽऽसन विभवः ॥

—समन्तभद्राचार्य

हे वीर जिन ! आपका शासन-माहात्म्य—आपके प्रवचन का यथावस्थित पदार्थों के प्रतिपादन-स्वरूप गौरव—कलिकाल में भी जय को प्राप्त है—सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्त रहा है—उसके प्रभाव से गुणों में अनुशासन-प्राप्त शिष्यजनों का भव विनष्ट हुआ है—संसार परिभ्रमण सदा के लिए छूटा है—इतना ही नहीं; किन्तु जो दोष रूप चावकों का निराकरण करने में समर्थ हैं—चाबुकों के समान पीड़ाकारी काम-क्रोधादि दोषों को अपने पास फटकने नहीं देते—और अपने ज्ञानादि तेज से जिन्होंने आसन विभुओं को—लोक के प्रसिद्ध नायकों को—निस्तेज किया है वे गणधर देवादिक भी आपके इस शासन-माहात्म्य की स्तुति करते हैं ।

*

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती की बिम्ब योजना

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, आरा

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त ग्रंथों के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, और द्रव्यसंग्रह आदि सैद्धान्तिक ग्रंथ उपलब्ध हैं। इन ग्रंथों में जीव और कर्म की विभिन्न अवस्थाओं का विस्तृत और सुन्दर निरूपण किया गया है। इन ग्रंथों की विशेषता यह भी है कि सैद्धान्तिक ग्रन्थ होने पर भी इसमें काव्यात्मक सौष्ठव पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। प्रस्तुत निबन्ध में काव्य-सौन्दर्य के स्पष्टीकरण के हेतु इनकी बिम्बयोजना पर विचार किया जायगा।

मनीषियों का अभिमत है कि विशुद्ध रसात्मक काव्य साहित्य के अतिरिक्त आचार, सिद्धांत, दर्शन और नीति-मूलक ग्रंथों में भी काव्य-सौन्दर्य यथेष्ट मात्रा में वर्तमान है। जीवन और जगत् का विस्तार एवं रूपमाधुर्य की अनुभूति इस कोटि के साहित्य में कम नहीं है। लेखक अपनी भावनाओं और सिद्धान्तों के स्फोटन के निमित्त बिम्बों, कल्पनाओं एवं अलंकारों की योजना करते हैं, जिससे सैद्धांतिक रचनाओं में भी काव्यात्मक चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण पाश्चात्य विचारक वेन्सन सिमण्ड, गोथे, रस्किन और मैथ्यू आर्नल्ड ने धर्म और सदाचार को काव्य का आवश्यक अंग माना है। स्कॉट जेम्स ने अपनी "The making of Literature" नामक पुस्तक में बतलाया है "The feeling of the beautiful according to Ruskin, does not depend on the senses, nor on the intellect, but on the heart, and is due to the sense of reverence, gratitude and joyfulness that arises from recognition of the handwork of God in the object of nature." अर्थात् रस्किन के अनुसार सौन्दर्यानुभूति इन्द्रियों और बुद्धि पर अवलम्बित न होकर हृदय पर आधारित रहती है। इसकी उत्पत्ति कला के प्रति श्रद्धा कृतज्ञता और प्रसन्नता के कारण होती है। वेन्सन ने कहा है—"All literature answers to something in life, some habitual forms of human expression." अर्थात् साहित्य जीवन और मानवीय व्यवहारों पर प्रकाश डालता है। अतएव स्पष्ट है कि सैद्धांतिक ग्रन्थों में भी काव्य सौन्दर्य का पाया जाना सम्भव है।

काव्य और शास्त्रकार अपनी अनुभूति को बिम्बों के माध्यम से ही पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं। यह सत्य है कि जितना स्पष्ट और स्वच्छ बिम्ब रहता है, अनुभूति भी उतनी ही स्पष्ट और स्वच्छ होती है।

B. Day Lewis ने अपनी 'The Poetic Image' पुस्तक में बिम्ब की परिभाषा देते हुए लिखा है—"The poetic image is a picture in words touched with some sensuous quality."[1] अर्थात् बिम्ब के शब्द मित्र हैं, जो भावनाओं के स्पष्टीकरण हेतु या उन्हें मूर्तरूप प्रदान करने के लिए कवि या शास्त्रकार के मानस में अंकित होते हैं। काव्यात्मक भावनाओं की वास्तविक अभिव्यञ्जना बिम्बों द्वारा संभव है।

बिम्ब शब्द कवि की उन मानस प्रतिमाओं का पर्याय है जो काव्यात्मक संवेदनों को स्पष्ट करने के लिए मूर्तिक रूप में साकार होते हैं। कवि या शास्त्रकार अपनी अनुभूति को पाठकों की अनुभूति बनाने के लिए बिम्ब विधान की योजना करता है। वास्तविकता यह है कि जहाँ शब्द अर्थ-ग्रहण के अलावा और कुछ कहने में समर्थ हो, वहाँ शब्द बिम्ब बन जाता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि विशेष प्रकार के अर्थवान शब्द ही बिम्ब हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने विषयों की दृष्टि से बिम्बों का अध्ययन किया है। ऐसी वस्तु, जो विषयी में बार-बार एक ही प्रकार के मनोवेगों को जाग्रत करे, उसे उस भाव का बिम्ब कहा है। प्रक्रिया यों है कि विषयी के मन में जब-जब एक विशेष प्रकार का भाव उठेगा, तब-तब उसके सामने उससे तुल्यार्थता रखने वाली वैसी ही वस्तु हो जायगी। जैसे डरपोक व्यक्ति जब भी अन्धकार में जायगा

1. The Poetic Image. p. 19.

उसके सामने ठूंठ भी भूत बन जायगा। इसी तरह किसी वस्तु विशेष को अपनी भावनाओं के प्रक्षेपण से उस रूप में ग्रहण कर लेना, जो उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है, बिम्ब-विधान है। बिम्ब-विधान-उपमान से भिन्न है। इसका क्षेत्र भी उपमान की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

आलोचकों का मत है कि उपमान अपने भीतर जितना अर्थ ग्रहण करता है, उससे कहीं अधिक अर्थ बिम्बविधान के पेट में पैठ जाता है। उपमान शब्द यह प्रकट करता है कि जहाँ तुलना हो, वहीं इसका प्रयोग उचित है और उन्हीं अलंकारों में इसका प्रयोग पाया जाता है जो, औपम्य-गर्भ है, किन्तु बिम्ब-विधान व्यापक है। इसका प्रयोग सभी अलंकारों में पाया जाता है। कवि या शास्त्रकार किसी विशेष प्रतिमा या बिम्ब के द्वारा किसी भी मूर्तिभाव को चमत्कारी ढंग से अभिव्यक्त करता है। यही कारण है कि एक शब्द, एक वाक्य, एक सन्दर्भ और एक ग्रंथ का समस्त विषय भी बिम्ब का कार्य करता है। बिम्ब के विषय जीवन के सभी क्षेत्रों से लिये जा सकते है; पर इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि बिम्बों के माध्यम से वस्तुओं के रूप और गुण का अनुभव तीव्र हो सके।

भावों का उत्कर्ष दिखलाने, उन्हें तीव्र करने, व्यञ्जित करने, सुबोध तथा प्राञ्जल बनाने के लिए बिम्बों की आवश्यकता होती है। अमूर्त से अमूर्त भावनाएं भी बिम्बों के माध्यम से साकार रूप धारण कर प्रस्फुटित हो जाती हैं। अप्रस्तुत योजना और वाक्यवक्रता के कार्यों का भी सम्पादन बिम्बविधान द्वारा सम्पन्न होता है। भाषा और चिन्तन के मूल उपादान बिम्ब ही हैं।

बिम्ब या प्रतिमाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है। उद्भव के आधार पर बिम्ब दो प्रकार के होते हैं—स्मृतिजन्य और स्वरचित। ज्ञानप्राप्ति के साधनों के अनुसार भी बिम्ब दो प्रकार के माने गये हैं—ऐन्द्रिक और अतीन्द्रिय। ऐन्द्रिक बिम्बों के पाँच भेद हैं—(१) स्पार्शिक या शीतोष्ण बोधक बिम्ब, (२) रासनिक बिम्ब, (३) घ्राणिक बिम्ब, (४) चाक्षुष बिम्ब और (५) श्रावण बिम्ब।

आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में सादृश्यमूलक बिम्बों का प्रयोग अधिक किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों में यथातथ्य और स्वच्छ बिम्बों का प्रचुर परिमाण में प्रयोग हुआ है।

स्पार्शिक बिम्ब—इस कोटि के बिम्ब पर्याप्त मात्रा में आये हैं। इस प्रकार के बिम्बों का प्रधान कार्य स्पर्शन-इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य पदार्थ की प्रतिमा—बिम्ब से किसी विशेष भाव अथवा सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करना है। यथा—

सम्मत्तरयणपव्वयसिहराबो[1]—सासादन गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए एक बिम्ब उपस्थित किया है कि पर्वत से गिरकर भूमि को प्राप्त न होने की स्थिति अर्थात् मध्यवर्ती अवस्था—सासादन है। बात यह है कि जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, तब तक मध्यवर्ती स्थिति सासादनगुण-स्थान की है। अतः सासादनगुणस्थान को हृदयंगम करने के लिए आचार्य ने 'पर्वत से च्युत और भूमि को अप्राप्त' इस अव्यक्त अवस्था रूप मानस प्रतिमा द्वारा अनन्तानु-बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ में से किसी भी कषाय के उदय से सम्यक्त्व की विराधना और मिथ्यात्व की अप्राप्ति की सूचना दी है। पर्वत को रत्न पर्वत कहा है, जो स्पष्टतः सम्यक्त्व का द्योतक है और पर्वत तथा भूमि की मध्य स्थिति अव्यक्त अतत्त्व-श्रद्धान की अभिव्यञ्जक है। बिम्ब पर्याप्त स्वच्छ है, मध्य स्थिति का सादृश्य लेकर अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धान को स्पष्ट किया है। पर्वत की चोटी से कोई भी व्यक्ति अपनी किसी भूल से ही गिरता है—पैर लड़खड़ाने या अन्य किसी कारण से अपने को न संभाल सकने से पतन होता है, इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्व या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त्तकाल में से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवली शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय आने से सम्यक्त्व से पतन होता है। यहां मध्यवर्ती अवस्था का बिम्ब अव्यक्त अतत्त्व श्रद्धानरूप सासादन के स्वरूप को स्पष्ट कर रहा है।

विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं[2]—निर्मल ध्यानाग्नि की शिखा लपटों से। यहाँ कर्म बन्धन के कारण होने वाले

---

१. गोम्मटसार-जीवकाण्ड गाथा २०

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा० ५७

क्लेश, दुःख और सन्ताप का मूर्तिमान रूप दिखलाने के लिए वन बिम्ब की योजना की है। वन जैसे विराट्, विशाल और भयंकर होता है तथा इसमें नाना तरह के हिंसक पशु व्याप्त रहते हैं; उसी प्रकार कर्मबन्धन भी स्थिति और अनुभागबन्ध की अपेक्षा सघन और भयंकर है। नाना प्रकार के कष्ट, जन्म-मरण आदि कर्मों के कारण ही होते हैं। अतः वन बिम्ब कर्मों का साङ्गोपाङ्ग स्वरूप उपस्थित करता है।

वन को भस्म कर मैदान तैयार किया जाता है। भस्म करने के लिए अग्नि की आवश्यकता होती है। अतः यहाँ ध्यान को अग्नि की लपटों का बिम्ब दिया गया है। कर्मों का विनाश, उनकी गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन और अनुभागकाण्डकखण्डन आदि कार्य अत्यन्त निर्मल ध्यानरूपी अग्नि की शिखाओं की सहायता से सम्पन्न होता है। अतएव ध्यान को अग्निशिखा और कर्म को वन का बिम्ब दिया गया है।

कम्मरय[1]—कर्मरज। कर्मों का स्वरूप और स्वभाव बतलाने के लिए रज-धूलि का बिम्ब उपस्थित किया गया है। धूलि का कार्य किसी भी स्वच्छ वस्तु को मलिन करना है। यदि वस्तु चिकनी होगी तो उस पर धूलि और अधिक चिपकेगी तथा उस वस्तु को अधिक समय तक मलिन बनाये रखेगी। इसी प्रकार राग-द्वेष रूपी तैल से लिप्त आत्मा में कर्म-रज चिपकती है और आत्मा को मलिन बना उसके ज्ञान, दर्शन और सुखादि को आच्छादित कर देती है। आचार्य ने अयोगकेवली का स्वरूप बतलाते हुए कर्मों की निर्जरा प्रदर्शित करने के लिए 'कम्मरयविप्पमुक्को'—कर्म रज से रहित कहा है। रज का बिम्ब कर्मों के सम्बन्ध में पूर्ण स्वच्छ और साङ्गोपाङ्ग चित्र उपस्थित करता है। रज-धूलि जिस प्रकार किसी स्वच्छ वस्तु को आच्छादित कर मलिन बना देती है, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा को मलिन बनाते हैं। रज द्वारा कर्मों का स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णयुक्त होना भी सिद्ध होता है। रज बिम्ब यथार्थ है।

कावलियं[2]—कावटिका। शरीर को आत्मा का भारवाही बतलाने के लिए कावड़ी का बिम्ब उपस्थित किया गया है जिस प्रकार कावड़ी द्वारा मजदूर निरन्तर बोझा ढोता रहता है, और उससे रहित होने पर सुखी होता है; उसी प्रकार यह संसारी जीव काय के द्वारा कर्मरूपी बोझा को नाना गतियों में लिये चलता है तथा काय और कर्म के अभाव में परम सुखी होता है। यद्यपि गाथा में कावड़ी का दृष्टान्त दिया गया प्रतीत होता है, पर यह वास्तव में बिम्ब है। कावड़ी शब्द हमारे मानस पटल में एक ऐसी प्रतिमा अंकित कर देता है, जो भारवाहक की भावभूमि का पूर्ण चित्र है; उसकी बाह्योन्मुखी स्वाभाविक प्रतिक्रियों का बिम्ब है। इस बिम्ब द्वारा काय—शरीर का स्वभाव, क्रिया-प्रक्रियाएं और उसकी बाह्योपाधि स्पष्ट हो जाती है।

तिणकारिसिट्ठपागग्गि[3]—तृण-कारीष-इष्टपाक-अग्नि। पुरुषवेद स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में होने वाले कषाय परिणामों की तीव्रता और मन्दता व्यक्त करने के लिए उक्त बिम्ब आये हैं। पुरुषवेद में होने वाले कषायभावों का स्वरूप प्रकट करने के लिए तृण-अग्नि का बिम्ब उपस्थित किया है। तृणाग्नि कुछ समय तक प्रज्वलित रहती है, पुनः शान्ति हो जाती है। एक क्षण के लिए ही प्रकाशित होती है, साथ ही यह एक विशेषता भी है कि थोड़ी सी हवा के चलने या किसी अन्य निमित्त के मिलने से तृणाग्नि प्रज्वलित हो जाती है। इसी प्रकार पुरुषवेद में थोड़े से निमित्त के मिलने से राग उत्पन्न हो जाता है; पर यह रागभाव टिकाऊ नहीं होता; क्षणविध्वंशी होता है। तृणाग्नि के समान क्षण भर में प्रज्वलित और क्षणभर में शान्त होने वाला होता है। स्त्रीवेद में होने वाले कषाय परिणाम कारीष अग्नि के समान हैं। कारीष अग्नि—अंगारे की अग्नि राख से दबी रहने पर भी दहकती रहती है और पर्याप्त समय के पश्चात् शान्त होती है; इसी प्रकार स्त्रीवेद में रागभाव भीतर ही भीतर प्रज्वलित रहता है; पर्याप्त समय के पश्चात् राग शान्त होता है। कारीष अग्नि की विशेषता यह है कि यह कुछ अधिक या महत् निमित्त मिलने पर उद्दीप्त होती है तथा इसका उपशमन भी कुछ अधिक समय के बाद होता है। यह अग्नि अधिक

१. वही गाथा ६५
२. वही गाथा २०१
३. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा० २७५

समय तक रहनेवाली होती है। इसी प्रकार स्त्रीवेद में कषाय परिणाम अधिक समय तक आत्मा को कलुषित करते रहते हैं।

नपुंसकवेद में होने वाले कषाय परिणामों की कलुषिता को अवा—भट्टा में पकती हुई ईंट की अग्नि के समान बताया है। ईंट की अग्नि को हवा आदि के निमित्त की आवश्यकता नहीं; यह बिना किसी निमित्त के ही प्रज्ज्वलित रहती है। इसी प्रकार नपुंसकवेद को कषायोद्रेक के लिए निमित्त की आवश्यकता नहीं। इस वेद वाले प्राणी के परिणाम यों ही प्रतिक्षण कलुषित रहते हैं। यद्यपि उक्त तीनों प्रकार की अग्नियाँ यहाँ उपमान हैं और इन परिचित मूर्तिक उपमानों द्वारा वेदों में होने वाले कषाय भावों का विश्लेषण किया है; तो भी इन तीनों को हम बिम्ब मानते है। यतः ये तीनों उपमान पाठकों के समक्ष भावों को परखने के लिए एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं। ये तीनों बिम्ब इतने स्वच्छ और गम्भीर हैं कि आधुनिक मनोविज्ञान के समान पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में होने वाले परिणामोद्रेक को स्पष्ट करते है।

कम्मखेत्तं[1]—कषाय के स्पष्टीकरण के लिए कर्म को खेत—क्षेत्र का बिम्ब दिया है। खेत को उपजाऊ बनाने के लिए जोता जाता है, उसमें खाद भी दी जाती है तथा उसे चौरस किया जाता है। इसी प्रकार कषायकर्म को अधिक अनुभागशक्ति और स्थितिबन्धवाला बनाती है। यह एक प्रकार से हल का कार्य करती है; हल द्वारा जोतने पर ही खेत में अच्छी फसल उत्पन्न होती है, इसी प्रकार सुख-दुःख की भावनाओं की उत्पत्ति कर्मक्षेत्र के कर्षण से होती है। क्षेत्रबिम्ब खेत की मात्र लम्बाई-चोड़ाई का ही चित्र सामने उपस्थित नहीं करता; बल्कि खेत के उपजाऊ होने और उसे उर्वरा शक्ति युक्त बनाने या होने का भी चित्र प्रस्तुत करता है।

सिलपुढविभेद[2]......। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलनक्रोध की शक्ति को स्पष्ट करने के हेतु पत्थररेखा पृथ्वीरेखा धूलिरेखा और जलरेखा के बिम्ब प्रस्तुत किये गये हैं। पत्थररेखा का बिम्ब मात्र कठोरता का ही सूचक नहीं, अपितु उसके स्थायित्व का द्योतक है। पत्थररेखा जितनी स्थायी और अमिट होती है, क्रोध का उतना ही उग्र एवं अधिक समय तक रहना अनन्तानुबन्धी रूप है। पत्थररेखा हमारे समक्ष तीन चित्र उपस्थित करती है—(१) कठोरता (२) गहनता और (३) स्थायित्व का। अनन्तानुबन्धी क्रोध कषाय में भी ये तीनों बातें वर्तमान हैं। इस कोटि का क्रोध कठोर होता है, गहरा होता है और अधिक समय तक रहने वाला होता है। इसी कारण यह क्रोध सम्यक्त्व की उत्पत्ति में बाधक होता है।

पृथ्वीरेखा का बिम्ब भी तीन चित्र प्रस्तुत करता है।

१. अल्प काठिन्य—स्पर्शन इन्द्रिय जन्य अनुभूति से अवगत होता है कि पृथ्वी रेखा में कठोरता अल्प परिमाण में रहती है। पत्थररेखा का स्पर्श कठोर होता है; पर पृथ्वीरेखा का स्पर्श कुछ मृदु।

(२) गाम्भीर्य—पृथ्वीरेखा भी गहरी हो सकती है, पर इस गहराई में कठोरता अल्प परिमाण में रहने से स्थायित्व नहीं रहता। गहराई तभी अपना महत्व रखती है जब उसमें कठोरता रहे। कठोरता के अभाव में गहराई शीघ्र ही समाप्त हो जाती है।

(३) स्थायित्व के लिए काठिन्य का रहना आवश्यक है। पृथ्वीरेखा में अमिट होने की शक्ति नहीं है। अतः पृथ्वीरेखा का बिम्ब अप्रत्याख्यानावरण क्रोध की सम्यक् अभिव्यञ्जना करने में सक्षम है। यह कषाय देशचारित्र की उत्पत्ति में रुकावट डालती है।

धूलि रेखा का बिम्ब तीन बातें प्रकट करता है --

१. मृदुता—पृथ्वीरेखा की अपेक्षा धूलिरेखा मृदु होती है।

२. अधिक गहनता का अभाव—धूलिरेखा में अधिक गहनता नहीं पाई जाती। यह रेखा अधिक गहरी नहीं हो सकती।

३. स्थायित्व की अल्पता—धूलि रेखा में कठोरता और गहराई इन दोनों गुणों के नाममात्र रहने से स्थायित्व की कमी रहती है। अतः इस कोटि का प्रत्याख्यान क्रोध होता है। यह क्रोध भी शीघ्र ही दूर होने वाला होता है। यह सकल चारित्र की उत्पत्ति में बाधक होता है।

जलरेखा का बिम्ब भी तीन बातें उपस्थित करता है—

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २८१

२. वही गाथा २८३-२८५

१. पूर्ण मृदुता—जलरेखा अत्यन्त मृदु होती है।

२. गहनता का प्रायः अभाव—जल रेखा गहरी नहीं होती।

३. अस्थायित्व—जलरेखा अस्थायी होती है, जल में रेखा खींचते जाइये और वह नष्ट होती जायगी। अतः क्रोध की ऐसी परिणति, जिसमें परिणाम उग्र न हों तथा तत्काल ही परिणामों में शांति उत्पन्न हो जाय। इस प्रकार का क्रोध मन्द और क्षणभंगुर होता है। यह संज्वलनक्रोध यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति में बाधक होता है।

पत्थर, हड्डी, काठ और वेंत अपनी कठोरता की हीनाधिकता के कारण क्रमशः अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन मान का यथार्थ स्वरूप उपस्थित करते है। बांस की जड़, मेढ़े का सींग, गोमूत्र और खुरपा अपनी वक्रता के परिणामानुसार माया के चारों रूपों की अभिव्यंजना करते हैं। यहाँ उपमानों का अवलम्बन लेकर बिम्बों को उपस्थित किया गया है। इन बिम्बों द्वारा उपमान की अपेक्षा भावों का उत्कर्ष एवं कषायों का स्वरूपानुभव और गुणानुभव अधिक स्पष्ट रूप में होता है। यदि उक्त चारों को उपमान मान लिया जाय तो कषायों के रूपानुभव को तीव्रता तो प्राप्त हो सकती है, पर क्रिया-व्यापारों की व्यापकता एवं विविधता मूर्तिमान होकर सामने उपस्थित नही हो सकती। अतः आचार्य नेमिचन्द्र के उक्त उपमान बिम्ब का कार्य कर रहे हैं, इनके द्वारा मनोवेगों की गहनता और स्थायित्व का स्पष्ट बोध होता है।

लिंपइ[1]—लेश्या के स्वरूप के स्पष्टीकरण के हेतु 'लिंपइ' शब्द द्वारा एक सुन्दर और स्पष्ट बिम्ब उपस्थित हुआ है। दीवाल धरातल या अन्य किसी लम्बाई-चौड़ाई युक्त रूपाकृतिवाली वस्तु को लिप्त किया जाता है। अतः इस बिम्ब द्वारा निम्न बातें उपस्थित होती हैं:—

१. किसी मूर्त्तिक वस्तु को लिप्त किया जाता है—लिप्त करने के लिए किसी आधार का होना आवश्यक है।

२. लेप को ग्रहण करने की योग्यता—रूक्षादि गुणों सद्भाव।

३. लेप स्वयं भौतिक एवं लिप्त करने की योग्यता सम्पन्न होता है।

इस बिम्ब के उक्त तीनों चित्रों से स्पष्ट है कि लेश्या कर्मपरिणति से युक्त अशुद्ध आत्मा में ही पायी जाती है। शुद्धात्मा में लेश्या का अभाव है। कषाय और योग के उदय से अनुरंजित आत्म प्रवृत्ति में इस प्रकार की योग्यता विद्यमान है, जिससे आत्मा पुण्य-पाप से लिप्त हो जाती है। अशुद्ध आत्मा में ही कर्मबन्धापेक्षया स्निग्ध, रूक्षत्वादि गुण पाये जाते हैं, अतएव विकारों और मनोरागों की उत्पत्ति होती है। ये विकार और मनोराग आत्मा को पुण्य-पापमय कर्मों से लिप्त करते हैं। अतएव 'लिंपइ' शब्द बिम्ब है और यह हमारे मूल मनोभावों के रागात्मक स्तरों का सफल आकलन करता है।

कणओवलाए[2]—भवसिद्ध का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उपमान के रूप में इस शब्द बिम्ब को प्रस्तुत किया गया है। कनकोपल में निमित्त मिलने पर शुद्ध स्वर्णरूप होने की योग्यता है, पर निमित्त के अभाव में इस योग्यता की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। इसी प्रकार जिन जीवों में अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करने की योग्यता तो है, पर जो इस योग्यता को निमित्ताभाव के कारण कभी प्राप्त नहीं कर सकते, भवसिद्ध हैं। इस बिम्ब द्वारा निम्न चित्र उपस्थित होते हैं—

१. अशुद्धता है।

२. अशुद्धता का दूर होना सम्भव है।

३. अशुद्धता को दूर करने के लिए कारण-कलाप सम्भव है, पर इस प्रकार के निमित्त ही नहीं मिल पाते, जिससे वह अशुद्धता दूर हो सके।

४. कनकोपल का मैल साफ करने के लिए रासायनिक पदार्थों का उपयोग किया जाता है, इसी तरह आत्मा के मैल दूर करने के लिए रत्नत्रय को धारण किया जाता है।

मुहकमल[3]—मुख की मृदुता और सुषमा का भाव व्यक्त करने के लिए साहित्यकार कमल का बिम्ब उपस्थित करते हैं। कमल में कोमलता, सुषमा, सुगन्धि, आदि गुण पाये जाते हैं; तीर्थंकर महावीर के मुख में भी इन

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४४८

२. वही गाथा ५५७

३. वही गाथा ७२७

गुणों का सद्भाव दिखलाया गया है सन्ध्या समय कमल के संकुचित हो जाने से भ्रमर कमल में ही बंध जाते हैं; पर प्रातःकाल सूर्योदय के होते ही निकल पड़ते हैं। तीर्थंकर महावीर के मुख से भी दिव्यध्वनि निकली है और द्वादशांगवाणी का संकलन उन्हीं की दिव्यध्वनि से हुआ है। कमल की "केन मस्तकेन मल्यते धार्यते कमलम्"[1] व्युत्पत्ति के अनुसार कमल मस्तक पर धारण किया जाता हैं; तीर्थङ्कर का लावण्य पूर्ण तेजस्वी मुख भी वन्दनीय होता है। अतएव आचार्य नेमिचन्द्र ने स्पर्शन इन्द्रियजन्य अनुभूति के आधार पर कमल का सादृश्य लेकर तीर्थंकर महावीर के मुख में कमल-बिम्ब का आयोजन किया है।

सुदसायर[2]—द्वादशाङ्गवाणी की विशालता और *गम्भीरता प्रकट करने के लिए सागर की बिम्ब योजना* की गयी है। इस बिम्ब द्वारा निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं—
१. समुद्र विशाल होता है, द्वादशाङ्गवाणी भी विशाल है। जितने पदार्थों का निरूपण केवलज्ञान करता है, श्रुतज्ञान भी उतने ही विषयों का निरूपण करता है।

२. सागर में अमृत निकलता है, द्वादशाङ्गवाणी अजर-अमर बनाती है। जिस प्रकार समुद्र से उत्पन्न अमृत को प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त नही कर सकता है, उसी प्रकार श्रुत-ज्ञान के अध्ययन के अनन्तर भी जब तक आत्मानुभूति की प्राप्ति नहीं होती, तब तक अजर-अमरपद—निर्वाण प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

३. सागर रत्नाकर कहलाता है, श्रुतज्ञान—द्वादशांग-वाणी भी रत्नत्रय रूपी मणि-माणक्यों का भण्डार है।

४. सागर विशाल होने के साथ गम्भीर भी होता है। द्वादशांगवाणी भी ग्रंथ परिमाण की दृष्टि से जितनी विशाल है, उतनी ही गम्भीर भी है। एक-एक ग्रन्थ के अध्ययन में जीवन की समाप्ति की जा सकती है।

रासनिक बिम्ब—इस श्रेणी के बिम्बों में रसना इन्द्रियजन्य अनुभूति के आधार पर भावों की अभिव्यंजना की जाती है। इस कोटि के बिम्ब भी उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक मूलक होते हैं। बिम्बों का उपादान तत्त्व सादृश्य या वैसादृश्य द्वारा भावों की साकार और सघन अभिव्यक्ति है। आचार्य नेमिचन्द्र ने इस कोटि के थोड़े ही बिम्ब उपस्थित किये हैं।

महुरं खु रसं जहा जरिदो[3]—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से व्यक्ति को धर्म स्वरूप, पित्तज्वर से आक्रान्त व्यक्ति को मधुररस के समान अरुचिकर प्रतीत होता है। यहाँ 'महुरं खु रसं जहा जरिदो' बिम्ब द्वारा निम्न अनुभूतियों पर प्रकाश पड़ना—

१. बाह्य रूप में स्वस्थ और भीतर से अस्वस्थ दिख-लायी पड़ना।

२. अन्तरंग अस्वस्थता के कारण यथार्थानुभव की कमी।

३. अस्वस्थता के कारण रसनेन्द्रिय सम्बन्धी अनुभूति *की विपरीतता।*

४, ज्वर के कारण अन्तरंग ज्ञानानुभूति की प्रक्रिया में विशृङ्खलता।

५. ज्ञानात्मक, वेदनात्मक और क्रियात्मक मनोवृत्तियों का प्रभावहीन होना; परिणामस्वरूप सहजक्रियाओं में भी उपाधियुक्त परिवर्तन का आ जाना।

६. मूल प्रवृत्तियों के विकृत होने से स्थायी भावों के संस्कारों में विपरीतता और संवेगजन्य अनुभूतियों में क्षीणता। फलस्वरूप संवेदन शक्ति की अपूर्णता के कारण अपूर्ण या अधूरे व्यक्तित्व का निर्माण होना।

बिम्बगत उक्त अनुभूतियों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व-प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्यापरिणामों का अनुभव करने वाले व्यक्ति को अन्तरंग अस्वस्थता के कारण धर्म अच्छा नहीं लगता। मिथ्यात्व-प्रकृति मानसिक ग्रन्थि है, इसके कारण ऊपर से स्वस्थ रहने पर भी अन्तरंग में धर्मवृत्ति रुचिकर प्रतीत नहीं होती। बिम्ब सम्यग्दृष्टि के समान आचरण करने वाले व्यक्ति की अन्तरंग परिणति की यथार्थता प्रकट कर रहा है। यहाँ अभिधेय अर्थ को आस्वादनानुभूति द्वारा *स्पष्ट किया गया है।*

दहिगुडमिव वामिस्स[4]—दही गुड़ के मिश्रित खट-मिट्ठे स्वाद की अनुभूति द्वारा तृतीय गुणस्थान में जात्यन्तर

१. नाममाला का अमरकीर्ति का भाष्य पृष्ठ १०
२. कर्मकाण्ड गाथा ७८५
३. जीवकाण्ड गाथा १७
४. जीवकाण्ड गाथा २२

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप में होने वाली मिश्र परिणति का चित्र उपस्थित किया गया है। यह बिम्ब निम्न तथ्यों पर प्रकाश डालता है—

१. मिश्रण रहनेसे पृथक्करण असम्भव।

२. जात्यन्तर स्वाद—विचित्रानुभूति।

३. एक ही समय में दो विभिन्न प्रकार की विपरीत अनुभूतियों का मिश्रित रूप में रहना।

४. व्यक्तित्व निर्माण में सहायक सिद्ध होने वाले विचित्र एवं मिश्रित स्थायी भावों का संयोग—तृतीय गुणस्थान में मिश्रित परिणति रहने से जात्यन्तर संवेग और अनुभूतियों द्वारा मिश्रित प्रभाव।

गुडखंडसक्करामिय[1]—अघातिया कर्मों में प्रशस्त—पुण्य प्रकृतियों की शुभफलदायक शक्तियों का विवेचन करते हुए गुड, खांड, मिश्री और अमृत के स्वाद का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। गुड, खांड, मिश्री एवं अमृत जिस प्रकार स्वाद-मधुरिमा में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में भी उत्तरोत्तर सुखाधिक्य पाया जाता है। पाप प्रकृतियों के दुःखाधिक्य के विश्लेषण के लिए निम्ब, कांजीर, विष और हलाहल के स्वाद की कटुता की हीनाधिकता का बिम्ब उपस्थित किया है। इन बिम्बों द्वारा निम्न तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—

१. अच्छी वस्तुओं के स्वाद में उत्तरोत्तर माधुर्य एवं कटु वस्तुओं के स्वाद में उत्तरोत्तर कटुता की अनुभूति होती है।

२. सापेक्ष अनुभूति की स्थापना। समस्त सृष्टि की सत्ता के मूल में राग तत्त्व व्याप्त है और इसके मूलतः चार भेद हैं—सामान्य, तीव्र तीव्रतर और तीव्रतम्। गुड, खांड, आदि चारों पदार्थ सामान्य, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम इन चारों शुभरागात्मक अनुभूतियों की अभिव्यंजना करते हैं। इसी प्रकार निम्ब, कांजीर, विष और हालाहल अशुभराग की स्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

३. मूर्तिक पदार्थों का आस्वादन भी मूर्तिक रूप में ही होता है। गुड़, खांड आदि मूर्त्तिक पदार्थ हैं, ये कर्म प्रकृतियों की अनुभागशक्ति का मूर्तिक रूप में विश्लेषण उपस्थित करते हैं।

४. दृष्टान्त जब बिम्ब बनते हैं, उस समय उनकी आवेग कोटियाँ औदात्य की ओर झुकी रहती हैं। अन्तरंग धारणाएँ, जिनका सम्बन्ध प्रस्तुतों के साथ है, अप्रस्तुत दृष्टान्त बिम्ब द्वारा सहज में प्रयोग स्थान, परिस्थिति, रीति एवं उद्देश्यानुकूल अभिव्यक्त होती है। अतएव गुड़ादि की रसानुभूतिजन्य शक्ति कर्मप्रकृतियों की शुभाशुभ फलानुभूति को व्यक्त करती है।

चाक्षुष बिम्ब—चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाने वाली प्रतिमाओं की समानता से भावों के स्पष्टीकरण में चाक्षुष बिम्बों की योजना की जाती है। जो रूप व्यापार हमें तनिक भी आकृष्ट नहीं करते, वे ही सौन्दर्य एवं अनेक मनोवैज्ञानिक मसालों के मिश्रण से प्रत्यक्ष जगत् के पदार्थों के सौन्दर्य में कई गुनी वृद्धि कर देते हैं। अभिप्राय यह है कि बाहिरी जगत् के जो पदार्थ हमें साधारणतः आकृष्ट नहीं करते, वे ही कल्पना के माध्यम से बिम्ब का रूप धारण कर एक विचित्र मोहिनी उत्पन्न कर देते हैं। सूक्ष्म एवं मानसिक सौन्दर्यानुभूति को आचार्य नेमिचन्द्र ने भी चाक्षुषबिम्बों द्वारा अभिव्यक्त किया है। यद्यपि इनके बिम्ब साधारण पदार्थों के ही हैं, तो भी कलागत चमत्कार एवं सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण समुचित रूप में हुआ है। पाठक देखेंगे कि एक सिद्धान्त निरूपक दार्शनिक आचार्य की साहित्य के क्षेत्र में कितनी गहरी सूक्ष्म पैठ है।

गुणरयणभूसणुदयं[2]—रत्न मूल्यवान् और भास्वर पदार्थ है। यह पत्थर का टुकड़ा होते हुए भी साधारण वस्तुओं की अपेक्षा अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जब किसी वस्तु की मूल्यगत विशिष्टता, उपादेयता और अनुपलब्धता दिखलायी जाती है, तब इसका बिम्ब उपस्थित किया जाता है। कलाकार या शास्त्रकार के मानस में रत्न की आकृतिमात्र जड़ नहीं है और न चर्म चक्षुओं से दिखलायी पड़ने वाली ही। उसके मानस में उसका ऐसा बिम्ब है, जो पाठक या श्रोता के भावना-पटल पर प्रतिबिम्बित होकर उसको भावमग्न करने की पूर्ण क्षमता रखता है। रत्न सम्यक्त्वादि गुणों के सम्बन्ध में सांगोपांग चित्र उपस्थित करता है। यह गुणों में प्रतीयमान अर्थ के समस्त कार्य-व्यापारों की कलागत-सौन्दर्यानुभूति को उपस्थित कर

१. कर्मकाण्ड गाथा १८४

२. जीवकाण्ड गाथा १।

रहा है। अतः निम्न तथ्य दृष्टिगत होते हैं।

१. सम्यक्त्वादि गुण महनीय हैं।

२. इन गुणों की अनुपलब्धता—सम्यक्त्वादि गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते।

३. सम्यक्त्वादि गुण अन्तरंग और बहिरंग को उज्ज्वल बनाते हैं तथा इनके प्रकाश से रागात्मिक वृत्ति का मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया प्रदान, विलियन, मार्गान्तरीकरण और शोध द्वारा परिष्करण होता है।

४. आत्मा के वास्तविक उपादेय गुण ये सम्यक्त्वादि ही हैं और ये ही आत्मा के भूषण हैं।

गलियतिमिरेहिं[1]—तिमिर अन्धकार सघन और कृष्णवर्ण का होता है, जब इसके कई परत एकत्र हो जाते हैं और इसकी सघनता बढ़ जाती है, तो रूपदर्शन का अभाव हो जाता है। अज्ञान के इसी स्वरूप की अभिव्यंजना के निमित्त तिमिर बिम्ब की योजना की गयी है। अज्ञान के पूर्णतः नष्ट होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और उस समय दिव्य आलोक छा जाता है। अन्धकार के नष्ट होने पर भी अखण्ड प्रकाश व्याप्त हो जाता है। तिमिर बिम्ब अज्ञान के समस्त स्वरूप की पूर्णतया अभिव्यञ्जना करता है।

धुवकोसुंभयवत्थं[2]—सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुण-स्थान में सूक्ष्मलोभ के रहने से होने वाली आत्मवृत्ति को धुले लाल वस्त्र के बिम्ब द्वारा उद्घाटित किया गया है। लाल रंग से रंगे वस्त्र के धुलवा देने पर भी उसमें हल्की सी लालिमा लगी रह जाती है। इसी प्रकार संज्वलन लोभ के अवशेष रहने पर दसवें गुण-स्थान में यत्किञ्चित् राग-वृत्ति लगी रह जाती है। इस बिम्ब द्वारा निम्न तथ्य दृष्टिगत होते हैं।

१. लाल रंग के पक्के होने के समान लोभकषाय का स्थायित्व।

२. लाल धुले वस्त्र की हलकी लालिमा के समान दसवें गुण-स्थान में संज्वलनलोभ का अस्तित्व।

३. उत्तरोत्तर लाल वस्त्र के धुलवाने पर भी उसकी लालिमा कम होती जाती है और एक ऐसी स्थिति आती है, जब लालिमा का सर्वथा अभाव हो जाता है और वस्त्र पूर्ण श्वेत निकल आता है। इसी प्रकार लोभकषाय का सूक्ष्म अस्तित्व दसवें गुण-स्थान में है, पर बारहवें गुणस्थान में लोभ का अभाव हो जाता है और आत्मा पूर्ण स्वच्छ निकल आती है।

कदकफलजुदजलं[3]—ग्यारहवें उपशान्त कषाय नामक गुणस्थान में होने वाले भावों की निर्मलता को स्पष्ट करने के लिए कतकफलयुक्त जल अथवा शरत्कालीन सरोवर के जल में बिम्ब की योजना की गयी है। निर्मली डालकर स्वच्छ किया गया जल ऊपर से स्वच्छ दिखलायी पड़ता है, पर गन्दगी उसके नीचे दबी रह जाती है। इसी प्रकार शरत्कालीन तालाब का जल ऊपर से निर्मल दिखलायी पड़ता है, पर थोड़ा ही बाह्य निमित्त मिलते ही गन्दा हो जाता है, नीचे दबी हुई गन्दगी ऊपर आ जाती है। यह बिम्ब शुद्धपरिणामों की तह में स्थित कषाय प्रवृत्ति—उपशान्त कषाय का स्पष्टीकरण करता है।

फलिहामलभायणुदयसमचित्तो[4]—'स्फटिक के पात्र में रखा हुआ निर्मल जल' अत्यधिक या पूर्णतः निर्मलता का बिम्ब उपस्थित करता है। क्षीणकषाय गुणस्थान में समस्त विकारों के निकल जाने से आत्मप्रवृत्ति बिल्कुल निर्मल हो जाती है। समस्त मोहनीय कर्म का विनाश होने से अत्यंत शुद्ध परिणति उत्पन्न होती है। इस बिम्ब द्वारा निम्न चित्र उपस्थित होते हैं।

१. निर्मल वस्तु निर्मल पात्र में अत्यधिक निर्मल प्रतीत होती है। आत्मा स्वभावतः निर्मल है; मोहनीय कर्म के विनाश से आत्मा के औपाधिक विकार भी नष्ट हो जाते हैं; जिससे आत्मा पूर्णतः निर्मल प्रतीत होने लगती है।

२. निर्मल जल के समान चित्त को निर्मल कहने से हमारे नेत्रों के समक्ष दो दृश्य उपस्थित होते हैं। पहला दृश्य तो यह है कि अतीन्द्रिय संवेदन के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार की अवस्थिति नहीं है। मूलवृत्तियाँ—क्षुधादि की वृत्ति, जिनकी उत्पत्ति से चित्त में विकार उत्पन्न होता है, समाप्त हो चुकी है। सहज क्रियाओं द्वारा होने वाली मानसिक प्रतिक्रियाएँ भी नहीं रही हैं। दूसरा चित्र यह

१. जीवकाण्ड गा० ५४
२. वही गाथा ५६
३. वही गाथा ६१
४. वही गाथा ६२

सामने आता है कि नाड़ीमण्डल की नैसर्गिक प्रवृत्तियां— चलना, उठना, बैठना आदि भी इतने परिष्कृत और विलक्षण हैं कि इनके कारण भी चित्त में कोई विकृति संभव नहीं। फलतः असाधारण प्रवृत्तियों के कारण चित्त पूर्णतः निर्मल है। संसार के समस्त प्राणियों का हित साधन होता है। शरीर में इतनी शक्ति उत्पन्न हो गयी है, जिससे किसी भी प्राणी को तनिक भी कष्ट नहीं होता। फलतः पूर्ण अहिंसक होने के कारण चित्त में स्थायी निर्मलता निवास करती है।

३. यह बिम्ब अन्वीक्षावृत्ति (लॉजिकल फैकल्टी) द्वारा एक नवीन जातीय दृष्टि का उन्मेष करता है। चर्मचक्षुओं से हम जल की निर्मलता को देखते हैं तथा अन्तर्विलास द्वारा उसके सौन्दर्य का निरीक्षण करते हैं; फलतः यह बिम्ब हमारे नेत्रों के समक्ष प्रयोजन विहीन चित्त की स्थिति को उपस्थित करता है। यतः प्रकार-प्रकारीगत विशिष्टताओं से मुक्त होने पर ही चित्त में स्थायी निर्मलता आती है।

गिहघडवत्थादियाइं[1]—घर और वस्त्रादि पदार्थों की पूर्णता-अपूर्णता के बिम्ब द्वारा जीवों की पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था का स्वरूप व्यञ्जित किया गया है। गृहीत आहारवर्गणा को खलरस भागादिरूप परिणित करने की जीव की शक्ति के पूर्ण हो जाने को पर्याप्ति और यह पर्याप्ति जिनके पाई जाये, उनको पर्याप्त तथा जिनकी शक्ति पूर्ण नहीं हुई है, उन जीवों को अपर्याप्त कहते हैं। गृह और वस्त्र पदार्थों का बिम्ब हमारे सम्मुख एक ऐसी आकृति प्रस्तुत करता है, जिसमें भौतिक पदार्थों का समवाय है। यह समवाय पूर्ण और अपूर्ण इन दोनों अवस्थाओं के चित्र खींचता है।

मसूरंबुबिन्दु[2]—पृथ्वी, अप्, तेज और वायु काय के जीवों की शरीराकृति को अवगत कराने के लिए उपमान रूप में मसूर, जल-बून्द, सूचिका-समूह और ध्वजा की योजना की गई है। ये उपमान बिम्ब हैं; इनके द्वारा हमें उन चारों काय के जीवों का स्वरूप स्पष्ट अवगत हो जाता है। मसूर के समान पृथ्वीकाय के जीव की आकृति, जलबिन्दु के समान जलकाय के जीव की आकृति, सुइयों के समूह के समान अग्निकाय के जीव की आकृति और ध्वजा के समान वायुकाय के जीव की आकृति होती है। यहां पर ये उपमान बिम्बों का कार्य करते हैं।

कंचणमग्गियं[3]—शुद्ध स्वर्ण के बिम्ब द्वारा सिद्धों की शुद्धता की भावाव्यक्ति की गई है। अग्नि में तपाये जाने पर स्वर्ण के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही भाग शुद्ध हो जाते हैं, उसका उभय प्रकार का मल जलकर भस्म हो जाता है। इसी प्रकार शुक्लध्यानाग्नि द्वारा आत्मा अपने कर्ममल को भस्म कर शरीर और कर्म से रहित हो सिद्ध पदवी को प्राप्त कर लेती है। काय और कर्म बन्धन से मुक्त आत्मा की स्थिति का अवबोध 'अग्निगत कंचन' के बिम्ब द्वारा किया है।

किमिरायचक्कतणुमल[4]—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान आदि लोभ के स्वरूपों को अवगत करने के लिए क्रिमिराग, चक्रमल, शरीरमल और हरिद्रारंग के उपमानों का प्रयोग किया है। ये उपमान लोभकषाय की शक्ति के स्पष्टीकरणार्थ बिम्बरूप में प्रयुक्त हैं। क्रिमिराग आदि के वर्णों की गहराई और स्थायित्व की उत्तरोत्तर हीनता द्वारा लोभकषाय में होने वाली हिंसक या रागात्मकवृत्ति का विश्लेषण किया गया है। अनन्तानुबन्धी लोभ की अपेक्षा अप्रत्याख्यानलोभ की वृत्ति कम गहरी और स्थायी होती है, अप्रत्याख्यान से प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान से संज्वलन की वृत्ति कम गहरी और स्थायी होती है। आचार्य ने भौतिक पदार्थों के वर्णों द्वारा आन्तरिक रहस्य का उद्घाटन किया है। इस बिम्ब से निम्न स्थितियों की जानकारी प्राप्त होती है।

१. क्रिमिराग आदि के वर्णों के समान लोभकषाय की रागात्मिका वृत्ति द्वारा आत्मा अनुरंजित होती है। रागवृत्ति आत्मा को भी रंग देती है, यही रागवृत्ति कर्मास्रव में कारण बनती है।

२. चेतन अचेतन—व्यक्त-अव्यक्त आकांक्षाओं एवं कामनाओं में लोभ अवश्य वर्तमान रहता है। पौद्गलिक

१. वही गाथा ११७
२. वही गाथा २००
३. वही गाथा २०२
४. वही गाथा २८६

समस्त पदार्थों में जिस प्रकार कोई न कोई वर्ण रहता है, उसी प्रकार समस्त आकांक्षाओं और कामनाओं के मूल में लोभ वर्तमान रहता है। लोभ के विभिन्न रूपों का निश्चय रंगों के संयोजन के समान पृथक् रूप में संभव नहीं।

गंगामहाणइस्स पवाहोव्व[1]—जघन्य देशावधि से लेकर सर्वावधिज्ञान पर्यंत अवधिज्ञान के द्रव्यप्रमाण के आनयन हेतु प्रवृत्त होने वाला भागहार गङ्गा नदी के प्रवाह के समान सातत्यरूप से प्रवृत्त होता है। यहां पर 'गंगा नदी का प्रवाह' एक देशीय बिम्ब है। मात्र प्रवाह की गतिशीलता का ही चित्राङ्कन करता है, शीतस्पर्शजन्य आनन्दानुभूति की अभिव्यञ्जना नहीं। यतः प्रस्तुत भागहार में एक ही धर्म पाया जाता है, दूसरा नहीं। अतः यह बिम्ब एक देशीय है, मन के आवेगों को जागृत करने की क्षमता इसमें नहीं है।

सुओवही[2]—आगम की विशालता और गम्भीरता प्रकट करने के लिए इस बिम्ब की योजना की गई है। जिस प्रकार गीत में स्वरलहरी और उसके सामञ्जस्य को एक साथ प्रकट किया जाता है। उसी प्रकार इस बिंब में विशालता और गहराई को एक साथ रखा गया है। समुद्र जितना विशाल होता है, उतना ही गहरा भी, आगम भी समुद्र के समान विशाल और गम्भीर होता है।

पावमलं[3]—पाप की पूर्ण अवधारणा प्रस्तुत करने के लिए मल का बिम्ब दिया गया है। मैल कृष्णवर्ण एवं घृणोत्पादक है, पाप भी इसी प्रकार का है। किसी स्वच्छ वस्तु में भी लगकर मैल वस्तु को दूषित और गन्दा बनाती है, इसी प्रकार पाप निर्मल और ज्ञान-दर्शन गुण से युक्त आत्मा को मलिन बनाता है, उसके वास्तविक स्वभाव को आच्छादित कर देता है। मल और वस्तु दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् रहता है, इसी प्रकार आत्मा और पाप ये दोनों भी पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं।

---

१. वही गाथा ४१४;
२. कर्म काण्ड गाथा ४०८
३. वही गाथा ४०८ उत्तरार्ध

सुववणवसंत[4]—वसन्तश्री किसी भी उद्यान की शोभा में चार-चांद लगा देती है। वन प्रफुल्लित हो जाते हैं और अपने लावण्य से सभी को मुग्ध कर देते हैं। उनकी नव-चेतना जड़-चेतन सभी में नवोल्लास भर देती है। इस अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत श्रुतज्ञान के विकास में भंग-प्रपंच के वैशिष्ट्य का निरूपण किया है। भंग-प्रपंच श्रुतज्ञान के सौन्दर्य और वृद्धि में सहायक होता है। अतएव यहां भंग-प्रपंच को वसन्त का बिम्ब दिया गया है और श्रुतज्ञान को वन का।

श्रावण बिम्ब—श्रवण इन्द्रिय-जन्य अनुभूति के आधार पर की गयी अप्रस्तुत योजना उक्त कोटि के बिम्बों के अंतर्गत आती है। इस कोटि के बिम्बों का आचार्य नेमिचन्द्र की रचना में प्रायः अभाव है।

अतीन्द्रिय बिम्ब—अतीन्द्रिय विषयों की अप्रस्तुत योजना द्वारा उच्चकोटि के बिम्बों की योजना की गई है। यहाँ सिर्फ एक बिम्ब का विश्लेषण किया जाता है।

भावकलंक सुपउरा[5]—इस स्थल पर विशेषण ही बिम्ब बन गया है। भावों के अत्यधिक कलुषित होने रूप बिम्ब से निगोद पर्याय का सातत्य दिखलाया गया है। इस बिम्ब द्वारा हमारे मन में दृश्य जगत् के नाना रूपों तथा व्यापारों में भावात्मक कलंक—पाप की प्रचुरता या मनोरागों का घनत्व प्रतिबिम्बित होता है। अतीन्द्रियानुभूति के समक्ष ऐसा चित्र साकार रूप में उपस्थित होता है, जिसमें क्लेश, पाप, वासना एवं अनन्तानुबन्धी कषाय के उत्कृष्ट शक्ति अंश का आलेखन किया गया है।

इस प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र ने बिम्बयोजना या अप्रस्तुत योजना द्वारा सिद्धान्तों एवं भावों की अभिव्यंजना में तीव्रता, स्पष्टता, एवं चमत्कार उत्पन्न किया है। जिस सिद्धान्त या भाव को आचार्य पाठकों के हृदय में पहुँचना चाहते हैं, उसे बिम्ब द्वारा ही उन्होंने पहुँचाया है जिन बिंबों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य बिम्ब भी मिलने हैं। अवसर मिलने पर विशुद्ध सैद्धान्तिक बिम्बों पर भी प्रकाश डालने का आयास किया जायगा।

---

४. कर्मकाण्ड गाथा ७८४
५. जीवकाण्ड गाथा १९८

सिद्धहैमचन्द्र-शब्दानुशासन

श्री कालिकाप्रसाद शुक्ल, एम० ए०, व्याकरणाचार्य

(गतांक से आगे)

प्रकरण विभाग

इस व्याकरण में आठ अध्याय हैं। उनमें उणादि सहित प्रथम सात अध्याय संस्कृत भाषा की व्यवस्था के लिए हैं तथा आठवां अध्याय प्राकृत एवं अपभ्रंश के नियम को बताता है। सात अध्यायों के सूत्रों पर दो स्वोपज्ञ वृत्तियाँ हैं। (१) लघुवृत्ति, (२) बृहद्वृत्ति (तत्त्वप्रकाशिका)। इन दोनों की पद्धतियों में पर्याप्त साम्य है। संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं का व्याकरण साथ ही लिखने की परिपाटी हेमचन्द्राचार्य ने ही चलाई। वररुचि, भामह प्रभृति वैयाकरणों द्वारा रचित प्राकृत व्याकरण एवं हेमचन्द्राचार्य विरचित व्याकरण की रचना में महान् भेद परिलक्षित होता है। प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के निरूपण से आचार्य का विशिष्ट स्थान सर्वविदित है। लघुवृत्ति और बृहद्वृत्ति में इतना ही भेद है कि लघुवृत्ति में मतान्तरों की चर्चा का अवकाश नहीं है, आकृतिगण का उल्लेख नहीं है, विस्तार से सूत्रों की वृत्ति का निरूपण नहीं है, किन्तु परिगणित उदाहरण और प्रत्युदाहरण और तदुपयोगी वृत्तियाँ निरूपित हैं। बृहद्वृत्ति में तो सूत्रों की विस्तृत व्याख्या, पूर्वापरसम्बन्ध, बहुवचनादि पदों का प्रयोजन, मतान्तरों का उल्लेख, सूत्रघटक प्रत्येक पद की यथार्थता के सूचक उदाहरण एवं प्रत्युदाहरण अर्थात् संस्कृत भाषा को समझने के लिए सभी अपेक्षित सामग्री संगृहीत है।

इस व्याकरण के प्रथम सात अध्याय ४ भागों में विभक्त हैं—(१) चतुष्कवृत्ति, (२) आख्यातवृत्ति (३) कृद्वृत्ति (४) तद्धितवृत्ति।

(१) चतुष्कवृत्ति

चतुष्कवृत्ति में सन्धि, नाम, कारक एवं समास इन चारों का विवरण है। इसके निम्नलिखित ४ विभाग हैं—

अध्याय	पाद	सूत्र सं०	प्रकरण	विभाग
प्रथम	प्रथम	४२	संज्ञा	प्र० भाग
,,	द्वितीय	४१	स्वरादि सन्धि	
,,	तृतीय	६५	व्यंजन सन्धि	
,,	चतुर्थ	९३	नाम प्रकरण	द्वि० भाग
द्वितीय	प्रथम	११८		
,,	द्वि०	१२४	कारक	तृ० भाग
,,	तृ०	१०५	षत्व, णत्व	च० भाग
,,	च०	११३	,, स्त्रीप्रत्यय	
तृतीय	प्र०	१६३	समास सामान्य नियम	
,,	द्वि०	१५६	समास विशेष नि०	
		१०[illegible]०		

(२) आख्यात वृत्ति

आख्यातवृत्ति में १० प्रकार के प्रत्यय, भावकर्म प्रक्रिया, ण्यन्त, सन्नन्त, यङन्त, नामधातु, सेट् तथा अनिट् धातुओं का विमर्श आदि विषय वर्णित हैं। इस विभाग में निम्नांकित सूत्र, अध्याय और पाद हैं—

तृ०	तृ०	१०८
,,	च०	९४
च०	प्र०	१२१
,,	द्वि०	१२३
,,	तृ०	११५
,,	च०	१२२
		६८३

(३) कृद्वृत्ति

इसमें कृत्य प्रत्यय सम्बन्धी नियम निर्दिष्ट हैं। पञ्चम अध्याय के द्वि० पाद में अन्तिम सूत्र "उणादय: ५।२।९३" इसकी पूर्ति के लिए वृत्ति सहित १००६ उणादि सूत्र पृथक्

निर्मित हैं। इस तीसरे विभाग में निम्नांकित सूत्र, पाद आदि हैं—

पञ्चम	प्र०	१७४
"	द्वि०	६३
"	तृ०	१४१
"	च०	६०
		४६८

(४) तद्धित वृत्ति

इस विभाग में तद्धित प्रत्यय, समासान्त, प्लुत विवेचन, न्यायसूत्र तथा उनका विस्तृत विवेचन सम्यक् निरूपित है। विवरण निम्नांकित है: —

षष्ठ	प्र०	१४३
"	द्वि०	१४५
"	तृ०	२१६
"	च०	१८५
सप्तम	प्र०	१६७
"	द्वि०	१७२
"	तृ०	१८२
"	च०	१२२
		१३६५

इस व्याकरण का आठवां अध्याय द्वितीय महाविभाग के रूप में प्रसिद्ध है। इसके चार पाद हैं। चारों पादों में १११६ सूत्र है। इस अध्याय में केवल प्राकृतादि भाषाओं का व्याकरण है। शौरसेनी भाषा के लिए २७, मागधी भाषा के लिए १६, पैशाची भाषा के लिए २२, चूलिका पैशाची भाषा के लिए ४, अपभ्रंश भाषा के लिए १२०, प्राकृत भाषा के लिए ६३० सूत्र हैं। संस्कृत भाषा एवं प्राकृतादि ६ भाषाओं के परिज्ञान के लिए यह एक ही शब्दानुशासन सर्वतोभावेन पर्याप्त है।

स्याद्वाद और हेमशब्दानुशासन

इस व्याकरण के किसी भी विभाग और प्रयोग का विचार करते समय "सिद्धिः स्याद्वादात्"[1], यह अधिकार सूत्र उपस्थित ही रहता है। क्योंकि समग्र शब्दानुशासन में व्यापकरूप से इस सूत्र का अधिकार है। 'स्याद्वादात्' इस पद में "गम्यपः कर्माधारे"[2] इस सूत्र से पञ्चमी होती है। अतः स्याद्वाद का आश्रयण करके', यह अर्थ होगा; शब्दानुशासन का प्रकरण होने से सूत्र में 'शब्दानाम्' इसका अध्याहार होगा; तथा सिद्धि शब्द का अर्थ शब्दानित्यत्ववादी के मत में "निष्पत्ति" एवं शब्दनित्यत्ववादी के मत में 'ज्ञप्ति; स्याद्वादमत में निष्पत्ति एवं ज्ञप्ति दोनों अर्थ मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार स्याद्वाद का आश्रयण करके शब्दों की निष्पत्ति या ज्ञप्ति होती है, ऐसा सूत्रार्थ समझना चाहिए। स्याद्वाद शब्द का अर्थ यह है— "स्याद् रूपो वादः स्याद्वादः" ऐसा समास करने पर वाद शब्द अनेकान्त का द्योतक है। 'स्यादित्येतस्य वादः' ऐसा समास करने पर 'स्यात्' यह अव्यय वाचक रूप से अनेकान्त का द्योतक है। इस तरह दो प्रकार से स्याद्वाद पदार्थ का निरूपण उन उन ग्रन्थों में किया गया है।

'स्यात्' इस अव्यय को वाचक माना जाय तो उसी से सभी अर्थ का बोध हो जायेगा। "स्यादस्त्येव" इत्यादि प्रयोगों में 'अस्त्येव' आदि प्रयोग व्यर्थ अथवा पुनरुक्त हो जायेगा; इसलिए 'स्यात्' इस अव्यय को अनेकान्त द्योतक ही स्वीकार करना चाहिये। यदि निपातों के द्योतकत्व पक्ष के अभिप्राय से 'स्यात्' इस अव्यय को गुणभावं से अनेकान्त का द्योतक मानें, तो अनेकान्त वाचक पद का भी गुणभाव से ही वाचकत्व स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि, ऐसा सिद्धान्त है कि जिस रूप से वाचक पद कहता है, उसी रूप से निपात-द्योतन करता है। यदि 'स्यात्' यह अव्यय किसी से भी अनुक्त अनेकान्त अर्थ का द्योतन करता है, ऐसा मानें तो स्यात् शब्द के प्रयोग बल से ही अनेकान्त अर्थ की प्रतीति होने से स्यात् शब्द को वाचक ही मानना पड़ेगा, गौणरूपेण उसको अनेकान्त द्योतक मानना असंभव है। इसी तरह प्रधान रूप से स्यात् इस अव्यय को अनेकान्त का द्योतक मानना भी सामञ्जस्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रधान रूपेण अस्ति इत्यादि शब्दों से अस्तित्वादि अर्थ के बोध होने पर 'स्यात्' पद से प्राधान्येन उसी अर्थ का द्योतन, व्यर्थ है। स्यात् शब्द को नास्तित्वादि अर्थ का द्योतक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनभिहित अर्थ का द्योतन, नहीं देखा गया है। अस्ति पद प्रधानतया अस्तित्व को कहता है और 'स्यात्' पद गौणतया नास्तिकत्व को कहता है। इस प्रकार 'स्यात्' पद प्रधान

१. हैम० १।१।२। २. हैम० २।२।७४।

रूप से और गौण रूप से अनेकान्त का द्योतक है, यह भी कहना अपसिद्धान्त ही है, क्योंकि जैसे 'स्यात्' इस पद से अनुक्त नास्तित्वादि अर्थ का बोध होता है, उसी प्रकार उससे अनुक्त सभी अर्थों का अभिधान होने लगेगा। 'स्यादस्त्येव' यहां पर अन्य योग के व्यावर्तक 'एव' शब्द से सब अर्थों का व्यावर्तन होने से, 'स्यात्' शब्द उन व्यावृत्त अर्थों का द्योतक नहीं हो सकता। इस तुल्य युक्ति से जिस प्रकार एव से सब अर्थों का व्यावर्तन होता है, उसी प्रकार सब अर्थों के ही अन्तर्गत आने वाले नास्तित्वादि का भी व्यावर्तन होगा और इस तरह 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक नहीं होगा, ऐसा यदि कहें, तो यह अनुचित है, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि 'अस्ति' आदि पद प्राधान्येन तथा गौणतया जिस प्रकार अस्तित्व आदि अर्थ को कहते हैं, उसी प्रकार 'स्यात्' शब्द भी प्रधानतया तथा गौणतया उन-उन अर्थों का द्योतन करता है।

अभिप्राय यह है कि द्रव्य रूप से अस्तित्व तथा पर्याय रूप से नास्तित्व है। अतः द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से अस्तित्व को मुख्यता तथा नास्तित्व को गौणता है; क्योंकि नास्तित्वादि की अपेक्षा रखने वाले अस्तित्व की ही अवस्थिति संभव है। इसी प्रकार पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से नास्तित्व को मुख्यता तथा अस्तित्व को गौणता है। क्योंकि अस्तित्वादि की अपेक्षा रखने वाले नास्तित्व की ही अवस्थिति संभव है। अतः द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा रखने वाले प्रधानभाव एवं गुणभाव से 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक तथा तदितर का वाचक सिद्ध होता है। एक को ही अनेक रूप में समझना अनेकान्त कहलाता है। सभी वस्तु द्रव्यरूप से नित्य तथा पर्यायरूप से अनित्य; स्वरूप से सत्य तथा अन्य रूप से असत् हैं। इस प्रकार अश्वत्व, जो सकल अश्व में सामान्य है, सत्ता की अपेक्षा विशेष है। शर्करादि का माधुर्य शब्द द्वारा कहा जा सकता है, अतः वह अभिलाप्य है, किन्तु उसका न्यूनाधिक्य शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता, अतः वही अनभिलाप्य भी है। इसी प्रकार एक ही वर्ण में ह्रस्वत्व, दीर्घत्वादि, स्याद्वाद के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता तथा एक ही वस्तु में अनेक कारक का प्रतिपादन, सामानाधिकरण्य, वैयधिकरण्य, विशेष्य-विशेषणभाव, स्थान्यादेशभाव, प्रकृति-विकृतिभाव, कार्यकारणभाव आदि नहीं उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि वर्णों के नित्यत्व पक्ष में जिस वर्ण का ह्रस्व विधान होगा, उसी पक्ष में दीर्घ विधान कैसे हो सकता है? कारण, ह्रस्वत्वादि अपने पूर्व धर्म की निवृत्ति करके ही होते हैं। वर्णों के अनित्यत्व पक्ष में उनका नाश हो जायेगा, अतः एक ही का ह्रस्वत्वादि विधान व्यर्थ होगा। स्याद्वाद सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर वर्ण रूप से शब्दों की नित्यता तथा ह्रस्वादि रूप से अनित्यता होने से ह्रस्वादि के विधान की उपपत्ति हो जाती है। इस प्रकार "पीयमानं मधु मदयति" यहां 'पा' धात्वर्थ की अपेक्षा मधु को कर्मकारकत्व तथा 'मद' धात्वर्थ की अपेक्षा कर्तृत्व एक ही में अनेक कारक होते हैं। भिन्न प्रवृत्ति-निमित्तक शब्दों की एक अर्थ में वृत्ति होना सामानाधिकरण्य है। वह सामानाधिकरण्य, जहां सर्वथा भेद रहेगा, वहां नहीं हो सकता तथा जहां सर्वथा अभेद रहेगा वहां भी नहीं हो सकता। इसलिए 'नीलमुत्पलम्' यहां भेद रूप एकान्त पक्ष में अथवा अभेद रूप एकान्त पक्ष में सामानाधिकरण्य एकान्तवादियों के मत में नहीं बन सकता। अतः अपेक्षाकृत भेद एवं अपेक्षाकृत अभेद, यह मानना ही पड़ेगा। इसी प्रकार एकान्तवादी के मत में विशेष्य विशेषणभाव भी नहीं बन सकता। अतः स्याद्वाद का अनुसरण करना ही चाहिये।

इस प्रकार सकल ग्राह्य न होने से, न तो एकान्ततः शब्द नित्यतावादी के मत से, न शब्दानित्यतावादी के मत से यह शब्दानुशासन सर्वसाधारण होगा; अपितु केवल स्याद्वाद सिद्धान्त से ही सर्वसाधारण हो सकता है ऐसा ग्रंथकार ने भी स्वयं कहा है।[1]—

---

१. "स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्, ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैक वस्त्वभ्युपगम इति यावत्। ततः सिद्धिर्निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा प्रकृतानां शब्दानां वेदितव्या। एकस्यैव हि ह्रस्वदीर्घादि विधयोऽनेककारक सन्निपातः, सामानाधिकरण्यं, विशेषण विशेष्यभावादयश्च स्याद्वादमन्तरेण नोपपद्यन्ते। सर्व पार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शनसमूहात्मक-स्याद्वाद समाश्रयमतिरमणीयम्। यदवोचाम् स्तुतिषु—

जो लोग स्याद्वाद को नहीं मानते उनका ऐसा अभि-, प्राय है कि जो वस्तुतः सत्य है, वह सर्वथा, सर्वत्र सर्वतोभावेन निर्वचनीय रूप से है ही नहीं है, ऐसा नहीं, जैसे—प्रत्यगात्मा। और जो कहीं, किसी प्रकार, कभी, किसी रूप से है, यह कहते हैं, जैसे—प्रपञ्च, वह तो व्यवहारतः है, न कि परमार्थतः; क्योंकि वह विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। केवल किसी वस्तु का ज्ञानमात्र उसकी वास्तविकता का व्यवस्थापक नहीं हो सकता, अन्यथा शुक्तिमरुमरीचिकादि में रजततोयादि की वास्तविकता सिद्ध होने लगेगी। लौकिक जनों के विचार के आधार पर यदि पदार्थों की वास्तविकता की व्यवस्था मानें, तब तो देह में आत्माभिमान की वास्तविकता स्वीकार करनी पड़ेगी। विद्वानों के मत में, देहात्माभिमान, विचार से सर्वथा बाधित होता ही है।

अपि च सत्त्व और असत्त्व के परस्पर विरोधी होने से उनका समुच्चय नहीं होता है, ऐसा मानने पर विकल्प होगा। किन्तु वस्तु में विकल्प की संभावना होती नहीं। अतः 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस संशय स्थल की तरह सत्त्व एवं असत्त्व के सन्देह स्थल के लिए स्याद्वाद सिद्धान्त मानने वाले को कोई अन्य उपाय ढूंढना पड़ेगा।

यद्यपि जैन सम्प्रदाय में हेमचन्द्राचार्य के पहले भी श्री गौतमस्वामी, श्री सुधर्मस्वामी प्रभृति अनेक गणधर, श्री भद्रबाहु प्रभृति श्रुतकेवली, श्रीसिद्धसेन दिवाकर, १४४४ ग्रन्थों के प्रणेता हरिभद्रसूरि, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रणेता उमास्वाति, देवर्धिगणिक्षमाश्रमणादि अनेक पूर्वधर, प्रौढ़-गीतार्थ महाप्रभावक हुये हैं; तथापि जैनेतर दर्शनों में इनका एवं इनके साहित्य का जैसा विशिष्ट स्थान है, वैसा अन्य लोगों का नहीं है। जैनेतर दर्शनाचार्यों का किसी भी हेतु यदि जैनदर्शन के साथ कुछ भी सम्बन्ध होता है, तो सर्वप्रथम इसी महामहिमशाली विद्वान् के साहित्य पर दृष्टि पड़ती है। १२वीं शती से लेकर आज तक के सभी श्रेष्ठ साहित्यकारों के गणनाप्रसङ्ग में इस महान् विद्वान् का नाम आदरपूर्वक लिया जायेगा, इसमें दो मत नहीं।

ऐसे महान् पुरुष द्वारा विरचित व्याकरण किसी भी विद्वान् को प्रभावित करने में समर्थ है। अतएव सोमेश्वर कवि ने कहा है—

"वैदुष्यं विगताश्रयं श्रितवति श्री हेमचन्द्रे दिवम्।"

अन्त में यह आशा एवं पूर्ण विश्वास है कि अपेक्षित यावत् सामग्री से संभूषित इस व्याकरण का विद्वान् लोग अवश्य अवगाहन करेंगे।

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते॥

स्तुतिकारोप्याह—

नयास्तवस्यात्पदलाञ्छिता इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः।"

ग्रन्थकार के इलोक में 'पदलांछिता इमे' की जगह 'स्यात्पदसत्यलांछिता' पद पाया जाता है। —सम्पादक

बारडोली के जैन सन्त कुमुदचन्द्र

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम० ए० पी-एच० डी०

बारडोली गुजरात का प्रसिद्ध नगर है। सन् १९२१ में यहां स्व० सरदार वल्लभभाई पटेल ने भारत की स्वतन्त्रता के लिये सत्याग्रह का बिगुल बजाया था और बाद में वहीं की जनता द्वारा उन्हें 'सरदार' की उपाधि दी गई थी। आज से ३५० वर्ष पूर्व यह नगर अध्यात्म का केन्द्र था। यहाँ पर ही सन्त कुमुदचन्द्र अपने गुरु भ० रत्नकीर्ति एवं जनता द्वारा भट्टारक के पद पर अभिषिक्त किये गए थे। इन्होंने वहाँ के निवासियों की धार्मिक चेतना जाग्रत की एवं उन्हें सच्चरित्रता, त्याग तथा संयम अपनाने के लिए बल दिया।

सन्त कुमुदचन्द्र वाणी से मधुर, शरीर से सुन्दर तथा मन से स्वच्छ थे। जहाँ भी उनका विहार होता जनता पीछे हो जाती। उनके शिष्यों ने अपने गुरू की प्रशंसा में विभिन्न पद लिखे हैं। संयमसागर ने उनके शरीर को बत्तीस लक्षणों से सुशोभित, गम्भीर बुद्धि के धारक तथा वादियों के पहाड़ को तोड़ने वाले वज्र के समान कहा है—

ते बहु कूंखि उपनो वीर रे, बत्तीस लक्षण सहित शरीर रे।
बुद्धि बहोत्तरि छे गंभीर रे, वादी नग खंडन वज्र सम धीर रे॥

उनके दर्शनमात्र से ही प्रसन्नता होती थी। वे पांच महाव्रत तेरह प्रकार के चारित्र को धारण करने वाले एवं बाईस परीषह को सहने वाले थे[1]। एक दूसरे शिष्य धर्मसागर ने उनकी पात्रकेशरी जंबुकुमार, भद्रबाहु एवं गौतम गणधर से तुलना की है[2]। उनके विहार के समय कुंकम छिड़कने तथा मोतियों का चौक पूरने एवं बधावा-गाने के लिए भी कहा जाता था[3]। उनके एक और शिष्य गणेश ने उनकी निम्न शब्दों में प्रशंसा की है :—

कला बहोत्तर अंग रे, सीयले जीत्यो अनंग,
माहंत मुनी मूलसंघ के सेवो सुरतरू जी।
सेवो सज्जन आनंद धनि कुमुदचन्द मुणिंद,
रतनकीरति पाटि चंद के गछपति गुणनिलो जी।१

जीवों की रक्षा करने के कारण लोग उन्हें दया का वृक्ष कहते थे। विद्यावल से उन्होंने अनेक विद्वानों को अपने वश में कर लिया था। उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी थी तथा राजा-महाराजा एवं नवाब उनके प्रशंसक बन गये थे।

कुमुदचन्द्र का जन्म गोपुर ग्राम में हुआ था। पिता का नाम सदाफल एवं माता का नाम पद्माबाई था। इन्होंने मोढ वंश में जन्म लिया था[4]। इनका जन्म का नाम क्या था, इसके विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन वे जन्म से होनहार थे।

बचपन से ही ये उदासीन रहने लगे और युवावस्था से पूर्व ही इन्होंने संयम धारण कर लिया। इन्द्रियों के ग्राम को उजाड़ दिया तथा कामदेवरूपी सर्प को जीत लिया[5]। अध्ययन की ओर इनका विशेष ध्यान था। ये रात-दिन व्याकरण, नाटक, न्याय, आगम एवं छन्द अलंकार शास्त्र आदि का अध्ययन किया करते थे[6]। गोम्मटसार आदि

---

१. पंचा महाव्रत पाले चंग रे, त्रयोदश चरित्र छे अभंग रे।
वावीस परीसा सहे अंगि रे, दरशन दीठे रंग रे॥

× × ×

२. पात्रकेशरी सम जांणियेरे, जाणों वे जंबुकुमार।
भद्रबाहु यतिवर जयो, कलिकाले रे गोयम अवतार वे॥

× × ×

३. सुंदरि रे सहु आवो, तह्यो कुंकम छडो देवडावो।
वारू मोतिये चोक पूरावो, रूडा सह गुरु कुमुदचंद ने बधावे

४. मोढ वंश शृंगार शिरोमणि, साह सदाफल तात रे।
जायो यतिवर जुग जयवंतो, पद्माबाई सोहात रें॥

५. बालपणें जिणे संयम लीघो, धरीयो वेराग।
इन्द्रिय गाम उजारया हेला, जीत्यो मद नाग रे॥

× × ×

६. अहनिशि छंद व्याकर्ण नाटिक भणे,
न्याय आगम अलंकार।
वादी गज केसरी विरुद बारू वहे,
सरस्वती गच्छ सिणगारर॥

—गीत धर्मसागर कृत

ग्रन्थों का इन्होंने विशेषरूप से अध्ययन किया था। विद्यार्थी अवस्था में ही ये भ० रत्नकीर्ति के शिष्य बन गये। इनकी विद्वत्ता वाक्चातुर्यता एवं अगाध ज्ञान को देखकर भ० रत्नकीर्ति इन पर मुग्ध होते गये और इन्हें अपना प्रमुख शिष्य बना लिया। धीरे-धीरे इनकी कीर्ति बढ़ने लगी। रत्नकीर्ति ने बारडोली नगर में अपना पद स्थापित किया। और संवत् १६५६ (सन् १५६६) वैशाख मास में इनका जैनों के प्रमुख सन्त (भट्टारक) के पद पर अभिषेक कर दिया[७]। यह सारा कार्य संघपति कान्ह जी, संघ बहिन जीवादे, सहस्त्रकरण एवं उनकी धर्मपत्नी तेजलदे, भाई मल्लदास एवं बहिन मोहनदे, गोपाल आदि की उपस्थिति में हुआ था तथा श्रावकों ने कठिन परिश्रम करके महोत्सव को सफल बनाया था[८]। तभी से कुमुदचन्द्र बारडोली के सन्त कहलाने लगे।

बारडोली नगर एक लंबे समय तक आध्यात्मिक, साहित्यिक एवं धार्मिक गति-विधियों का केन्द्र रहा। सन्त कुमुदचन्द्र के उपदेशामृत के सुनने के लिये वहाँ धर्म प्रेमी सज्जनों का हमेशा ही आना-जाना रहता। कभी तीर्थयात्रा करने वालों का संघ उनका आशीर्वाद लेने आता तो कभी अपने-अपने निवास-स्थान के रजकणों को संत के पैरों से पवित्र कराने के लिये उन्हें निमन्त्रण देने वाले वहां आते। संवत् १६८२ में इन्होंने गिरिनार जाने वाले एक संघ का नेतृत्व किया। इस संघ के संघपति नागजी भाई थे, जिनकी कीर्ति चन्द्र-सूर्य-लोक तक पहुँच चुकी थी। यात्रा के अवसर पर ही कुमुदचन्द्र संघ सहित घोघानगर आये, जो उनके गुरु रत्नकीर्त्ति का जन्म-स्थल था। बारडोली वापस लौटने पर श्रावकों ने अपनी अपार सम्पत्ति का दान दिया[९]।

कुमुदचन्द आध्यात्मिक एवं धार्मिक सन्त होने के साथ साथ साहित्य के परम आराधक थे। अब तक इनकी छोटी बड़ी २८ रचनाएँ एवं ३० से भी अधिक पद प्राप्त हो चुके हैं। इनकी सभी रचनाएं राजस्थानी भाषा में हैं, जिन पर गुजराती का प्रभाव है। ऐसा ज्ञात होता है कि ये चिन्तन, मनन एवं धर्मोपदेश के अतिरिक्त अपना सारा समय साहित्य-सृजन में लगाते थे। इनकी रचनाओं में गीत अधिक है, जिन्हें ये अपने प्रवचन के समय श्रोताओं के साथ गाते थे[१०] नेमिनाथ के तोरण द्वार पर आकर वैराग्य धारण करने की अद्भुत घटना से ये बहुत प्रभा-

---

७. संवत् सोल छपन्ने वैशाखे प्रगट पटोधर थाप्या रे।
रत्नकीर्ति गोर बारडोली वर सूर मंत्र शुभ आप्या रे।।
माई रे मन मोहन मुनिवर सरस्वती गच्छ सोहंत।
कुमुदचन्द भट्टारक उदयो भवियण मन मोहंत रे।।
गुरु स्तुति गणेशकृत

८. बारडोली मध्ये रे पाट प्रतिष्ठा कीध मनोहार।
एक शत आठ कुंभ रे, ढाल्या निर्मल जल अतिसार।।
सूर मंत्र आपयो रे, सकल संघ सानिध्य जयकार।
'कुमुदचन्द्र' नाम कह्या रे, संघवि कुटंब प्रतपो उदार।।
गुरु गीत गणेशकृत

९. संघपति कहांन जी संघ वेण जीवादेनो कन्त।
सहेसकरण सोहे रे तरुणी तेजलदे जयवंत।।
मलदास मनहरू रे नारी मोहनदे अति संत।
रमादे वीर भाई रे गोपाल वेजलदे मन मोहन्त।।६।।
—गुरु गीत

× × ×

संघवी कहान जी भाइया वीर भाई रे।
मल्लिदास जमला गोपाल रे।।
छपने संवत्सरे उछव अति करयो रे।
संघ मेली बाल गोपाल रे।।
गीत गणेशकृत।

१०. इणि परि उछव करता आव्या घोघा नगर मझारि।
नेमि जिनेश्वर नाम जपंता उतर्या जलनिधि पार।।
गाजते बाजते साहमा करीने आव्या बारडोली ग्राम।
याचक जन संतोष्या पोष्या भूतलि राख्यो नाम।।१०।।

× × ×

संवत सोल व्यासीये संवच्छर गिरिनारि यात्रा कीधा।
श्री कुमुदचन्द्र गुरु नामि संघपति तिलक कहवा।।१३।।
गीत-धर्मसागर कृत

१. देश विदेश विहार करे गुरु प्रतिबोधे प्राणी।
धर्मकथा रसने वरसन्ती, मीठी छे वाणी रे भाय।।

चित हुए थे, इसीलिए उन्होंने नेमिनाथ एवं राजुल के जीवन पर कई रचनायें लिखीं हैं। उनमें नेमिनाथ बारह मासा नेमीश्वर गीत, नेमिजिन गीत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं राजुल का सौन्दर्य वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है—

रूपे फूटडी मिटे जूठडी बोले मीठडी वाणी।
विद्रुम उठडी पल्लव गोठडी रसनी कोटडी बखांणी रे
सारंग वयणी सारंग नयणी सारंग मनी श्यामा हरी।
लंबी कटि भमरी बंकी शंकी हरिनी मारि रे।

कवि ने अधिकांश छोटी रचनायें लिखी हैं। उन्हें कण्ठस्थ भी किया जा सकता है। बड़ी रचनाओं में आदिनाथविवाहलो नेमीश्वरहमची एवं भरतबाहुबलि छन्द हैं। शेष रचनाएं गीत एवं विनतियों के रूप में हैं। यद्यपि सभी रचनायें सुन्दर एवं भावपूर्ण हैं लेकिन भरतबाहुवलि छन्द, आदिनाथविवाहलो एवं नेमीश्वरहमची इनकी उत्कृष्ट रचनायें हैं। भरतबाहुवलि एक खण्ड काव्य है, जिसमें मुख्यत: भरत और बाहुवलि के युद्ध का वर्णन किया गया है। भरत चक्रवर्त्ति को सारा भूमण्डल विजय करने के पश्चात् मालूम होता है कि अभी तक उसके छोटे भाई बाहुबलि ने उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की है तो सम्राट् भरत बाहुवलि को समझाने के लिये दूत भेजते हैं। दूत और बाहुवलि का उत्तर-प्रत्युत्तर बहुत सुन्दर हुआ है।

अन्त में दोनों भाइयों में युद्ध होता है, जिसमें विजय बाहुबलि की होती है। लेकिन विजयश्री मिलने पर भी बाहुबलि जगत से उदासीन हो जाते हैं और वैराग्य धारण कर लेते हैं। घोर तपश्चर्या करने पर भी मैं भरत की भूमि पर खड़ा हुआ हूँ, यह शल्य उनके मन से नहीं हटती और जब स्वयं भरत सम्राट् उनके चरणों में जाकर गिरते हैं और वास्तविक स्थिति को प्रगट करते हैं तो उन्हें तत्काल केवल ज्ञान प्राप्त होकर मुक्तिश्री मिल जाती है। पूरा का पूरा खण्ड-काव्य मनोहर शब्दों में गुंथित है। रचना के प्रारम्भ में कुमुदचन्द्र ने जो अपनी गुरु परम्परा दी है वह निम्न प्रकार है—

पणविवि पद आदीश्वर केरा,
जेहु नामें छूटें भव-फेरा।
ब्रह्म सुता समरुं मतिदाता,
गुणगण मंडित जग विख्याता।
वंदवि गुरु विद्यानंदि सूरी,
जेहनी कीर्ति रही भर पूरी।
तस पट्ट कमल दिवाकर जाणु,
मल्लिभूषण गुरु गुण वखाणु।
तस पट्टे पट्टोधर पंडित,
लक्ष्मीचन्द महा जश मंडित।
अभयचन्द गुरु शीतल वायक,
सेहेर वंश मंडन सुखदायक।
अभयनंदि समरूं मन मांहि,
भव भूला बल गाडे बांहि।
तेह तणि पट्टे गुणभूषण,
वंदवि रत्नकीरति गत दूषण।
भरत महीपति कृत मही रक्षण-
बाहुबलि बलवंत विचक्षण॥

बाहुबलि पोदनपुर के राजा थे। पोदनपुर धन-धान्य, बाग-बगीचा तथा झीलों का नगर था। भरत का दूत जब पोदनपुर पहुँचता है तो उसे चारों ओर विविध प्रकार के सरोवर, वृक्ष, लतायें, दिखलाई देती हैं। नगर के पास ही गंगा के समान निर्मल जल वाली नदी बहती है। सात-सात मंजिल वाले सुन्दर महल नगर की शोभा बढ़ा रहे थे। कुमुदचन्द्र ने नगर की सुन्दरता का इस रूप में जो वर्णन किया है उसे पढ़िये -

चाल्यो दूत पयाणें रे हेतो,
थोडो दिन पोयणपुरी पोहोतो।
दीठी सीम सघन कण साजित,
वापी कूप तडाग विराजित।
कलकारं जो नल जल कुंडी,
निर्मल नीर नदी अति ऊंडी।
विकसित कमल अमल दलपंती,
कोमल कुमुद समुज्जल कंती।
वन वाडी आराम सुरंगा,
अंब कदंब उदंबर तुंगा।
करणा केतकी कमरख केली,
नव नारंगी नागर बेली।

अगर तगर तरु तिंदुक ताला,
सरल सोपारी तरल तमाला ॥
बदरी बकुल मदाड बीजोरी,
जाई जूई जंबु जंभीरी ।
चंदन चंपक चाउ रउली,
वर वासंती वटवर सोली ।
रायणरा जंबु सुविशाला,
दाडिम दमणो द्राख रसाला ।
फूला सुफुल्ल प्रमूल्ल गुलाबा,
नीपनी वाली निंबुक निंबा ।
करणपर कोमल लंत सुरंगी,
नालीपरी दीशे प्रति चंगी ।
पाडल पनश पलाश महाघन,
लवली लीन लवंग लताघन ॥

बाहुबलि के द्वारा अधीनता स्वीकार न किये जाने पर दोनों ओर की विशाल सेनायें एक दूसरे के सामने आ डटीं। लेकिन जब देवों एवं राजाओं ने दोनों भाइयों को ही चरम शरीरी जानकर यह निश्चय किया कि दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध न होकर दोनों भाइयों में ही जलयुद्ध मल्ल-युद्ध एवं नेत्रयुद्ध हो जावे और उनमें जो भी जीत जावे उसे ही चक्रवर्ति मान लिया जावे। इस वर्णन को कवि के शब्दों में पढ़िये:—

त्रण्य युद्ध त्यारे सहु वेढा,
नीर नेत्र मल्लाह व परंढ्या ।
जो जीते ते राजा कहिये,
तेहनी आण विनय सुं वहीये ।
एह विचार करीनें नरवर,
चल्या सहु साथे महर भर ।

× × ×

चाल्या मल्ल अखाडे बलीआ,
सुर नर किन्नर जोवा मलीआ ।
काछ्या काछ कशी कड तांणी,
बोले बांगड बोली वाणी ।
भुजा दंड मन सुंड समाना,
ताडंतावंकारे नाना ।

हो हो कार करि ते धाया,
वछो वच्छ पछ्या ले राया ।
हक्कारे पच्चारे पाडे
वलगा वलग करी ते आडे ।
पग पडघा पोहोवी-तल वाजे,
कडकडता तरुवर ते भाजे ।
नाठा वनचर आठा कायर,
छूटा मयगल फूटा सायर ।
गड गडता गिरिवर ते पडीआं,
फूत फरंता फणिपति डरीआ ।
गड गडगडीआ मंदिर पडीआं,
दिग दंतीव मच्या चल चलीआ ।
जन खलभली आवाल कछलीआ,
भय-भीरु अबला कलमलीआ ।
तोपण ले धरणी धवढूंके,
लड थडता पडता नवि चूकें ।

उक्त रचना आमेर शास्त्र भंडार के गुटका सं० ५२ में पत्र संख्या ४० से ४८ पर है।

आदिनाथ विवाहलो

इसका दूसरा नाम ऋषभ विवाहलो भी। यह छोटा सा खण्ड-काव्य है, जिसमें ११ ढालें हैं। प्रारम्भ में ऋषभ-देव की माता को १६ स्वप्नों का आना, ऋषभदेव का जन्म होना तथा नगर में विभिन्न उत्सवों का आयोजन किया गया है। फिर ऋषभ के विवाह का वर्णन है। अंत की ढाल में उनका वैराग्य धारण करके निर्वाण प्राप्त करना भी बतला दिया गया है।

कुमुदचन्द्र ने इसे भी संवत् १६७८ में घोघानगर में रचा था। रचना का एक वर्णन देखिए:—

कछ महाकछ रायरे, जेहनुं जग जश गायरे ।
तस कुंअरी रूपें सोहेरे, जोतां जनमन मोहे रे ।
सुन्दर वेणी विशाल रे, अरध शशी सम भाल रे ।
नयन कमलदल छाजे रे, मुख पूरणचन्द्र राजे रे ।
नाक सोहे तिलनु फूल रे, अधर सुरंग तसु नहि भूल रे ।

ऋषभदेव के विवाह में कौन-कौन सी मिठाइयां बनी थीं, उसका भी रसास्वादन कीजिये:—

रढि लावे बेवरनें बीठा, कोल्हापाक पतासां मीठा।
दूध पाक घणा साकरीग्रा, सारा सकरपारा कर करीग्रा।
मोटा मोती ग्रामोद कलावे, वलीग्रा कसमसीग्रा भावे।
ग्रति सुरवर सेवईग्रा सुंदर, ग्रारोगे भोग पुरंदर।
ग्रीसे पापड मोटा तलीग्रा, पुरी ग्राला ग्रति ऊजलीग्रा।

नेमिनाथ के विरह में राजुल किस प्रकार तड़फती थी तथा उसके प्रथम बारह महीने किस प्रकार व्यतीत हुए, इसका नेमिनाथ बारह मासा में सजीव वर्णन हुग्रा है। इसी तरह का वर्णन कवि ने प्रणय-गीत एवं हिंडोलना-गीत में भी किया है।

फागुण केसू फूलीयो, नर नारी रमे वर फाग जी।
हस विनोद करे घणा, किम नाहे धर्यो वैराग जी॥

नेमिनाथ बारह मासा

× × ×

सीयालो सगलो गयो पणि नावियो यदुराय।
तेह बिना मुझने झूरतां एह वीहडा रे वरसा सो थायके॥

प्रणय-गीत

वणजारागीत में कवि ने संसार का सुन्दर चित्र उतारा है। यह मनुष्य वणजारे के रूप में यों ही संसार में भटकता रहता है। वह दिनरात पाप कमाता है ग्रौर संसार-बन्धन से कभी भी नहीं छूटता।

पाप कर्यां ते ग्रनंत, जीवदया पाली नहीं।
सांचो न बोलियो बोल, मरम मो साबहु बोलिया॥

शील गीत में कवि ने चरित्र प्रधान जीवन पर ग्रत्यधिक जोर दिया है। मानव को किसी भी दिशा में ग्रागे बढ़ने के लिए चारित्र बल की ग्रावश्यकता है। साधु-संतों एवं संयमी जनों को स्त्रियों से ग्रलग ही रहना चाहिए ग्रादि का ग्रच्छा वर्णन मिलता है इसी प्रकार कवि की सभी रचनायें सुन्दर हैं।

पदों के रूप में कुमुदचन्द्र ने जो साहित्य सृजन किया है वह ग्रौर भी उच्च कोटि का है। भाषा, शैली एवं भाव सभी दृष्टियों से ये पद सुन्दर हैं। 'मैं तो नर भव वादि गमायो' पद में कवि ने उन प्राणियों की सच्ची ग्रात्म-पुकार प्रस्तुत की है, जो जीवन में कोई भी शुभकार्य नहीं करते हैं। ग्रंत में हाथ मलते ही चले जाते हैं। 'जो तुम दीन दयाल कहावत' पद भी भक्ति रस की सुन्दर रचना है।

भक्ति एवं ग्रध्यात्म-पदों के ग्रतिरिक्त नेमिराजुल सम्बन्धी भी पद हैं, जिन में नेमिनाथ के प्रति राजुल की सच्ची पुकार मिलती है। नेमिनाथ के बिना राजुल को न प्यास लगती है ग्रौर न भूख सताती है। नींद नहीं ग्राती है ग्रौर बार-बार उठकर गृह का ग्रांगन देखती रहती है। यहाँ पाठकों के पठनार्थ दो पद दिये जा रहे हैं।

राग धनश्री

मैं तो नरभव वादि गमायो।
न कियो तप जप व्रत विधि सुन्दर।
काम भलो न कमायो॥ मैं तो० ॥१॥
विकट लोभ तें कपट कूट करी।
निपट विषय लपटायो॥
विटल कुटिल शठ संगति बैठो।
साधु निकट विघटायो॥ मैं० ॥२॥
कृपण भयो कछु दान न दीनों।
दिन दिन दाम मिलायो॥
जब जोवन जंजाल पड्यो तब।
परत्रिया तनु चितलायो॥ मैं० ॥३॥
ग्रन्त समय कोउ संग न ग्रावत
झूठहि पाप लगायो।
कुमुदचन्द्र कहे चूक परी मोही।
प्रभु पद जस नहीं गायो मैं० ॥४॥

पद राग-सारंग

सखी री ग्रब तो रह्यो नहि जात।
प्राणनाथ की प्रीत न विसरत छण छण छीजत गात।
सखी० ॥१॥
नहिं न भूख नहीं तिसु लागत, घरहि घरहि मुरझात।
मन तो उरझी रह्यो मोहन सुं सेवन ही सुरझात॥
सखी० ॥२॥
नाहिने नींद परती निसि वासर, होत बिसुरत प्रात।
चन्दन चन्द्र सजल निलिनीदल, मन्द मारुत न सुहात।
सखी० ॥३॥

गृह आंगनु देख्यौ नहीं भावत, दीन भई बिलखात।
बिरही बाउरी, फिरत गिरि-गिरि, लोकन तें न लजात॥
सखी० ॥४॥

पीउ बिन पलक कल नहीं जीउकूं, न रुचित रसिक गुबात।
कुमुदचन्द्र प्रभु सरस दरस कूं, नयन चपल ललचात॥
सखी० ॥५॥

व्यक्तित्व

संत कुमुदचन्द्र संवत् १६५६ से १६८७ तक भट्टारक पद पर रहे। इतने लम्बे समय में इन्होंने देश में अनेक स्थानों पर विहार किया और जन-साधरण को धर्म एवं अध्यात्म का पाठ पढ़ाया। ये अपने समय के असाधारण सन्त थे। उनकी गुजरात तथा राजस्थान में अच्छी प्रतिष्ठा थी। जैन साहित्य एवं सिद्धान्त का उन्हें अप्रतिम ज्ञान था। वे संभवतः आशु कवि भी थे, इसलिए श्रावकों एवं जन-साधारण को पद्य रूप में ही कभी-कभी उपदेश दिया करते थे। इनके शिष्यों ने जो कुछ इनके जीवन एवं गतिविधियों के बारे में लिखा है, वह इनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व की एक झलक प्रस्तुत करता है।

शिष्य परिवार

वैसे तो भट्टारकों के बहुत से शिष्य हुआ करते थे जिनमें आचार्य, मुनि, ब्रह्मचारी, आर्यिका आदि भी होते थे। अभी जो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें अभयचंद्र, ब्रह्मसागर, धर्मसागर, संयमसागर, जयसागर एवं गणेश सागर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी शिष्य हिन्दी एवं संस्कृत के भारी विद्वान् थे और इनकी बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। अभयचन्द्र इनके पश्चात् भट्टारक बने। इनके एवं इनके शिष्य परिवार के विषय में आगे प्रकाश डाला जावेगा।

कुमुदचन्द्र को अब तक २८ रचनाएँ एवं पद उपलब्ध हो चुके हैं उनके नाम निम्न प्रकार हैं।

१. रचनाएँ—

रचना	पद्य
१. त्रेपन क्रिया विनती	१४ पद्य
२. आदिनाथ विवाहलो	१४ ,,
३. नेमिनाथ द्वादशमासा	१४ ,,
४. नेमीश्वर हमची	८७ ,,
५. अण्य रति गीत	१७ ,,
६. हिंदोला गीत	३१ ,,
७. वणजारा गीत	२१ ,,
८. दशलक्षण धर्मव्रत गीत	११ ,,
९. शील गीत	१० ,,
१०. सप्तव्यसन गीत	१३ ,,
११. अठाई गीत	१४ ,,
१२. भरतेश्वर गीत	७ ,,
१३. पार्श्वनाथ गीत	१९ ,,
१४. अन्धोलडी गीत	१३ ,,
१५. आरती गीत	७ ,,
१६. जन्म कल्याणक गीत	८ ,,
१७. चिंतामणि पार्श्वनाथ गीत	१३ ,,
१८. दीपावली गीत	६ ,,
१९. नेमि जिन गीत	११ ,,
२०. चौबीस तीर्थकर देह प्रमाण चौपई	१७ ,,
२१. गौतम स्वामी चौपई	८ ,,
२२. पार्श्वनाथ की विनती	१७ ,,
२३. लोडण पार्श्वनाथ जी	३० ,,
२४. आदीश्वर विनती	१० ,,
२५. मुनिसुव्रत गीत	७ ,,
२६. गीत	१० ,,
२७. जीवडा गीत	६ ,,
२८. भरत बाहुबलि छन्द	

इनके अतिरिक्त उनके रचे हुये ३१ पद और मिले हैं। वे भी सरस और हृदयग्राही हैं।

कार्त्तिकेय

श्री सत्याश्रय भारती

(गतांक से आगे)

(९)

'वत्स ! तुम सरीखा सत्पात्र पाकर मुझे बहुत प्रसन्नता होती है। तुमने किस वंश को सौभाग्यशाली बनाया है ?'

'महाराज ! मेरे पिता ने अपनी ही कन्या के साथ शादी कर ली थी। उसी का फल मेरा यह शरीर है।'

'हाय! हाय! ! तब तो मैं तुम्हें दीक्षा नहीं दे सकता।'

'परन्तु यह कुकर्म मेरे पिता ने किया है। मैंने नहीं।'

'कुछ भी हो। तुम्हारे दीक्षा लेने से धर्म डूब जायगा।

कुंवर ने कुछ न कहा, और दूसरी जगह प्रस्थान कर गये।

(१०)

'वत्स ! तुम्हारा कहना ठीक है। अपराध तुम्हारे पिता का ही है। परन्तु लोग इस बात को नहीं समझते।'

'तो उन्हें समझाना चाहिये। यदि उनका यह अज्ञान है तो उसके दूर करने में ही समाज का कल्याण है। ज्ञानियों को अज्ञानियों का अनुसरण नहीं करना चाहिये।'

'यह ठीक है परन्तु अज्ञानियों का विरोध कौन सिर पर ले।'

'तब जाने दीजिये ! मुझे तो ऐसे गुरु की जरूरत है जो सत्य के लिये अकेले दम पर दुनिया के सामने खड़ा रह सके, अन्तरात्मा की आवाज से जो यश-अपयश का निर्णय करता हो, जो दुनिया का पथप्रदर्शक नेता हो,—उसे खुश करने वाला गुलाम नहीं। मुझे वैद्य चाहिये—न कि नट।'

आचार्य ने झेंप कर मुंह फेर लिया।

(११)

'वत्स ! तुम्हारे माता-पिता कैसे भी हों, मुझे इससे कुछ मतलब नहीं। धर्म का निवास आत्मा में है, हाड़, मांस और चमड़े में नहीं। फिर हाड़ मांस किस का शुद्ध होता है, जो उस पर विचार किया जाय ! व्यभिचार पाप है, व्यभिचारजातता पाप नहीं है। बेटी, बहिन से सम्भोग करना पाप है, परन्तु ऐसे सम्बन्ध से पैदा होना पाप नहीं है। धर्म तो मनुष्यमात्र का नहीं, प्राणिमात्र का है।'

'गुरुवर्य ; क्या धर्म में पात्र-अपात्र का विचार नहीं किया जाता ?'

'किया जाता है। कीड़े-मकोड़े आदि तुच्छ प्राणी धर्म नहीं धारण कर सकते, इसलिये अपात्र हैं। परन्तु पशु, पक्षी और मनुष्य (स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच, संकर-असंकर सभी) धर्म धारण करने के लिये पात्र हैं। समझदार प्राणियों में वे ही अपात्र हैं जो धर्म के मार्ग में स्वयं चलना नहीं चाहते या अपनी शक्ति लगाना नहीं चाहते।'

'क्या दुराचारी अपात्र नहीं है ?'

'दुराचारी तभी तक अपात्र है जब तक वह दुराचारों में लीन है। दुराचार का त्याग करने वाला व्यक्ति, या दुराचार से पैदा होने वाला व्यक्ति, अपात्र नहीं है।'

'क्या ऐसे लोगों के पास धर्म के चले जाने से धर्म की हंसी न होगी ?'

'यदि नीच से नीच व्यक्ति के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ने पर भी सूर्य की हँसी नहीं होती तो महासूर्य के समान धर्म की हँसी क्यों होगी ?'

'कुंवर मन ही मन खुश हुए। जिस रत्न की खोज में वे आज तक फिर रहे थे, वह उन्हें मिल गया। माता के अवसान के बाद उनने सैंकड़ों साधुवेषियों की खोज की थी। उनने वीतरागता का ढोंग करने वाले, अनेक जीव देखे थे। शिष्यों और भक्तों का ठाठ लगाने वाले, नाम के पीछे मरने वाले, दम्भी भी उन्हें मिले थे। अज्ञानता से या यश की इच्छा से, भूखों मरने वाले या अनेक तरह के कायक्लेश सहने वाले पशु भी उनकी नजर में आये थे। दुराचार के पुतले घोर व्यभिचारी बगुलों को उनने लोगों के द्वारा पूजते देखा था। साधु-वेष से ढके हुए कई भोले-भाले

मूर्ख जन्तु भी उन्हें मिले थे। सभी जनता के गुलाम थे। कोई पेटार्थू थे तो कोई नाम के भूखे थे। सत्य को ग्रहण करने की, या उसको प्रकाश में लाने की हिम्मत किसी में नहीं थी। परन्तु कुंवर को आज एक ऐसा गुरु मिला था जो सत्य का पुजारी था। संसार की भलाई करने वाला या उसकी भलाई चाहने वाला था। वह संसार का गुलाम नहीं था। उसे सत्य की परवाह थी। लोगों के बकवाद की परवाह न थी।

कुंवर ने पूछा—गुरुवर्य ! मैंने ऐसा क्या किया था जिससे इस जन्म में मुझे पापी होना पड़ा ?'

'वत्स ! मैं समझता हूँ इस जन्म में तुम पापी नहीं बनें। पाप करने वाला पापी कहलाता है—पाप का फल भोगने वाला पापी नहीं कहलाता। कष्ट और आपत्तियाँ पाप का ही फल है और सच्चे से सच्चे महात्मा के ऊपर भी आती हैं। क्या इसलिये वे पापी कहलाते हैं ? अगर तुम्हारा जन्म तुम्हारे लिये कष्टप्रद हुआ तो वह पाप का फल कहा जायगा, न कि पाप।'

हर्ष के मारे कुंवर के शरीर पर काँटे आ गये। उनने जिज्ञासा के भाव से पूछा—'गुरुवर्य ! मैंने ऐसा क्या पाप किया था कि मुझे ऐसा जन्म मिला ?'

'वत्स ! प्रकृति का नियम है कि जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। इसलिये यह बात नश्चित है कि तुमने अवश्य ही पूर्व जन्म में, जन्म का बहाना निकाल कर किसी मनुष्य के धार्मिक अधिकारों पर डाका डाला होगा। इसलिये तुम्हें इस जन्म में उसका फल भोगना पड़ा। जो लोग जन्म के बहाने ऊंच-नीच छूत-अछूत, पात्र-अपात्र की कल्पना करते हैं उन्हें अनेक तरह के बुरे जन्म मिलते हैं। तुम पूर्वजन्म में बहुत धर्मात्मा व्यक्ति थे किन्तु आवेश में आकर तुम्हारे मुँह से एकाध बार ऐसे शब्द निकल गये होंगे इसलिये तुम्हें ऐसा जन्म मिला। जो लोग बगुला-भक्त और छिपे हुए दुराचारी हैं फिर भी जन्म का अहंकार रखते हैं या जो दूसरों को जन्म से नीचा गिनते रहते हैं और ऐसी ही बातों का प्रचार करते हैं, उनके पाप का क्या ठिकाना ?'

कुंवर की आँखों में आंसू आगये। यह कौन कह सकता है कि वे हर्ष के थे कि शोक के ? उनने प्रार्थना की—

'गुरुवर्य ! मैं ऐसे गुरु की खोज में था। सौभाग्य से मुझे आप सरीखे सत्गुरु की प्राप्ति हुई है। अब मैं मोक्ष मार्ग में चलना चाहता हूँ। यदि आप मुझे साधु-दीक्षा दें तो बड़ी कृपा हो। क्या मैं इस दीक्षा के योग्य हूँ।

गुरुवर्य कुछ चिन्ता में पड़े। फिर बोले—'तुम योग्य हो, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यह खयाल रक्खो कि अपने जीवन को दूसरों के सिर का बोझ बना देने से कोई साधु नहीं बनता। साधु आत्मोद्धार और परोपकार की अप्रतिम मूर्ति होता है ?'

'गुरुवर्य ! आप जो आज्ञा करेंगे उसका पालन मैं तन और वचन से ही नहीं, मन से भी करूँगा। आप बताइये कि मुझे साधु बनने के लिये क्या करना चाहिये और किस वेष में रहना चाहिये ?'

'साधु होने के लिये सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि वह किसी से द्वेष और मोह न रक्खे और उसके हृदय में किसी भी कषाय की वासना एक मुहूर्त से अधिक न ठहरे। कषाय का आवेग कभी तीव्र न हो। रही वेष की बात, सो वेष कोई भी हो, चिन्ता नहीं। हां ! वह अल्पारम्भी होना चाहिए। वास्तव में वेष का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। वेष तो इसलिये रक्खा जाता है कि लोग साधारण पहिचान कर सकें। साधुता तो निःकषाय, उदार, परोपकारमय, अप्रमत्त जीवन में है।'

कुंवर ने भक्ति से गद्‌गद् होकर साधु जी के चरणों में नमस्कार किया, ऐसा नमस्कार करने का कुंवर के जीवन में यह पहिला ही अवसर था।

(१२)

दो-तीन दिन में ही रोहेड नगर की कायापलट हो गई। लोगों में धर्म के नाम पर जो अन्ध श्रद्धा थी, समाज-हित के नाम पर जो रूढ़ि-प्रेम था, उच्चता के नाम पर जो जाति मद था, वह सब नष्ट हो गया। लोगों ने मनुष्यत्व का सन्मान करना सीखा। हर एक कार्य में बुद्धि और विवेक को स्थान मिला। अमावस्या के स्थान पर शरत्-पूर्णिमा हो गई। यह सब कार्तिकेय मुनि का प्रभाव था। मुनिराज के आने के पहले यहाँ स्त्रियों की और शूद्रों की बड़ी दुर्दशा थी। शूद्रों का सम्पर्क करना, उन्हें धर्मा-यतनों में आने-जाने देना, स्त्रियों से सलाह लेना, पाप

समझा जाता था। जिस दिन शाम को मुनिराज पधारे, उस दिन बाग में सैकड़ों आदमी थे। बाग के किनारे एक पक्का मण्डप-सा बना था, जहां पर कि लोग बैठा करते थे। वहीं पर कार्तिकेय मुनि पहुँचे। इससे बाग में घूमने वालों का ध्यान आकर्षित हो गया। एक मुनि को देखकर जनता ने उन्हें घेर लिया। थोड़ी देर के लिये मुनिराज तमाशा बन गये।

बाग में कुछ पण्डित भी विहार कर रहे थे। उनने जब मंडप को भीड़ से भरा हुआ देखा तो वे भी पहुँचे। वहाँ बिलकुल शांति थी। पण्डितों के पहुँचते ही जनता ने रास्ता दे दिया। पण्डित लोग मुनिराज के समीप पहुँचे। और पूछा—

पण्डित—आपका परिचय ?

मुनि—मैं एक मुनि हूँ, यह तो आप देख ही रहे हैं। मेरा नाम कार्तिकेय है।

पण्डित—आपकी जाति ?

मुनि—मुनियों के तो कोई व्यवहारिक जाति नहीं होती है। वे तो मनुष्य-जाति के होते हैं। मेरी जाति भी मनुष्य है।

पण्डित—फिर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य में से कोई तो होंगे ?

मुनि—कोई नहीं।

पण्डित—तो क्या शूद्र ?

मुनि—शूद्र भी नहीं।

पण्डित लोग एक-दूसरे के मुंह की ओर ताकने लगे। उनकी आंखें एक-दूसरे से पूछ रही थीं कि यह कैसी विचित्र बात है! मुनिराज ने उनके आश्चर्य को समझकर कहा—जो लोग अध्यापन आदि कार्यों से अपनी आजीविका चलाते हैं वे ब्राह्मण हैं। जो लोग सैनिकवृत्ति से या प्रजा-रक्षण से आजीविका चलाते हैं वे क्षत्रिय हैं। जो लोग कृषि वाणिज्य आदि से आजीविका करते हैं वे वैश्य हैं, और जो लोग सेवा-चाकरी करके आजीविका करते हैं वे शूद्र हैं। मैं अब जीविका के क्षेत्र से बाहर निकल गया हूँ, इसलिये अब मनुष्य सिवाय अन्य किसी भी जाति का नहीं रहा हूँ। हाँ मुनि होने के पहिले मैं कृषक वैश्य बना था परन्तु मेरे माँ-बाप क्षत्रिय थे।

इस उत्तर से पहेली और जटिल हो गई। एक पण्डित ने कुछ रूक्षता के साथ कहा—एक ही जन्म में क्या जाति भी बदल सकती है ?

मुनि महाराज ने कहा—जब आजीविका का उपाय बदल सकता है तब जाति क्यों नहीं बदल सकती ? शरीराश्रित, मनुष्यत्व, अश्वत्व आदि जातियां एक ही जन्म में नहीं बदल सकतीं, परन्तु आचाराश्रित भावाश्रित आजीविकाश्रित जातियों का जीवन के साथ क्या संबंध! ब्राह्मणादि आजीविकाश्रित जातियाँ हैं। आजीविका के बदल जाने पर इनका बदल जाना अनिवार्य है।

पण्डित लोग कुछ खिसयाकर बोले—तब तो आपकी दृष्टि में शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है ? इस तरह तो सब एकाकार हो जायगा ?

मुनिराज ने गम्भीरता से कहा—मान लो, एकाकार हो गया तो आप दूसरे की उन्नति में दुःखी क्यों होते हैं ?

पण्डित—परन्तु इसमें उन्नति क्या है ? ब्राह्मण में और शूद्र में फिर भेद ही क्या रह जायगा ?

मुनि—हाथ, पैर, कान, नाक आदि सभी बातें ब्राह्मण और शूद्र के समान पाई जाती हैं। फिर दोनों में अभी क्या भेद है ?

पण्डित—सदाचार दुराचार का।

मुनि—सो तो तब भी होगा। दुनिया से दुराचार का नाश न होगा। अगर हो भी जाय तो क्या बुरा है ?

पण्डित—परन्तु दुराचारी सदाचारी को एक-सा कर देना तो अच्छा नहीं कहा जा सकता।

मुनि—यह ठीक है परन्तु अगर दुराचारी सदाचारी बन जाय तो क्या हानि है ? शूद्र भी हिंसा के त्यागी होते हैं, सत्य भी बोलते हैं, अचौर्य पालन करते हैं, ब्रह्मचर्य से रहते हैं, त्याग करते हैं। क्या तब भी वे उच्च नहीं हैं ? उच्चता का सम्बन्ध अगर आप शरीर की पवित्रता से मानते हो तो पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति आदि भी उच्च कहलायेंगे। हाड, मांस से बना हुआ मनुष्य शरीर उच्च न कहलायगा। अगर आत्मा की पवित्रता से उच्चता का सम्बन्ध है तब तो शूद्र भी उच्च हो सकता है। जब तुम ब्राह्मण कुलोत्पन्न दुराचारी को भी उच्च कहते हो और शूद्रकुलो

त्पन्न सदाचारी को भी नीच कहते हो तब क्या तुम सदाचार का अपमान और दुराचार का सम्मान नहीं करते हो ? सदाचार को सरलता से प्राप्त करने के लिए कुल एक साधन है । परन्तु अगर किसी ने किसी तरह सदाचार प्राप्त कर लिया है तब किसी एक साधन के न रहने पर भी क्या हानि है ?

पंडित लोग पसीने से भीग गये, अनेक लोगों के हृदय में तूफान-सा मच गया, बहुत से लोगों का बुखारसा उतर गया । बड़ी मुश्किल से एक पंडित जी बोले—आप बिलकुल शास्त्र-विरुद्ध बोलते हैं ।

मुनिराज मुस्कराये, फिर कुछ गम्भीरता से बोले—जो बात तर्क से सिद्ध होती है, जिससे समाज का कल्याण है, जिससे गिरे हुये लोगों का उद्धार होता है, जिससे मदरूपी ज्वर शांत होता है, जो हर तरह सत्य है, क्या वह शास्त्र या धर्म से विरुद्ध हो सकती है ? सत्यता ही शास्त्र की और धर्म की कसौटी है । शास्त्र के विरुद्ध जाने से सत्य, असत्य नहीं होता, किन्तु सत्य के विरुद्ध जाने से शास्त्र कुशास्त्र, धर्म कुधर्म हो जाता है । अगर कोई सच्ची बात धर्मशास्त्रों में नहीं लिखी है तो यह उस बात का दुर्भाग्य नहीं है किन्तु यह धर्मशास्त्र का दुर्भाग्य है ।

इस वार्तालाप से जनता की आंखें खुल गईं वह प्रसन्नता से नाचने लगी । परन्तु पंडितों को तो ऐसा मुक्का लगा कि उनके पांडित्य का और अभिमान का कचूमर निकल आया ।

दूसरे दिन सुधार का पवन ऐसा प्रबल हो गया कि उसने पुराने से पुराने घूरे भी उड़ाकर साफ दिए । पंडितों की तो मानों थाली छिन गई । उन्हें मालूम हुआ कि मुक्के की चोट, पेट पर भी जमकर बैठी है । वे मन ही मन कराहने लगे ।

(१३)

रात्रि के आठ बजे थे । सजा हुआ कमरा था । महाराज ने सब सुन करके धीरे-धीरे दांत पीसे और कहा—'ठीक ! मैं अभी देखता हूँ ।' इसके बाद वे फिर चिन्ता में पड़ गये । आगंतुकों के दिल इस समय धुक-धुक हो रहे थे । थोड़ी देर बाद महाराज ने कहा—'क्या सचमुच उस साधु ने ऊँच नीच, राजा प्रजा के भेद-भाव को नष्ट करने की बात कही थी ? क्या वह राजविद्रोह की तैयारी करा रहा है ?'

एक पंडित ने कहा—महाराज ! वह जोर देकर कहता है कि अगर कोई शूद्र आज क्षत्रिय बनना चाहता है या कोई मनुष्य राजा बनना चाहता है तो बनने दो । राजा बनने के लिये राजकुल में जन्म लेने की कोई जरूरत नहीं है । फल इसका यह हुआ है कि लोगों के हृदय में आपके ऊपर भक्ति ही नहीं रही है । यह बहुत भयंकर प्रचारक है, महाराज !

महाराज ने ओंठ चबाकर कहा—'हुं' । बीजाक्षरी संहारक मंत्र के समान इस 'हुं' में अपरिमित क्रूरता भरी थी ।

(१४)

मुनि कार्तिकेय का लोकोपकार भी आत्मोद्धार के लिए था, आत्मोद्धार लोकोपकार के लिए । परोपकार के लिए वे जितना बाहरी कार्यों पर जोर देते थे उससे ज्यादा आत्मशुद्धि पर जोर देते थे । आवश्यक कार्यों के सिवाय वे सदा मौन रखते थे, और रात्रि में तो मौन निश्चित था । जिस समय राजा के सिपाही मुनिराज के पास पहुँचे उस समय वे ध्यान में बैठे थे । आस-पास दो-चार नागरिक थे जो कि भक्तिवश अभी तक घर नहीं गये थे । राजपुरुष ने पूछा—वह नया साधु कहां है । नागरिकों को यह एकवचन खटका । वे ताज्जुब से राजपुरुष की तरफ देखने लगे । राजपुरुष ने एक क्रूर-दृष्टि नागरिकों पर डाली । फिर इधर-उधर नजर डाल कर और पास ही बैठे हुए कार्तिकेय को देखकर बड़े मिजाज से उनके पास पहुँचा । 'तुम को महाराज ने गिरफ्तार करने का हुक्म दिया है' । ये शब्द उसने अधिकारपूर्ण स्वर में कहे परन्तु उत्तर कुछ न मिला । 'क्या सुन नहीं पड़ता ? 'तुम को अभी चलना पड़ेगा' आदि का भी कुछ उत्तर न मिला । तब एक सिपाही ने हाथ पकड़ कर उठाना चाहा परन्तु उठा न सका । नागरिकों ने कहा—'आप इस तरह अन्याय क्यों करते हो ? आप सबेरे तक शान्त रहिए' । राजकर्मचारी ने तमक कहा—'चुप रहो' । एक सिपाही ने एक नागरिक को धक्का देकर गिरा दिया ।

जब कुछ बस न चला, तो एक ने सिर, एक ने कमर,

एक ने पैर पकड़ कर उठा लिया और इस तरह लादकर वे राजमहल में पहुँचे। राजा ने कहा—यह क्या!

'महाराज! न तो यह बोलता है, न हिलता-जुलता है। 'राजा ने क्रूरतापूर्वक हँसते हुए कहा—अच्छा जरा इसकी मरम्मत कर दो।'

सिपाही, भूखे, भेड़िए की तरह टूट पड़े। शोर होने लगा। रानी के कानों तक भी यह समाचार पहुँचा। उसका कोमल हृदय पिघल उठा। वह दौड़ कर नीचे आई। कार्तिकेय का शरीर खून से लथपथ हो रहा था। रानी ने चिल्लाकर कहा—अरे यह क्या करते हो। यह तो मेरा भाई कार्तिकेय है। राजा एक क्षण के लिए चौंका, परन्तु दूसरे ही क्षण उसने कहा—कोई भी हो। जो राज-द्रोही है उसकी यही दशा होना चाहिये रानी ने कुछ न सुना। खून से स्नान किए हुये अपने भाई से लिपट कर रोने लगी।

राजा ने कठोरता से कहा—राज शासन में आड़े आने का तुझे कुछ अधिकार नहीं है। गुलाम की तरह रहना तो रह। इसके बाद राजा ने रानी का हाथ पकड़कर दूसरी तरफ ढकेल दिया, और चिल्लाकर कहा—हटाओ इसको! आंसू बरसाती हुई दासियों ने रानी को अपने हाथों पर रक्खा और भीतर ले गई।

(१५)

राजमहल के बाहर कार्तिकेय का अर्धमृतक शरीर एक कम्बल से ढक कर डाल दिया गया था जिसे कि तुरन्त ही कुछ लोग उठा ले आये थे। रात्रि भर खूब परिचर्या होती रही परन्तु सफलता के चिन्ह न थे। दूसरी तरफ रात्रि भर लोकसभा की बैठक होती रही थी। सब काम चुपचाप हो रहा था। रोहेड़नगर एक तरह से शान्त था परन्तु यह शान्ति ऐसी थी जैसे तूफान आने के पहले समुद्र में होती है।

(१६)

प्रातःकाल जब राजा सोकर उठा तब उसे राजमहल बिल्कुल शान्त मालूम हुआ। नौकरों को पुकारा परन्तु कोई उत्तर नही। राजा पहिले क्रुद्ध हुआ, फिर चिन्तातुर। वह उठा। खिड़की में से बाहर नजर डाली। राजमहल चारों तरफ से घिरा था। राजा को समझने में देर न लगी, वह रानी के कमरे की ओर भागा।

रानी अभी तक बिस्तर पर पड़ी थी। राजा ने उसे आवाज देकर जगाया परन्तु रानी ने कुछ भी उत्तर न दिया। राजा ने भर्राई हुई आवाज में कहा—'यह रिझाने का समय नहीं है। मैं मौत के मुंह में फँस गया हूँ। सिर्फ अन्तिम भेंट करने आया हूँ। अबकी बार भी रानी न बोली।

'अच्छा! इतना क्रोध!' 'इतना अभिमान।' यह कहकर वह कमरे से बाहर हो गया परन्तु कमरे से बाहर कोई दूसरा आदमी था ही नहीं। नीचे बहुत से आदमियों की आवाज आ रही थी। राजा ने दौड़कर बीच के दो तीन दरवाजे बन्द कर दिये। फिर मन ही मन गुनगुनाया—रानी, मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है। परन्तु अन्तिम समय में तुम मुझसे बात भी न करो, यह तो समस्त अपमानों का बहुत अधिक प्रतिशोध है' उसकी आँखों से आंसू बहने लगे। उसने एक बार रानी को हाथ पकड़कर उठाने का विचार किया। इसलिए कमरे में पहुँचा। रानी का हाथ पकड़ा परन्तु वह बिलकुल ठंडा था, नाड़ी बन्द थी। रानी तो कभी की स्वर्ग चली गई थी।

राजा रानी का सिर अपनी गोद में रखकर आँसू बहाने लगा इतने में एक जोर के धक्के से कमरे के किवाड़ टूटकर गिर पड़े और पाँच सात आदमियों ने कमरे में प्रवेश किया। बाकी लोग बाहर खडे रहे। राजा ने आंसू भरी आँखों से उनकी तरफ देखा और नजर फेंककर फिर रानी का मुह देखने लगा। आगन्तुकों में से एक ने कहा—रोहेड़ राज्य की प्रजा की तरफ से तुम को गिरफ्तार करता हूँ।

राजा ने कुछ उत्तर न दिया।

दूसरा बोला—तुमने प्रजा के पूज्य व्यक्ति का वध किया है।

तीसरा बोला—तुमको मृत्युदण्ड दिया जायगा।

राजा ने कुछ उत्तर न दिया। वह उठा और उसने हथकड़ी पहिनने के लिए अपने हाथ बढ़ा दिये।

(१७)

कार्तिकेय की अवस्था बहुत खराब थी बीच-बीच में वे बेहोश हो जाते थे। जिस समय प्रजा के मुखियों ने राजा को लाकर वहाँ खड़ा किया उस समय वे बेहोश थे।

चिकित्सक लोग कह रहे थे—थोड़ी देर में इन्हें होश आ जायगा।

उनकी बात सच हुई। कार्तिकेय को होश आया। उनने आखें खोली और पैरों की तरफ थोड़ी दूर पर हथकड़ियों से जकड़े हुए राजा की तरफ उनकी दृष्टि पड़ी। राजा ने शरम से सिर झुका लिया। एक नागरिक ने कहा—आपके ऊपर अत्याचार करने के कारण प्रजा ने इसे क़ैद किया है। इसे मृत्युदंड दिया जायगा। आपकी आज्ञा भर की देर है।

असह्य वेदना के रहने पर भी कार्तिकेय के मुँह पर हलकी हँसी दिखाई देने लगी। वे बोले—इनने जो कुछ किया, अज्ञान से या किसी के सिखाने से किया। मैं इन्हें क्षमा करता हूँ। इन्हें छोड़ दो।

सब ने बड़े आश्चर्य से यह आज्ञा सुनी। राजा के आश्चर्य का कुछ ठिकाना न रहा। उसका हृदय जो अभी तक विवशता से सब सह रहा था, गलकर पानी हो गया। उसे अपने कृत्य का तीव्र पश्चात्ताप हुआ उसने कहा—महाराज ! मैं क्षमा नहीं चाहता हूँ। प्रायश्चित्त चाहता हूँ।

कार्तिकेय ने कहा—प्रायश्चित्त तप है। वह कराया नहीं जा सकता, किया जा सकता है। इसके बाद उनकी अवस्था बिगड़ने लगी। अन्त में लड़खड़ाते हुए शब्दों में कहा—इन्हें ..छो ..ड़...दो...

इसके बाद महात्मा ने महायात्रा की। सबको असह्य दुःख हुआ। परन्तु जो दुःख राजा को हुआ वह अप्रतिम था।

मध्याह्न के बाद महात्मा की श्मशान यात्रा का बड़ा भारी जुलूस निकला। सारा नगर उमड़ आया। महात्मा के शरीर के लिए जो विमान बनाया गया था उसके अगले भाग में जो एक आदमी था उसके आंसू सबसे ज्यादा बह रहे थे। वह राजा था।

इस समय नगर में कोई न बचा था। प्रकाश के भय से उल्लू की तरह सिर्फ वही पंडित घर के किसी अँधेरे भाग में छिपे पड़े थे।

सीरा पहाड़ के प्राचीन जैन गुफा मन्दिर

— श्री नीरज जैन —

नाग वंशीय शासक परम शैव थे, अपने अधिष्ठाता देव को मस्तक पर धारण करके उनके भारवाहक बनने के कारण वे "भार शिव" भी कहलाए, भारशिवों का उत्तराधिकार उनकी पुत्री की संतति होने के कारण कालांतर में वाकाटकों को प्राप्त हुआ, संक्षेप में यही भारतीय इतिहास के उस महत्वपूर्ण काल की कथा है जो कुषाण काल और गुप्त काल के बीच की ऐतिहासिक लड़ी के रूप में जाना जाता है

वाकाटकों के शासनकाल में भारतीय मूर्तिकला में बड़े महत्त्वपूर्ण और कतिपय विस्मयकारी विकास हुए हैं, उस युग तक मूर्तिकला मनुष्य की धार्मिक श्रद्धा का केन्द्र होने के अतिरिक्त मानव-मन के सौंदर्य-बोध की अभिव्यक्ति का एक प्रमुख साधन भी बन चुकी थी। उसके पूर्व, यद्यपि बौद्धों में भगवान बुद्ध की मूर्ति बनाने का निषेध था, तो भी भिन्न-भिन्न जातकों का प्रश्रय लेकर बौद्ध मठों और बिहारों को अलंकृत करने का मार्ग ढूढ़ निकाला गया था। ऐसी स्थिति में शैव कैसे सन्तोष करते ? अतः उन्होंने शिव लिंग में शिव मुख की आकृति उत्कीर्ण करने की प्रथा का प्रारम्भ किया। सतना के पास नकटी की खोह का एक मुख शिव लिंग—जो प्रयाग के संग्रहालय में वर्तमान है—इस काल का उत्कृष्ट उदाहरण है, उससे भी अधिक उत्कृष्ट और मनोरम एकमुख शिवलिंग भूमरा के मंदिर में अवस्थित है। स्व० श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने भार कुल बाबा नाम से उस मंदिर का वृहत् अनुसंधान किया था, यह मंदिर परसमनियां पहाड़ पर सतना से पेंतीस मील दूर जंगल में स्थित है। इसके भी अधिकांश अवशेष प्रयाग संग्रहालय में तथा रामवन (सतना) के तुलसी संग्रहालय में सुरक्षित हैं। शिवमुख की ये आकृतियां इतनी सुन्दर, सजीव और कलापूर्ण अंकित हुई हैं कि समूची और बड़ी-बड़ी देव प्रतिमाएं भी उनकी तुलना में उन्नीस ही प्रतीत होती हैं।

भूमरा का यही पहाड़ सीधा नागोद के नचना नामक स्थान तक फैला हुआ है, जहां उसके दूसरे सिरे पर वाकाटक काल के अति प्रसिद्ध चतुर्मुख शिव और पार्वती मन्दिर—अवस्थित हैं, यहां का चतुर्मुख शिव लिंग, जो चम्बुकनाथ के नाम से विख्यात है, मूर्तिकला का अपने ढंग का एक ही उदाहरण है। यहां के भी अनेक अनुपम कलावशेष तथा शिलालेख प्रयाग और रामवन में सुरक्षित हैं।

पहिली बार इन स्थानों का भ्रमण करते हुए सहज ही यह प्रश्न मेरे मन में उठा कि जिस काल में भूमरा तथा नचना के उन अद्भुत मंदिरों का निर्माण हो रहा था उस समय इन स्थानों पर जैन मूर्तियों एवं मंदिरों का निर्माण अपने क्रमिक विकास की किस स्थिति में था ? मेरी इस जिज्ञासा का सप्रमाण, विस्तृत और सटीक समाधान मुझे नचना के पास ही सीरा पहाड़ और सिद्धनाथ में प्राप्त भी हो गया। सिद्धनाथ का जैन स्थापत्य एक प्रथक् लेख का विषय था जो **"तीन विलक्षण जिन बिम्ब"** शीर्षक से अनेकांत के जुलाई ६२ के अङ्क में जा चुका है, प्रस्तुत लेख में केवल सीरा पहाड़ पर प्रकाश डालना ही मेरा अभीष्ट है।

नचना के चतुर्मुख शिव एवं पार्वती मंदिरों के कोटर से लगा हुवा, कमल पुष्पाच्छादित एक सुन्दर सरोवर है, जिसकी दक्षिण ओर विन्ध्य की एक सुन्दर शाखा पूर्व-पश्चिम खड़ी हुई है, यही सीरा पहाड़ है, तालाब के उस ओर सामने से ही ऊपर जाने के लिए मार्ग है और कुछ दूर तक सीढ़ियां भी बनी हुई हैं पर चढ़ाई सुगम नहीं है, ऊपर जाने पर एक अति विशाल शिला खंड के नीचे प्रकृति निर्मित दो गुफाएं मिलती हैं, उन दोनों गुफाओं में जैन प्रतिमाएं विराजमान हैं, पहिली गुफा में एक मूर्ति है और दूसरी में आठ, दोनों गुफाएं पहिले सामने की ओर से खुली थीं पर बाद में उनमें दरवाजा छोड़कर ईंटों की दीवार उठा दी गई है।

सीरा पहाड़ की दूसरी गुफा की प्रतिमाएँ
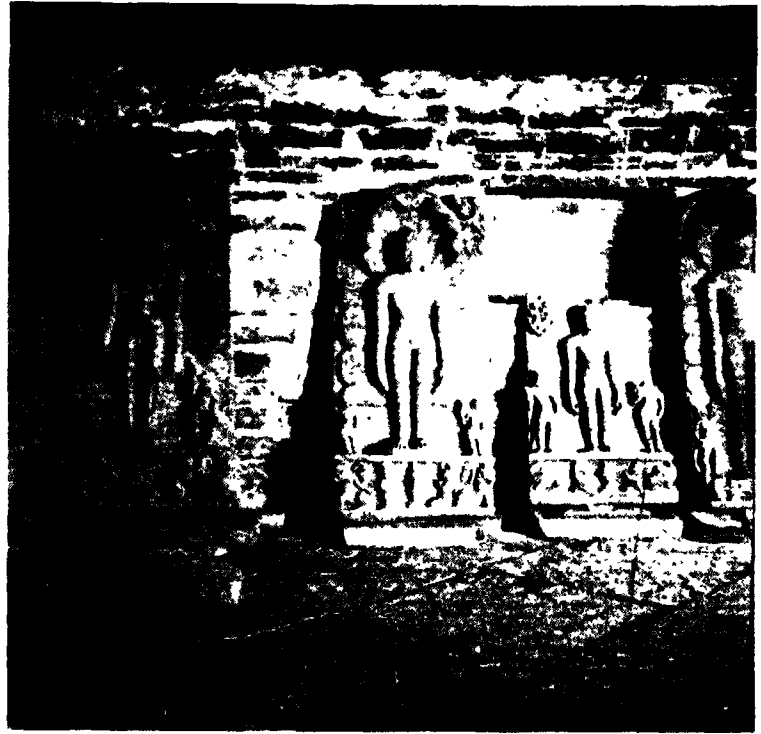
"विशाल पद्मासन प्रतिमा का केश-संयोजन और पीठिका में धर्मचक्र दर्शनीय है।"

पहली गुफा

बीस फुट लम्बी और चौदह फुट चौड़ी इस उत्तर-मुख गुफा के पश्चिमी सिरे पर एक विशाल शिला के तीन फुट चौड़े, पांच फुट ऊंचे फलक पर अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अति सुन्दर पद्मासन प्रतिमा पूर्व की ओर मुख किए विराजमान हैं, नीचे सिंहपीठ में दोनों ओर दो बहिर्मुख, सुन्दर आयाल से गज्जित सिंहों का अंकन है, उनकी पूंछ का घुमाव सुन्दर है, पीठिका के बीचों बीच अंकित धर्मचक्र की अर्चना करते हुए मूर्ति प्रतिष्ठापक श्रावक सकुटुम्ब दिखाए गए हैं, बायीं ओर पुष्पमाल लिए और और करबद्ध दो पुरुष हैं और दाहिनी ओर आरती करता हुआ एक पुरुष और आभरण अलंकृता एक सौभाग्यवती नारी अंकित है।

पीठिका के ऊपर अत्यंत मनोहारी, मनोज्ञ और मनोरम मुद्रा मे, स्मितवदन, नासाग्रदृष्टि, सन्मतिनाथ की ३७ इंच ऊंची पद्मासन मूर्ति प्रतिष्ठित है जो साधारण मानवाकार से डेवढ़ी अवगाहना की प्रतीत होती है, मूर्ति पूर्णतः अखंडित है और उस पर किए हुए अन्य पालिश ने प्रतिमा को सजीवता और अनन्त आकर्षण प्रदान कर दिया है, गुप्तकाल के पुरातत्व में भी इतना बढ़िया पालिश बहुत कम देखने में आता है।

प्रतिमा का अंकन करने मे इतनी बारीक छैनी का प्रयोग किया गया है कि पैरों की अंगुलियों में तथा पगतल में विभिन्न रेखाएं और हाथ की अंगुलियों में मंगल चिन्ह तथा हथेली की रेखाएं तक सुस्पष्ट परिलक्षित होती हैं। गले का उतार तथा हाथों की ढाल अति स्वाभाविक बन पड़ी है, केशावलि को छल्लों के माध्यम से सुरुचि पूर्ण व्यवस्था में संयोजित किया गया है, प्रतिमा के आसन में भव्यता एवं निर्दोष मुख-मुद्रा पर खेलते हुए वीतरागता के स्पष्ट-भाव दर्शक का मन अनायास मोह लेते हैं।

आसन के समानान्तर ही चामरधारी सौधर्म और ऐशान इन्द्र सेवा रत दिखाये गए हैं, दाहिनी ओर का इन्द्र खंडित है परन्तु बायीं ओर का अंकन मनोहर है, केवल जांघ तक की धोती का बुन्देलखंड का यह विशिष्ट पहिनावा गुप्त पूर्व की (वाकाटकों एवं भार शिवों की) कला में तथा गुप्तकाल की कला में ही पाया जाता है, नचना के पार्वती मंदिर के अवशेषों में तथा समीप ही उपलब्ध राम-कथा के शिलापट्टों में राम-लक्ष्मण के पहिनावे से इन इन्द्रों के पहिनावे में अद्भुत साम्य है, इन्द्रों के कर्ण-कुण्डल एवं केश-विन्यास भी सुन्दर बन पड़े हैं, मुकुट से झूलती हुई मणिमालाएं बुद्ध सज्जा के कीर्ति-मुख का स्मरण दिलाती हैं। इसी प्रकार ऊपर एक हाथ में पुष्प गुच्छक और दूसरे में माला लेकर गगन विहारी विद्याधर युगल चित्रित किए गए हैं, इन्द्र की तरह दाहिनी ओर का युगल भी खंडित है पर बायीं ओर की जोड़ी सुरक्षित है, इस युगल का केश-विन्यास भी इस मूर्ति को पूर्व गुप्तकाल की निधि घोषित करता है, विद्याधर के शरीर पर कुण्डल मणिमाला, भुजबंध और कंगन यथा स्थान शोभित हैं, इस गगन चारी की सहचरी इसी की पीठ पर आलम्बित आसन में मुग्ध-मुद्रा और नाना आभरण अलंकारों से सज्जित अंकित की गई है विद्याधरी के हाथों की स्थिति दर्शनीय है, जैसे इस जीवन का ही नहीं, आगामी भवों का भी, भार, उसने अपने जीवन धन पर निश्चित होकर सौंप रखा हो। विद्याधर ने तो मानो जिनेन्द्र के पूजन में ही जीवन की सार्थकता मान रखी है।

दूसरी गुफा

इस गुफा में भी मूल नायक भगवान महावीर ही हैं। पर उनके अतिरिक्त सात अन्य प्रतिमाएं भी यहां अवस्थित हैं। इस गुफा की लम्बाई इक्कीस फुट एवं चौड़ाई तेरह फुट है। इसे भी कालान्तर में सामने से एक द्वार छोड़कर ईंटों से बन्द कर दिया गया है।

द्वार के सामने ही गुफा के बीचो बीच, सन्मतिनाथ की पद्मासन प्रतिमा उत्तर मुख विराजमान है। यह शिला फलक पौने चार फुट चौड़ा और पांच फुट ऊँचा है। पीठिका में दो बहिर्मुख सिंह और मध्य में धर्मचक्र अंकित है, जल-पुष्प की पंखुरियों से सज्जित वेदिका पर सवातीन फुट ऊँची प्रतिमा शोभित है। इस मूर्ति का केश संयोजन—विलक्षण है। सम्पूर्ण केशों को जैसे कंघी से ही संवारकर व्यवस्थित ढंग से अंकित किया गया है। दोनों पार्श्व में चामर धारी इन्द्र विशेष सुन्दर मुकुट और अलकावलि से सज्जित है। ऊपर दोनों ओर दो विद्याधर युगल एक हाथ में पुष्प गुच्छक

शोध-कण

श्री छोटेलाल जैन, कलकत्ता

अनेकांत की गत तृतीय और चतुर्थ किरणों में उपरोक्त शीर्षक से दो लेख श्रीनीरजजी के प्रकाशित हुए थे। लेखक ने जैनपुरातत्त्व के कई नूतन निदर्शनों पर अच्छा प्रकाश डाला है। इन लेखों के सम्बन्ध में कुछ और ज्ञातव्य बातों का उल्लेख करना आवश्यक है।

१. तीन विलक्षण जिनबिम्ब—इस लेख में आदिनाथ की प्रतिमा का विवरण लिखते हुए लेखक ने "दो सिंहों के बीच में धर्मचक्र के अंकन" को बुद्ध शिल्प की प्रतिकृति बताई है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'धर्मचक्र' का अङ्कन दोनों—जैन और बौद्ध—सम्प्रदायों में प्रचलित था। बहिर्मुख दो सिंहों के बीच में धर्मचक्र होते हुए भी, वहां दो सिंहों से सिंहासन सूचित होता है और धर्मचक्र के साथ उनका कोई संबंध नहीं है। हाँ, जहां दो मृगों के मध्य में धर्मचक्र का अङ्कन होता है, वहाँ बुद्ध के मृग-दाब (सारनाथ) में पहिले-पहल धर्मचक्र प्रवर्तन को सूचित करना विद्वान लोग मानते है। पर इस प्रकार दो मृगों सहित धर्मचक्र, जैन प्रतिमाओं में भी उपलब्ध है। लेखक ने जो यह लिखा है कि—"तीर्थकर प्रतिमाओं में इस प्रकार के केशराशि-संयोजन (जटाजूट) निश्चित ही अद्यावधि अनुपलब्ध हैं।" यह ठीक नहीं है। मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि आदिनाथ (ऋषभदेव) की जितनी प्राचीन मूर्तियाँ आज तक उपलब्ध हुई हैं, वे सब जटाजूट सहित है। और उनकी संख्या कई सौ है। जिस प्रकार पार्श्वनाथ की मूर्ति सर्प-फणों सहित होती है उसी प्रकार आदिनाथ की जटाजूट सहित। इन दोनों तीर्थकरों के जीवन की ये विशेष घटनाओं को सूचित करती हैं। आदिपुराण पर्व १ श्लोक ९ मे लिखा है—

'चिरं तपस्यतो यस्य जटामूर्ध्नि वभुस्तराम्।
ध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धननिर्मद् धूमशिखाइव ॥९॥

अर्थात् चिरकाल तक तपश्चरण करने के कारण जिनकी बढ़ी हुई जटाएँ ऐसी शोभायमान होने लगी मानों शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा जलाये हुए कर्मरूपी ईधन से निकली हुई धूम की शिखा ही है।

२. पतियान दाई—इस मंदिर के द्वार के दोनों ओर गंगा-यमुना का जो अङ्कन किया गया है, वैसा हिन्दु मंदिरों में ही उपलब्ध होता है, पर जैन मंदिरों में ऐसे अङ्कन विरल ही उपलब्ध होते है। वास्तव में नीरज जी ने एक दुर्लभ जैन कलाकृति प्रस्तुत की है। गंगा-जमुना के पार्श्व में जिन दो चतुर्भुज मूर्तियों का उल्लेख किया है वे यह न होकर द्वारपाल है और ऐसे द्वारपाल अन्यत्र भी उपलब्ध हैं किन्तु इनके हाथों में गदा, नाग और पाश हैं पर कोई चतुष्पद प्राणी नहीं है—यह भ्रम हुआ है।

३. भगवान महावीर ज्ञात पुत्र थे या नाग पुत्र?—जैनभारती के ता० १८ नवम्बर १९६२ के वर्ष १० अङ्क ४६ में तेरापंथी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी के शिष्य मुनि श्रीनथमल जी का एक नोट प्रकाशित हुआ है जिसका सारांश यह है कि—भगवान महावीर इक्ष्वाकुवंशी, काश्यपगोत्री क्षत्रिय थे और नागवंशी थे। नागवंश की उत्पत्ति इक्ष्वाकुवंश से हुई है। भगवान महावीर को

और दूसरे में सुरक्षित जल का पात्र लिए हुए अंकित है। विद्याधरी का चित्रण भी पूर्वोक्त मुद्रा में आभरण सहित किया गया है।

इस प्रतिमा के अतिरिक्त इस गुफा मे भगवान आदिनाथ की दो, पार्श्वनाथ की तीन तथा अन्य तीर्थंकरों की तीन, इस प्रकार सात खड्गासन तथा पद्मासन प्रतिमाएँ और हैं। ये डेढ़ फुट से लेकर पौने चार फुट तक ऊँची है जिन में से दो सिरोभाग से खंडित हैं। इनमें से दो तीन मूर्तियां मध्यकालीन प्रतीत होती है जो सम्भवत: इन गुफाओं के जीर्णोद्धार के समय अन्यत्र कही से उठाकर यहाँ रख दी गई होंगी।

जैन गुफा मन्दिरों की शृंखला में सीरा पहाड़ का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है और यहाँ आस-पास विशेष अनुसंधान की आवश्यकता है।

अनेक प्रसंगों में नाथपुत्त कहा गया है। बौद्ध पिटकों में भी उनका उल्लेख 'निगंठ नातपुत्त' के नाम से हुआ है नाय और नात का संस्कृत रूप 'ज्ञात' होता है। इसलिये भगवान को ज्ञात पुत्र माना जाता है। नाय कुल का नाम है। भगवान महावीर का कुल नाय या नात था इसलिये वे ज्ञात पुत्र या ज्ञान सुत्र कहलाते थे। कुछ आधुनिक विद्वान 'नाय' का संस्कृत रूप ज्ञातृ मानते हैं। इस ज्ञात शब्द के आधार पर ही वे ज्ञातृ का सम्बन्ध विहार के भूमिहारों की जथरिया जाति से जोड़ते हैं। किंतु प्रतीत होता है कि ज्ञात और ज्ञातृ ये दोनों यथार्थ नहीं हैं। भगवान का कुल नाग होना चाहिये। णाय-पुत्त की संस्कृत छाया 'नाग पुत्र' भी हो सकती है। चूर्णियां प्राकृत में है और उनमें णाय या णात ही मिलता है। क्वचित् ज्ञात भी मिलता है। टीकाकाल में यह भ्रम पुष्ट हुआ है। अभयदेवसूरि पहले टीकाकार हैं, जिन्होंने औपपातिक सूत्र १४ की वृत्ति में नाय का अर्थ ज्ञात अथवा नाग (नाग-वंशी) किया है इतिहास में ज्ञात नाम का कोई प्रसिद्ध वंश नहीं है। नागवंश बहुत प्रसिद्ध है। महाभारत के अनुसार नागों की उत्पत्ति कश्यप मुनि की पत्नी कद्रू: से मानी जाती है। महाभारत और विष्णुपुराण में जहां इनके वर्तमान वंश का उल्लेख मिलता है, वहाँ इन्हें नागवंशी और जहाँ इनके मूल वंश और गोत्र का उल्लेख होता है, वहाँ इन्हें इक्ष्वाकुवंशी और कश्यप गोत्री कहा गया है।

जैनधर्म से नाग जाति का सम्बन्ध बहुत पुराना है। कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि को नागराज ने विद्याएँ दीं और वैताढय पर्वत पर उनके लिये नगर बनाये थे। जैन परम्परा में नाग पूजा का इतिहास भी लगभग उसी समय का है।

भगवान सुव्रत और अरिष्ट नेमि गौतम गोत्री हरिवंशी थे और शेष २२ तीर्थंकर काश्यप गोत्री इक्ष्वाकुवंशी थे।

दण्डनायक गंगराज

लेखक--विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री

महाप्रचंड दण्डनायक गंगराज उन गंग नरेशो का वशज था, जो पूर्व में गंगवाडि ९६००० प्रदेशों को स्वतंत्रता से मत्त हाथियों की तरह शासन करने वाले थे। इसका श्रद्धेय पिता दण्डनायक एच नरेश नृप काम का आप्त मित्र था। विद्वन्मणि मुल्लूर के आचार्य कनकनन्दी ही एच के गुरु थे। इसके एच, राज, एचिज, एचिगांक एवं एचिराज आदि अनेक नाम थे। एच की 'बुधमित्र' उपाधि भी रही। दण्डनायक एचवीर हो नही था, धर्मात्मा भी था और इसने देवालयों को दान भी दिया था।

एच की धर्म पत्नी एवं गंगराज की पूज्य माता पोचिकब्बे के द्वारा भी अनेक धर्म-कार्य संपन्न हुए थे। इसके द्वारा श्रवणबेल्गोल में कई जिनालय निर्मापित हुए थे। पोचिकब्बे अंत में सलेखनापूर्वक पवित्र श्रवणबेलगोल महा क्षेत्र में स्वर्गासीन हुई। उसकी स्मृति में पुत्र दंड नायके गंगराज ने शक सं० १०४७ (वि० सं० ११७८) में एक निषिधिका का निर्माण कराया था।

गंगराज की समाधि गत पञ्च महाशब्द, महासामताधिपति, महाप्रचण्ड दण्डनायक, वैरिभयदायक, गोत्र पवित्र, बुधजनमित्र श्रीजैनधर्मामृताम्बुधि प्रवर्धनसुधाकर सम्यक्त्वरत्नाकर आहाराभय भैषज्यशास्त्रदानविनोद भव्यजनहृदयप्रमोद, विष्णुवर्धन भूवाल होयसलमहाराजराज्याभिषेक पूर्णकुंभ, धर्महर्म्योद्धरण मूलस्तंभ और द्रोहघरट्ट आदि उपाधियां थीं। इसने चालुक्य नरेश त्रिभुवनमल्ल पेर्माडिदेव की विशाल सेना को जीत कर अत्यधिक प्रताप दिखलाया था। इसी प्रकार तलकाडु कोंगु, चेंगिरि आदि जीतने एवं आदियम नरसिंह, दामोदर और तिगलों को परास्त करने में अपने असीम शौर्य को व्यक्त किया था।

जिस प्रकार इंद्र को वज्र, बलराम को हलायुध, विष्णु को चक्र, शक्तिधर को शक्ति और अर्जुन को गांडीव सहायक था। उसी प्रकार राजा विष्णुवर्धन को गंगराज सहायक था। यह जितना पराक्रमी था उतना हीं धर्मात्मा

भी था : गंगराज ने श्रवणबेल्गोलस्थ विंध्यगिरि में विराजमान गोम्मटेश्वर के चारों ओर परकोटा निर्माण कराया, गंगवाडि के सभी जिनालयों का जीर्णोद्धार कराया और अनेकत्र नवीन जिन मंदिरों को बनवाया। यह प्राचीन कुंदकुंदान्वय का उद्धारक था। इसीलिए गंगराज चावुण्डराय से भी शतशः धन्य कहा गया है। धर्म के बल से इसमें अलौकिक एवं अतुल शक्ति विद्यमान थी, इसी से वह अपने कर्तव्य में सफलता प्राप्त करता था।

जिस प्रकार जिनधर्म प्रभाविका अत्तिमब्बे के प्रभाव से गोदावरी नदी का प्रवाह एक दम रुक गया था, उसी प्रकार कावेरी नदी का अदम्य एवं अपार प्रवाह जिनभक्ति के कारण गंगराज को तिलमात्र भी हानि नहीं पहुँचा सका। कन्नेगल में चालुक्यों को जीतकर गंगराज जब लौटा तब विष्णुवर्धन ने इसकी विजय से संतुष्ट होकर कोई वर मांगने के लिए इसे विवश किया। इसने राजा से 'परम' नामक ग्राम को मांगकर उसे अपनी पूज्या माता एवं धर्मपत्नी के द्वारा निर्माण कराये गये जिन मन्दिर को सहर्ष दान किया। इसी प्रकार 'गोविंदवाडि' नामक ग्राम को प्राप्तकर गोम्मटेश्वर को समर्पित किया। गंगराज शुभचंद्र सिद्धांतदेव' का शिष्य था।

गंगराज की धर्मपत्नी लक्ष्मीमति भी बड़ी धर्मनिष्ठा रही। इसने श्रवणबेल्गोल में अपने अन्यान्य बन्धुओं के स्वर्गवास के स्मृतिरूप में कतिपय शिलालेखों को खुदवाया है। शुभचंद्रदेव की शिष्या यह लक्ष्मीमति विदुषी, पतिपरायणा, रूपवती, विनयशीला, विनेयजनभक्ता, चतुरा, जिनभक्ता, सौभाग्यवती स्वनामधन्या, साक्षात् लक्ष्मी एवं दान शूरा थी। इसने श्रवणबेल्गोल में 'एण्डु कट्टे बस्ति' के नाम से एक भव्य जिनालय निर्माण कराया है।

श्रवणबेल्गोलस्थ 'कत्तले बस्ति' को गंगराज ने अपनी पूज्या माता पोचिकब्बे के वास्ते निर्माण कराया था। यहां के 'शासन बस्ति' के नाम से प्रसिद्ध, जिनालय को भी इसी ने बनवाया था। जिननामपुर को भी इसी ने बसाया। दण्डनायक गंगराज से श्रवणबेल्गोल में गुरु शुभचंद्र मेघचंद्र त्रैविद्य, माता पोचिकब्बे एवं पत्नी लक्ष्मीमति के नाम से कई सुन्दर स्मारक बनवाए गये हैं। इसी की तरह बड़े भाई, भाई की पत्नी, मामा, मामा का लड़का, उसकी पत्नी सभी जिनधर्म के बड़े भक्त रहे। गंगराज का लड़का दण्डनायक बोप्पदेव भी पिता की ही तरह वीर तथा धर्मिष्ठ था। गंगराज के सम्बन्ध में ऊपर कही गई सभी बातें अन्यान्य प्रामाणिक प्राचीन शिलालेखों के आधार पर ही लिखी गई हैं।

दण्डनायक गंगराज होय्सल सेना की सेवा में ही अपनी आयु को बिताने वाला वयोवृद्ध सेनानायक था। इसका पिता दण्डनायक एच भी पूर्वोक्त प्रकार, राजा नृप काम का आप्तमित्र था। उसी समय से गंगराज राजमहल, सचिव वर्ग और परिवार सबका परिचित बनकर कार्य साहस एवं धर्मनिष्ठा आदि से सबके विश्वास तथा प्रीति का पात्र बन गया था। विष्णुवर्धन के लिये तो गंगराज पितृवत् गौरव का एवं अग्रजवत् प्रीति का पात्र बन गया था। राजा विष्णुवर्धन का विश्वास था कि सेनानायक गंगराज अपना सुदृढ़ वज्र कवच है। इसीलिए गंगराज को राजा एवं सचिवों के साथ निःसन्देह और निर्भय बोलने का अधिकार था। गंगराज को विश्वास था कि विश्वास द्रोही तथा धर्मघातक के लिए पुण्य का बल नहीं है।

अपने पूर्वजों की राजधानी में फहराते हुए चोलों के ध्वज को देखकर मातृभूमि का भक्त और अभिमानी गंगराज का हृदय दुःखी होकर गंगवाडि के भयंकर युद्ध के लिए तैयार हुआ। गंगनरेश अपने शासनकाल में जैनधर्म के अनुयायी ही नहीं थे, उस धर्म के प्रोत्साहक भी रहे। उनके शासनकाल में गंगवाडि जैनधर्म की मातृभमि रहा। श्रवणबेल्गोल में विश्व को आश्चर्य में डालने वाली बाहुबलि मूर्ति का निर्माण गंगराजा राचमल्ल के सेनानायक वीरमार्तण्ड चामुण्डराय ने कराया था। उस मूर्ति की प्रतिष्ठा के उपरान्त श्रवणबेल्गोल की महत्ता बहुत बढ़ गई। श्रवणबेल्गोल, हनसोगे, कलेसवाडि आदि कुछ ही स्थान नहीं हैं, गंगों के शासनकाल में प्रत्येक ग्राम जिन मंदिरों से सुशोभित हो, गंगवाडि जिनवाडि बन गया था।

दुर्भाग्यवश गंगनरेश चोल नरेशों से पराजित हुए और जब गंग सिंहासन उलट गया तब उन्हीं के द्वारा उन्नति को प्राप्त जैनधर्म ने भी अपनी प्रतिष्ठा को एक दम खो दिया। वहां पर शैव-वैष्णव धर्म प्रबल हो गया और क्रमशः जैन मंदिर नष्ट होने लगे। जैन मंदिरों की संपत्ति को

चोल सेनानायक उपयोग करने लगे। वंश की अपेक्षा अपने धर्म की हानि को गंगराज का मन न सह सका, आचंदार्क स्थायी रहने वाले देवालय जिनालयों की हानि को देखकर परम आस्तिक गंगराज को असीम दु.ख होना स्वाभाविक ही है। सबों में धर्मबुद्धि पैदा कर परमानन्द एवं शांति को देने वाली देवमूर्तियों को तोड़कर अपने अंध धर्मप्रेम को प्रकट करने वाले धर्मान्धों को पूर्णत. नाश करने का मन गंगराज में पैदा होना अलौकिक नहीं है। गंगवाडि को जीत कर वहां पर चोलों के अत्याचार से जीर्ण जिनालयों का उद्धार कर फिर गंगवाडि की कीर्ति को फैलाने की शपथ गंगराज ने ली वह यथार्थ थी। इस शपथ ने ही गंगराज को चोलों पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। यह जैनधर्म के परम भक्त पुणिसमय्य, मरियण्ण, भरत आदि सेनानायकों को भी सम्मत हुआ। दण्डनायक भरत गण्डविमुक्त सिद्धांतदेव का शिष्य था। दण्डनायक मरियण्ण भरत का बड़ा भाई था। भरत ने अनेक धर्म-कार्यों को किया था। इसने गंगवाडि में दो जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और ८० नवीन मन्दिरों को बनवाया।

अस्तु, गंगराज की तलकाड की विजय आचंद्रार्क अमर रहेगी। गंगराज ने धर्म-सेवा एवं देश-सेवा दोनों को एकनिष्ठा से करके राष्ट्र के सामने अपना आदर्श उपस्थित किया है। इससे वह, धर्मभक्ति, देशभक्ति में किसी भी प्रकार बाधक नहीं बन सकती है, इस उत्तम पाठ को अनायास सीख सकते हैं। यद्यपि जैनधर्म अहिंसावादी है। फिर भी उसने अपने क्षात्र-धर्म को कभी विस्मरण नहीं किया। गृहस्थों की बात जाने दीजिये। सर्वसंग परित्यागी मुनियों ने भी राज्य स्थापना में सहर्ष भाग लिया है। होयसल राज्य को स्थापित करने वाले सुदत्त मुनि और गंगराज्य को स्थापित करने वाले सिंहनन्दी ये दोनों मुनि थे। राष्ट्रकूट नरेश नृपतुंग अथवा अमोघवर्ष के श्रद्धेय गुरु आचार्य जिनसेन थे। तात्पर्य यह है कि कर्णाटक के शासकों के आस्थानों में जैन साधुओं का विशेष आदर था। कर्णाटक के शासकों को सदा जैन साधुओं की मदद रहने से उन्होंने धर्म को न भूल कर उसी की नींव पर राज्य स्थापित कर धर्म से राज्य किया। जैनशासकों के द्वारा जैनेतर धर्मों को किसी प्रकार की हानि पहुँचाने का उदाहरण इतिहास में हमें कहीं भी नहीं मिलता है। जैनेतर शासकों के द्वारा जैनधर्म को हानि पहुँचाने के उदाहरण हमें एक-दो नहीं, अनेक मिलते हैं। खैर, यह विषयांतर है। वस्तुतः सम्राट् चंद्रगुप्त, खारवेल, कुमारपाल, मारसिह, नृपतुंग, वस्तुपाल, तेजपाल, आदि जैन शासकों ने संघर्षमय भयंकर युद्धो में विक्रमपूर्वक भाग लेकर हमारे भारतवर्ष के गौरव को बढ़ाया है। जैन शासकों के शासनकाल में भारतवर्ष पराधीन नहीं हुआ था। इसलिए बौद्ध एवं जैनों की अहिंसा से भारतवर्ष पराधीन हुआ, यह कहना सर्वथा निराधार है।

"मिथ्यात्व के उदय से प्राणियों को यहां तक दृष्टिभ्रम हुआ करता है कि वे अपनी पराजय को जय समझते हैं। वे कषायों को जीतने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु खुद कषायों से जीते जाते है और फिर भी समझते हैं कि हम कषायों को जीत रहे हैं।"

सहायता

वीर सेवा मन्दिर के संयुक्त मंत्री बाबू प्रेमचन्दजी के सुपुत्र बा० हरिश्चन्द्रजी का विवाह संस्कार सुश्री संतोष कुमारी के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ। विवाहोपलक्ष में निकाले हुए दान में से ३१) रुपया अनेकान्त की सहायतार्थ प्राप्त हुआ, इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

—व्यवस्थापक अनेकान्त

'चर्चरी' का प्राचीनतम उल्लेख

श्री डा० दशरथ शर्मा

अगस्त १९६२ के 'अनेकान्त' में डा० हरीश ने 'समराइच्च-कहा' के कुछ अवतरणों को देकर, उन्हें चर्चरी के प्राचीनतम उल्लेख मानते हुए, चर्चरी के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया है। प्रयत्न प्रशस्य है; किन्तु ये अवतरण 'चर्चरी' के प्राचीनतम उल्लेख नहीं हैं। श्री हरिभद्रका समय सुपुष्ट प्रमाणों के आधार पर लगभग सन् ७०० से ७७० ई० तक रखा जा सकता है। 'समराइच्चकहा' की रचना शायद श्री हरिभद्र ने सन् ७४० या ७५० के आसपास की हो। इससे लगभग एक सौ वर्ष पूर्व कान्यकुब्जाधीश्वर श्री हर्ष की रत्नावली नाटिका लिखी जा चुकी थी। उसके कुछ अवतरण हम नीचे दे रहे हैं। इनसे चर्चरी का वास्तविक रूप और स्पष्ट हो सकेगा।

अवतरण

(क) यौगन्धरायण :—'अये मधुरमभिहन्यमान-मृदु-मृदङ्गाऽनुगतसङ्गीतमधुरः पुरः पौराणामुच्चरति 'चर्चरी' ध्वनिः। (प्रथमाङ्क)

(ख) विदूषक :—पेक्ख पेक्ख दाव महुमत्तकामिणी—जषास अंगोह-गहिद-सिंगकजलप्पहारणच्चन्त-णाअरजण-जणिदकोदहलस्स समन्तदो सुच्छन्द-मद्दलोद्दाम-चच्चरी-सद्द-मुहर-रत्थामुह-सोहिणो पइण्णपडवास-पुंज-पिंजरिद-दहमुहस्स सस्सिरीअदं मअण-महूस्सवस्स। (प्रथमाङ्क)

(ग) (ततः प्रविशतोमदनलीलां नाटयन्त्यौ द्विपदी-खण्डं गायन्त्यौ चेट्यौ।)······

विदूषक—भो वअस्स! अहं वि एदाणं बज्झपरिअराणं मज्झं णच्चन्तो गाअन्तो मअणमहूस्सवं सम्माणइस्सं।

राजा—(सस्मितम्) एवं क्रियताम्।

विदूषक—जं भवं आणवेदि। (इत्युत्थाय चेट्योर्मध्ये नृत्यन्) भोदि मअणिए। भोदि चूदलदिए, एदं 'चच्चरिअं' मं सिक्खावेहि।

उभे—(विहस्य) हदास ण होदि एसा चच्चरी।

विदूषक—ता किं क्खु एदं?

मदनिका—दुवदीखंडं क्खु एदं। (प्रथमाङ्कः)। इनमें पहले अवतरण से स्पष्ट है कि चर्चरी के साथ मृदुमृदङ्ग की ध्वनि भी रहती है। दूसरे अवतरण में स्वच्छन्द मर्दल (मृदङ्ग-विशेष) की ध्वनिसे उद्दाम चर्चरी के शब्दसे रथ्याओं के मुखरित होने का वर्णन है। तीसरे अवतरण में नृत्य के साथ 'द्विपदीखण्ड' के गायन को विदूषक 'चर्चरी' समझ बैठता है। इसमें गाने वाली केवल दो चेटियाँ हैं, कोई बड़ी टोली नही।

कुवलयमाला में वर्णित 'चर्चरी' पर हम अन्यत्र लिख चुके हैं[1] अमरकोश में चर्चरी शब्द विद्यमान है। कर्पूर-मञ्जरी में चर्चरी का खूब विशद वर्णन है। समराइच्च कहा के दो अवतरणों का डा० हरीश ने निर्देश किया ही है। किन्तु 'उनके हिन्दी अनुवाद से हम सर्वथा सहमत नहीं हैं। 'समासन्नचारिणी' का अर्थ "पास में बैठी हुई भाग लेती हुई" न करके "पास से निकलती हुई" करना चाहिए। यही अर्थ "अम्हाण चच्चरीए समासन्नं परिव्वयइ" से स्पष्ट है। इसमे भी डा० हरीश का अर्थ 'चर्चरी गायक टोली हमारी टोली के पास बैठकर फिरती हैं। ठीक प्रतीत नहीं होता है। शायद हरीश जी ने समासन्न को समासीनं में परिवर्तित कर लिया है। दूसरे अवतरण में 'नगरकी चर्चरियाँ प्रवर्ती' के स्थान में 'नगर में चर्चरियां प्रवृत्त हुई' कर दिया जाए तो शायद ठीक हो। कथा के अन्य दो अवतरणों में चर्चरी के तूर्यों का निर्देश है जिससे स्पष्ट है कि चर्चरी सदा मर्दलमृदङ्ग आदि के शब्द से अनुगत रहती।

जैन ग्रन्थों में चर्चरी के अनेक अन्य उल्लेख भी हैं।

———

१. देखिये 'मरुभारती', ८.१, पृ० ३-४; मरुभारती, ६.४, पृ० ३-४

"रसिक अनन्य माल" में एक सरावगी जैनी का विवरण

श्री अगरचन्द नाहटा

जैन इतिहास की सामग्री बहुत ही बिखरी हुई है उसको एकत्रित करके प्रकाशित करने का प्रयत्न इधर बहुत ही कम हो पा रहा है। अब से ३०-४० वर्ष पूर्व श्वे० जैन शिलालेखों, प्रशस्तियों और ऐतिहासिक रास, तीर्थ यात्रा आदि से ग्रन्थों का प्रकाशन जिस रूप में हुआ था, उससे इन १०-१२ वर्षों में जैन ऐतिहासिक साधनों के संग्रह एवं प्रकाशन का प्रयत्न पूर्वापेक्षा कम ही हुआ है। दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य और इतिहास के साधन इधर फिर भी कुछ ठीक रूप में प्रकाशित हो रहे है, पर ऐसे प्रकाशनों की बिक्री अधिक नही हो पाती इसलिए काम आगे नही बढ़ता। यद्यपि डाक्टरेट के लिए शोध-प्रबन्ध लिखे जाने का प्रयत्न इधर काफी तेज़ी पर है पर ऐतिहासिक साधन जहां तक अप्रकाशित अवस्था में रहेंगे, शोध-प्रबन्धों में उतनी ही कमी रहेगी, वे ठोस नहीं हो पायेंगे।

जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त जैनेतर ग्रन्थों में भी कभी-कभी कुछ ऐसे महत्व के उल्लेख मिल जाते हैं यद्यपि अनेक बार विरोधी दृष्टि के कारण उन ग्रन्थों में तथ्यों को तोड़-मरोड़ दिया जाता है फिर भी कुछ नई जानकारी मिलने के कारण उनका भी अपना महत्व है।

जैन ग्रन्थों के अनुसार समय-समय पर जैनाचार्यो के उपदेश से हजारो-लाखों जैनेतर व्यक्ति जैनी बने। जैन जातियों के इतिहास को देखने पर आपको यही प्रतीत होगा कि उस जाति की स्थापना से पूर्व उनके पूर्वज अन्य धर्मावलम्बी थे और कई जैनाचार्यो ने अमुक समय में इतने हजार या लाख जैनी बनाये—उनको मांसाहार, पशु बलि आदि हिंसक प्रवृत्तियों से विरत करके अहिंसा धर्म का अनुयायी बनाया। पर ऐसे उल्लेख प्रायः नहीं मिलते कि अमुक समय में अमुक कारण से अमुक जैनी ने जैनधर्म छोड़कर अन्य धर्म, सम्प्रदाय को अपनाया। यद्यपि यह तो निश्चित ही है कि संख्या में चाहे कम ही हों, पर ऐसी घटना भी हुई अवश्य है कि राजकीय कारणों से या समाज के अत्याचार एवं अपने स्वार्थवश कुछ जैनी अन्य धर्मावलम्बी भी बनते रहे हैं। जिस प्रकार ओसवाल जाति या वंश मूलतः जैनी ही था पर कई ओसवाल जो राजाओं के अधिक सम्पर्क में रहे, वे राजमान्य-वैष्णव आदि धर्म-सम्प्रदायों के अनुयायी बन गये। फलतः जोधपुर आदि में सैकड़ों ऐसे ओसवाल कुटुम्ब हैं जो अब वैष्णव धर्मानुयायी हैं। इसी तरह अन्य जातियों में भी खोजने पर मिलेंगे। वर्तमान में भी पत्रों में कभी-कभी ऐसे समाचार पढ़ने को मिलते हैं कि समाज से बहिष्कृत होने अथवा उचित स्थान या सहायता न मिलने के कारण अमुक व्यक्ति या अमुक कुटुम्ब अन्य धर्मावलम्बी हो गया है बीच में दो-चार बार तो ऐसे भी समाचार छपे थे कि कोई जैनी मुसलमान हो गया है। एक जन्मजात अहिंसक का इस प्रकार हिंसक समाज में चला जाना, अवश्य ही उल्लेखनीय घटना है।

जैनेतर सम्प्रदायों के ग्रन्थों को पढ़ने से ऐसी कई घटनाओं का उल्लेख मिलता है कि अमुक व्यक्ति पहले जैन था फिर उस सम्प्रदाय के धर्माचार्य के सम्पर्क में आकर जैनधर्म छोड़कर उनका अनुयायी बन गया। वल्लभ सम्प्रदाय के ८४ या २५२ वैष्णवन की वार्ता ग्रंथ में ऐसा उल्लेख देखने में आया था पर अभी उसे ढूढ़ने में समय लगेगा, इसलिए फिर उसे कभी प्रकाशित किया जायेगा। इस लेख में तो "रसिक अनन्य माल" के एक ऐसे प्रसंग का विवरण प्रकाशित किया जा रहा है—

गौडीय या चैतन्य सम्प्रदायके कवि भगवन् मुदित रचित "रसिक अनन्य माल" ग्रन्थ राधा वल्लभ सम्प्रदाय के ३६ भक्तजनों के परिचयी के रूप में है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन गत वसन्त पंचमी को वेणु प्रकाशन, वृन्दावन में हुआ है। गत २० अगस्त को मेरा लश्कर (ग्वालियर) जाना हुआ तो इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री ललिताप्रसाद पुरोहित ने मुझे इसकी एक प्रति भेंट की। इसमें प्रथम परिचयी नरवाहन जी की है। नरवाहन, भोगांव निवासी लुटे[illegible] था।

बड़े-बड़े राजा भी उससे भयभीत थे, उसका बड़ा आतंक था। पर संयोगवश वृन्दावन आने पर राधा वल्लभ सम्प्रदाय के हित हरिवंश का दर्शन उसे हो गया और उनसे बातचीत करने पर वह उनका अनुयायी हो गया। अपने रास्ते की लूट-पाट करने का काम उनके उपदेश से बंद कर दिया। इसके बाद एक प्रसंग में यह बतलाया गया है कि एक बड़ा सरावगी व्यापारी बहुत सा सामान लेकर उसके गांव से निकला और उसने नरवाहन से जगात मांगने पर नहीं दी। यही नहीं उसके पास भी अस्त्र-शस्त्र थे, इसलिए उसने लड़ाई भी की पर अन्त में नरवाहन ने उसका सब सामान जब्त कर लिया और उसे बंधन में डाल दिया। नरवाहन ने उससे और भी धन अपने घर से मंगाने के लिए दबाव डाला और नहीं मंगाने पर उसे मारने का भी विचार किया। दासी ने दया करके उस सरावगी व्यापारी को जीने का उपाय बताया कि श्री राधावल्लभ हरिवंश का स्मरण करो, नरवाहन उनका भक्त है इसलिए वह अपना धर्म भाई समझकर तुम्हें छोड़ देगा। उसने मरने के भय से वैसा ही किया तब नरवाहन ने कहा कि मैंने तुम्हें जैनी जान कर लूटा था पर तुम मेरे गुरु का नाम ले रहे हो तो मेरे गुरु भाई हो गए, इसलिए तुम्हें जो कष्ट दिया है उसके लिए क्षमा करना। इतना ही नहीं नरवाहन ने उसे वस्त्राभूषण दिये और उसका सब सामान वापस देकर उसे गांव पहुँचा दिया। राधावल्लभ श्री हरिवंश के नामोच्चारण के कारण अपनी जान बची, इसलिए उनका उपकार मानकर वह व्यापारी वृन्दावन जाकर उनका भक्त हो गया। व्यापारी का नाम नहीं दिया है पर उसे "सरावगी" और "जैनी" बतलाया गया है इसलिए वह दिगम्बर जैनी ही होगा। दिगम्बर साहित्य में इसका कुछ भी विवरण मिल सके तो खोज की जानी चाहिए।

नरवाहन परिचयी में उक्त प्रसंग के जो पद्य हैं उन्हें यहां उद्धृत किया जा रहा है—

"**नरवाहन भैंगाँऊ** निवासी, वार पार में एक मवासी।
जाकी आज्ञा कोउ न टारै, जो टारै तिहिं चढ़ि करि मारै॥
बस करि लियौ सकल ब्रज देश, तासौं डरपैं बड़े नरेश।
पातशाह के वचननि टारै, मन आवै तो दगरौ मारै॥

× × ×

आयौ एक बड़ो व्यौपारी, लादैं नाव सौज बहुभारी।
देहि जगात न सबसों अरै, तुपक जमूरन सौं बहु लरै॥
येहू मागन लगे जगात, वह मद अन्ध सुनैं क्यौं बात।
हौ **सरावगी** धर्म विरोधी, हरि भक्तनिसों लर्यौ किरोधी॥
तुपक सातसै वाके संग, दुहुँ दिसि लागे लरन अभंग।
तीन लाख मुद्रा कौ वितनि, लाये लूटि निवेद्यौ भृत्तनि॥
वाकौ बांधि गांव में लाये, तुपक हथयार सबै धरवाये।
कोठे मधि सौंज सब रखाई, गरै तौंक पग बेरी नाई॥
इतनौई धन अवर मगावै, तब यह ह्यां तें छूटनि पावै।
वाकौं बंधे बहुत दिन बीते, धन न मगावै मारौं जीते॥
बैठि सभा में यह ठहराई, सो घर की चेरी सुनि पाई।
सुघर तरुण सुन्दर वह साह, देखन कौं चेरियै उमाह॥
दासी के जिय दया जु आई, सुनी जु त्यों ही ताहि सुनाई।
काल्हि तोहि मारेंगे राव, जीवन कौ नहिं कोउ उपाव॥
तुहीं बचाइ ज्याइ जिय मेरौ, जन्म जन्म गुन मानौं तेरौ।
एक मंत्र हौं तोहि बताऊँ, तातैं तेरौ प्राण बचाऊँ॥
अपुनौ दर्व फेरि सब पैहै, आदर सौं अपनै घर जैहै।
माल तिलक धरि कंठी माला, मो पै मुनि लै नाउं रसाला॥
'(श्री) राधावल्लभ श्री हरिवंश', सुमिरत कटै पाप जम फंस।
पिछली राति पुकारि पुकारि, कहियौ ऐसी भाँति सुधारि॥
इतनी सुनत आपु चलि आवें, बेरी काटि तोहि बतरावैं।
तब कहियौ मैं उनकौ सेवक, भव तरिवै कों बेई खेवक॥
यह सिखाइ रावर में आई, लागी टहल न काहु जनाई।
भई प्रतीति बात मन मानी, पिछली रैनि वही धुनि ठानी॥
धुनि सुनि उठि नरवाहन आयौ, गुरु भाई लखि पद लपटायौ।
महादीन ह्वै वचन सुनाये, बार बार अपराध छिमाये॥
जैनी जानि लूटि हम लीन्हौ, यह गुरु भेद न किनहूँ चीन्हौं।
गुरू कौ नाम लेत मैं जानी, दासी नैं तब रीति बखानी॥
मेटौ चूक जु मोते भई, कछु इच्छा प्रभु यों ही ठई।
भोर होत स्नान कराये, उज्ज्वल पट भूषण पहिराये॥
सिगरौ दर्व फेरि कर दियौ, रत्ती न मन में लालच कियौ।
श्री गुरू कौ विश्वास सुहायौ, सेवा करि चरणनि सिर नायौ
करि दण्डवत बिदा जब कीने, पहुँचावन सेवक बहु दीने।
देखि साह कै भक्ति जु आई, सिष्य होन कौ मति ललचाई॥
जिनकौ छलसौं नाम उचार्यौ, तानै तन धन प्राण उबार्यौ।
अब तौ उनको दरशन करौं, सर्वसु उनके आगे धरौं॥

एक प्राचीन पट-अभिलेख

पं० गोपीलाल 'अमर' एम० ए०

परिचय

सागर जिले की बण्डा तहसील में एक 'पड़वार' नामक ग्राम है। यहाँ के एक जैन बन्धु के पास एक १७'×२' का पट-अभिलेख प्राप्त हुआ है। अभिलेख के अक्षर तो सुन्दर हैं ही, जिस कपड़े पर वह लिखा गया है वह कपड़ा भी अच्छी किस्म का है।

इस पट पर सुन्दर एवं रंगीन चित्रकारी है। चित्रकारी के नीचे संस्कृत भाषा में लेख है। पट की लम्बाई चौड़ाई से ही लेख के विस्तृत होने का अनुमान लगाया जा सकता हैं।

चित्रों का विषय

चित्र बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। उनकी संख्या लगभग १५ है। शैली प्रौढ़ न होकर भी युगानुकूल प्रतीत होती है। सम्पूर्ण चित्रों का विषय तीर्थंकर भगवान् के पञ्च-कल्याणकों से सम्बन्धित हैं। चित्रों के विषयों को हम मुख्यतः ये नाम दे सकते हैं—

तीर्थंकर की माता का स्वप्न-दर्शन, पति से उनका फल पूछना, सोलह स्वप्न, तीर्थंकर का जन्माभिषेक, राज दरबार, दीक्षा के लिए पालकी में वन को जाना, वन में दीक्षा ग्रहण करना, केवलज्ञान, समवशरण, सिद्धशिला, पञ्च अनुत्तर विमान, नव अनुदिशविमान, सोलह स्वर्गों के आठ पटल, चौबीस तीर्थंकर और जैन मुनि द्वारा उपदेश दान।

अभिलेख का विषय

अभिलेख २९ पंक्तियों में हैं। प्रति पंक्ति में ४५ से ४८ तक अक्षर है। अनुष्टुप्, उपजाति, शार्दूलविक्रीड़ित आदि २५ श्लोक और अठारहवें तथा चौवीसवें श्लोक के बाद कुछ गद्यांश हैं। चौवीसवें श्लोक का उत्तरार्ध जीर्ण (अस्पष्ट) हो गया है। तृतीय श्लोक प्रसिद्ध मङ्गलाष्टक से उद्धृत किया गया है।

प्रारम्भ के ग्यारह श्लोकों में मंगलाचरण और फिर तीन श्लोकों में, अपने धन का पुण्यकार्य में सदुपयोग करने वाले गृहस्थों की प्रशंसा है। पन्द्रह से अठारहवे श्लोक तथा उसके बाद के गद्यांश में छुल्लक सुमतिदास का वंशानुक्रम से परिचय है जिनके उपदेश से शान्तियज्ञ किया गया।

उन्नीसवें श्लोक मे लिखा है कि उन छुल्लक महाराज के उपदेश से 'वृषभूमि मंज़ेपुरे' अर्थात् धर्मावनि नगर में जिन्होने शांतिक्रम नामक विधान कराया वे सुखी रहें। बीसवें और इक्कीसवें श्लोकों में शान्तियज्ञ के प्रारम्भ की तिथि भाद्रपदकृष्णा तृतीया शुक्रवार वि० सं० १७१६ दी हुई है। बाईसवें से चौवीसवें तक श्लोकों में लिखा है कि शूद्रवर्णी सुलतान राजा के राज्य में 'धर्मावनि', धामोनी में चन्द्रप्रभजिन मन्दिर में महान् शान्तियज्ञ किया जा रहा है। इसके पश्चात् एक लम्बा गद्य है जिसमें शान्तियज्ञ के यजमानों का वंशानुक्रम से परिचय है। यह परिचय संक्षेप में दिया जाता है।

यों कहि वनिक वृन्दावन आयौ, पसरि दंडवत करि सिर नायौ
अपनी सकल विवस्था कही, तातें आइ शरण में गही ॥
मरत जियौ सो तुम्हरी दया, यह सब धन तुमही तै भया।
साठ बासनी मुहरन भरी, लै हित जू के आगे धरी ॥
गुरुनि कही धन तुमही राखौ, हरि-हरिजन भजि कै रस चाखौ।
श्रद्धा लखि कै नाम सुनायौ, रीति धर्म सब कहि समुझायौ ॥
वह धन हाथन हुँ नहि छियौ, यों कहि वनिक विदा कर दियौ।

जैन-पत्रों में भी ऐतिहासिक लेख बहुत ही कम प्रकाशित होते है। कुछ वर्ष पहले ऐसी कई पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं थीं जिनमें जैन-साहित्य एवं इतिहास सम्बन्धी नई जानकारी प्रकाशित होती रहती थी। जैन-सिद्धान्त भास्कर अनेकान्त, जैनयुग, जैन साहित्य—संशोधक, जैन सत्य-प्रकाश, जैन-हितैषी आदि ऐसे सभी पत्र अब बन्द हो गए हैं, अतः अनेकान्त और जैन-सिद्धान्त भास्कर को तो शीघ्र ही चालू करने का प्रयत्न करना चाहिए।

वैश्य वर्ण गोलापूर्व जाति के सनकुटा गोत्र में संघपति (संघवई, संघई, सिंघई) आसकरण थे। उनकी पत्नी का नाम मोहनदे था। उनके दो पुत्र हुये। बड़े पुत्र का नाम संघपति रतनाई और उसकी पत्नी का नाम साहिबा था। उनके पांच पुत्र हुये, नरोत्तम, मंडन, राघव, भागीरथ और नन्दी। आसकरण के द्वितीय पुत्र संघपति हीरामणि थे। उनकी दो स्त्रियां थीं, कमला और वसन्ती। उनके बलभद्र नाम का पुत्र था।

गद्य के अन्त में इन सभी यजमानों को आशीर्वाद दिया गया है। अन्तिम श्लोक में जिनेन्द्रदेव की पूजादि का महत्त्व बतलाया गया है।

महत्व

इस पट अभिलेख का कई दृष्टियों से बड़ा महत्व है। धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और कला एवं साहित्य की दृष्टि से इस अभिलेख का विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है।

अभिलेख का 'शान्तिक्रम नामक विधान' कौनसा विधान था, उसका समीकरण और अन्वेषण विद्वद्वर्ग का कार्य है।

वि० सं० १७ ६ में धामोनी पर किस सुलतान का शासन था और फिर यह नगर क्यों और कैसे आज—जैसा ऊजड़ हो गया, यह सब इतिहास-वेत्ताओं के विशेष अध्ययन की वस्तु है। वर्तमान में इस नगर के अवशेष सागर शहर से लगभग ४० मील पर प्राप्त होते हैं। अवशेषों से इसके अतीत वैभव का स्पष्ट बोध होता है। शान्तियज्ञ के यजमानों के वंशज आज बहुत बड़ी संख्या में पड़वार ग्राम तथा सागर शहर में विद्यमान हैं। कुछ लोग कुछ अन्य स्थानों पर भी जा बसे हैं। सागर में रहने वाले ये लोग पड़वार से ही अभी के २०-२५ वर्षों में आये हैं। पड़वार में इन लोगों का बड़ा वैभव रहा है। वहां इनका बनवाया जैन मन्दिर दर्शनीय है। वहां लगभग ६५ वर्ष पूर्व इन्होंने गजरथ भी चलवाये थे। आज भी इस वंश में बहुत से उच्च कोटि के त्यागी विद्वान्, श्रीमान् विद्यमान हैं।

इस पट के चित्र बड़े ही आकर्षक एवं प्रेरक हैं। विविध रंगों का प्रयोग अवश्य ही चित्रकार के चुनाव की विशेषता का द्योतक है। श्लोकों की भाषा भावपूर्ण एवं प्रौढ़ है।

इस अभिलेख के रचनाकार कौन हैं यह ज्ञात नहीं होता। बहुत कुछ सम्भव है कि स्वयं छुल्लक सुमतिदास ने ही उसे रचा हो।

लेखक के हस्ताक्षर आदि जैसी कोई चीज भी इस अभिलेख में नहीं हैं।

निवेदन

इस अभिलेख का सम्पूर्ण पाठ यहां दिया जा रहा है। विद्वद्वर्ग से सादर निवेदन है कि वे इस पर से अन्य तथ्यों की भी खोज करें और यदि अनुचित न मानें तो मुझे भी सूचित करने की कृपा करें। विभिन्न स्थानों पर लिखे हुए इस अभिलेख वाले यजमानों के वंशजों से भी निवेदन है कि वे अपने इस गौरवपूर्ण इतिहास की विशेष खोज करें। और आज तक का अपना समूचा इतिहास तैयार करें।

मूल पाठ

।। ओं नमो जिनाय ।।

स्वस्ति श्री जिनमानम्य पंचकल्याण नायकम् ।
लिखामि टिप्पिकां रम्यां सर्वकल्याणसिद्धये ।।१।।
अर्हन्तो मङ्गलं सन्तु तव सिद्धाश्च मङ्गलम् ।
मङ्गलं साधवः सर्वे मङ्गलं जिनशासनम् ।।२।
नाभेयादिजिनाः प्रशस्तवदनाः ख्याताश्चतुर्विंशतिः ।
श्रीमन्तो भरतेश्वरप्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादश ।।
ये विष्णु-प्रतिविष्णुलाङ्गलधराः सप्ताधिका विंशतिम् ।
त्रैलोक्याभयदास्त्रिषष्टिपुरुषाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ।।३।।
सम्प्रेरितां दर्शन-कर्णधारै र्यन्नामनावं परिरम्य भव्याः ।
भवाम्बुधिदुःखजलं तरन्ति स त्रायतां वो वृषभोजिनेन्द्रः ।।४।।
जिनोऽजितोऽव्याज्जित दुःखराशि र्भव्यान् सुखी संभवनाथ ईड्यः ।
आनन्ददश्री रभिनन्दितेशः सतां समर्च्यः सुमतिः सुखाब्धिः ।।५।।
पद्मप्रभः पद्मदलाभनेत्रः शुभाय भूयाच्च सुपार्श्वदेवः ।
चन्द्रप्रभश्चन्द्रसमानकान्तिः सतां सुबुद्धिः सुविधिः प्रबुद्धः।।६।।
श्री शीतलेशोऽवतु भव्यसंघं श्रेयोजिनश्चाक्षयसौख्यराशिः ।
श्रीवासुपूज्यः पुरुहूतपूज्यो मलापहारी विमलेश्वरश्च ।।७।।

अनन्तनाथोऽन्तविहीनकीर्ति धर्मामबुधिर्धर्मजिनोजिताक्षः ।
शिवायशान्तीश्वरनामधेयःकुन्थुर्बुधानामनघोऽस्तु पूज्यः ॥८॥
विभुः सतां स्यादरनाथदेवो मल्लिः सुखाप्त्यै जितमोहमल्लः ।
व्रताङ्कितश्रीमुनिसुव्रतेशो नमिर्नतानेक विनेयवर्गः ॥९॥
श्री नेमिनाथो यदुवंशभूषः पार्श्वप्रभो देशितमुक्तिपार्श्वः ।
वीरेश्वरोऽव्याज्जिनवर्धमानः संसारकृच्छ्राद्वरभव्यवृन्दम्॥१०॥
दोषाष्टादशवर्जिता अतिशयैरिद्धाः परा संश्रयै—
रष्टाग्रेतसहस्रलक्षणधराः सत्प्रातिहार्यान्विताः ॥
दृष्टिज्ञानसुवीर्यसौख्यसुगुणैरन्तातिगै र्बन्धुरा ।
भूतानागतवर्तमानविषया वः पान्तु तीर्थङ्कराः ॥११॥
काले दुःषमसंज्ञके जिनपते धर्मे गते क्षीणताम् ।
ये कुर्वन्ति सुधर्मसाधनरता गेहस्थिताः साम्प्रतम् ॥
धर्मश्रीजिनभाषितं शुभतरं क्षेत्रेषु चोप्तं यकै—
र्द्रव्यं कष्टशतैरुपार्जितमतो धन्याहि ते भूतले ॥१२॥
गेहिनां दानपूजाद्यै विना धर्मस्य सम्भवः ।
कदाचिन्न भवेत्तस्मात्कार्यं धीमता सदा ॥१३॥
गुर्वाज्ञया प्राप्य धनेन सिद्धिः सहायतो धर्मवतां नराणाम् ।
कार्योमहान् (महः?) श्रीजिनयज्ञनामा स्वर्गापवर्गादि
विभूतिदायी ॥१४॥
श्रीमूलसंघे वागच्छे बलात्कारगणे तथा ।
पट्टमालानुक्रमोऽयं मङ्गलं कुरुते सदा ॥३५॥
कुन्दकुन्दमुनेर्वंशेऽभूद्भट्टारकसत्तमः ।
पद्मनन्दिश्च तत्पट्टे यशस्कीर्तिर्यशोनिधिः ॥१६॥
तत्पट्टे ललितादिकीर्तिरभवत् स्याद्वादविद्यानिधिम्-
तस्मात् श्रीवृषकीर्तिवाग्वरमतिव्रातादर्चितोऽभूत्ततः ॥
शुम्भद्भाग्यवतां वरिष्ठ इति सद्भट्टारको भासुरो ।
योगीशः शुभपद्मकीर्तिरमलः सेव्यः सदा श्रीश्रितैः ॥१७॥
तदनुपट्टधरो धरणीपति-प्रवरपूजितपादपयोरुहः :
सकलकीर्तिरिहास्ति सतां सदाऽद्भुत सुखोख्यकरः करुणा-
लयः ॥१८॥

तत्र संघे श्रीपण्डितद्वारिकादासः ॥छ॥ पूर्वोक्त भट्टारक श्री६ ललितकीर्तिदेवास्तच्छिष्य क्षुल्लकव्रतधर ब्रह्मश्री सुमतदासः ॥
तस्योपदेश (शाद ?) वृषभूमिसंज्ञे पुरेऽभवत्यत्र (पुण्य?)
महः समीड्यः ।
शान्तिक्रमो 'नाम' विधानसारं कुर्वन्ति ते स्युः सुखिनो
नितान्तम् ॥१९॥
इन्दुतत्त्वेन्दुषड्वर्गे लिखिते सुमनोहरे ।
संवत्सरे विक्रमर्कात् गते मासि सुभाद्रके ॥२०॥
कृष्णपक्ष तृतीयायां तिथौ श्रीशुक्रवासरे ।
शान्तिकर्म सतां शान्तिप्रदमारभ्यते शुभम् ॥२१॥
अन्त्यवर्णसमुद्भूतः सुलितानसुभूमिपः ।
तस्मिन् राजनि सद्राज्ये प्रजाक्षेमकरे शुभे ॥२२॥
पुण्यां धर्मावनौ शुम्भच्चन्द्रप्रभजिनालये ।
जिनशान्तिक्रियायज्ञविधिश्चैष विरच्यते ॥२३॥
महोत्सव शताकीर्णे पुण्यापन्यपणे परे ।
.................................॥२४॥

तत्र शुद्धसम्यक्त्वालङ्कारभारोद्धरणधीरान् षट्प्रतिमाधारकद्वादशव्रतगात्राहारभयभैषज्यशास्त्रदान वितरणैक-श्रेयोनृपतितुल्यजीर्णनूतनजिनप्रासादकरणकारापणसमर्थपा-त्रदानजिनपूजामान्यमाननजिनस्मरणजनितपुण्यैः पवित्री-कृतबाह्याभ्यन्तरप्रवृत्तिः वैश्यवर्णे सनकुटागोत्रे गोलापूर्ववंशे संघ-पति आसकरण भार्या मोहनदे, तयोः पुत्रौ द्वौ जातौ। तयोर्मध्येज्येष्ठः सं० रतनाई भार्या साहिवा, तयोः पुत्राः पंच, ज्येष्ठो नरोत्तमः, द्वितीयोः मंडनः, तृतीयो राघवश्चतुर्थो भागीरथः, पञ्चमो नन्दीति। द्वितीयः पुत्रः सं० हीरामणिः भार्या कमला तथा बसन्ती, पुत्रो वलभद्रश्चैते सगोत्रा सकुटुम्बा नित्यं जिनधर्मप्रसादाच्चिरञ्जीवाबुद्धि-युक्ता जिनभक्तिकाः भवन्तु ।

ये जिनेन्द्रं नमस्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति च ।
तेषां सर्वाणि भद्राणि गृहे वसन्ति निश्चितम् ॥२५॥

राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में जैन समाज का योगदान

आज हमारा राष्ट्र संकटकाल से गुजर रहा है। विश्वासघाती चीन ने हमारी मातृभूमि पर हमला किया है। जिसका हमें मुंहतोड़ उत्तर देना है और अपनी स्वाधीनता की रक्षा करनी है। सारा देश जाग गया है। देश के नेताओं ने अपने सभी मतभेद भुला दिये हैं और राष्ट्रीयरक्षा के कार्य में जुट गए है। अन्य समाजों के साथ जैन समाज ने भी राष्ट्रीय संरक्षण कोष खोला है। यद्यपि जैन समाज को अन्य अनेक सभा सोसाइटियों की ओर से सुरक्षा कोष में धन देना पड़ता है। फिर भी दिल्ली और बाहर की जैन समाज के दान की जो सूची अब तक प्राप्त हुई है उसको नीचे दिया जा रहा है। समाज को चाहिए कि प्रयत्न और उत्साह के साथ इस कार्य में पूरा योग देकर देश की आजादी को अक्षुण्य बनाने का प्रयत्न करें और जगत को यह दिखला दें कि अहिंसक जैन समाज अपने कर्तव्य पालन में कभी पीछे नहीं रही है।

५००००००) साहू शान्तिप्रसाद जी, साहू जैन उद्योग कलकत्ता।
२०० तोला सोने के आभूषण श्रीमती रमारानी जैन कलकत्ता।
१००००००) सेठ छिदामीलाल जी जैन, ग्लासवर्क्स, फिरोजाबाद।
५१०००) खेलशंकर भाई दुर्लभ जी जौहरी, जयपुर।
५००००) सेठ सोहनलाल जी दूगड़, कलकत्ता।
२५०००) श्वेताम्बर जैन समाज, दुर्ग।
१५०००) जैनसमाज, बालाघाट।
११०००) स्वस्तिकमेंटलवर्क्स, जगाधरी।
६५०१) जैन ब्रादर्स, राजनांद गांव।
६३००) जैन महिला संघ सदर बाजार दिल्ली और ३६ तोला सोना
५००१) दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी।
५०००) भाऊ साहब कुन्दनमल जी फिरोदिया परिवार अहमदनगर और ३१ तोला सोना
५००६) हंसराज जी सुराणा चूरू, तथा १०००) मासिक।
२६५१) हीरालाल जैन हायरसेकेण्डरी स्कूल, सदरबाजार दिल्ली।
२२१०) जैन हायरसेकेण्डरी स्कूल दरियागंज, दिल्ली। तथा २ दो सोने की अंगूठी।
११००) जैनसभा दरियागंज दिल्ली, पहली किश्त।
१००१) जैन संस्कृत कमशियल स्कूल, सेठ का कूचा, दिल्ली।
१३५१) जैनसमाज सागवाड़ा, राजस्थान।
७½ तोला सोना शाह केशरीमल जी।
११००) दि० जैनसमाज जसवन्त नगर (इटावा)।
१००१) जैनसमाज, मगरौनी।
१००१) श्रीमती विदुषी कृष्णाबाईजी, श्री महावीरजी
२१३) जैनसमाज दरियागंज, दिल्ली दूसरी किश्त।
१४८०) जैनसमाज तिजारा, नाटकों के टिकटों द्वारा।
२१००) गनपतराय जी सेठी, लाडनू।
२१ तोला सोना सागरमल जी, लाडनू।
५००) जैनसमाज, अबागढ़ (एटा)।
२१००) राजेन्द्रप्रसाद उर्फ कम्मोजी मानस्तम्भ प्रतिष्ठा के अवसर पर धर्मपुरा, दिल्ली।
१००१) श्रीकृष्णलाल जैन, इटावा अध्यक्ष नगरपालिका
११००) दि० जैनमन्दिर भीलवाड़ा और १२१ तोला चांदी के वर्तन।
३०००) जैन युवक संघ, रामपुर।
११००) श्रीमती ओमप्रभा जैन उपशिक्षामंत्राणी पंजाब, और ६ तोला सोना।
८००) दि० जैन डिगरी कालेज, बड़ौत (मेरठ) और
१६०००) के रक्षा सार्टीफिकेट।
२००) सेठ अचलसिंह जी आगरा प्रारम्भिक भेंट और १००) मासिक संकट काल तक।

(शेष पृष्ठ २४२ पर)

गुर्वावली नन्दीतट गच्छ

लेखक—पं० परमानन्द शास्त्री, दिल्ली

प्रस्तुत गुर्वावली काष्ठासंघ के नन्दीतटगच्छ की है। इस गच्छ का उदय 'नन्दीतट ग्राम' से हुआ है। आचार्य देवसेन के अनुसार भ० कुमारसेन ने काष्ठासंघ की स्थापना की थी। इस गच्छ का दूसरा नाम 'विद्यागण' भी मिलता है, जो सरस्वती गच्छ का ही अनुकरण मात्र है। इसका तीसरा नाम 'रामसेनान्वय' भी है। नांदेड से ही नन्दीतट गच्छ का उदय हुआ है। यह गुर्वावली इसी नन्दीतटगच्छ की है। इसका उदय कब और कैसे हुआ ? यह विचारणीय है। भट्टारक सम्प्रदाय में इस गच्छ के कुछ विद्वान् भट्टारकों का परिचय दिया गया है, पर उसमें भी यह नहीं बतलाया जा सका कि उक्त 'नन्दीतटगच्छ' का उदय और अभ्युदय एवं ह्रास कब हुआ है ? गुर्वावली में बतलाया गया है कि रामसेन से इस गच्छ की परम्परा चली है जो नरसिंहपुरा जाति के संस्थापक थे। पर वे कब हुए, और उनका जन्म स्थान कहाँ है, उनके गुरु कौन थे, और उन्होंने नरसिंहपुरा जाति की स्थापना कहां और कब की, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। इसके जानने का भी कोई साधन प्राप्त नहीं है। नन्दीतटगच्छ की सूचक प्रशस्तियाँ और मूर्तिलेख आदि सभी अर्वाचीन हैं, उनका समय १६वीं १७वीं शताब्दी है। अतः उपलब्ध सामग्री भी उसके इतिवृत्त पर ठीक प्रकाश नहीं डालती।

इस गुर्वावली के कुछ पद्य प्रतिष्ठासार और अन्य गुर्वावलियों में भी पाये जाते हैं। महावीर की अङ्गश्रुत परम्परा के बाद जिन विद्वानों और आचार्यों तथा भट्टारकों का उल्लेख किया गया है। उनके नाम इस प्रकार है—

रामसेन (नरसिंहपुरा जाति के संस्थापक) नेमसेन, नरेन्द्रसेन, वासवसेन, महेन्द्रसेन, आदित्यसेन, सहस्रकीर्ति श्रुतिकीर्ति, देवकीर्ति, मारसेन, विजयकीर्ति, केशवसेन, महासेन, मेघसेन, वणसेन, विजयसेन, हरिसेन, चरित्रसेन, वीरसेन, मेरुसेन, शुभंकरसेन,जयकीर्ति, चन्द्रसेन,सोमकीर्ति, लघुसहस्रकीर्ति, महाकीर्ति, यशःकीर्ति' गुणकीर्ति पद्मकीर्ति, भुवनकीर्ति, मल्लकीर्ति, मदनकीर्ति, मेरुकीर्ति, गुणसेन, रत्नकीर्ति, विजयसेन, स्वर्णकीर्ति, भानुकीर्ति, संभसेन, विख्यातकीर्ति, लघुराजकीर्ति, नंदकीर्ति, चारुकीर्ति, विश्वसेन, देवकीर्ति, ललितकीर्ति, श्रुतकीर्ति, जयसेन, उदयसेन, गुणदेवसूरि, जिनसेन, सूर्यकीर्ति, अश्वसेन, श्रीकीर्ति, चारुसेन, शुभकीर्ति, कीर्तिदेव, भवांतसेन, लोककीर्ति, त्रिलोककीर्ति, अमरकीर्ति, कमलसेन, सुरसेन, विजयकीर्ति, रामकीर्ति, उदयकीर्ति, राजकीर्ति, कुमारसेन, पद्मकीर्ति, पद्मसेन, भुवनकीर्ति, विख्यातकीर्ति भावसेन, रत्नकीर्ति, लक्ष्मसेन, धर्मसेन भीमसेन, विजयसेन, कमलकीर्ति, रत्नकीर्ति, महेन्द्रसेन, विशालकीर्ति, और विश्वभूषण।

जान पड़ता है कि ऊपर के नामों में से कितने ही नाम अन्य पट्टावलियों के गण-गच्छादि के होंगे, पर उनका यथार्थ परिचय न होने से उनके सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालना सम्भव नहीं है।

गुर्वावली

वृषभादिवीरपर्यंतान् नत्वा तीर्थंकृतस्त्रिधा।
स-गणेशानहं वक्ष्ये गुरुणामावली मुदा ॥१॥
वृषं वृषभसेनाद्याः सिंहसेनादयोऽजितं।
संभवं चारुषेणाद्याः वज्रनाभि पुरस्सरां ॥२॥
कपिध्वजं चामराद्याः सुमतिं पद लांच्छनं।
ये वज्र चमरस्पृष्टाः सुपार्श्वं बलिपूर्वकं ॥३॥
चंद्रप्रभं दत्तमुत्क्षी पुष्पदन्तं समाश्रिता।
विदर्भाद्या शीतलेशं मुनिगार पुरस्सरा ॥४॥
कंथु प्रधानाः श्रेयान्सं धर्माद्या द्वादशं जिनं।
विमलं मेरू पौलस्त्या जयाद्याश्चतुर्दशम् ॥५॥
धर्म्मं त्वरिष्टसेनाद्या शांति चक्रा युधादयः।
स्वयंभू प्रमुखा कुंथुं कूं भार्याद्यास्तरप्रभुं ॥६॥
मल्लि विशाखप्रमुखा मल्याद्या मुनिसुव्रतं।
नमीशं सुप्रसन्नात्मा वरदत्त पुरस्सरा ॥७॥
नेमिं पार्श्वं स्वयंभूवा-द्या गौतमांद्याश्च सन्मतिं।
तेभ्यो गणधरेशेभ्यो दत्तोऽर्घोयं पुनः पुनः ॥८॥

त्रय: केवलिन: पंच ते चतुर्दशपूर्विण: ।
क्रमेणैकादशप्राज्ञो विज्ञेया दशपूर्विण: ॥६॥
पंचैकेकं दशांगानां धारका परिकीर्तिता ।
आचाराङ्गाख्य चत्वार: पंचधेति युगस्थिति: ॥१०॥
वर्द्धमान जिनेन्द्रस्य इन्द्रभूति: श्रुतं दधौ ।
तत: सुधर्मस्तस्मात् च जंबू नामांत्य केवली ॥११॥
तस्माद्विष्णु क्रमात् तस्मात् नंदिमित्रोऽपराजित: ।
ततो गोवर्द्धनो दभ्रे भद्रबाहु: श्रुतं तत: ॥१२॥
दशपूर्वी विशाखाह्य: प्रोष्ठिल: क्षत्रियो जय: ।
नाग-सिद्धार्थ नामानौ धृतिषेण गुरुस्तत: ॥१३॥
विजयो बुद्धिल्लाख्यो[१] गंगदेवो यतिस्त:
दशपूर्वीधरोंत्यस्तु धर्म्मसेनो मुनीश्वर: ॥१४॥
नक्षत्राख्यो यश:पाल: पांडुरेकादशांगभृत् ।
ध्रुवसेनमुनिस्तस्मात् कंसाचार्यस्तु पंचम: ॥१५॥
सुभद्रौ तौ यशोभद्रो भद्रबाहुरनंतरं ।
लोहाचार्यस्तुरीयोभूदाचारांगधृतां तत: ॥१६॥
अर्हद्वल्लभसूरिभि विरचित: प्रागेव संघोमहान् ।
श्रीनंदीतट संज्ञया त्रिभुवने गंगाप्रवाहोज्ज्वल: ॥
न्यस्तेन: प्रसरो व नम्रनृसुरै रासेव्यते य: सदा ।
धर्म्मस्यैक निधिर्विधिवच्च तपसांवृद्धि परां गच्छतु१७॥
प्रणम्य वीतरागस्य पादपद्म भवच्छिदं ।
वक्ष्ये बुद्धयनुसारेण गुरू नामावलीं मुदा ॥१८॥
काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानंति नृसुराऽसुरा: ।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुता क्षितौ ॥१६॥
श्रीनंदीतट संज्ञश्च माथुरा बागडाभिध: ।
लालबागड इत्येते विख्यातो क्षितिमंडले ॥२०॥
तत्र नंदीतटे गच्छे श्रीमनाद्यनुसार तं ।
क्रमेण मुनयो वक्ष्ये ये रत्नत्रयमंडिता ॥२१॥
अर्हद्वल्लभसूरिश्च श्रीपंचगुरु संज्ञक: ।
गंगसेनो ततो जातो नाग-सिद्धान्त-सेनकौ ॥२२॥
गोपसेनो गुणांभोधि: श्रीमन्नो य गुरुस्तत: ।
तत्पट्टमंडने दक्षो ज्ञान-विज्ञान-भूषित: ॥२३॥
रामसेनोऽतिविदिता प्रतिबोधन पंडित: ।
स्थापिता येन सज्जाति नरसिंहाभिधा भुवि ॥२४॥

१. बुद्धिलाभाख्यो इत्यपि पाठ: ।

यस्तपोभि: समासाद्य पद्मावत्या परं वरं ।
पंचतीर्थं चात्ते चर्यां चकार नेमसेनक: ॥२५॥
नरेन्द्रसेनश्च तत्पट्टे पट्टे वासवसेनक: ।
महेन्द्रादित्य सेनौ व सहस्रकीर्त्तिस्तत: परं ॥२६॥
श्रुतकीर्त्ति देवकीर्त्ति तत: श्रीमारसेनक: ।
विजयकीर्त्ति मुने: पट्टे केशवसेन प्रसिद्धवाक् ॥२७॥
महासेन मेघसेनोऽसौ वणसेनो मुनीन्द्रके: ।
विजयसेनो हरिश्चैव सेनश्चारित्रसेनक: ॥२८॥
वीरसेन कुलस्यैव भूषणे मेरूसेनक: ।
तत: शुभंकरसेनश्च जयकीर्तिश्च कीर्त्तिभृत् ॥२६॥
चन्द्रसेन सोमकीर्त्ति र्लघुसहस्त्रकीर्त्तिक: ।
महाकीर्त्ति यश:कीर्त्तिगुणकीर्त्तिर्गुणां बुधी: ॥३०॥
श्रीपद्मकीतिर्भुवनादिकीर्त्ति वै मल्लकीर्त्तिमदनश्चकीर्ति ।
श्री मेरूकीर्तिर्गुणसेननामा तत: परं श्री गुरु रत्नकीर्ति ।३१।
विजयादिसेनोऽथ सुवर्णकीर्ति श्रीभानुकीर्तिकविभूषणोऽभूत् ।
तत: परं संयमसेनदक्षो विख्यातमूर्तिर्लघुराजकीर्त्ति: ॥३२॥
श्रीनंदकीर्तिर्गुरुचारुकीर्तिर्वादी प्रसिद्धो भुवि विश्वसेन: ।
श्रीदेवकीर्तिर्ललितादिकीर्ति: शास्त्रार्थचेताश्रुतकीर्तिदक्ष: ।३३।
जयस्यसेनोदयसेननामा गुणै: प्रसिद्धो गुणदेवसूति ।
विशालकीर्तिश्च अनन्तकीर्ति महेन्द्रसेनो विजयस्यकीर्ति: ।३४।
कवीश्वरोऽसौ जिनसेनसंज्ञ: श्री सूर्यकीर्तिश्चवराश्वसेन: ।
श्री कीर्तिरम्योऽपि च चारुसेन: शुभस्यकीर्तिर्भुविकीर्तिदेव ३५
भवांतसेनोपि लोककीर्तिस्त्रिलोककीर्तिरमरादिकीर्ति: ।
कर्मघ्नसेनो सुरसेनरम्यो विजयस्यकीर्तिगुरुरामकीर्ति: ॥३६॥
उदयादिकीर्तिश्च सुराजकीर्ति: कुमारसेनोऽथ सुपद्मकीर्ति: ।
श्री पद्मसेनो भुवनस्यकीर्तिर्विख्यातकीर्तिर्जितमारमूर्ति: ।३७।
श्री भावसेनोप्युदयैकवास स्तत्पादसेवी तपसां निवास: ।
स्वतर्कनिर्वासितसर्वडंभ श्रीरत्नकीर्तिर्गुणगेहस्तंभ: ॥३८॥
श्रीमान(स्तु?)पट्टोधरणैकधीरो व्याकरणवेत्ता जिनमार वीर:
श्रीलक्ष्मसेनो गुणरत्नशैलो विराजते·········(?) ॥३६॥
तत्पट्टशृंगार परंपरायै परं प्रसिद्धौ विदितौ मुनीन्द्रौ ।
श्रीधर्मसेनोऽपि भीमसेनो जातो पृथिव्यां प्रथितौ प्रधानौ ।४०।
ताभ्यां मुनिभ्यां स्वयमेव दत्तं पट्टेचिरं पालय सोमकीर्ति ।
तेभ्यो मुनिभ्यो(पि) प्रसादमाया जयानिसं च जिनपादसेवी ॥
शास्त्रस्यसारं पठनेप्रवीण: धर्मामृतांभोनिधि वर्षणीयं ।
श्रीभीमसेनस्य सुरम्यपट्टे श्रीसोमकीर्ति भुवि भाति नित्यं।४२।

(शेष पृष्ठ २३६ पर)

संयोजक वीर सेवा मन्दिर
संक० परमानन्द शास्त्री

नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के जैन मूर्ति-लेख

(वेदी नं० एक—बायें से दाईं ओर)

७. आदिनाथ पद्मासन ऊँचाई २२ इंच, चौड़ाई १८ इंच, सफेद पाषाण।

संवत् १७६४ माघ सुदी १३ मारौठ नगरे महाराजाधिराज महाराजा श्री अभयसिंह जी प्रसादात् मेड़त्यासाखे महाराज सावंतसिंह जी, श्री बखतसिंह जी, श्री स(छ)त्रसाल राज्ये श्री मूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये मंडलाचार्य श्री जगत्कीर्तिदेवास्तत्पट्टे मं० श्री भूषणदेवास्तत्पट्टे मं० श्री धर्मचन्द्रदेवास्तत्पट्टे मंडलाचार्य श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे मंडलाचार्य अमरेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे मंडलाचार्य रत्नकीर्तिदेवास्तत्पट्टे मं० श्री विद्यानन्दि तत्पट्टे मंडलाचार्य अनन्तकीर्तिदेवास्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये पान्ड्यागोत्रे साह श्री गिरधर तत्पुत्र साधु भूधरदास तत्पुत्र सा० रामसिंह तद्भार्या रायवदे, तत्पुत्राः [पंच] सा० मनोहरदास, दौलतराम, बखतराम, सुरतराम, साहिबराम एतैः सह रामसिंहेन प्रतिष्ठा कारिता।

८. बाहुबली खड्गासन, सफेद पाषाण साइज—ऊँचाई २४ इंच चौड़ाई १६ इंच।

अथ स्वस्ति श्री वीर संवत् २४४६ विक्रम सं० २०१६ फाल्गुण शुक्लपक्षे अष्टम्यां तिथौ शुक्रवासरे श्री मूलसंघे दि० जैन कुंदकुंदाम्नाये श्रीमती सेवतीदेवी धर्मपत्नी बाबूमल जौंहरी देहली नगरे प्रतिष्ठितं प्रतिष्ठाचार्य श्री नन्हेंलालेन प्रतिष्ठापिता, शुभं भवतु।

९. सप्तफणी पार्श्वनाथ चिन्ह सर्प, साइज—ऊँचाई १५ इं० चौड़ाई ७ इंच, सफेद पाषाण

सं० १९३५ माघ शुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्यान्वये भ० राजेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्रे साधुईश्वरीप्रसाद सुपुत्र मेहरचन्द्रेण प्रतिष्ठा करापिता इन्द्रप्रस्थ नगरे।

१०. नेमिनाथ कृष्ण पाषाण, चिन्ह शंख साइज—ऊँचाई १७ इंच, चौड़ाई ८ इंच।

श्री वीरात् संवत् २४४६ वि० सं० १९७६ माघ सुदी १३ चन्द्रवासरे कुंदकुंदाम्नाये दिल्ली प्रतिष्ठितम्।

वेदी नं० १ कटनी नं० २ (बायें से दायें)

१. नेमिनाथ चिन्ह शंख, पद्मासन सफेद पाषाण, साइज—ऊँचाई १०½ इंच चौड़ाई ५½ इंच।

सं० १९३५ माघ शुक्ला ३ भ० राजेन्द्रकीर्ति दिल्ली नगरे प्रतिष्ठितम्।

२. पार्श्वनाथ चिन्ह सर्प, पद्मासन सफेद पाषाण, साइज—ऊँचाई १३ इंच चौड़ाई ६ इंच।

सं० १९३५ माघ शुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्यान्वये भ० राजेन्द्रकीर्ति तदा० (म्नाये) अग्रोतकान्वये साधु ईश्वरीप्रसाद तत्पुत्र मेहरचन्देणप्रणम (मि) ति।

३. चन्द्रप्रभ चिन्ह चन्द्रमा, पद्मासन, सफेदपाषाण, साइज—ऊँचाई १२½ इंच, चौड़ाई ७½ इंच।

संवत् १९२३ ज्येष्ठ सुदी १० शुक्रवारे काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे भट्टारक राजेन्द्रकीर्ति तदाम्नाये—(आगे के अक्षर पढ़े नहीं जाते, पाषाण खिर गया है।)

४. शान्तिनाथ चिन्ह हिरन सफेद पाषाण, पद्मासन साइज—ऊँचाई १३ इंच, चौड़ाई ६½ इंच, आसन लम्बाई ६ इंच।

संवत् १५४८ वैशाख सुदी ३ भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेव साहु श्री जीवराज पापड़ीवाल प्रतिष्ठितं।

५. पद्मप्रभ चिन्ह कमल, पद्मासन, सफेद पाषाण, साइज—ऊंचाई १२½ इन्च, चौड़ाई ६½ इन्च।

संवत् १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्री मूलसंघे भट्टारक जिनचन्द्रदेव साहु जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमिति।

६. आदिनाथ चिन्ह बैल सफेद पाषाण, पद्मासन साइज—ऊँचाई १४ इन्च, चौड़ाई १० इन्च।

ओं नमः सिद्धेभ्यः। संवत् १४२८ वर्षे ज्येष्ठ सुदी १२ द्वादश्यां सोमवासरे श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये भट्टारक देवसेनदेवास्तत्पट्टे त्रयोदश-चारित्र रत्नालंकृता सकल विमल मुनि मंडली शिष्य शिखामणयः प्रतिष्ठाचार्य श्री भट्टारक श्री विमलसेनदेवाः तेषामुपदेशेन जाइसवालान्वये सा० बृहपति भार्या मदना पुत्र विजयदेव पत्नी पूजा द्वितीय पुत्र लाल-सिंह तत्पुत्र विजयदेव तत्पुत्र समस्त दातृधुरीण साधु श्री भोज भार्या ईसरी पुत्र हम्मीरदेवः द्वितीय भार्या कर्षी साहु कर पूरा पुत्र शुभराज, कौल्हाको, हम्मीरदेव भार्या धर्मश्री तत्पुत्र धर्मसिंह एते स्वश्रेयोर्थं शिवं तत्पुत्रः श्री आदिनाथ चन्द्र-देव नेमिचन्द्राभ्यां प्रतिष्ठितम्।

७. नेमिनाथ चिन्ह शंख साइज—ऊँचाई ६ इंच, चौड़ाई ४ इंच।

संवत् १६३५ माघ शुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहा चा० (र्यान्वये) भट्टारक राजेन्द्रकीर्ति स्तदाम्नाये अग्रोतकान्वये साधु ईश्वरीप्रसाद तत्पुत्र मेहरचन्द्रेण प्रतिष्ठा कारापिता इन्द्रप्रस्थनगरे।

८. सम्यक् चारित्र यन्त्र साइज नौ इंच गोल, पीतल।

संवत् १६७३ वर्षे आषाढ़ सुदी २ गुरुवारे अजमेरगढ़मध्ये श्री पातिशाह जहांगीर राज्ये श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भ० ज(य) शःकीर्ति तत्प० भ० खे (क्षे) मकीर्ति तत्प० भ० श्री त्रिभुवन-कीर्ति तत्प० भ० सहस्रकीर्ति तदाम्नाये अग्रवाल० (लान्वये) गर्गगोत्र (त्रे) साहू पदारथ तत्पुत्राश्चत्वारः ४ प्र० अभै-राज द्वि०चेतन (तृ०) वच्छा (च०) नाहर एतेषां मध्ये सा० अभैराज भार्या २ द्वौ, प्रथम भा० दुयो द्वि० भा० निहाले तत्पुत्र मलूकचन्द्र तत् भा० द्वौ परदन, मलूका पुत्र ३ प्रथम पुत्र तुलसीदास द्वितीय पद्मसिंह तृतीय पु० सूरतसिंघेन यन्त्र प्रतिष्ठापितम्।

९. भ० महावीर चिन्ह सिंह कृष्ण पाषाण, साइज—ऊँचाई ८ इंच, चौड़ाई ४½ इंच।

वीर नि० सं० २४६८ वि० सं० २००० वैशाखमासे शुक्लपक्षे पूर्णिमातिथौ देहलीनगरे दि० जैन कुन्दकुन्दा-म्नाये प्रतिष्ठाप्य स्थापितमिदं बिम्बं। छज्जूमल।

१०. भ० महावीर चिन्ह सिंह कृष्ण पाषाण साइज—ऊँचाई १८ इंच, चौड़ाई १० इंच।

वीर नि० सं० २४६८ वि० सं० २००० वैशाखमासे शुभे शुक्लपक्षे तिथौ १५ बुधवासरे दिल्लीनगरे दि० जैन कुन्दकुन्दाम्नाये प्रतिष्ठाप्य स्थापितमिदं (बिम्बं) कल्याणार्थं भवतु।

११. भ० नेमिनाथ चिन्ह शंख साइज-ऊंचाई १६ इंच चौड़ाई ८ इंच।

वीर नि० स० २४४६ वि० सं० १६७६ माघशुक्ला त्रयोदशी चंद्रवासरे कुन्दकुन्दाम्नाये दिल्ली नगरे प्रतिष्ठितम्।

१२. भ० नेमिनाथ चिन्ह शंख कृष्ण पाषाण साइज—ऊंचाई १४½ इंच चौड़ाई ८ इंच।

वीर नि० सं० २४४६ वि० सं० १६७६ माघ मासे शुक्ल (पक्षे त्रयोदश्यां) १३ चंद्रवासरे कुन्दकुन्दाम्नाये दिल्ली नगरे प्रतिष्ठतम्।

१३. भ० आदिनाथ चिन्ह वृषभ, सफेद पाषाण, साइज ऊँचाई १४ इंच, चौड़ाई ७ इंच।

सं०१५४८ वर्षे वैशाख सुदि ३ भ० श्री जिनचन्द्रदेव साहजीवराज पापड़ीवाल प्रतिष्ठितम्

(शेष पृष्ठ २४२ पर)

साहित्य-समीक्षा

आत्म रहस्य

लेखक—रतनलाल जैन, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली, सन् १९६१ ई०, भूमिका लेखक—सम्पूर्णानन्द, पृष्ठ संख्या—२२८, मूल्य—३ रुपये ५० नए पैसे।

यह 'आत्मरहस्य' का दूसरा संस्करण है। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ को पढ़ने में लोगों ने रस लिया है। निराकार, अरूपी, अदृष्ट आत्मा का विवेचन एक शुष्क विषय है। किन्तु लेखक ने उसका गहरा अध्ययन किया, समझा और फिर आसान शैली, सरल भाषा में प्रकट किया। इसी कारण इस नीरस से आभासित विषय में आत्मानन्द झलक उठा है। मध्यम बुद्धि का पाठक उसे भली भाँति समझ लेता है। यह ही उसकी खूबी हैं।

लेखक ने ग्रन्थ को तीन खण्डों में विभाजित किया है—आत्म-अनुसन्धान, सत्यमार्ग और समन्वय या एकीकरण। आत्म-अनुसन्धान में आत्मा का पुद्गल से पृथक अस्तित्व दिखाते हुए, उसका वास्तविक स्वरूप, निवास स्थान और अमरत्व सिद्ध किया गया है। ऐसा करने में, श्री रतनलालजी ने आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के तथ्य भी उपस्थित किये हैं, जिससे उनके निष्कर्षों में सबलता और आकर्षण आ सका है। यथास्थान दृष्टान्तों की उपन्यस्तता ने विषय को सुगम और सुबोध बनाया है। इसी खण्ड में कर्म-सिद्धान्त और जगत-निर्माण जैसी कठिन और विवाद-ग्रस्त समस्याओं को भी उठाया गया है। आत्मा के स्वरूप पर विचार करने के लिए यह स्वाभाविक था। यह सत्य है कि लेखक ने जिन तथ्यों पर पहुँचना चाहा, वे जैन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित थे, किन्तु अन्य आचार्यों के प्रतिपादित विषय का निराकरण करके नहीं। लेखक की यह शालीनता समूची पुस्तक में छाई हुई है।

दूसरे खण्ड में आत्मा के 'सच्चिदानन्द' रूप पर विचार किया गया है। आत्मा की सच्चिदानन्द अवस्था सदैव लक्ष्य ही बनी रहती है अथवा प्राप्त भी की जा सकती है? एक महत्वपूर्ण विषय है, जिस पर लेखक ने गम्भीरता से विचार किया है। कर्म-बन्धन से मुक्त होते ही आत्मा अलौकिक दिव्य आनन्द में मग्न हो जाती है। लेखक का कथन है, "कर्म-परमाणुओं के समूह कर्माण शरीर के सर्वथा नष्ट हो जाने से, संसार भ्रमण, रोग-व्याधि आदि समस्त दुखों से सदा के लिए मुक्त हो जायगा," आगे इस सच्चिदानन्द को प्राप्त करने के उपायों का निरूपण करते हुए निवृत्ति और प्रवृत्ति-मार्गों की तुलना की गई है। इसमें भी जैनस्वर प्रबल है। शायद दोनों का सूक्ष्म दार्शनिक भेद दिखाना न तो लेखक को अभीष्ट ही था और न दिखाया ही गया है। यह भी सच है कि सांसारिक सुख की ओर दुःख की अपेक्षा अधिक झुकाव आत्मा के आनन्द रूप होने की पुष्टि नहीं करता। दोनों एक दूसरे के उल्टे हैं।

(पृष्ठ २३६ का शेष)

आशांबरेभ्य: कमनीयकीर्ति श्रीसोमकीर्तिः किल यो बभूव।
तस्मात्परं श्रीविजयादिसेन: पट्टे तदीयं परमं बभार।४३।
सच्छास्त्र रत्नाकर चंद्रतुल्य: शीलैर्गुणैर्भूषित दिव्यदेह:।
पट्टं शुभं वैजयसेन मुग्रं पुण्याद्विभर्त्यंबुजकीर्ति रेष: ।।४४।।
कंदर्प्प सर्पोद्धत वैनतेय: साम्याग्नि निर्दग्धकषायवृक्ष:।
शुद्धेपदे श्रीकमलादिकीर्तेः श्रीरत्नकीर्तिः किल संबभूव ।।४५।।
चारित्रसंभार विभावितात्मा विद्वज्जनेष्वाथतमो गुणौघ:।
सद्रत्नकीर्ति प्रभुपट्टधारी सूर्यप्रमोऽभूत सुमहेन्द्रसेन: ।।४६।।
वादीभपंचास्य समानसत्त्व: पंचाक्षसौख्येषु विरक्तचित्त:।
श्रीरामसेनस्य परंपराया मासीद्वरिष्ठस्तु विशालकीर्तिः।४७।
तत्पट्ट पंकेरुहचित्रभानुश्चिद्रूपध्यानामृतपानपुष्ट:।
मान्य: सतां संयम शीलभाजां पायाज्जनान् विश्वविभू-
षणाख्य: ।।४८।।

शुद्ध द्वादशभावनाऽनु भवत: प्राप्तश्चरित्रं परं।
ध्यायत् धर्ममघापहं सुमनसा रौद्रार्त्तभेदोज्झित: ।।
दिक् संघोत्तम रामसेन कुलरवेजातोंऽशुमाली महान्।
तत्पट्टेश्वरविश्वभूषणगुरुः कुर्यात्सतां संपदा ।।४९।।
यावन्मेरुर्विश्व महीयावत् यावत् चंद्रार्क्कतारका।
गुर्वावलि शुभार्चेषां तावन्नंदतु सास्वती ।।५०।।
।। इति गुर्वावलि समाप्ता ।।

तीसरा खण्ड 'समन्वय या एकीकरण' शीर्षक से रखा गया है। इसमें स्याद्वाद को समन्वय का प्रतीक माना है। भारतीय दर्शनों में जो भिन्नता पाई जाती है वह वास्तविक नहीं है, अपेक्षाकृत दृष्टि से विचार करने पर वे सभी अपने-अपने स्थान पर ठीक है। उन सब में एकता का प्रतिपादन करने वाला 'स्याद्वाद' जैन आचार्यों की महत्वपूर्ण देन है। लेखक ने बड़े आसान ढंग से इसे दिखाने का प्रयास किया है अन्त में 'दर्शनों का समन्वय' अत्यधिक आकर्षक और विद्वान् लेखक के मँजे अध्ययन का प्रतीक हैं। सब से बड़ी विशेषता है कि कहीं उलझन नहीं है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक ने सब कुछ भली भांति समझा-देखा है। हम सस्ता साहित्य मण्डल के इस प्रकाशन का हार्दिक स्वागत करते हैं। पाठक रुचि लेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

पद्मनन्दि पंचविंशतिः

लेखक—मुनि पद्मनन्दि, सम्पादक—डा० आ० ने० उपाध्ये और डा० हीरालाल जैन, प्रकाशक—जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १९६२, हिन्दी अनुवादक—पं बालचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ-संख्या—६२, २८४, मूल्य १० रुपया।

इस संस्करण में मूल ग्रन्थ के साथ संस्कृत टीका, हिन्दी-अनुवाद, प्रस्तावना और प्रधान सम्पादकीय वक्तव्य हैं। प्रूफ की कहीं अशुद्धि नहीं। छपाई उत्तम। बाह्य साज-सज्जा का पूर्ण ध्यान रखा गया है। यद्यपि ग्रन्थ दो बार पहले भी प्रकाशित हो चुका है, किन्तु उनमें न तो ग्रन्थ और ग्रन्थकार का समीक्षात्मक विवेचन ही था और न ऐसा अनुवाद। अत यह ग्रन्थ विद्वान् और जनसाधारण पाठक दोनों ही के लिए लाभकारी है।

ग्रन्थ का सम्पादन आठ हस्तलिखित और दो मुद्रित प्रतियों के आधार पर किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों की सम्पादन-कला का एक विशिष्ट ढंग होता है। जीवराज ग्रन्थमाला के सम्पादक उसमें निपुण हैं। वे भारत की उस शैली से परिचित हैं और पश्चात्यशैली का अध्ययन किया है। दोनों का समन्वय उनके सम्पादन की विशेषता है।

हिन्दी-अनुवाद पं० बालचन्द्र जी शास्त्री का किया हुआ है। जीवराजग्रन्थमाला के अन्य ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद भी उन्हींने किये है। मूल श्लोकों का भाव स्पष्ट और सरलता से वे अभिव्यक्त करना जानते हैं। अनुवाद में यह ही होना भी चाहिए। आज से १०० वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ का ढुंढारी हिन्दी में दो व्यक्तियों ने अनुवाद किया था, किन्तु उसमें अनेक त्रुटियां थीं। वि० सं० १९५५ में मराठी-अनुवाद और १९७१ में किए गये हिन्दी-अनुवाद भी 'प्रस्तुत' की तुलना नहीं कर पाते। आधुनिक पाठक इस अनुवाद के सहारे मूल विषय को पूर्णरूप से अवगम कर लेता है।

प्रस्तावना पहले अंग्रेजी में है, फिर हिन्दी में। किन्तु हिन्दी की प्रस्तावना अंग्रेजी का अनुवाद नहीं है। दोनों स्वतन्त्र लिखी गई हैं और एक-दूसरे की पूरक हैं। उनमें ग्रन्थ-ग्रन्थ का विषय, ग्रन्थकार, काल-निर्णय आदि छोटे-छोटे शोध परक निबन्ध हैं। यह आवश्यक नहीं है कि हम उनके द्वारा स्थापित तथ्यों से सहमत ही हों, किन्तु उन्हें पुष्ट करने का अच्छा प्रयास किया गया है।

इस ग्रन्थ के रचयिता मुनि पद्मनन्दी वि० सं० १०७३ से ११९३ के मध्य कभी हुए हैं। डा. ए. एन. उपाध्ये के अनुसार इस ग्रन्थ के चौथे प्रकरण के कन्नड़-टीकाकार पद्मनन्दी ही मुनि पद्मनन्दी थे। यदि ऐसा सत्य है तो वे ११९३ के निकट कहीं आस-पास हुए हैं। किन्तु यह केवल अनुमान पर आधारित है। उसकी पुष्टि सुपुष्ट तथ्यों पर निर्भर होनी चाहिए।

सम्पादकों का यह उहा-पोह कि जब ग्रन्थ का नाम पंचविंशति है, फिर उसमें २६ प्रकरण क्यों हैं, निरर्थक-सा ही है। सतसैया, शतक, छत्तीसी, बत्तीसी और पच्चीसियों के हिन्दी पाठक जानते हैं कि उनके रचयिता नाम के द्वारा निर्धारित सीमाओं में कभी बंधे नहीं। सभी में दोहे, कवित्त या कोई अन्य छन्द दो-चार इधर-उधर बन ही जाते थे। इस आधार पर खोज का कोई खास पहलू या मोड़ निर्भर नहीं करना चाहिए।

यह ग्रंथ १००० वर्ष से जैन जनता के मध्य प्रसिद्ध हैं इसकी लोकप्रियता के दो मुख्य कारण हो सकते हैं—प्रथम

तो यह है कि इसमें अध्यात्म और भक्ति का समन्वय है। 'एकत्वसप्तति' में यदि चिदानन्दस्वरूप परमात्मा का सैद्धांतिक विवेचन है, तो 'सिद्ध-स्तुति' में उसी की भाव-विभोर वन्दना है। ऋषभ-स्त्रोत तो भक्ति का प्रतीक ही है। इस ग्रन्थ में गुरु भक्ति के निदर्शन पद-पद पर बिखरे हुए हैं। दूसरा कारण है भाषा की सरलता और प्रवाहमयता। यद्यपि दो प्रकरण प्राकृत-भाषा में निबद्ध हैं, किन्तु वह तो और भी आसान हैं। भावों का तारतम्य संस्कृत और प्राकृत दोनों ही में एक-सा है।

मैं इस ग्रन्थ के अधिकाधिक प्रचार की कामना करता हूँ।

जैन तीर्थ और उनकी यात्रा

लेखक—श्री कामताप्रसाद जैन, सम्पादक—पण्डित परमानन्द शास्त्री, प्रकाशक—भा० दि० जैन परिषद्, देहली सन्—१९६२, पृष्ठ १८१, मूल्य दो रुपये।

इस पुस्तक का पहला प्रकाशन सन् १९४३ में हुआ था। अब यह तीसरा संस्करण है। इससे प्रमाणित है कि जनसाधारण के मध्य पुस्तक लोकप्रिय रही। इसकी रचना भ० भा० दि० जैन परिषद् की परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों को लेकर की गई थी। इसी दृष्टि से, "इसमें केवल तीर्थों का महत्त्व और उनका सामान्य परिचय कराया गया है।" इससे विद्यार्थियों को भारतवर्ष में फैले जैन तीर्थों का नाम, महत्त्व और साधारण परिचय प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर जैन भक्तों को इसके सहारे तीर्थ-यात्रा सुगम हो जाती है। विद्यार्थी और जैन भक्त इससे लाभान्वित हुए और होंगे।

इस संस्करण के परिशिष्ट २ में कतिपय तीर्थ-क्षेत्रों का ऐतिहासिक परिचय भी दिया है। उसके रचयिता पं० परमानन्द शास्त्री हैं। जैन तीर्थ-क्षेत्रों के ऐतिहासिक और भौगोलिक परिचय की नितांत आवश्यकता है। उस पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ अधिकारी विद्वानों के द्वारा लिखा जाना चाहिए। मैं जहाँ तक समझता हूँ, उसके लिए जिस सामग्री की आवश्यकता है, उसके संकलन में ही वर्षों लग जायंगे। भौगोलिक अध्ययन के लिए भारत-व्यापी भ्रमण और प्राचीन तीर्थयात्रा-वृत्तान्तों का अध्ययन और खोज करनी होगी। यह पुस्तक तो विद्यार्थी और परीक्षा की सीमा तक ही रहती तो अच्छा था।

पुस्तक की भाषा आसान है और सर्वसाधारण की समझ में आ जाती है। कहीं-कहीं प्रूफ-सम्बन्धी अशुद्धियां अवश्य रह गई हैं। वैसे पुस्तक में लोकप्रिय होने के सभी गुण मौजूद हैं।

श्री हनुमानचरित्र

लेखक—मास्टर सुखचन्द पद्मशाह पोरवाड, पद्य-रचयिता—कवि श्री ब्रह्मराय जी, प्रकाशक—मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, पृष्ठ—१४४, मूल्य—दो रुपये।

हनूमान चरित्र के इस संस्करण में विशेषता केवल इतनी है कि इसके साथ 'ब्रह्मरायमल्ल' का पद्यबद्ध 'हनुमान चरित्र' भी प्रकाशित हुआ है। ब्रह्मरायमल्ल ने इसकी रचना वि० संवत् १६१६ में की थी। वे एक उच्चकोटि के कवि थे। उनकी अन्य रचनायें भी उपलब्ध हैं। ४०० वर्ष पुराने इस काव्य का प्रकाशन प्रसन्नता का विषय है। किन्तु साथ ही उसकी अशुद्धियों पर जब ध्यान जाता है, तो हृदय को दुःख होना स्वाभाविक ही है। अच्छा होता यदि उसे छापने के पूर्व किसी हिन्दी के विद्वान् को दिखा लिया होता।

इस ग्रन्थ के 'प्राक्कथन' में, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित ११ ग्रंथों का उल्लेख किया गया है। दान देकर इस ग्रन्थ-माला को समुन्नत बनाने की बात भी लिखी है। मैं उसका समर्थन करता हूँ किन्तु मेरा निवेदन है कि भले ही तीन वर्ष में एक ग्रन्थ निकले, सुसम्पादित और विशुद्ध होना चाहिए। इन ग्रंथों को जैनमित्र के प्रचार का सहायक-भार न बनाया जाये।

—डा० प्रेमसागर जैन

नया मन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के जैन मूर्ति-लेख

(पृष्ठ २३७ का शेष)

१४. भ० पार्श्वनाथ सप्तफणी साइज—ऊँचाई आसन सहित १७ इंच, चौड़ाई ५ इंच, आसन ५ इंच।

संवत् १६३५ माघ शुक्ला ३ काष्ठासंघे लोहाचार्यान्वये भ० राजेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्रे साधु ईश्वरदास तत्पुत्र मेहरचन्द्रेण प्रतिष्ठितम् दिल्ली नगरे।

१५. भ० पार्श्वनाथ सप्तफणी चिन्ह सर्प साइज—ऊँचाई १०½ इंच, चौड़ाई ४½ इंच। (लेख पूर्ववत् नं० १३ के समान)

१६. भ० आदिनाथ चिन्ह वृषभ खड्गासन, देशीपाषाण यक्ष यक्षिणीसहित साइज—ऊँचाई १० इंच, आसन सहित चौड़ाई ४½ इंच।

सं० ११११२ चैत्र सु० १३ रवौ।

१७. दशलक्षण धर्म यन्त्र तांबे का सा० चौकोर ६ इंच।

सं० १६८८ वर्षे फागुन सुदी ८ शनिवासरे श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भ० ज (य) शकीर्ति देवाः, भ० खेमकीर्ति देवाः, भ० श्री त्रिभुवनकीर्ति देवाः, तत्पट्टे भ० श्री सहस्त्रकीर्ति देवाः तस्य शिष्यणी अर्जिका प्रतापश्री कुरुजांगलदेशे सयीदो नगरे अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे चौधरी इन्द्रराज तस्य भार्या सुक्खो तस्य पुत्री दामोदरी द्वितीय नाम अर्जिका इदं यंत्रं करापितं कर्मक्षयनिमित्तं शुभं भवतु, मांगल्यं ददातु तस्या शिष्यणीवाई धर्मावती पांडे रामसिंह।

१८. चिन्ह अस्पष्ट पद्मासन सफेद पाषाण साइज—ऊँचाई ७½ इंच, चौड़ाई ४ इंच।

संवत् १६२३ का द्वितीय ज्येष्ठ सुदी १० शुक्रवारे काष्ठासंघे लोहाचार्यान्वये भ० राजेन्द्रकीर्ति··· (क्रमशः)

राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में जैन समाज का योगदान

(पृष्ठ २३४ का शेष)

१०००) उद्योग प्रदर्शनी सेठ अचलसिंह जी द्वारा।
५००) एस. एस. जैन विरादरी, लुधियाना।
५००) आतमाराम जैनसभा, लुधियाना।
१५००) आत्मानन्द जैन हायरसेकण्डरी स्कूल, अम्बाला
२१००) जैन गर्ल्स हा० से० स्कूल।
११००) जैन माडल हाई स्कूल।
६ तोला सोना कुमारी वाला जैन छात्रा फरीदकोट।

मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी ने अपनी ८६वीं वर्षगांठ के अवसर पर घायल सैनिकों की मरहमपट्टी के लिये २५) रु० मासिक देने का निश्चय किया और चार महीने के १००) का चैक प्रधानमंत्री के पास भेजा।

५१०००) के लगभग जैन समाज दिल्ली द्वारा भेजा जाने को है, जो प्रायः संकलित हो गया है।
२०००) जयप्रसाद जी जैन जगाधरी प्रतिमास।
५ गिन्नी धर्मपत्नी सेठ श्री आनन्दराजजी सुराणा दिल्ली।
५० तोले सोना स्थानकवासी जैन समाज आगरा।
१०१) सतना नगर पालिका के सदस्य श्री नीरजजी जैन द्वारा, आपके सुषमा प्रेस के कर्मचारियों ने भी एक दिन का वेतन प्रदान किया है।
२०८१) दि० जैन समाज लखनऊ द्वारा (मुख्यमंत्री सुरक्षा कोष में)

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवनदास जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) *श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता*
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड़्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) सेठ सोहनलाल जी जैन
मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५०) श्री बंशीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी,
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) *श्री कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल, कलकत्ता*
१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) श्री पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री प्रतापमल जी मदनलाल जी पांड्या, कलकत्ता
१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी, कलकत्ता
१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता
१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आत्माराम, पटना
१०१) श्री मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी बम्बई नं० २

शोक समाचार

१. श्रीमान् धर्मप्रेमी सेठ बैजनाथजी सरावगी कलकत्ता का जयपुर में बीमारी के बाद स्वर्गवास हो गया है। आप दलालु थे और दीन-दुखियों की सदा सहायता करते थे। सामाजिक और धार्मिक कार्यों में उदारता से दान देते थे। सराक जाति के उद्धार में भी आपने ब्रह्मचारी शीतल-प्रसादजी के साथ योग दिया है। अनेकान्त को भी आपने सहायता प्रदान की है। अनेकान्त परिवार की कामना है कि दिवंगत आत्मा परलोक में सुख-शान्ति प्राप्त करे और कुटुम्बी जनों को धैर्य धारण करने की शक्ति प्राप्त हों।

२. जैन समाज दिल्ली के कर्मठ कार्यकर्त्ता, समाज-सेवी देशभक्त लाला नन्हेंमलजी का ७ दिसम्बर को ६१ वर्ष की उम्र में प्रातः ४ बजे स्वर्गवास हो गया है, इससे दिल्ली जैनसमाज को बड़ी क्षति पहुँची है। वे अ०भा०दि० जैन परिषद् के कोषाध्यक्ष थे। अनेकान्त परिवार स्वर्गीय आत्माको परलोक में सुख-शांति की प्राप्ति और कुटुम्बीजनों को वियोगजन्य दुःख सहने की क्षमता की कामना करता है।

३. महात्मा भगवानदीन जी जैनसमाज और राष्ट्र के सच्चे सेवक थे। अच्छे लेखक और वक्ता थे। आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। आपकी विचारधारा सुलझी हुई थी, आपको अपनी प्रतिष्ठा का कोई मोह न था। उनका अनु-भव बढ़ाचढ़ा था। वे गांधी जी के सिद्धान्तों पर निष्ठा रखते थे। उनका ५ नवम्बर को स्वर्गवास हो गया है। अनेकान्त परिवार की भावना है कि दिवंगत आत्मा परलोक में सुख-शांति प्राप्त करें।

वीर सेवा मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल्य-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थ में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डाक्टर कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Forewod) और डा. ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज सजिल्द १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का विश्लेषण करती हुई महत्त्व की गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठ की प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोर की ७८ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥।)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित ॥।)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्यार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रंथों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्त्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१२) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र। १)

(१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡)। (१६) महावीर पूजा। ।)

(१७) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंशके ११६ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका महत्वपूर्ण संग्रह ७४ ग्रन्थकारोंके ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। सम्पादक पं० परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १२)

(१८) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ... ५)

(१९) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्रीगुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साईज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज, और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)

(२०) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

प्रकाशक—प्रेमचन्द, वीर सेवा मन्दिर के लिए नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

द्वै मासिक　　　　फरवरी १९६

अनेकान्त

आदर्श एवं यथार्थ का समन्वय ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। आज के युग में आदर्श कुछ है यथार्थ कुछ। —अमरेश

एक अद्वितीय तोरण द्वार (संग्रहालय नवागढ़)

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिये सम्पादक मंडल उत्तरदायी नहीं है।

भूल-सुधार

कार्तिकेयानुप्रेक्षा एक अध्ययन नामक लेख के अनुवादक—प्रो० कुन्दनलाल जैन एम० ए० हैं, भूल से उनका नाम वहां रह गया है।

अनेकान्त को सहायता

११) श्रीमान् ला० सुमेरचन्द जी सुपुत्री चि० संतोष वाला जैन के विवाहोपलक्ष में।

७) चि० विनयकुमार जैन सुपुत्र ला० मनमोहनदास जी के विवाहोपलक्ष में प्राप्त, मा० श्री महाराजप्रसाद जी केशिल देहरादून द्वारा

६) श्रीमान् ला० श्यामलाल जी ठेकेदार देहली द्वारा अपनी ध० प० श्री० चम्पादेवी के स्वर्गवास पर निकाले हुए १५००) के दान में से प्राप्त।

दातारों को साभार धन्यवाद,
मैनेजर अनेकान्त।

अनेकान्त की सहायता के चार मार्ग

१. अनेकान्त वीर सेवा-मन्दिर का ख्याति प्राप्त शोध-पत्र है। जैन समाज को चाहिए कि वह विवाह, पर्व और महोत्सवों आदि पर अच्छी सहायता प्रदान करे।

२. पाँच सौ, दो सौ इक्यावन और एक सौ एक प्रदान कर संरक्षक, सहायक और स्थायी सदस्य बनकर अनेकांत की आर्थिक समस्या दूर कर उसे गौरवास्पद बनाएं।

३. अनेकान्त को भारतीय विश्वविद्यालयों, जैन जैनेतर कालेजों, संस्कृत विद्यालयों, पाठशालाओं, हायर सेकेण्डरी स्कूलों और लायब्रेरियों तथा पुस्तकालयों को अपनी ओर से फ्री भिजवाएँ।

४. जो सज्जन अनेकान्त के ५ सदस्य बनाकर उनका ३०) मूल्य भिजवाएँगे, उन्हें अनेकान्त एक वर्ष तक फ्री भेजा जावेगा। —व्यवस्थापक

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य छः रुपया है। अतः प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि वे छह रुपया ही मनीआर्डर से निम्न पते पर भेजें।

मैनेजर
'अनेकान्त' वीर-सेवा-मंदिर
२१ दरियागंज, दिल्ली

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १५ किरण, ६ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६
माघ शुक्ला १२, वीर निर्वाण सं० २४८९, विक्रम सं २०१९ | फरवरी सन् १९६३

श्री अर-जिन-स्तवन

मोहरूपो रिपुः पापः कषाय-भट-साधनः ।
दृष्टि-संविदुपेक्षाऽस्त्रैस्त्वयाधीर ! पराजितः ॥५॥

अर्थ :—कषाय-भटों की—क्रोध-मान-माया-लोभादिक की—सैन्य से युक्त जो मोह रूप—मोहनीय कर्मरूप—पापी शत्रु है—आत्मा के गुणों का प्रधान रूप से घात करने वाला है—उसे हे धीर अर-जिन ! आप ने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा—परमौदासीन्य लक्षण सम्यक् चारित्र—रूप अस्त्र-शस्त्रों से पराजित कर दिया है ।'

कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस्त्रैलोक्य-विजयार्जितः ।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥६॥

अर्थ :—तीन लोक की विजय से उत्पन्न हुए कामदेव के उत्कट दर्पको—महान् अहंकारको—आप ने लज्जित किया है । आप धीर वीर—अक्षुभितचित्त—मुनीन्द्र के सामने कामदेव हतोदय (प्रभावहीन) हो गया—उसकी एक भी कला न चली ।

*

कार्तिकेयानुप्रेक्षा : एक अध्ययन

डा० ए० एन० उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्

['कार्तिकेयानुप्रेक्षा' का प्रकाशन अभी सन् १९६० में रायचन्द्र शास्त्रमाला, अगास से हुआ है जिसके सम्पादक डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये हैं। इस संस्करण में उनकी एक विस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना है। अनुवादक ने उसका सारांश यहां दिया है। विस्तृत अध्ययन के लिए मूल प्रस्तावना देखना चाहिए। —सम्पादक]

स्वामी कार्तिकेय की "बारस अनुवेक्खा", जो कार्तिकेयानुप्रेक्षा के नाम से भी प्रसिद्ध है, एक ख्यात एवं श्रेष्ठ रचना है, जिससे जैन श्रावकों वा साधुओं ने अधिक धार्मिक प्रेरणा प्राप्त की है, फल स्वरूप जैनग्रंथ-भंडारों में इस ग्रंथ की अनेकों पांडुलिपियां उपलब्ध हैं। इनमें से कुछमें भ० शुभचन्द्र की संस्कृत टीका भी उपलब्ध होती है। इस ग्रंथ की तैयारी के लिए अनेकों हस्तलिखित प्रतियों का प्रयोग किया गया है। उनमें सर्वाधिक प्राचीन प्रति सं० १६०३ की भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना की है। यह पांडुलिपि भ० शुभचन्द्र कृत इस ग्रंथ की संस्कृत टीका से प्राचीन है।

संस्कृत का 'अनुप्रेक्षा' शब्द प्राकृत में अनुप्पेहा, अनुपेहा अनुवेहा, अनुप्पेक्खा, और अनुवेक्खा आदि अनेक प्रकार से लिखा जाता है। यह अनु और प्र उपसर्ग पूर्वक ईक्ष धातु से बना है जिसका अर्थ है चिन्तन, मनन या आत्मनिरीक्षण। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में "शरीरादीनां स्वाभावानुचिन्तनम् अनुप्रेक्षा" कहा है। स्वामीकुमार के अनुसार "सुतत्तचिंता अणुप्पेहा" है, सिद्धसेन ने भाष्यटीका में "अनुप्रेक्षणम् अनुचिन्तनेम् अनुप्रेक्षा, अनुप्रेक्ष्यन्ते भाव्यन्तेइति वानुप्रेक्षा, तादृशानुचिन्तनेन तादृशाभिर्वा वासनाभिः संवरः सुलभो भवति" अनुप्रेक्षा की परिभाषा दी है। नेमिचंद्र ने "उत्तराध्ययन" में इसे चिन्तनिका कहा है। पं० आशाधर के अनुसार "अनुप्रेक्ष्यन्ते शरीराद्यनुगतत्वेन स्तिमित चेतसा दृश्यन्ते इत्युनुप्रेक्षा" है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा के टीकाकार भ० शुभचंद के अनुसार "अनु पुनः पुनः प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणमनित्यादि स्वरूपाणामित्यनुप्रेक्षा निजनिज नामनुसारेण तत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा इत्यर्थः" है। पूज्यपादने स्वाध्याय को भी अनुप्रेक्षा कहा है, यथा "अनुप्रेक्षाग्रन्थार्थयोरेवमनसाभ्यासः" अथवा "अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा" इस प्रकार अनुप्रेक्षा के लक्षणों पर मुख्यतया दो दृष्टियां प्राप्त होती हैं पर आगे चलकर व्याख्याकारों ने इन अर्थों को मिश्रित कर दिया है।

अनुप्रेक्षा साधारणतया आत्मोद्धार का विषय है जिसमें प्रायः जैनदर्शन एवं सिद्धान्तों के सभी विषय सम्मिलित हो जाते हैं। वे १२ होती हैं—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व अन्यत्व, अशुचि आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व। जैन दर्शन में अनुप्रेक्षा का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। क्योंकि कर्मों की निर्जरा तप से होती है, जो दो प्रकार के हैं बाह्य और आभ्यंतर। आभ्यंतर तप छः प्रकार का होता है, जिसमें से स्वाध्याय पांच प्रकार का होता है—वाचना, पृच्छना, आम्नाय (स्मृति परियट्टना) अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा ध्यान चार प्रकार का होता है—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल, धर्मध्यान के चारभेद हैं, जिनके वाचना, पृच्छना, आम्नाय एवं धर्मकथा ये चार आलंबन हैं, जो किसी अनित्य, अशरण, एकत्व और संसार इन चार अनुप्रेक्षाओं पर प्रभाव डालते हैं। उसी प्रकार शुक्ल ध्यान के चारभेदों के चार आलम्बन भाव हैं तथा अवाय अशुभ अमंतवृत्तीय और विपरिणाम ये चार सहयोगी अनुप्रेक्षाएं हैं। इस प्रकार अनुप्रेक्षा का धर्म एवं शुक्लध्यान से पूर्णतया निकट का संबंध है। शिवार्य ने भगवती आराधना में ऐसा ही माना है। उन्होंने अनुप्रेक्षा को धर्मध्यान का अन्तिम आवलम्बन कहा है, जिसे वे 'संस्थान विचय' कहते हैं। पर शुक्लध्यान के विवरण में अनुप्रेक्षा का कोई उल्लेख नहीं है। तत्वार्थसूत्र के अनुसार अनुप्रेक्षा कर्मों का संवर करती है ऐसा ही प्रायः अन्य आचार्यों का अभिमत है, पर जहां अनुप्रेक्षा का अर्थ स्वाध्याय है, वह

सर्वथा भिन्न है, जिसे ध्यान के प्रकरण में सम्मिलित नहीं किया जाता है। इस प्रकार जैनसिद्धांत में अनुप्रेक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। वह कर्मों के संवर और निर्जरा में सहायक होती हैं तथा ध्यानावस्थिति में योग प्रदान करती है और पवित्र ज्ञानार्जन का साधन बनती है।

अनुप्रेक्षा का उद्देश्य और उसका आत्मा पर प्रभाव डालने के संबंध में उत्तराध्ययन सूत्र में बड़े विस्तार से वर्णन दिया गया है। अनुप्रेक्षाओं द्वारा आयुष्कर्म को छोड़कर शेष सभी कर्मों की स्थिति क्षीण हो जाती है और वे अन्तिम विकास का मूल साधन हैं। जब मनुष्य सांसारिक गतिविधियों से ऊब जाता है तो उसका झुकाव आत्मा की ओर होता है और धीरे-धीरे अपनी आत्मा को संसार से विमुख करता हुआ मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। अनादि काल से यह आत्मा कर्मों से संलग्न है अतः उनसे छुटकारा पाने के लिए ये १२ अनुप्रेक्षाएं विशेष महत्वपूर्ण हैं। व्यक्ति के धार्मिक जीवन एवं आत्मिक विकास के क्षेत्र में इनका बहुमूल्य स्थान है ये अनुप्रेक्षाएं व्यक्ति का पुनर्जन्म, कर्म, कर्मों के क्षय क्षयोपशम, स्थिति, आत्मनियंत्रण यम, नियम की उपयोगिता तथा जीवन का अन्तिम लक्ष्य आदि विषयों की ओर ध्यान आकर्षित करती हैं। योगियों की ध्यानावस्थिति को विकसित करने के लिए ही इनका आविष्कार हुआ था। विचारों की पवित्रता एवं धर्म के सक्रिय आचरण में भी इनका अपना विशेष महत्व है। अनुप्रेक्षाओं के नामक्रम में दो मान्यतायें प्रमुखतया प्राप्त हैं—एक उमास्वाति की तत्त्वार्थसूत्र में, जिसे प्रायः परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है। वह इस प्रकार है—अनित्य अशरण, संसार एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व। शिवार्य ने मूलाराधना गाथा १७१५ में, वट्टकेर ने मूलाचार में तथा कुन्दकुन्द ने षट् प्राभृत संग्रह के 'बारस अनुप्रेक्षा' में पृथक् क्रम दिया है—अध्रुव, असरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार लोक, अशुचि आश्रव, संवर, निर्जरा धर्म और बोधि। 'मरण समाधि' का क्रम उमास्वाति से मिलता जुलता है। स्वामी कुमार का क्रम भी उमास्वाति जैसा ही है पर अनित्य की जगह अध्रुव अनुप्रेक्षा को उन्होंने विशेष पसन्द किया है, जो शिवार्य आदि आचार्यों की मान्यता है।

जैन साहित्य में अनुप्रेक्षा—जैन साहित्य का कुछ अंश भगवान महावीर के निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद से ही उपलब्ध होने लगा था, जो पाटलिपुत्र की परिषद् में संगृहीत किया गया था, पर उसी का अन्तिम रूप, जो आज कल प्राप्य है, पांचवीं शती में तैयार किया गया था। यह अंश देवर्धिगणि की अध्यक्षता में वल्लभी-परिषद् में लिखा या संग्रहीत किया गया था। मूलरूप से अनुप्रेक्षाओं का संकेत ११ अंग १२ उपांग १० प्रकीर्णक ६ छेदसूत्र ४ मूलसूत्र और पूर्वों में से मिलता है। जिनका विशद विवेचन उपर्युक्त ग्रंथों से प्राप्त किया जा सकता है। अनुप्रेक्षाओं का विवेचन तत्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति तथा उसके टीकाकार एवं भाष्यकार आदि ने भी विस्तार पूर्वक किया है। तत्वार्थाधिगम भाष्य और सर्वार्थसिद्धि में अनुप्रेक्षाओं का विवरण प्रायः समान है। राजवार्तिक के कर्त्ता अकलंकदेव जो सातवीं सती के पूर्वार्धं के सर्व श्रेष्ठ नैयायिक एवं जैनधर्म के महापंडित थे, ने अनुप्रेक्षाओं का विवरण सर्वार्थसिद्धि ही जैसा नहीं, अपितु और अधिक विशद विवेचन कर प्रस्तुत किया है। सिद्धसेन (७वीं से ९वीं सदी) ने तत्त्वार्थसूत्र की टीका 'भाष्यानुसारिणी' में अनुप्रेक्षा का सूत्रानुसार विवेचन किया है पर जितना विवाद एवं विस्तृत विवेचन उन्होंने ध्यान का किया है उतना अनुप्रेक्षा का नहीं' विद्यानंद (७५५—८४० सं०) के तत्वार्थ श्लोकवार्तिक में भी अनुप्रेक्षा के सम्बन्ध में कुछ नवीनता नहीं मिलती। उन्होंने तो केवल अकलंकदेव के वार्तिकों की पुनरावृत्ति अथवा साधारण व्याख्या ही कर दी है अथवा सर्वार्थसिद्धि जैसे ही विचार प्रस्तुत किए हैं। श्रुतसागर (वि० सं० १६वीं सदी) ने तत्त्वार्थवृत्ति जो सर्वार्थसिद्धि की टीका है में १४ शार्दूलविक्रीडित छंदों में १२ अनुप्रेक्षाओं का विवरण दिया है, जो कुछ मौलिक एवं नवीन सा प्रतीत होता है।

तत्त्वार्थसूत्र से भी प्राचीन ग्रन्थों में अनुप्रेक्षाओं का विवरण मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य की "बारस अनुप्पेक्खा" प्राकृत भाषा की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसमें ९१ गाथाएं हैं। वहां अनुप्रेक्षाओं का विवेचन प्राचीन परम्परावादी ढंग पर किया गया है। इसकी कुछ गाथाएँ ठीक मूलाचार में मिलती हैं, ५ गाथायें (२५ से २९) पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि में भी उल्लिखित की हैं। आचार्य वट्टकेर ने

भी मूलाचार के आठवें अध्याय में ७४ गाथाओं में बारह भावनाओं का वर्णन किया है। यह रचना भी कुन्दकुन्द की "बारस अनुवेक्खा" जैसी ही प्राचीन ठहरती है, दोनों की गाथायें कहीं अंशतः और कहीं पूर्णतया मिलती-जुलती सी हैं। शिवार्य ने "भगवती आराधना" की लगभग १६० गाथाओं में १२ भावनाओं का वर्णन किया है।

उनमें उपमादि अलंकारों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। इसकी कुछ गाथायें वट्टकेर और कुन्दकुन्द से मिलती-जुलती हैं। इन तीनों आचार्यों के काल निर्णय का निश्चय अब तक निश्चित नहीं हो सका है। तीनों के अनुप्रेक्षा वर्णन के तुलनात्मक अध्ययन से तीनों समकालीन या थोड़े-बहुत अन्तर से आस-पास के ही प्रतीत होते हैं।

शुभचन्द्राचार्य जो अपने समय के सर्वश्रेष्ठ योगी एवं कवि थे, ने ज्ञानार्णव (योग प्रदीपाधिकार) में भी १८८ श्लोकों में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है। शुभचंद्राचार्य का समय समंतभद्र'देवनन्दि अकलंक और जिनसेन (८३७ई०) तथा शायद यशस्तिलक के कर्ता सोमदेव के बाद का है पर हेमचन्द्र (११७२ ई०) से पूर्व का है। भर्तृहरिशतक तथा अमितगति के सुभाषितों का शुभचंद पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है इसीलिए संभवतः शुभचन्द्र और भर्तृहरि के भाई-भाई होने की किम्वदन्ती प्रचलित हो गई है। हेमचन्द्राचार्य (१०८९ से ११७२) गुजरात में सिद्ध राज और कुमारपाल के शासन काल में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। उन्होंने योगसार के चौथे प्रस्ताव में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है। वे शुभचंद्र के ज्ञानार्णव से विशेषतया प्रभावित थे। अभयदेव के शिष्य मलधारी हेमचन्द्र (११३१ ई०) ने अपने "भाव भावना" की ५३१ गाथाओं में भी अनुप्रेक्षा का वर्णन किया है जिनमें से ३२२ गाथाओं में केवल संसार भावना का ही वर्णन है। इनकी रचना पर प्राकृत (अर्धमागधी) भाषा में वर्णित अनुप्रेक्षाओं का प्रभाव बहुलता से विद्यमान है। इन्होंने नेमि, बाल, नंद मेघकुमार सुकौशल आदि की कथाओं का भी उल्लेख किया है।

कुछ जैन चरित अथवा पुराण ग्रन्थों में भी अनुप्रेक्षाओं का वर्णन मिलता है वरांगचरित के कर्त्ता जटिल नन्दि (सातवीं सदी ई०) ने २८वें सर्ग में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है। उद्योतनसूरि (७७९ ई०) ने "कुवलय-माला" में ६२ गाथाओं में अनुप्रेक्षा विवरण दिया है। महापुराण के कर्ता जिनसेन-गुणभद्र (९वीं ई०) ने १२ अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है। सोमदेव (९५९ ई०) ने अपने यशस्तिलक के ५२ वसन्ततिलका छन्दों में अनुप्रेक्षा वर्णन किया हैं। अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि पुष्पदन्त (९६५ ई०) ने अपने महापुराण की सातवीं सन्धि के १ से १८ कडवक में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है। कनकामर मुनि (१०६५ ई०) ने अपने करकंडु चरिउ के ९वें परिच्छेद के ६-१७ कडवक में अनुप्रेक्षा वर्णन किया है। क्षत्रचूडा-मणि के कर्ता वादीभसिंह (११वीं ई०) ने ५० अनुष्टुप श्लोकों में अनुप्रेक्षाओं पर लिखा है। उनका ३३वां श्लोक सोमदेव के यशस्तिलक के द्वि० अध्याय के ११२वें श्लोक जैसा ही है। गद्य चिन्तामणि और जीवंधर चंपू में भी अनुप्रेक्षा वर्णन है। सोमप्रभ (११८४ ई०) ने अपने 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक ग्रन्थ के ३९ प्रस्ताव के अन्त में कुमारपाल के जैनी बनने पर अपभ्रंश में १२ अनुप्रेक्षाओं का वर्णन दिया है। वाचकमुख्य उमास्वाति के "प्रशमरति प्रकरण" १४९ से १६२ कारिकाओं में १२ अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। 'चारित्रसार' के कर्ता चामुण्डराय (१०वीं सदी ई०) ने अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है, जो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक के अनुप्रेक्षा प्रकरण से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। यहाँ गोम्मटसार की ५ गाथाओं का भी उल्लेख मिलता है। अमित गति (९९४-१०१५ ई०) के उपासकाचार (अमितगतिश्रावकाचार) में ८४ उपजाति छन्दों में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन मिलता है जो ज्ञानार्णव के ढंग पर रचा गया था। वीरनन्दि (११५३ ई०) के "आचारसार" के १२ शार्दूलक्रीडित छन्दों (x ३२-४४) में अनुप्रेक्षा वर्णन विद्यमान है। नेमिचन्द्र के 'प्रवचन सारोद्धार' की १५७७ प्राकृत गाथाओं की संस्कृत टीका सिद्धसेन ने ११७१ ई० में पूर्ण की थी। इसकी लगभग १३३ गाथाओं में अनुप्रेक्षा वर्णन मिलता है। आशाधार (१२२८-१२४३ ई०) के 'धर्मामृत' ६वें अध्याय, ५७-८२ श्लोकों में अनुप्रेक्षा-वर्णन किया गया है। नेमिचन्द्राचार्य का द्रव्य-संग्रह तथा ब्रह्मदेव (१३वीं सदी ई०) की परमात्म-प्रकाश' टीकामें भी अनुप्रेक्षा वर्णन मिलता है। सिवदेव सूरि के

शिष्य जयदेव मुनि ने अपने अपभ्रंश भाषा के 'भावना संधि प्रकरण' के ६ कडवकों में १२ अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है। जयदेव हेमचन्द्राचार्य के बाद के प्रतीत होते हैं। इस विवरण में दृष्टान्तों का प्रयोग बहुलता से मिलता है।

भावना शब्द का प्रयोग—जैन शब्दकोष में "भावना" शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है पर यह बड़ा ही रोचक है कि यह शब्द आधुनिक हिन्दी-गुजराती-साहित्य में "अनुप्रेक्षा" रूप में कैसे परिवर्तित हुआ। आचारांगII की तीसरी चूलिका का १५वां भाषण :'भावना" नाम से प्रसिद्ध है जिसे डा० जेकोबी पंचव्रतों का एक अंश मानते हैं। हर महाव्रत की पाँच-पांच भावनायें होती हैं जिनसे महाव्रत की स्थिरता होती है। कुन्दकुन्द ने अपने चरित पाहुड़ में भावना को महाव्रत के साथ ही सम्मिलित किया है। वट्टकेरने मूलाचार में भावनाओं को व्रतों की दृढ़ता का मूल स्रोत माना है। तत्वार्थसूत्र में वे साधारणतया व्रत की सहायक मानी गई हैं। जिनसेन ने ज्ञान, दर्शन चरित और वैराग्य के रूप में भावना चार प्रकार की मानी हैं। ज्ञान भावना में वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन और धर्म देशना आदि सम्मिलत हैं, जो स्वाध्याय की विभिन्न प्रवृतियाँ कही जाती हैं दर्शन भावना में संवेग, प्रशम, स्थैर्य, असम्मुधत्व, असाम्य, आस्तिक्य और अनुकम्पा आदि सम्मिलित हैं। इनमें से निर्वेद सहित चार तो सम्यक्त्व के कारण हैं और शेष तीन सम्यक्त्व के अंग कहे जाते है (स्थैर्य = संशयरुचि: असम्मुधत्व = अनुधादृष्टि और असमय)। चरित भावना में पाँच समिति तीन गुप्ति, परिषह, धर्म, अनुप्रेक्षा और चरित हैं जो संवर के कारण हैं। वैराग्य भावना में आनन्द की निरपेक्षता, शरीर की प्रकृति का सतत चिन्तन और चरित्र संरक्षण की ओर दृष्टि रहती है। इन भावनाओं से मानसिक शांति प्राप्त होती है। तीर्थंकर नाम-कर्म के १६ कारण भी भावनायें या षोडश कारण भावनायें कहलाती हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे अनुप्रेक्षा शब्द भी भावना रूप में प्रयुक्त होने लगा भले ही उसका प्रयोग किसी अन्य अर्थ में हों। अनुप्रेक्षा शब्द सर्व प्रथम ठाणांग और (abavaiya) ओववाइय में मिलता है, जो शिवार्य की भगवती आराधना में भी है। कुन्दकुन्द की निम्न गाथा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भावना शब्द अनुप्रेक्षा के लिए कैसे प्रयुक्त हुआ—"भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीस भावणा भावि। भावरहिएण-किं पुण बाहिर लिंगेण कायव्वं"। कुन्दकुन्द ने भावना शब्द को सीधे अनुप्रेक्षा का पर्यायवाची नहीं कहा है, पर अशुचित्व को प्रकट करने के लिए सहसा प्रयुक्त किया है। वट्टकेर ने भावना शब्द ही प्रयोग किया है। 'कत्तिगेयाणुप्पेक्खा' में दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है पर अनुप्रेक्षा को विशेष महत्त्व दिया गया है।

मरण समाधि में तो अनुप्रेक्षा का स्थान स्पष्टतया भावना ने ही ले लिया है। इस प्रकार धीरे-धीरे यह शब्द भावी साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्ध होता गया। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुप्रेक्षा शब्द सर्व प्रथम ध्यान का अंश था। बाद में धार्मिक अध्ययन के भाग रूप में प्रयुक्त होकर जैन साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्धि पाता रहा है। इस प्रकार अनुप्रेक्षा शब्द प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत कन्नड और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में जैनदर्शन एवं आदर्शों के प्रसार, एवं उन्नति में विशेष सहायक रहा जो कथाओं, पुराणों, काव्यों, नीति शास्त्रों, साधु व गृहस्थों के उपदेशों आदि में प्रयुक्त किया जाता रहा है।

जैन धर्म की तरह बौद्ध धर्म भी श्रमण संस्कृति का प्रबल पोषक रहा है, अतः अनुप्रेक्षाओं की भावभूमि बौद्ध दर्शन में प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। धम्मपद २७७, बोधिचर्यावतार II २८६ इबिदम (Ibidem) II 62 VIII 33, Ibidem V 62-3 VIII 52 आदि में अनित्य अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व आदि भावनाओं का वर्णन मिलता है। आश्रव संवर, निर्जरा भावनाएँ विशुद्ध तया जैनत्व से संबंधित है, परलोक बोधिदुर्लभ और धर्म भावना के विचार जैन और बौद्ध साहित्य में समान रूप से प्राप्त होते हैं। अनुप्रेक्षा शब्द बौद्ध साहित्य में १० अनुस्सति के नाम से प्रसिद्ध है जिनका विशुद्धि मग्ग में निरूपण है, वे हैं बौद्ध, धम्म, संघ, शील चाग, देवल, मरण कायगत आन पान, और उपशम अनुस्सति। अनुस्सति शब्द का अर्थ अनुस्मृति है जो अनुप्रेक्षा शब्द के बिल्कुल ही नजदीक है। इसका स्पष्ट अर्थ है ध्यान अथवा आत्म-दर्शन जैसा

कि निम्न वाक्यों से स्पष्ट है "इति इमासु दससु अनुस्सतिसु बुद्धानुस्सतिं तावभावेतु कामेन अवेच्चप्पसादसमन्नागतेन योगिना पटिरूपे सेनासने रहोगतेन पटिसल्लीनेन "इति पि सो भगवा अरहं सम्मासंबुद्धो विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो-भगवा "इति (अं० ३/२८५) एवं बुद्धस्स भगवतो गुण अनुसरितब्बा"। इस प्रकार जैन व बौद्ध दर्शन में भावना द्वारा जिस लक्ष्य की प्राप्ति होती है, वह दोनों में पूर्णतया समान है।

कत्तिगेयानुप्पेक्खा—वर्तमान में स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा नाम से प्रसिद्ध ग्रंथ का प्राकृत भाषा में क्या शीर्षक होगा यह खोजना अत्यधिक आवश्यक है। ग्रंथ के आदि में कर्ता ने "वोच्छं अणुपेहाओ" तथा अंत में "वारस अनुप्पेक्खाओ भणिआ" वाक्यों का प्रयोग किया है जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य दूसरा नाम "वारस अनुप्पेक्खा" रखना चाहते होंगे पर कुन्द-कुन्द के 'वारस अनुप्पेक्खा' ग्रंथ से भिन्नता दिखाने के लिए ही बाद के आचार्यो ने दूसरा नाम कर्त्ता के नामोल्लेख सहित 'स्वामी कुमारानुप्रेक्षा" रखा। यह नाम सं० १६०३ की प्रति में उपलब्ध है, जो भंडार कर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना में १५०० नं० की है। यह प्रति इस ग्रंथ की शुभचंद कृत टीका से प्राचीन है। पर इसके टीकाकार शुभचंद्र ने इसका नाम कार्तिकेयानुप्रेक्षा रखा, जिसे पं० जयचंद्र जी ने अपनी हिन्दी वचनिका में भी स्वीकार किया है। इस ग्रंथ को विधिवत् रूप से सजा-संभारने का श्रेय टीकाकार शुभचंद्र जी को ही है। इसमें ४९१ गाथाएं है। जिनका तीन-चौथाई भाग केवल लोक और धर्म अनुप्रेक्षा का ही वर्णन करता है शेष ¼ भाग में १० भावनाओं का विस्तृत वर्णन है। जिनका विशद अध्ययन एवं विवेचन मूल ग्रंथ से करना चाहिए। प्रथम तीन गाथाएं प्रस्तावना सूचक हैं, ४-२२ (१९) तक अध्रुवानु० २३-३१ (९) तक, अशरणानु० ३२-७३ (४२) तक संसारानु० ७४-७९ (६) एकत्वानु० ८०-८२ (३) अन्य त्वानु० ८३-८७ (५) अशुचित्वानु० ८८-९४ (७) आश्रवानु० ९५-१०१ (७) संवरानु० १०२-११४ (१३) निर्जरानु० ११५-२८३ (१७०) लोकानु० २८४-३०१ (१८) बोधि दुर्लभानु० ३०२-४९१ (१९१) गाथाओं तक धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा की कुछ गाथाएँ विभिन्न ग्रंथों की गाथाओं से भाव, भाषा, विचार एवं विषय की दृष्टि से मिलती जुलती हैं जिनका उल्लेख निम्न प्रकार है। विभिन्न ग्रंथों के संकेत निम्नलिखित है :

कुमारकृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा (का.) कुंद-कुन्द कृत वारस अनुवेक्खा (वा.) भगवती आराधना शिवार्य कृत (भ. आ.) वट्टकेरकृत मूलाचार (मू.) मरण समाधि (म. स.)

का. ६-८-२१ = वा. ४-५ = भा. आ. १७१७-१९, १७२५.
का. २६-२८ = वा. ८,९ = मू. ७ = भ. आ. १७४३
का. ३०-३१ = वा. ११,१३ = भ. आ. १७४६
का. ५६ = भ. आ. = १८०१,
का. ६३ = मू. २७ = भ. आ. १८०२.
का. ६४-६५ = मू. २६ = भ. आ. १७९९-१८००
का. ६६ = वा. २४-२९ = भ. आ. १७७३.
का. ६८ = भ. आ. १७७५ = म. स. ५९४
का. ७८ = भ. आ. १७५२
का. ८२ = वा. २३
का. ८३ = वा. ४३
का. ८९ = वा. ४७ = भ. आ. १८२५
का. १०१ = भ. आ. १८२९ (१)
का. १०४ = वा. ६७.
का. ३०५-६ = वा. ६९.
का. ३९३ = वा. ७०

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वामी कुमार कुंद-कंद, शिवार्य और वट्टकेर आदि आचार्यों की रचनाओं से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं, साथ ही अपनी प्रतिभा शक्ति का प्रयोग कर अपने ग्रंथ को सर्व श्रेष्ठ बना दिया है। उन्होंने इस ग्रंथ में अनुप्रेक्षाओं के अतिरिक्त और भी कई गुण, द्रव्य, पर्याय, कषाय, व्रत सम्यक्त तप आदि धार्मिक विषयों का विवेचन किया है, जो जैन दर्शन की दृष्टि से अत्यधिक महत्व पूर्ण हैं। इसलिए कार्तिकेयानुप्रेक्षा जैन दर्शन का एक अत्यन्त उपयोगी संग्रह बन पड़ा है।

स्वामी कुमार :—प्रस्तुत ग्रंथ के कर्ता स्वामी कार्तिकेय हैं अतः इसका नाम स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रसिद्ध हुआ।

ग्रंथ की अंतिम गाथाओं (४८९-९१) में उन्होंने पंच कुमारों (वासूपूज्य, मल्लि, नेमि, पार्श्व और महावीर इन पांच बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकरों) की स्तुति की है और अपना नाम स्वामी कुमार लिखा है जिससे अनुमान होता है कि वे स्वयं सदा कुमार (बाल ब्रह्मचारी) ही रहे हों। स्वामी विशेषण तो सम्मानार्थ जोड़ा गया होगा। भंडार कर इंस्टीट्यूट पूना वाली सबसे प्राचीन प्रति के अन्त में स्वामी कुमार और आदि में कार्तिक का नामोल्लेख है। कुमार के लिए कार्तिकेय का प्रयोग सर्व प्रथम इसके टीकाकार शुभ चन्द ने ही किया है, जो कुमार और कार्तिकेय को समानार्थक समझते होंगे. इसीलिए इसके कर्ता का नाम कार्तिकेय प्रसिद्ध हो गया। पर शुभचन्द्र ने ऐसा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उन्होंने कुमार को कार्तिकेय कैसे लिखा है। कार्तिकेय के संबंध में शुभचंद ने ३९४ वीं गाथा में लिखा है कि वे क्रौंचराज का उपसर्ग सह कर साम्यभाव से स्वर्ग सिधारे। कथा कोश में भी ऐसा उल्लेख है। भगवती आराधना की १५४९ वीं गाथा भी इसी आशय की द्योतक है। इसी प्रसंग में संथारंग (Samtharaga) की ६७—६९ गाथाएं विशेष महत्व की हैं।

"जल्लमल पंकधारी आहारो सीलसंजमगुणाणं,
अज्जीरणो य गीओ कत्तिय-अज्जो सुरवरम्मि।
रोहीडगम्मि नयरे आहारं फासुयं गवेसंतो
कोवेण खत्तियेण य भिन्नो सत्तिप्पहारेणं।
एगन्तमणावाए विस्थिण्णे थंडिले चइय देहं
सो वि तह भिन्नदेहो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं॥"

स्वामि कार्तिकेय का जीवन-परिचय हरिषेण, श्रीचन्द प्रभाचन्द्र नेमिदत्त आदि आचार्यों ने लिखा है पर किसी ने भी यह उल्लेख नहीं किया कि "वारस अनुवेक्खा" के कर्ता स्वामी कार्तिक या कार्तिकेय ही हैं और ना ही उनका कुमार से कोई सम्बंध स्थापित किया है। अतः यह सुनिश्चित है कि प्रस्तुत ग्रंथ के कर्ता स्वामी कुमार ही हैं भले ही टीकाकार शुभचन्द्र ने सामानार्थक समझ इसे कार्तिकेय का रूप दिया हो पर इस संबंध में कोई तथ्य या प्रमाण उपलब्ध नहीं है ?

स्वामि कुमार का समय—स्वामिकुमार ने अपनी "वारसअनुप्रेक्षा" में अपने किसी समकालीन या उत्तराधिकारी का नामोल्लेख नहीं किया है जिससे हम उनका समय निश्चित कर सकें, फिर भी अन्तरंग या बाह्य साक्ष्यों के के आधार पर कुछ थोड़ा सा प्रयत्न उनके काल-निर्णय के बारे में करेंगे। I शुभचन्द्र ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका सं० १६१३ में पूर्ण की। II कार्तिकेयानुप्रेक्षा की सबसे प्राचीन प्रति सं० १६०३ की उपलब्ध होती है। III श्रुतसागर जो १६वीं ई० सदी के प्रारम्भ में हुए थे, ने अपनी दंसणपाहुड ९ की टीका में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ४७८वीं गाथा का उल्लेख किया है। IV ब्रह्मदेव, जो १३वीं ई० सदी में हुए थे, वे भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ४७८वीं गाथा का प्रथमचरण "परमात्मप्रकाश" II ६८ की टीका में उद्धृत किया है। अतः निश्चित होता है कि स्वामिकुमार १३वीं ई० सदी से पूर्व तो हुए ही होंगे।

I स्वामिकुमार के बारह अनुप्रेक्षाओं के वर्णन पर कुन्दकुन्द, शिवार्य, और वट्टकेर का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। अतः स्वामिकुमार का समय उनके बाद ही ठहरता है। II पर अनुप्रेक्षाओं का नाम क्रम कुन्दकुन्द आदि आचार्यों के अनुरूप न रखकर तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार रखा है अतः तत्वार्थसूत्र के कर्ता से भी विशेषतया प्रभावित प्रतीत होते हैं। III पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि के कुछ भाव स्वामी कुमार की गाथाओं में मिलते हैं। IV कार्तिकेयानुप्रेक्षा की २७९वीं गाथा योगसार के ६५वें दोहे से बिल्कुल ही मिलती-जुलती है। जिसे योगिन्दु ने छटी ई० सदी के लगभग लिखा था। V कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३०७वीं गाथा गोम्मटसार जीवकांड की ६५१वीं गाथा से मिलती-जुलती है। शुभचन्द ने अपनी टीका में भी गोम्मटसार की कई गाथाओं का उल्लेख किया है। अतः मेरी कल्पना है कि स्वामिकुमार गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्राचार्य के पश्चात् हुए हों, जो ईसा की १०वीं सदी के पश्चात् तथा ई० १३वीं सदी के पूर्व के आस-पास कहीं निश्चित होता है। सम्भव है भावी अनुसंधित्सु इस ३०० वर्ष लम्बी कालावधि को कुछ छोटा कर सकें। इसके अतिरिक्त कुछ और भी तथ्य प्राप्त होते हैं पर सुनिश्चित प्रमाणों के अभाव में वे उपादेय नहीं गिने जा सकते।

शुभचन्द्र और उनकी टीका—कार्तिकेयानुप्रेक्षा के

टीकाकार शुभचन्द्र के पारिवारिक जीवन के बारे में कुछ भी पता नहीं है। उनके स्वयं के बारे में जरूर ग्रन्थ के अन्त में उल्लिखित प्रशस्ति से कुछ ज्ञात होता है। वे मूल-संघीय नन्दीसंघ के बलात्कार गणी आचार्य थे उनकी गुरु-परम्परा में निम्न आचार्यों के नाम मिलते है :—

कुन्दकुन्द, पद्मनन्दी, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति, ज्ञान-भूषण, विजयकीर्ति, शुभचन्द्र, कुन्दकुन्द। ऐसी जनश्रुति है कि कुन्दकुन्द ने ८४ पाहुड़ों की रचना की थी परन्तु अब तक केवल एक दर्जन रचनाएं ही प्राप्त हो सकी हैं, जिनमें से प्रवचनसार श्रेष्ठ और सुन्दर ग्रंथ है। उनकी रचनाएं प्राकृत (जैन शौर सेनी) भाषा में ईसा के कुछ वर्षो पूर्व लिखी गई थीं।

पद्मनन्दी—पट्टावली से प्रतीत होता है कि पद्मनन्दी को दिल्ली (अजमेर) की भट्टारकी गद्दी प्रभाचंद्र से उत्तरा-धिकार में मिली थी, जो लगातार १३२८-१३६३ ई० का समय था। वे ब्राह्मण थे तथा 'भावना पद्धति' के ३४ संस्कृत श्लोकों के रचयिता थे, उन्होंने 'जीरापल्ली पार्श्व-नाथ स्तोत्र' तथा अन्य स्तोत्र भी रचे थे। उन्होंने १३६३ ई० में आदिनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी। इनके ही वे तीन शिष्य थे जिन्होंने दिल्ली, जयपुर, ईडर और सूरत की भट्टारकीय गद्दियां सम्भाली थीं।

सकलकीर्ति—ये पद्मनंदी के शिष्य थे जिन्होंने बला-त्कारगण की ईडर शाखा प्रचलित की थी। वे २५ वर्ष की आयु में दि० साधु बन गए थे और लगातार २२ वर्ष तक दिगम्बरत्व धारण किये रहे। उन्होंने उत्तरी गुजरात के अनेकों मंदिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई थी जिनकी तिथि १४३३ से १४४२ ई० है। उन्होंने प्रश्नोत्त-रोपासकाचार, पार्श्वपुराण, सुकुमालचरित्र, मूलाचारप्रदीप, श्रीपालचरित्र, यशोधरचरित्र, तत्वार्थसार दीपिका आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की। वे 'पुराण मुख्योत्तम शास्त्र-कारी' और 'महाकवित्वादि कला प्रवीण' आदि विश्लेषणों से विभूषित थे जैसा कि शुभचन्द्र ने पाण्डवपुराण में उनके विषय में लिखा है "कीर्तिः कृता येन च मर्त्यलोके शास्त्रार्थ कर्त्री सकला पवित्रा।"

भुवनकीर्ति—ये संवत् १५०८-१५२७ (१४५१-१४७० ई०) में सकलकीर्ति के उत्तराधिकारी बने। इन्होंने कई रासा ग्रंथ रचे तथा १४७० ई० में एक मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई।

ज्ञानभूषण—ये भुवनकीर्ति के उत्तराधिकारी थे और इन्होंने १४७७ से १४९५ ई० तक अनेकों मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई। यद्यपि वे गुजराती थे फिर भी अपने प्रतिभा बल से उन्होंने उत्तर भारत की भट्टारकीय गद्दी सम्भाली। पट्टावली से विदित होता है कि उन्होंने भारत के विभिन्न तीर्थ स्थानों की यात्रा की थी जहाँ इन्द्र भूपाल, देवार्य मुदलियार, रामनाथार्य, बोम्मारासार्य, कल्पार्य, पांडुराय आदि दक्षिण के प्रमुख श्रावकों द्वारा सम्मानित हुये थे। उन्होंने तत्त्वज्ञानतरंगिणी, सिद्धान्तसारभाष्य, परमा-र्थोपदेश, नेमिनिर्वाण पंजिका, पंचास्तिकाय टीका आदि ग्रंथों की रचना की थी। ज्ञानभूषण नाम के कई विद्वान् हुए हैं, अतः उपर्युक्त ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां ध्यान से निरीक्षण की जानी चाहिए। दो मूर्ति लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता कि १५०० ई० में उन्होंने विजयकीर्ति के लिए अपनी भट्टारकीय गद्दी खाली कर दी थी। उनकी तत्वज्ञान तरं-गिणी १५०३ ई० में पूर्ण हुई थी। १५१८ ई० में लिपि-कृत ज्ञानार्णवकी प्रति उन्हें उपहार स्वरूप भेंट की गई थी अतः निश्चित है कि वे ई० १५१८ में जीवित थे।

विजयकीर्ति—ये ज्ञानभूषण के उत्तराधिकारी थे, जिनका समय १५००-१५११ ई० निश्चित होता है। पट्टा-वली से प्रतीत होता है कि वे 'गोम्मटसार' में बड़े प्रवीण थे। कर्नाटक में प्रमुख व्यक्ति मल्लिराय, भैरवराय, देवेन्द्र-राय आदि के द्वारा वे सम्मानित हुए थे।

शुभचन्द्र—ये विजयकीर्ति के उत्तराधिकारी थे। (१५१६-१५५६ ई०) जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का केवल उनकी विद्वता वश ही उल्लेख किया है 'जैन सिद्धांत भास्कर, व० १ अंक ४ में १०३ आचार्यों की गुर्वावली प्रकाशित हुई थी, जिसका प्रारम्भ गुप्ति गुप्त और अन्त पद्मनंदी से होता है। उनमें शुभचन्द का ९० वां नम्बर है वे साकवाट (सागवाड़ा-राजस्थान) की गद्दी के भट्टारक थे। पट्टावली से प्रतीत होता है कि वे तर्क, व्याकरण, साहित्य, आध्यात्म शास्त्र आदि विषयों के महान ज्ञाता थे। उन्होंने देश के विभिन्न स्थानों की यात्रा की थी।

उनके अनेकों शिष्य थे, तथा उन्होंने विरोधियों को अनेकों बार परास्त किया था।

सन् १६५१ ई० में अपना पाण्डवपुराण समाप्त करते हुए शुभचन्द ने अपने लिखे २८ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। जैसे चन्द्रप्रभुचरित, पद्मनाभ चरित, प्रद्युम्न चरित, जीवंधर चरित, चन्दनकथा, नन्दीश्वरकथा और पांडव पुराण आदि, ७ कथा ग्रंथ तथा त्रिशंच्चतुर्विशन्ति पूजा, सिद्धार्चनम्, सरस्वती पूजा, चिन्तामणि पूजा, कर्मदहन विधान, गणधरवलय विधान, पल्योपम विधान, चरित्रशुद्धि विधान, चतुरिंशदाधिक द्वादशव्रतोद्यापन, सर्वतोभद्र विधान, आदि १० पूजा ग्रन्थ तथा पार्श्वनाथकाव्यपंजिका टीका, आशाधर पूजावृत्ति, स्वरूपसंबोधन वृत्ति, अध्यात्म पद्य टीका, आदि ४ टीकायें तथा संशयवदनविदारण, अपशब्द खंडन, तत्त्व निर्णय, १ स्याद्वाद, अंगपण्णत्ती, शब्द चिन्तामणि, और ३ स्तोत्र ग्रंथ रचे। उनका साहित्यिक कार्य १५५१ ई०के बाद भी चलता रहा जैसा कि उन्होंने आश्विन सुदी ५ सं० १५७३ (१५१६ ई०) में अमृत चंद्रकृत समयसार की टीका पर 'अध्यात्म तरंगिणी' टीका लिखी थी। सं० १६०८(१५५१ ई०) में त्रिभुवनकीर्ति की प्रार्थना पर साकवाट में उन्होंने अपना पांडवपुराण पूर्ण किया था जिसकी प्रति तैयार करने में श्रीपालवर्णी ने मदद की थी, १५५४ई०में उन्होंने संस्कृत में करकंडु चरित्र पूर्ण किया था। माघ सुदी १० से १६१३ (१५५६ ई०) में उन्होंने क्षेमचन्द और सुमतिकीर्ति के अनुरोध पर कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका समाप्त की थी। उसके पश्चात भी उन्होंने समवशरण पूजा, सहस्रनाम विमान शुद्धि विधान सम्यक्त्व कौमुदी, सुभाषितार्णव, सुभाषित रत्नावली, तर्कशास्त्र, आदि ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार शुभचन्द्र का साहित्यिक कार्य लगभग ४० साल तक चलता रहा।

शुभचन्द की कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका—शुभचन्दकृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा संस्कृत टीका, वृत्ति भी कहलाती है जिस की ग्रन्थाग्र संख्या ७२५६ एक पाण्डुलिपि में लिखी हुई है। इस टीका के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इससे पूर्व ऐसी टीकारूप और कोई अन्य कृति रही होगी जिसे ही शुभचन्द ने विकसित और विस्तृत किया हो। उन्होंने प्राकृत से संस्कृत परिवर्तन साधारण ही किया है, पर प्रश्नोत्तर के रूप में प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत पद्यों का विशेष उल्लेख किया है। उन्होंने गोम्मटसार, तत्त्वार्थ सूत्र, द्रव्यसंग्रह और ज्ञानार्णव से अनेक उद्धरण दिये हैं जिससे उनकी टीका बहुत विस्तृत और उपयोगी हो गई है। इसमें कुछ अंश लक्ष्मीचन्द द्वारा भी प्रक्षिप्त हुआ है। फिर भी एक धार्मिक पुरुष के लिए यह टीका वरदान स्वरूप है, क्योंकि इसमें विभिन्न विषयों का विवरण एक साथ मिल जाता है, जो विभिन्न आचार्यों के ग्रन्थों से शब्दशः उद्धृत किया है। जैसे वट्टकेर के मूलाचार की वसुनन्दी टीका, श्रीविजय की विजयोदया (भगवती आराधना) पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार की नेमिचन्द की टीका तथा मूलगाथाएं देवसेन की आलाप पद्धति, द्रव्य संग्रह की ब्रह्मदेव कृत टीका, चामुण्डराय का चारित्रसार, तत्वार्थ सूत्र पर श्रुतसागर की टीका, कर्म प्रकृति त्रैलोक्य सार आदि।

शुभचन्द ने कई विद्वानों और उनकी प्रकृतियों का भी नामोल्लेख किया है। जैसे कर्म प्रकृति (पृष्ठ ३८६ पर) रविचन्द का आराधनासार (पृ० २३४, ३६१ पर) दोनों कृतियाँ अप्रकाशित हैं, गन्धर्वाराधना (पृ० ३६२ पर) जिसका उल्लेख ब्रह्मदेव ने भी अपनी द्रव्य संग्रह की संस्कृत टीका में किया है, नयचक्र (पृ० २०० पर) यत्याचार वसुनंदी कृत (पृ० १०६, ३०६, ३३०) अष्टसहस्री, आप्त मीमांसा (पृ० ११६, १५५, १६२) प्रमेयकमलमार्तण्ड, परीक्षा (पृ० १७६ पर) आदि, उन्होंने आर्ष आगम और सूत्र शब्दों का प्रयोग क्रमशः जिनसेन गुणभद्र कृत महापुराण, गोम्मटसार तथा तत्त्वार्थसूत्र के लिए किया है। उन्होंने कल्पसूत्र के कुछ अंश तथा शुक्लयजुर्वेद संहिता की कुछ समस्याओं का उल्लेख किया है जो सोमदेव के यशस्तिलक चंपू में भी उपलब्ध है।

इस टीका का मूल उद्देश्य स्वामि कुमार लिखित १२ अनुप्रेक्षाओं की विशद व्याख्या करना ही था, पर शुभचन्द ने अनुप्रेक्षाओं की व्याख्या के साथ-साथ इसे एक विशद संग्रह ग्रन्थ बना दिया है, जिससे कुमार की रचना का स्पष्टीकरण और भी अधिक अच्छी तरह से हो जाता है। पं० जयचन्द जी की हिन्दी वचनिका ने भी स्वामिकुमार की कृति को अत्यधिक प्रसिद्धि प्रदान की।

शुभचन्द्र:—शुभचन्द भट्टारक थे, उनका मुख्य कार्य धनी व धार्मिक व्यक्तियों द्वारा निर्मापित मूर्तियों व मंदिरों की प्रतिष्ठा करना, पूजा विधान उद्यापन कराना, तथा धार्मिक और सामाजिक मामलों में लोगों को निर्देश देना था। साहित्यिक भट्टारकों में शुभचन्द्र ही एक ऐसे थे जिन्होंने विभिन्न विषयों पर अनेक रचनाएं रचीं। वे प्रतिभाशाली लेखक एवं अध्येता थे। उनकी टीका में उल्लिखित ग्रंथों से प्रतीत होता है कि उन्होंने दिगम्बर साहित्य का अच्छा गम्भीर अध्ययन किया था। संस्कृत भाषा पर उन्हें पूर्ण अधिकार था, अन्य भट्टारकों की तरह उन्होंने केवल संस्कृत में ही नहीं अपितु अपने आस-पास की जनभाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। मराठी, गुजराती, हिन्दी, प्राकृत आदि इण्डो-आर्यन भाषाओं के शब्द उनकी टीका में उपलब्ध होते हैं। शुभचन्द्र एक उच्चकोटि के टीकाकार ही न थे अपितु श्रेष्ठ धर्म-प्रचारक थे, वे अपनी टीका को स्वामी कुमार जैसा ही विभिन्न धार्मिक विषयों का एक संग्रह ग्रन्थ बनाना चाहते थे। अतः उनकी सारी टीका में उनकी धर्म-प्रचारकता का रूप स्पष्टतया मिलता है। विद्वत्ता की अपेक्षा धर्म-प्रचारक की भावना ने ही शुभचन्द्र से अनेकों पूजाग्रंथ लिखवाये। भट्टारक होने के कारण उन्हें जैन समाज की तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति करनी पड़ी। इस प्रकार भ० सकलकीर्ति की भांति भ० शुभचन्द्र जैन साहित्य के इतिहास में अत्यधिक प्रसिद्ध हुए तथा उनका साहित्य अत्यधिक मौलिक एवं उच्चकोटि का माना जाता है।

अन्त में अनुवादक की हैसियत ने अनुसंधित्सु पाठकों का ध्यान (Dr. K.L. Bruhn) जर्मनी वालों की निम्न-पंक्तियों की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ, जो उन्होंने डा० उपाध्ये द्वारा संपादित "कार्तिकेयानु प्रेक्षा" की समीक्षा करते हुए ४ जून १९६२ के The Journal of Oriental Research, Baroda के ११ वे अंक में लिखी हैं:—

"The Jaina literature then unknown still outweighs the known. It is only through such patient work as that of Dr. Upadhey that the balance can be changed. To achieve this end, text have not only to be analysed but must be projected as suggested above on the background of contemporary and earlier literature. Dr. Upadhey has treated this and other problems with exceptional care, and we hope that similar contributions will follow soon as a result of his researches in Jaina literature."

The Journal of Oriental Research
2 June 1962 Baroda (XI)

मराठी में जैन साहित्य

डा० विद्याधर जोहरापुरकर, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, जावरा

१. प्रास्ताविक

जैन साहित्य कई भाषाओं में है। इनमें से प्राकृत, संस्कृत, तमिल, कन्नड, हिन्दी तथा गुजराती भाषाओं के जैन साहित्य का काफ़ी विवरण प्रकाशित हुआ है। किन्तु आधुनिक भारतीय भाषाओं में एक प्रमुख भाषा मराठी में जो जैन साहित्य है उसका भी इधर पाँच-छः वर्षों में काफी अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के परिणाम अब तक मराठी पत्रिकाओं में ही प्रसिद्ध हुए हैं। मराठी से अनभिज्ञ जैन विद्वानों को भी इसका कुछ परिचय हो इस उद्देश्य से यह लेख प्रस्तुत कर रहे हैं।

२. प्रारम्भ

महाराष्ट्र में जैन समाज का इतिहास काफी प्राचीन है। स्वामी समन्तभद्र ने जिस वाद में विजय पाया था। वह करहाटक नगर (वर्तमान कराड, जिला सतारा), अर्हद्बलि आचार्य ने यहाँ साधु संघ का सम्मेलन बुलाया था वह महिमा नगर[१] (वर्तमान महिमान गढ़, जिला सतारा), काष्ठा संघ की जहाँ शुरुआत हुई वह नन्दीतट नगर (वर्तमान नान्देड), तथा अपभ्रंश धर्म परीक्षा का रचना स्थान अचलपुर ये सब महाराष्ट्र में ही हैं। महाराष्ट्री प्राकृत तथा महाराष्ट्री अपभ्रंश में पर्याप्त जैन साहित्य है। तथापि मराठी भाषा में साहित्य रचना शुरू होने से पहली तीन सदियों तक मराठी में किसी जैन ग्रन्थ का अब तक पता नहीं चला है। उपलब्ध मराठी जैन साहित्य पन्द्रहवीं सदी से प्रारम्भ होता है तथा इसके प्रारम्भिक ग्रन्थकार गुजरात के भट्टारकपीठों से सम्बद्ध ज्ञात हुए हैं।

१. महिमा नगर महिमानगढ़ है। यह बात अभी निश्चित नहीं है। धवला में उल्लिखित 'महिमाएं मिलियाणं' का अर्थ महिमा नगर न होकर महोत्सव या महा पूजा में सम्मिलित हुए है, अतः उस पर से महिमा नगरी का अर्थ घोषित नहीं होता। महिमा नगरी का अन्वेषण होना चाहिये।
—सम्पादक

३. गुण कीर्ति

प्राचीनतम मराठी जैन लेखकों में एक गुणकीर्ति हैं। ये मूलसंघ-बलात्कारगण के भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य थे। इससे पन्द्रहवीं सदी का उत्तरार्ध उनका समय निश्चित होता है। इनका उल्लेखनीय ग्रन्थ धर्मामृत है[१]। यह गद्य में है तथा इसमें गृहस्थों के आचारधर्म का वर्णन है। इसके विभिन्न सामाजिक, साम्प्रदायिक, साहित्यिक, तथा पौराणिक उल्लेख बड़े ही महत्व पूर्ण हैं तथा महाराष्ट्र के जैन जन जीवन की अच्छी झांकी इसमें मिलती है। पद्मपुराण[२] यह गुणकीर्ति का विस्तृत ग्रन्थ रामकथा का वर्णन करता है। इसे वे पूर्ण नहीं कर पाये। इसका द्वादशानुप्रेक्षा यह प्रकरण स्वतन्त्र रूप से भी प्रसिद्ध है। नेमिनाथ के जीवनकथा पर गुणकीर्ति ने तीन गीत लिखे हैं[३] तथा रुकमणि स्वयंबर नामक एक अन्य गीत भी लिखा है।

४. गुणदास

भट्टारक सकलकीर्ति तथा भुवनकीर्ति के शिष्य ब्रह्मजिनदास ये गुणदास के गुरु थे। अतः ये भी पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में हुए थे। इनका श्रेणिक चरित्र[४] काव्य की दृष्टि से बड़ा रोचक तथा रस पूर्ण है। श्रेणिक तथा उनके पुत्र अभयकुमार की चातुर्य कथायें इसमें बड़े सुन्दर रीति से वर्णन की हैं। रामचन्द्र के विवाह पर एक छोटा-सा गीत तथा जिनदेव से प्रार्थना के रूप में एक अन्य गीत भी गुणदास ने लिखा है[५]।

१. जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर द्वारा १९६० में प्रकाशित।
२. जयचन्द्र श्रावणे, वर्धा द्वारा १८०८ में प्रकाशित।
३. ये धर्मामृत के परिशिष्ट में प्रकाशित हैं।
४. जीवराज ग्रन्थमाला में छप रहा है।
५. ये दोनों गीत सन्मति मासिक वर्ष १९५९ में प्रकाशित हुए हैं।

५. जिनदास

ये मूल संघ—बलात्कारगण के उज्जंतकीर्ति आचार्य शिष्य थे। सकलकीर्ति तथा भुवनकीर्ति का इन्होंने भी गुरुरूप में उल्लेख किया है। अतः ये भी पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्ध के हैं। इन्होंने देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद किला, जिला औरंगाबाद) में हरिवंशपुराण की रचना की। यह ग्रन्थ वे पूरा नहीं कर पाये।

६. मेघराज

ये ब्रह्म जिनदास के शिष्य ब्रह्म शान्ति दास के शिष्य थे। अतः सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में इनका समय निश्चित है। इन्होंने जसोधर रास[1] नाम का सुन्दर काव्य लिखा है। पार्श्वनाथ भवांतर यह इनकी अन्य छोटी रचना है। इन्होंने गुजराती में एक *तीर्थ वन्दना* भी लिखी है।

७. सूरिजन

ये मेघराज के गुरु बन्धु थे। इन्होंने परम हंस कथा[2] नामक रूपक काव्य गद्य पद्य मिश्रित चम्पू शैली में लिखा है। दान शील तप भावना रास यह इनकी अन्य रचना रचना है।

८. कामराज

ये भी मेघराज के गुरु बन्धु थे। इनका 'सुदर्शन चरित' सुन्दर काव्य है। साथ ही उसमें गृहस्थों के आचार धर्म का भी अच्छा वर्णन है। चैतन्य फाग[3] यह कामराज का छोटा-सा गीत है।

९. नागो आया

ये कारंजा के भट्टारक माणिकसेन के शिष्य थे अतः सोलहवीं सदी के मध्य में इनका समय निश्चित है। इन्होंने यशोधर महाराज चरित्र[4] लिखा है।

१०. अभयकीर्ति

ये मूलसंघ—बलात्कारगण के अजितकीर्ति आचार्य के शिष्य थे। इन्होंने शक १५३५ में आदित्य व्रत कथा तथा शक १५३८ में अनन्त व्रत कथा[1] की रचना की है।

११. वीरदास

ये कारंजा के भट्टारक धर्मचन्द्र के शिष्य थे। इनका दीक्षा के बाद का नाम पार्श्वकीर्ति था। इन्होंने शक १५४६ में 'सुदर्शन चरित' लिखा। नेमिनाथ विषयक एक गीत[2] तथा अक्षर बावनी की शैली का बहुतरी यह छोटा प्रकरण[3] ये इनकी अन्य रचनाएँ हैं।

१२. गंगादास

ये भी कारंजा के भट्टारक धर्मचन्द्र (उपर्युक्त धर्मचन्द्र के प्रशिष्य) के शिष्य थे। इन्होंने शक १६१२ में पार्श्वनाथ भवान्तर यह गीत लिखा है। इनकी गुजराती रचना आदितवारव्रत कथा शक १६१५ की रचना है

१३. महीचन्द्र

ये मूलसंघ—बलात्कारगण के भट्टारक थे। इन्होंने शक १६१८ में आदिनाथ पुराण की रचना की। नेमिनाथ भवांतर, आदिनाथ आरती' अष्टान्हिका व्रत कथा आदि छोटी-छोटी कई रचनाएँ भी महीचन्द्र ने लिखी हैं।

१४. महाकीर्ति

ये महीचन्द्र भट्टारक के शिष्य थे। इन्होंने शील-पताका नामक काव्य लिखा है। पति द्वारा उपेक्षित एक तरुणी अपनी चतुराई, सौन्दर्य तथा पति भक्ति द्वारा पुनः पति का स्नेह प्राप्त करती है ऐसी इसकी कथा है।

१५. पुण्य सागर

ये भट्टारक अजितकीर्ति के शिष्य थे। सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में इनका समय निश्चित है। गुणकीर्ति का अपूर्ण ग्रन्थ पद्मपुराण तथा जिनदास का अपूर्ण ग्रन्थ हरिवंश पुराण इन्होंने पूर्ण किया। आदित्यव्रत कथा इनकी अन्य रचना हैं।

१६. गुणनंदि

ये भी सहत्रवीं सदी के लेखक हैं। इन्होंने यशोधर-चरित की रचना की है।

---

१. जीवराज ग्रन्थ माला में १९५८ में प्रकाशित।
२. जीवराज ग्रन्थमाला, १९६१ में प्रकाशित।
३. सन्मति वर्ष १८५९ में प्रकाशित।
४. जसोधर रास के परिशिष्ट में प्रकाशित।

१. सन्मति १९५८ में प्रकाशित।
२. ३. सन्मति वर्ष १९५९-६० में प्रकाशित।

१७. जिनसागर

ये कारंजा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने शक १६५६ में जीवंधर पुराण लिखा। इन छोटी रचनाओं की संख्या ३० है जिनमें छः व्रत कथाएँ, तीन अन्य कथाएँ, चार पूजा पाठ, सात स्तोत्र, सात आरतियाँ और तीन स्फुट रचनाएँ शामिल हैं। इन रचनाओं की ज्ञात तिथियाँ शक १६४६ से शक १६६० तक हैं[1]।

१८. महतिसागर

ये भी कारंजा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (उपर्युक्त देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य) के शिष्य थे। आदिनाथ पंच कल्याणिक कथा, रविवार व्रत कथा आदि छोटी रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने कई पदों की रचना की है। इनका समय अठारवीं सदी का अन्तिम तथा उन्नीसवीं सदी का प्रारम्भिक भाग है।[2]

१९. रत्नकीर्ति

ये कारंजा के भट्टारक सिद्धसेन के शिष्य थे। इन्होंने सन् १८१३ में उपदेश रत्नमाला की रचना की। भट्टारक सकल भूषण की संस्कृत रचना षट्कर्मोपदेश रत्नमाला का यह रूपान्तर है।

२०. दयासागर

ये भी उन्नीसवीं सदी के लेखक हैं। धर्मामृत पुराण में इन्होंने सम्यग्दर्शन के शिष्य में आठ कथाएँ बतलाई हैं। हनुमान पुराण इनकी दूसरी रचना है।[3]

२१. आधुनिक समय

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से मराठी साहित्य में कई आधुनिक प्रवृत्तियाँ शुरू हुईं। शोलापुर से सेठ हीराचन्द नेमचन्द दोशी ने जैन बोधक मासिक पत्र शुरू किया तथा रत्न करण्ड आदि आदि ग्रंथों के मराठी रूपान्तर प्रकाशित किए।

जैन बोधक के अगले सम्पादक पं० कल्लप्पा निटवे ने महापुराण, देवागम की वसुनन्दिवृत्ति, पंचास्तिकाय, द्वादशानुप्रेक्षा आदि कई ग्रन्थों के मराठी रूपान्तर प्रसिद्ध किये। स्वतन्त्र मराठी रचनाओं में कवि रणदिवे का नाम उल्लेखनीय है। इधर कुछ वर्षों से शोलापुर की जीवराज ग्रन्थ माला ने मराठी जैन साहित्य के कुछ प्राचीन ग्रंथों को प्रकाशित किया है तथा कई प्राचीन कथाओं के सुन्दर आधुनिक मराठी रूपान्तर प्रकाशित किए हैं।

२२. समारोप

मराठी जैन साहित्य का उपर्यक्त विवरण दिग्दर्शन के तौर पर लिखा है। जिनकी एक या दो छोटी रचनायें ही प्राप्त हैं ऐसे कई कवियों का इसमें समावेश नहीं है। आधुनिक समय के भी सभी अनुवादकों या लेखकों का वर्णन करना सम्भव नहीं हुआ। तथापि इस परिचय से मराठीतर भाषी जैन विद्वान् कुछ लाभ उठा सकेंगे ऐसी आशा है :

१. सभी रचनाएँ एक संग्रह में प्रकाशित—जीवराज ग्रन्थमाला १९५९ शोलापुर।

२. महति काव्य कुंज नामक संग्रह में प्रकाशित।

३. जिनदास चवडे, वर्धा द्वारा प्रकाशित।

क्या तू महान् बनना चाहता है। यदि हाँ तो अपनी आशा लताओं पर नियन्त्रण रख, उन्हें बे लगाम अश्व के समान आगे न बढ़ने दें। मानव की महत्ता इच्छाओं के वमन में है, गुलाम बनने में नहीं। एक दिन आयेगा, जब तेरी इच्छाएं ही तेरी मृत्यु का कारण बनेंगी। हम सबको अपने हाथ की पाँचों अंगुलियों की तरह रहना चाहिए, हाथ की अंगुलियाँ सब एकसी नहीं होतीं, कोई छोटी, कोई बड़ी, किंतु जब हम हाथ से किसी वस्तु को उठाते हैं तब हमें पाँचों ही अगुलियाँ इकट्ठी होकर सहयोग देती हैं।

—विनोबा

मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में प्रेमभाव

डा० प्रेमसागर जैन एम. ए. पी-एच. डी.

भक्तिरस का स्थायी—भाव भगवद्विषयक अनुराग है। इसी को शाण्डिल्य ने 'परानुरक्तिः' कहा है[1]। परानु रक्तिः गम्भीर अनुराग को कहते हैं। गम्भीर अनुराग ही प्रेम कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने रति अथवा अनुराग के गाढ़े हो जाने को ही प्रेम कहा है[2]। भक्ति रसामृत सिन्धु में लिखा है, "सम्यङ्‌ मसृणित स्वान्तो ममत्वातिशयोक्तिः भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेम निगद्यते[3]।"

प्रेम दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक भगवद्विषयक अनुराग अलौकिक प्रेम के अन्तर्गत आता है। यद्यपि भगवान का औतार मान कर, उसके प्रति लौकिक प्रेम का भी आरोपण किया जाता है। किन्तु उसके पीछे अलौकिकत्व सदैव छिपा रहता है। इस प्रेम में समूचा आत्म समर्पण होता है। और प्रेम के प्रत्यागमन की भावना नहीं रहती। अलौकिक प्रेम जन्य तल्लीनता ऐसी विलक्षण होती है कि द्वैध भाव ही मृत हो जाता है। फिर प्रेम के प्रतीकार का भाव कहाँ रह सकता है।

नारियाँ प्रेम की प्रतीक होती हैं। उनका हृदय एक ऐसा कोमल और सरस थाला है, जिसमें प्रेम भाव को लहलहाने में देर नहीं लगती। इसी कारण भक्त भी कांता भाव से भगवान की आराधना करने में अपना अहोभाग्य समझता है। भक्त 'तिया' बनता है और भगवान 'पिय'। यह दाम्पत्य भाव का प्रेम जैन कवियों की रचनाओं में भी उपलब्ध होता है। बनारसी दास ने अपने 'अध्यात्म गीत' में आत्मा को नायक और 'सुमति' को उसकी पत्नी बनाया है। पत्नी पति के वियोग में इस भाँति तड़फ रही है, जैसे जल के बिना मछली। उसके हृदय में पति से मिलने का चाव निरन्तर बढ़ रहा है। वह अपनी समता नाम की सखी से कहती है कि पति के दर्शन पाकर मैं उसमें इस तरह मग्न हो जाऊँगी, जैसे बूंद दरिया में समा जाती है। मैं अपनपा खोकर पिय सूं मिलूंगी, जैसे ओला गिर कर पानी हो जाता है[1]। अन्त में पति तो उसे अपने घर में ही मिल गया। और वह उससे मिलकर इस प्रकार एकमेक हो गई कि द्विविधा तो रही ही नहीं। उसके एकत्व को कवि ने अनेक सुन्दर सुन्दर दृष्टान्तों से पुष्ट किया है। वह करतूति है और पिय कर्ता, वह सुख-सींव है और पिय सुख-सागर, वह शिवनींव है और पिय शिवमंदिर, वह सरस्वती है और पिय ब्रह्मा, वह कमला है और पिय माधव, वह भवानी है और पति शंकर, वह जिनवाणी है और पति जिनेन्द्र[2]।

---

१. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, १।२, पृ० १

२. चैतन्य चरितामृत, कल्याण, भक्ति अंक, वर्ष ३२, अङ्क १, पृ० ३३३.

३. श्री रूप गोस्वामी, हरि भक्ति रसामृत सिन्धु, गोस्वामी दामोदार शास्त्री सम्पादित ! अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० सं० १९८८, प्रथम संस्करण, १।४।१

१. मैं विरहिन पिय के आधीन,
त्यौं तलफौं ज्यों जल बिन मीन ॥८॥
होहुँ मगन मैं दरशन पाय,
ज्यौं दरिया में बूंद समाय ॥९॥
पिय कौ मिलों अपनपो खोय,
ओला गल पाणी ज्यौं होय ॥१०॥
बनारसी विलास, अध्यात्मगीत, पृ० १६१.

२. पिय मोरे घट मैं पिय माँहि,
जल तरंग ज्यों दुविधा नाँहि।
पिय मो करता मैं करतूति,
पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति।
पिय सुख सागर मैं सुख सींव,
पिय शिव मन्दिर मैं शिवनींव।
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम,
पिय माधव मो कमला नाम।
पिय शंकर मैं देवि भावनि,
पिय जिनवर मैं केवल बानि।

कवि ने सुमति रानी को 'राधिका' माना है। उसका सौन्दर्य और चातुर्य सब कुछ राधा के ही समान है। वह रूप सी रसीली है और भ्रम रूपी ताले को खोलने के लिए कीली के समान है। ज्ञान-भानु को जन्म देने के लिए प्राची है और आत्म-स्थल में रखने वाली सच्ची विभूति है। अपने धाम की खबरदार और राम की रमनहार है। ऐसी सन्तों की मान्य, रस के पथ और ग्रन्थों में प्रतिष्ठित और शोभा की प्रतीक राधिका सुमति रानी है[1]।

सुमति अपने पति 'चेतन' से प्रेम करती है। उसे अपने पति के अनन्त ज्ञान, बल और वीर्य वाले पहलू पर एक निष्ठा है। किन्तु वह कर्मों की कुसंगत में पड़कर भटक गया है अतः बड़े ही मिठास भरे प्रेम से दुलराते हुए सुमति कहती है, "ये लाल तुम किसके साथ कहाँ लगे फिरते हो। आज तुम ज्ञान के महल में क्यों नहीं आते। तुम अपने हृदय-तल में ज्ञानदृष्टि खोलकर देखो, दया, क्षमा, समता और शांति जैसी सुन्दर रमणियां तुम्हारी सेवा में खड़ी हुई हैं। एक से एक अनुपम रूप वाली हैं। ऐसे मनोरम वातावरण को भूलकर और कहीं न जाइये। यह मेरी सहज प्रार्थना है[2]।

बहुत दिन बाहर भटकने के बाद चेतन राजा आज घर आ रहा है। सुमति के आनन्द का कोई ठिकाना नहीं है। वर्षों की प्रतीक्षा के बाद पिय के आगमन की बात सुनकर भला कौन प्रसन्न न होती होगी। सुमति आह्लादित होकर अपनी सखी से कहती है, "हे सखी देखो आज चेतन घर आ रहा है। वह अनादि काल तक दूसरों के वश में होकर घूमता फिरा, अब उसने हमारी सुध ली है। अब तो वह भगवान जिन की आज्ञा को मानकर परमानन्द के गुणों को गाता है। उसके जन्म जन्म के पाप भी पलायन कर गए हैं। अब तो उसने ऐसी युक्ति रच ली है, जिससे उसे संसार में फिर नहीं आना पड़ेगा। अब वह अपने मन भाये परम अखंडित सुख का विलास करेगा[1]।

पति को देखते ही पत्नी के अन्दर से परायेपन का भाव दूर हो जाता है। द्वैधत्व हट जाता है और अद्वैधत उत्पन्न हो जाता है। ऐसा ही एक भाव बनारसीदास ने उपस्थित किया है। सुमति चेचन से कहती है, "हे प्यारे चेतन! तेरी ओर देखते ही परायेपन की गगरी फूट गई। दुविधा का अंचल हट गया और समूची लज्जा पलायन कर गई। कुछ समय पूर्व तुम्हारी याद आते ही मैं तुम्हें खोजने के लिये अकेली ही राज पक्ष को छोड़कर भयावह कान्तार में घुस पड़ी थी। वहाँ काया नगरी के भीतर तुम अनन्त बल और ज्योति वाले होते हुए भी कर्मों के आवरण में लिपटे पड़े थे। अब तो तुम्हें मोह की नींद छोड़ कर सावधान हो जाना चाहिए"[2]।

---

१. रूप की रसीली भ्रम कुलप की कीली,
 शील सुधा के समुद्र झीलि सीलि सुखदाई है।
 प्राची ज्ञान मान की अजाची है निदान की,
 सुराची निरवाची ठौर साँची ठकुराई है।
 धाम की खबरदार राम की रमनहार,
 राधा रस पंथनि में ग्रन्थनि में गाई है।
 सन्तन की मानी निरवानी रूप की निसानी,
 यातै सुबुद्धि रानी राधिका कहाई है।
 नाटक समयसार, प्राचीन हिन्दी जैन कवि, दमोह, पृ० ७६.

२. कहां कहां कौन संग लागे ही फिरत लाल,
 आवौ क्यों न आज तुम ज्ञान के महल में।
 नैंकहू विलोकि देखौ अन्तर सुदृष्टि से ती,
 कैसी कैसी नीकी नारी ठाढ़ी हैं टहल में।
 एक तें एक बनीं सुन्दर सुरूप घनी,
 उपमा न जाय गनी वाम की चहल में।
 ऐसी विधि पाय कहूँ भूलि और काज कीजे,
 एतौ कह्यो मान लीजे वीनती सहल में।
 'भैया' भगवतीदास, ब्रह्मविलास, कार्यालय बंबई, द्वितीया वृत्ति, सन १९२६ ई०, शत अष्टोत्तरी, २७ पद्य, पृ० १४.

१. देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवे।
काल अनादि फिर्यो परवश ही, अब निज सुधहि चितावै, देखो ॥१॥
जनम जनम के पाप किये जे, ते छिन माहि बहावै।
श्री जिन आज्ञा सिर पर धरतो, परमानंद गुण गावै ॥२॥
देत जलांजुलि जगत फिरन को ऐसी जुगति बनावै।
विलसै सुख निज परम अखंडित, भैया सब मन भावै॥३॥
 देखिये वही, परमार्थ पद पंक्ति, १४वां पर, पृ० ११४.

२. बालम तुहु तन चितवन गागरि फूटि।
 अंचरा गौ फहर

एक सखी सुमति को लेकर, नायक चेतन के पास मिलाने के लिए गई। पहले दूतियाँ ऐसा किया करती थीं वहां वह एक सखी अपनी बाला सुमति की प्रशंसा करते हुए चेतन से कहती है, "हे लालन ! मैं अमोलक बाल लाई हूँ तुम देखो तो वह कैसी अनुपम सुन्दरी है। ऐसी नारी तो संसार में दूसरी नहीं है। और हे चेतन ! इसकी प्रीति भी तुझ से ही सनी हुई है। तुम्हारी इस राधे की एक दूसरे पर अनन्त रीझ है। उसका वर्णन करने में मैं पूर्ण असमर्थ हूँ[1]।

आध्यात्मिक विवाह

इसी प्रेम के प्रसंग में आध्यात्मिक विवाहों को लिया जा सकता है। ये 'विवाहला', 'विवाह', 'विवाहलउ' और 'विवाहलौ' आदि नामों से अभिहित हुए हैं। इनको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक तो वह जब दीक्षा ग्रहण के समय आचार्य का दीक्षाकुमारी अथवा संयमश्री के साथ विवाह संपन्न होता है, और दूसरा वह जब आत्मा रूपी नायक के साथ उसी के किसी गुण रूपी कुमारी की गाँठें जुड़ती हैं। इनमें प्रथम प्रकार के विवाहों का वर्णन करने वाले कई रास 'ऐतिहासिक काव्य संग्रह' में संकलित हैं। दूसरे प्रकार के विवाहों में सबसे प्राचीन 'जिनप्रभसूरि' का 'अन्तरंग विवाह' प्रकाशित हो चुका है। उपर्युक्त सुमति और चेतन दूसरे प्रकार के पति और पत्नी हैं। इसी के अन्तर्गत वह दृश्य भी आता है, जबकि आत्मा रूपी नायक 'शिवरमणी के साथ विवाह करने जाता है। अजयराज पाटणी के 'शिवरमणी विवाह' का उल्लेख हो चुका है। वह १७ पद्यों का एक सुन्दर रूपक काव्य है। उन्होंने जिन जी की रसोई' में तो विवाहोपरान्त सुस्वादु भोजन और वन विहार का भी उल्लेख किया है[1]।

बनारसीदास ने तीर्थंकर शांतिनाथ का शिवरमणी से विवाह दिखाया है। शांतिनाथ विवाह मंडप में आने वाले हैं। होने वाली बधू की उत्सुकता दबाये नहीं दबती। वह अभी से उनको अपना पति मान बैठी है। वह अपनी सखी से कहती है, "हे सखी आज का दिन अत्यधिक मनोहर है, किन्तु मेरा मन भाया अभी तक नहीं आया। वह मेरा पति सुख-कंद है और चन्द्र के समान देह को धारण करने वाला है। तभी तो मेरा मन-उदधि आनन्द से आन्दोलित हो उठा है। और इसी कारण मेरे नेत्र-चकोर सुख का अनुभव कर रहे हैं। उसकी सुहावनी ज्योति की कीर्त्ति संसार में फैली हुई है। वह दुख रूपी अंधकार के समूह को नष्ट करने वाली है। उनकी वांणी से अमृत झरता है। मेरा सौभाग्य है जो मुझे ऐसे पति प्राप्त हुए।[2]

पिउ सुधि पावत वन मैं पैसिउ वेलि।
छाड़त राज डगरिया भयउ अकेलि बालम० ॥३॥
काय नगरिया भीतर चेतन भूप।
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप, बालम० ॥४॥
चेतन बूझि विचार धरहु सन्तोष।
राग दोष दुइ बंधन छूटत मोष, बालम० ॥१३॥
बनारसी विलास, अध्यात्म पद पंक्ति, पृ० २२८,२२९.

१. लाई हों लालन बाल अमोलक, देखहु तौ तुम कैसी बनी है।
ऐसी कहुँ तिहुँ लोक में सुन्दर, और न नारि अनेक धनी हैं॥
याहि तें तोहि कहूँ नित चेतन, याहू की प्रीति जु तो सौं सनी है।
तेरी और राधे की रीझि अनंत जु मो पै कहूँ यह जात गनी है॥
भैय्या भगवतीदास, ब्रह्मविलास, बम्बई, १९२६ ई० शत अष्टोत्तरी, २८ वां पद्य, पृ० १४

१. देखिए 'हिन्दी के भक्ति काव्य में जैन साहित्य कारों का योगदान'
छठा अध्याय' पृ० ६५६.

२. सहि एरी ! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नहीं घरे।
सहि एरी ! मन उदधि अनन्दा सुख, कन्दा चन्दा देह धरे॥
चन्द जिवां मेरा वल्लभ सोहे, नैन चकोरहिं सुक्ख करै।
जग ज्योति सुहाई कीरति छाई, बहु दुख तिमर वितान हरै॥

तीर्थंकर अथवा आचार्यों के संयम श्री के साथ विवाह होने के वर्णन तो बहुत अधिक हैं। उनमें से 'जिनेश्वर सूरि और जिनोदय सूरि विवाहला' एक सुन्दर काव्य है। इसमें इन सूरियों का संयम श्री के साथ विवाह होने का वर्णन है। इसकी रचना वि. स. १३३१ में हुई थी। हिन्दी के कवि कुमुदचन्द्र का 'ऋषम विवाहला' भी ऐसी ही एक कृति है। इसमें भगवान् ऋषभनाथ का दीक्षा-कुमारी के साथ विवाह हुआ है। श्रावक ऋषभदास का 'आदीश्वर विवाहला' भी बहुत ही प्रसिद्ध है। विवाह के समय भगवान् ने जिस चूनड़ी को ओढ़ा था, वैसी चूड़नी छपाने के लिये न जाने कितनी पत्नियां अपने पतियों से प्रार्थना करती रही हैं। १६ वीं शती के विनयचन्द्र की 'चूनड़ी' हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध रचना है। साधुकीर्त्ति की चूनड़ी में तो संगीतात्मक प्रवाह भी है।

तीर्थंकर नेमीश्वर और राजुल का प्रेम

नेमीश्वर और राजुल के कथानक को लेकर जैन हिन्दी के भक्त कवि दाम्पत्य भाव प्रकट करते रहे हैं। राजशेखर सूरि ने विवाह के लिये राजुल को ऐसा सजाया है कि उसमें मृदुल काव्यत्व ही साक्षात् हो उठा है। किन्तु वह वैसी ही उपास्य बुद्धि से संचालित है, जैसे राधा-सुधानिधि में राधा का सौन्दर्य। राजुल की शील-सती शोभा में कुछ ऐसी बात है कि उससे पवित्रता को प्रेरणा मिलती है, वासना को नहीं। विवाह-मंडप में विराजी वधू जिसके आने की प्रतीक्षा कर रही थी, वह मूक पशुओं के करुण क्रन्दन से प्रभावित होकर लौट गया। उस समय वधू की तिलमिलाहट और पति को पा लेने की बेचैनी का जो चित्र हेमविजय ने खींचा है। दूसरा नहीं खींच सका। हर्षकीर्ति—का 'नेमिनाथ राजुल गीत' भी एक सुन्दर रचना है। इसमें भी नेमिनाथ को पा लेने की बेचैनी है, किन्तु वैसी सरस नहीं जैसी कि हेमविजय ने अंकित की है।

कवि भूधरदास ने नेमीश्वर और राजुल को लेकर अनेक पदों का निर्माण किया है। एक स्थान पर तो राजुल ने अपनी माँ से प्रार्थना की, "हे मां देर न करो। मुझे शीघ्र ही वहां भेज दो, जहां हमारा प्यारा पति रहता है। यहाँ तो मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता, चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देता है। न जाने नेमि रूपी दिवाकर का मुख कब दिखाई पड़ेगा। उनके बिना हमारा हृदय रूपी अरबिन्द मुरझाया पड़ा है।"[1] पिय-मिलन की ऐसी विकट चाह है, जिसके कारण लड़की मां से प्रार्थना करते हुए भी नहीं लजाती। लौकिक प्रेम-प्रसंग में लज्जा आती है, क्योंकि उसमें काम की प्रधानता होती है, किन्तु यहाँ तो अलौकिक और दिव्य प्रेम की बात है। अलौकिक की तल्लीनता में व्यावहारिक उचित अनुचित का ध्यान नहीं रहता।

राजुल के वियोग में 'सम्वेदना' की प्रधानता है। भूधरदास ने राजुल के अन्तः स्थ विरह को सहज स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त किया है। राजुल अपनी सखी से कहती है। "हे सखि ! मुझे वहां ले चल, जहां प्यारे जादौं पति रहते हैं। नेमि रूपी चन्द्र के बिना यह आकाश का चन्द्र मेरे सब तन-मन को जला रहा है। उसकी किरण नाविक के तीर की भांति अग्नि के स्फुलिंगों को बरसाती है। रात्रि के तारे तो अंगारे ही हो रहे हैं।[2]" कहीं कहीं राजुल के विरह में 'ऊहा' के दर्शन होते हैं, किन्तु उसमें

सहु काल विनानी अम्रतवानी, अरु मृग का लांछन कहिये।
श्री शान्ति जिनेश नरोत्तम को प्रभु, आज मिला मेरी सहिये ॥
बनारसी विलास, श्रीशान्ति जिन स्तुति, पद्य १
प्रथम पद्य, पृ० १८९.

१. मां विलंब न लाव पठाव वहां री, जहां जगपति पिय प्यारो।
और न मोहि सुहाय कछू अब, दीसे जगत अंधारो री ॥१॥
मैं श्री नेमि दिवाकर कौं अब, देखौं बदन उजारो।
बिन पिय देखैं मुरझाय रह्यौ है, उर अरविंद हमारो री ॥२॥
भूधरदास, भूधर विलास, कलकत्ता, १३ वां पद, पृ० ८

२. तहाँ लै चल री, जहां जादौंपति प्यारो।
नेमि निशाकर बिन यह चन्दा,
तन मन दहत सकलरी ॥तहा० ॥१॥

नायिका के 'पेंडुलम' हो जाने की बात नहीं आ पाई है। यद्यपि राजुल का 'उर' भी ऐसा जल रहा है कि हाथ उसके समीप नहीं ले जाया जा सकता, किन्तु ऐसा नहीं कि उसकी गर्मी से जड़काले में लुयें चलनी लगी हों। राजुल अपनी सखी से कहती है, "नेमिकुमार के बिना जिय रहता नहीं है। हे सखी! देख मेरा हृदय कैसा तच रहा है। तू अपने हाथ को निकट लाकर देखती क्यों नहीं। मेरी विरह जन्य उष्णता कपूर और कमल के पत्तों से दूर नहीं होगी। उनको दूर हटा दे। मुझे तो 'सियरा कलाधर' भी 'करूर' लगता है। प्रियतम प्रभु नेमिकुमार के बिना मेरा 'हियरा' शीतल नहीं हो सकता[1]।" पिय के वियोग में राजुल भी पीली पड़ गई है। किन्तु ऐसा नहीं उदय हुआ कि उसके शरीर में एक तोला मांस भी न रहा हो विरह से भरी नदी में उसका हृदय भी बहा है, किन्तु उसकी आंखों से खून के आँसू कभी नहीं ढुलके। हरी तो वह भी भर्त्ता भेंट कर ही होगी, किन्तु उसके हाड़ सूख कर सारंगी कभी नहीं बने[2]।

बारह मासा

नेमीश्वर और राजुल को लेकर जैन हिन्दी साहित्य में बारहमासों की भी रचना हुई है। उन सब में कवि विनोदी लाल का 'बारहमासा' उत्तम है। प्रिया को प्रिय के सुख के अनिश्चय की आशंका सदैव रहती है, भले ही प्रिय सुख से रह रहा हो। तीर्थंकर नेमीश्वर वीतरागी होकर निराकुलता पूर्वक गिरिनार पर तप कर रहे हैं। किन्तु राजुल को शंका है, जब सावन में घनघोर घटायें जुड़ आयेंगी, चारों ओर से मोर शोर करेंगे, कोकिल कुहुक सुनावेगी, दामिनी दमकेगी और पुरवाई के झोंके चलेंगे, तो वह सुख पूर्वक तप न कर सकेंगे[1]। पौस के लगने पर तो राजुल की चिन्ता और भी बढ़ गई है। उसे विश्वास है कि पति का जाड़ा बिना रजाई के नहीं कटेगा। पत्तों की धुवनी से तो काम चलेगा नहीं। उस पर भी काम की फौजें इसी ऋतु में निकलती हैं, कोमल गात के नेमीश्वर उससे लड़ न सकेंगें[2]। वैसाख की गर्मी को देखकर राजुल और भी अधिक व्याकुल है; क्योंकि इस गर्मी में नेमीश्वर को प्यास लगेगी, तो शीतल जल कहाँ मिलेगा, और तीव्र धूप से तचते पत्थरों से उनका शरीर दग जायेगा।[3]

कवि लक्ष्मी बल्लभ का 'नेमिराजुल बारहमासा' भी एक प्रसिद्ध रचना है। इसमें कुल १४ पद्य हैं। प्रकृति के रमणीय सन्निधान में विरहणी के व्याकुल भावों का सरस सम्मिश्रण हुआ है, "श्रावण का माह है, चारों ओर से विकट घटायें उमड़ रही हैं। मोर शोर मचा रहे हैं। आसमान में दामिनी दमक रही है। यामिनी में कुम्भस्थल जैसे स्तनों को धारण करने वाली भामिनियों को पिय का संग भा रहा है। स्वाति नक्षत्र की बूंदों से चातक की पीड़ा

किरन किधौ नाविक-शर-तति के,
ज्यों पावक की झलरी।
तारे हैं अँगारे सजनी,
रजनी राकस दल री ॥तहां०॥२॥
देखिए वही, ४५ वाँ पद, पृ० २५

१. नेमि बिना न रहे मेरो जियरा।
हेर री हेली तपत उर कैसो।
लावत क्यों निज हाथ न नियरा ॥१॥
करि करि दूर कमल दल,
लगत करूर कलाधर सियरा ॥नेमि०॥२॥
भूधर के प्रभु नेमि पिया बिन,
शीतल होय न राखुल हियरा ॥नेमि॥३॥
देखिए वही, २० वां पद, पृ० १२

२. देखिये वही, १४वां पद, पृ० ६, और मिलाइये जायसी के नागमती विरह वर्णन से।

१. पिया सावन में व्रत लीजे नहीं,
घनघोर घटा जुर आवैंगी।
चहुँ ओर तैं मोर जु शोर करैं,
वन कोकिल कुहक सुनावैंगी॥
पिय रैन अन्धेरी में सूझै नहीं,
कछु दामिन दमक डरावैंगी।
पुरवाई की झोंक सहोगे नहीं,
छिन में तप तेज छुड़ावैंगी॥
कवि विनोदीलाल, बारहमासा नेमि राजुल का बारहमासा संग्रह, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, ४२॥ पद्य, पृ० २४।

२. देखिये वही, १४ वां पद्य, पृ० २७।

३. देखिए वही, २२ वां पद्य, पृष्ठ २६।

भी दूर हो गई है। शुष्क पृथ्वी की देह भी हरियाली को पाकर दिप उठी है। किन्तु राजुल का न तो पिय आया और न पतियां[१]।" ठीक इसी भांति एक बार जायसी की नागमती भी विलाप करते हुए कह उठी थी। "चातक के मुख में स्वाति नक्षत्र की बूंदें पड़ गईं, और समुद्र की सब सीपें भी मोतियों से भर गईं। हंस स्मरण कर-कर के अपने तालाबों पर आये, सारस बोलने लगे और खंजन भी दिखाई पड़ने लगे। कांसों के फूलों से वन में प्रकाश हो गया, किंतु हमारे कन्त न फिरे, कहीं विदेश में ही भूल गये।[२]" कवि भवानीदास ने भी नेमिनाथ बारहमासा लिखा था, जिसमें कुल १२ पद्य हैं। श्री जिनहर्ष का 'नेमि बारहमासा" भी भी एक प्रसिद्ध काव्य है। उसके १२ सवैयों में सौंदर्य और आकर्षण व्याप्त है। श्रावण मास में राजुल की दशा को उपस्थित करते हुए कवि ने लिखा है। "श्रावण मास है, घनघोर घटायें उन्नै आई है। झलमलाती हुई बिजुरी चमक रही है, उसके मध्य से बज्र सी ध्वनि फूट रही है, जो राजुल को विष बेलि के समान लगती है। पपीहा पिउ-पिउ रट रहा है। दादुर और मोर बोल रहे हैं। ऐसे समय

१. उमटी विकट घनघोर घटा चिहुँ ओरनि मोरनि सोर मचायो।
चमकै दिवि दामिनि यामिनि कुंभय भामिनि कुं पिय को संग भायो॥
लिव चातक पीउ ही पीड़ लई, भई राजहरी मुंह देह दिपायो।
पतियां पै न पाई री प्रीतम की अली, श्रावण आयो पै नेम न आयो॥

कवि लक्ष्मीवल्लभ, नेमिराजुल बारहमासा, पहला पद्य, इसी प्रबन्ध का छठा अध्याय, पृष्ठ ५६४

२. स्वाति बूंद चातक मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे॥
सरवर संवरि हंस चलि आये। सारस कुरलहिं खंजन देखाये॥
भा परगास कांस बन फूले। कंत न फिरे विदेसहिं भूले॥

जायसी ग्रन्थावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल संपादित, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, तृतीय संस्करण, वि० सं० २००३, ३०।७, पृष्ठ १५३

में यदि नेमीश्वर मिल जायें तो राजुल अत्यधिक सुखी हो[१]।"

आध्यात्मिक होलि

जैन साहित्यकार आध्यात्मिक होलियों की रचना करते रहे हैं। जिनमें होली के अंग उपांगों का आत्मा से रूपक मिलाया गया है। उनमें आकर्षण तो होता ही है। पावनता भी आ जाती है। ऐसी रचनाओं को 'फागु' कहते हैं। कवि बनारसीदास के 'फागु' में आत्मारूपी नायक ने शिवसुन्दरी से होली खेली है। कवि ने लिखा है, "सहज आनन्दरूपी बसन्त आ गया है और शुभ भावरूपी पत्ते लह-लहाने लगे हैं। सुमतिरूपी कोकिला गहगही होकर गा उठी है, और मनरूपी भौंरे मदोन्मत्त होकर गुंजार कर रहे हैं। सुरतिरूपी अग्नि ज्वाला प्रकट हुई है, जिससे अष्ट कर्मरूपी वन जल गया है। अगोचर अमूर्तिक आत्मा धर्मरूपी फाग खेल रहा है। इस भांति आत्मध्यान के बल से परम ज्योति प्रकट हुई, जिससे अष्टकर्म रूपी होली जल गई है और आत्मा शांत रस में मग्न होकर शिवसुन्दरी से फाग खेलने लगा[२]।"

१. घन की घनघोर घटा उनही, बिजुली चमकंति झलाहलि सी।
विधि गाज अगाज अवाज करंत सु, लागत मो विषवेलि जिसी॥
पपीया पिउ पिउ रटत रयण जु, दादुर मोर वदै ऊलिसी।
ऐसे श्रावण में यदु नेमि मिलै, सुख होत कहै जसराज रिसी॥

जिनहर्ष, नेमि बारहमासा, इसी प्रबन्ध का छाठा अध्याय, पृ० ५०२।

२. विषम विरष पूरो भयो हो, आयो सहज वसंत।
प्रगटी सुरुचि सुगंधिता हो, मन मधुकर मयमंत॥
सुमति कोकिला गहगही हो, बही अपूरव वाउ।
भरम कुहर बादर फटे हो, घट जाड़ो जड़ताउ॥
शुभ दल पल्लव लहलहे हो, होंहि अशुभ पतझार।
मलिन विषय रति मालती हो, विरति वेल विस्तार॥
सुरति अग्नि ज्वाला जगी हो, समकित भानु अमंद।
हृदय कमल विकसित भयो हो, प्रगट सुजश मकरंद॥
परम ज्योति प्रगट भई हो, लागी होलिका आग।
आठ काठ सब जरि बुझे हो, गई तताई भाग॥

बनारसीदास, बनारसीविलास।

कवि द्यानतराय ने दो जत्थों के मध्य होली की रचना की है। एक ओर तो बुद्धि, दया, क्षमारूपी नारियां हैं और दूसरी ओर आत्मा के गुणरूपी पुरुष हैं। ज्ञान और ध्यानरूपी डफ तथा ताल बज रहे हैं, उनसे अनहद रूपी घनघोर निकल रहा है है। धर्मरूपी लाल रंग का गुलाल उड़ रहा है और समतारूपी रंग दोनों हीं पक्षो ने घोल रक्खा है। दोनों ही दल प्रश्न के उत्तर की भांति एक दूसरे पर पिचकारी भर-भर कर छोड़ते हैं। इधर से पुरुष-वर्ग पूछता है कि तुम किसकी नारी हो, तो उधर से स्त्रियां पूछती हैं कि तुम किसके छोरा हो। आठ कर्मरूपी काठ अनुभव रूपी अग्नि में जल-बुझ कर शांत हो गये। फिर तो सज्जनों के नेत्र रूपी चकोर, शिवरमणी के आनन्दकन्द की छवि को टकटकी लगाकर देखते ही रहे[१]।" भूधरदास की नायिका ने भी अपनी सखियों के साथ, श्रद्धा नगरी में आनन्द रूपी जल से रुचि रूपी केशर घोल कर और रंगे हुये नीर को उमंगरूपी पिचकारी में भर कर अपने प्रियतम के ऊपर छोड़ा। इस भांति उसने अत्यधिक आनन्द का अनुभव किया[२]।

अनन्य प्रेम

प्रेम में अनन्यता का होना अत्यावश्यक है। प्रेमी को प्रिय के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दे, तभी वह सच्चा प्रेम है। माँ-बाप ने राजुल से दूसरे विवाह का प्रस्ताव किया; क्योंकि राजुल की नेमीश्वर के साथ भांवरें नहीं पड़ने पाई थीं। किन्तु प्रेम भांवरों की अपेक्षा नहीं करता। राजुल को तो सिवा नेमीश्वर के अन्य का नाम भी रुचि-कारी नहीं था। इसी कारण् उसने माँ-बाप को फटकारते हुए कहा, "हे तात! तुम्हारी जीभ खूब चली है, जो अपनी लड़की के लिए भी गालियाँ निकालते हो। तुम्हें हर बात सम्हाल कर कहना चाहिए। सब स्त्रियों को एक सी न समझो। मेरे लिये तो इस संसार में केवल नेमि प्रभु ही एकमात्र पति हैं[२]।"

महात्मा आनन्दघन अनन्य प्रेम को जिस भांति अध्या-त्मपक्ष में घटा सके, वैसा हिन्दी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका। कबीर में दाम्पत्य भाव है और आध्यात्मिकता भी, किन्तु वैसा आकर्षण नही, जैसा कि आनन्दघन में है। जायसी के प्रबन्ध-काव्य में अलौकिक की ओर इशारा भले ही हो, किन्तु लौकिक कथानक के कारण उसमें वह एक-तानता नहीं निभ सकी है, जैसी कि आनन्दघन के मुक्तक पदों में पाई जाती है। सुजान वाले घनानन्द के बहुत से पद भगवद्भक्ति में जैसे नहीं खप सके, जैसे कि सुजान के पक्ष में घटे हैं। महात्मा आनन्दघन जैनों के एक पहुँचे हुए साधु थे। उनके पदों में हृदय की तल्लीनता है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है, "सुहागिन के हृदय में निर्गुण

---

१. आयो सहज बसंत खेलें सब होरी होरा।
उत बुधि दया छिमा बहु ठाढ़ी,
इत जिय रतनसजे गुन जोरा ॥१॥
ज्ञान ध्यान डफ ताल वजत हैं,
अनहद शब्द होत घनघोरा।
धरम सुहाग गुलाल उड़त है,
समता रंग दुहू ने घोरा ॥२॥
परसन उत्तर भरि पिचकारी,
छोरत दोनों करि करि जोरा।
इत तैं कहै नारि तुम काकी,
उत तैं कहै कौन को छोरा ॥३॥
आठ काठ अनुभव पावक मैं,
जल बुझ शान्त भई सब ओरा।
द्यानत शिव आनन्द चन्द छवि,
देखहिं सज्जन नैन चकोरा ॥४॥
द्यानतराय, द्यानतपद संग्रह। कलकत्ता, ८६वाँ पद पृष्ठ ३६,३७

२. सरधा गागर में रुचि रूपी, केसर घोरि तुरंत।
आनन्द नीर उमंग पिचकारी, छोड़ो नीकी मंत ॥
होरी खेलोंगी, आये चिदानन्द कन्त ॥
भूधरदास, 'होरी खेलोंगी' पद, अध्यात्मपदावली, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृष्ठ ७५।

२. काहे न बात सम्भाल कहौ तुम जानत हो यह बात भली है।
गानियां काढ़त हो हमको सुनो तात भली तुम जीभ चली है ॥
मै सब कौ तुम तुल्य गिनौ तुम जानत ना यह बात रली है।
या भव में पति नेमि प्रभू वह लाल विनोदी को नाथ बली है ॥
विनोदीलाल नेमि व्याह, जैन सिद्धान्त भवन आरा की हस्तलिखित प्रति।

ब्रह्म की अनुभूति से ऐसा प्रेम जगा है कि अनादिकाल से चली आने वाली अज्ञान की नींद समाप्त हो गई। हृदय के भीतर भक्ति के दीपक ने एक ऐसी सहज ज्योति को प्रकाशित किया है, जिससे घमण्ड स्वयं दूर हो गया और अनुपम वस्तु प्राप्त हो गई। प्रेम एक ऐसा अचूक तीर है कि जिसके लगता है वह ढेर हो जाता है। वह एक ऐसा वीणा का नाद है, जिसको सुनकर आत्मारूपी मृग तिनके तक चरना भूल जाता है। प्रभु तो प्रेम से मिलता है, उसकी कहानी कही नहीं जा सकती[1]।

भक्त के पास भगवान स्वयं आते हैं, भक्त नहीं जाता। जब भगवान आता है, तो भक्त के आनन्द का पारावार नहीं रहता। आनन्दघन की सुहागिन नारी के नाथ भी स्वयं आये हैं और अपनी 'तिया' को प्रेमपूर्वक स्वीकार किया है। लम्बी प्रतीक्षा के बाद आये नाथ की प्रसन्नता में, पत्नी ने भी विविध भांति के शृंगार किये हैं। उसने प्रेम, प्रतीति, राग और रुचि के रंग में रंगी साड़ी धारण की है, भक्ति की महंदी रांची है और भाव का सुखकारी अंजन लगाया है। सहज स्वभाव की चूड़ियां पहनी हैं और शिखा का भारी कंगन धारण किया है। ध्यान रूपी उरवसी गहना बक्षस्थल पर पड़ा है और पिय के गुण की माला को गले में पहना है। सुरत के सिंदूर से मांग को सजाया है और निरति की वेंणी को आकर्षक ढंग से गूँथा है। उसके घर त्रिभुवन की सबसे अधिक प्रकाशमान ज्योति का जन्म हुआ है। वहाँ से अनहद का नाद भी उठने लगा है। अब तो उसे लगातार एकतान में पिय रस का आनन्द उपलब्ध हो रहा है[2]।

ठीक उसी भाँति बनारसीदास की नारी के पास भी निरंजनदेव स्वयं प्रकट हुए हैं। वह इधर-उधर भटकी नहीं। उसने अपने हृदय में ध्यान लगाया और निरंजनदेव आ गये। अब वह अपने खंजन जैसे नेत्रों से उसे पुलकायमान होकर देख रही है और प्रसन्नता से भरे गीत गा रही है। उसके पाप और भय दूर भाग गये हैं। परमात्मा जैसे साजन के रहते हुए पाप और भय कैसे रह सकते हैं। उसका साजन साधारण नहीं है, वह कामदेव जैसा सुन्दर और सुधारस सा मधुर है। वह कर्मो का क्षय कर देने से तुरन्त मिल जाता है[1]।

---

१. सुहागण जागी अनुभव प्रीत, सुहा० ॥
निन्द अज्ञान अनादि की मिट गई निज नीति।
सुहा० ॥१॥
घट मन्दिर दीपक कियो, सहज सुज्योति सरूप ॥
आप पराइ आप ही, ठानत वस्तु अनूप। सुहा॥२॥
कहा दिखावु और कूं. कहा समझाउं मोर।
तीर अचूक है प्रेम का, लागे सो रहे ठौर ॥
सुहा० ॥३॥
नाद विलुद्धो प्राण कूं, गिने न तृण मृग लोय।
आनन्दघन प्रभु प्रेम का, अकथ कहानी वोय ॥
सुहा० ॥४॥

महात्मा आनन्दघन, आनन्दघन पद संग्रह, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, बम्बई, चौथा पद, पृष्ठ ७

२. आज सुहागन नारी ।।अवधू आज०।।
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अंगचारी ॥
अवधू० ॥१॥
प्रेम प्रतीत राग रुचि रंगत, पहिरे जिनी सारी।
महिंदी भक्ति रंग की रांची, भाव अंजन सुखकारी ॥
अवधू० ॥२॥
सहज सुभाव चूरियां पेनी, थिरता कंगन भारी।
ध्यान उरवसी उर में राखी, पिय गुन माल अधारी ॥
अवधू० ॥३॥
सुख सिंदूर मांग रंग राती, निरते बेनी संभारी।
उपजी ज्योति उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल कारी
अवधू० ॥४॥
उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारे वारी।
झड़ी सदा आनन्दघन बरावत, बिन भोरे इक तारी ॥

देखिये वही, २०वां पद।

१. म्हारे प्रगटे देव निरंजन।
अटको कहा कहा सर मटकत कहा कहूँ जन रंजन ॥
म्हारे० ॥१॥
खंजन दृग दृग नयनन गाऊँ चाऊँ चितवत रंजन।
सजन घट अंतर परमात्मा सकल दुरित भय रंजन ॥
म्हारे० ॥२॥
वो ही कामदेव होय काम घट वो ही सुधारस मंजन।
और उपाय न मिले बनारसी सकल करमषय खंजन।
म्हारे० ॥३॥

बनारसीदास, बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, 'दो नये पर' पृ० २४० क।

धर्म स्थानों में व्याप्त सोरठ की कहानी

महेन्द्र भनावत, एम० ए०

रात्रि को किसी धर्मस्थान में सामायिक आदि करते समय धार्मिक महिलायें नाना स्तवन, भजन तथा कहानी-किस्सों की झड़ी लगा देती हैं। कहानियों में धार्मिक कथानक लिए कई कहानियां अत्यन्त लोकप्रिय हैं जिनमें पवित्र जीवन जीने की कला के साधन, संयम, त्याग, तपस्या आदि मानवी गुणों के संकेत मिलते हैं। यहां सोरठ की सुप्रसिद्ध कहानी दी जा रही है जो मेवाड़ प्रदेश की ओर धर्मस्थानों में अत्यन्त लोकप्रिय रही । है

सोरठ की कहानी—[1]

एक राजा था जिसके सात वधुयें। ६ मानेती तथा एक कोमानेती परन्तु पुत्र किसी के भी नहीं। राजा व्यापार के लिए गया था। कोमानेती को गर्भवास हुआ, महीने दो महीने, चार ६ महीने टले। नवम मास कन्या ने जन्म लिया। नाम निकालने ज्योतिषी आया। मानेतियों ने सोचा अपने किसी के पुत्र नहीं है, राजा आते ही अपने को कोमानेती कर देगा, इसलिए ज्योतिषी को अपनी ओर से एक-एक थान दे दें और उसका नाम बदलवाने के लिए कह दें। ऐसा ही हुआ। ज्योतिषी ने उनके कहे अनुसार बात मान ली और इस प्रकार नाम निकाला—

नाम लेतां तो बामण मरे जी कांई
मुख देखंतां उसका बाप।
चंवरी चढ़तां वर मरे जी कांई
सोरठ जिसका नाम।

ब्राह्मण ने कहा—'क्या नाम निकालूं बाई जी ने तो भारी नक्षत्रों में जन्म पाया है।' ऐसा सुन कोमानेती ने राजा को पत्र लिखा कि कन्या ने जन्म लिया है परन्तु भारी नक्षत्रों में। ज्योतिषी ने नाम निकाला हैं।

राणीजी कागद मोकल्यो जी कांई
सुणो राणा जी मोरी बात।
नाम लेतां तो बामण मरे जी कांई
मुख देखंता उसका बाप।

उत्तर में राजा जी ने लिखा—

राजा जी कागद मोकल्यो जी कांई
सुणो रा‌णी जी मोरी बात।
खोटा नगतरां रा बाई जाया जी कांई
कांई होसी हवाल।
सतरे सोनी ने तेड़जो जी कांई
सोना रो पिंजरो घड़ाय।
ऐरे मेरे तो हीरा जड़े जी कांई
लालां माय लपेट।

उस पिंजरे में कन्या को बिठाकर उलपुल नदी में बहा देना।' सोनी को बुलाया पिंजरा बनवाया, हीरे पन्ने जड़े और अन्दर लड़की को बिठाई, दासी को कहा— 'इसे नदी में बहा दो, राजा जी का हुक्म है।' उलफूल नदी आई, दासी बहाने गई, बहाते-बहाते लड़की बोली—

उलल फूलल तो नदी बहै ए बाई
क्यूं बगाड़ी म्हारी मोत।
जमना ने गंगा खड़े पड़ी ए बाई
क्यू ए बगाड़े म्हारी मोत।

दासी ने उसे बहा दी। पिंजरा बहता-बहता चंपावती नगरी आया जहाँ कुम्हार मिट्टी खोद रहा था तथा धोबी कपड़े धो रहा था। धोबी ने दूर से बहते हुए पिंजरे को देख कुम्हार को आवाजदी—'मेरे ओ, पाल कुम्हार ! नदी में बहता हुआ पिंजरा आ रहा है, इसे अपन नदी में कूद कर निकालें परन्तु शर्त यह कि यदि अंदर का धन तुम लोगे तो बाहर का मै, और यदि बाहर का तुम लोगे तो भीतर का मैं।' दोनों ने नदी में गिरकर पिंजरा निकाला। कन्या को बैठी देख उन्होंने कहा—

'तुम इतनी सुन्दर कौन हो।'

वह बोली—'राजा की कन्या।'

---

१. मेवाड़ में कही जाने वाली इस कहानी का हिन्दी रूपान्तर यहाँ दिया जा रहा है।

पिंजरा धोबी ले गया और लड़की (सोरठ) को कुम्हार। कुम्हार ने उसे अपने घर में रखी जहां वह बड़ी हुई, धर्म-ध्यान करती, कुम्हार के लिए भोजन पकाती और आनन्द से रहती।

× × ×

एक दिन वहाँ वनजारों की बालदें आई, वणजारे दोनों भाई थे। पहले छोटे भाई ने आकर कुम्हार के वहाँ बालद छोड़ी बाद में बड़े भाई ने। दोनों भाइयों की निगाहें सोरठ पर पड़ीं। उन्होंने सोचा कि कुम्हार के घर ऐसी सुन्दर कन्या यह कौन है? उन्होंने कुम्हार को कहा— 'कुम्हार भाई, जरा पानी तो पिलाओ, प्यास लगी है, तुम्हारे यहां यह कौन बाई है, जरा पानी तो मंगवा दो।' कुम्हार ने सोरठ से पानी लाने को कहा। सोरठ पानी भर लाई। वणजारों ने जब पीने के लिए अपना धोबा (हाथ फैलाये) मांडा तो सोरठ ने कहा—

आंगल्यां तो थारी झणकारी रे,
पाणी गयो रे पाताल।
तरसां तो थाने नहीं लागी रे वीर।
नैणनजारूँ आय······

वणजारों ने कुम्हार को सोरठ के साथ शादी करने के लिए कहा। कुम्हार इस बात पर राजी हो गया। सोरठ की शादी करा दी। सोरठ के लिए दोनों भाई आपस में झगड़ने लगे। दोनों उसे अपनी-अपनी बताने लगे। उन्हें लड़ते देख एक राहगीर ने कहा कि कुछ ही दूर एक नगरी है वहां का पटेल अच्छा न्याय करता है सो वहाँ चले जाओ।

दोनों चले, कुछ ही आगे राजा मिला, उधर से पटेल की पुत्री मिली। वणजारों ने पटेल के लिए कहा—इस पर लड़की ने कहा—'उन्हें अंधे हुए बारह महीने होने आये हैं।'

दूसरा दरवाजा मिला जिसमें पटेल की पत्नी आती हुई मिली। पूछने पर उसने कहा—'उन्हें मरे पूरा वर्ष होने आया है।' तीसरे दरवाजे पटेल का पुत्र मिला—उसने कहा—'उन्हें बहरे हुए बारह वर्ष होने आए हैं।' चौथे दरवाजे पर स्वयं पटेल ही मिल गए। वणजारों ने अपनी बात कह सुनाई, साथ ही दरवाजों पर घटित घटना भी कह सुनाई। कारण पूछते हुए उत्तर में पटेल ने कहा—'लड़की ने मुझे अंधा कहा कारण कि उसकी मैंने अभी तक शादी नहीं की है, यद्यपि वह पूर्ण यौवना हो गई है। पत्नी से मेरी बोल चाल नहीं है, इसलिए उसने मेरा मरना कहा। पुत्र की बात मैं सुनी अनसुनी कर देता हूँ इसलिए उसने मुझे बहरा कहा।' अन्त में पटेल ने वणजारों के न्याय के लिए नगरी के राजा का नाम बताया। वणजारे राजा के पास गये और सारी बात कह सुनाई। राजा ने कहा—'तुम दोनों बेवकूफ हो इसके साथ तो मैं स्वयं शादी करूँगा।' नौकर को आज्ञा दी गई। चंवरी बनाई गई। विवाह की तैयारी हो गई। सोरठ बोली—

खांड जस्यो तो गोर नहीं जी कांई,
गोर जसी नहीं खांड।
नाम लेतां तो बामण मरे जी कांई,
मुख देखंता उसका बाप।

नौकर ने राजा से अर्ज किया परन्तु राजा ने सोरठ की एक भी बात न सुनी। चंवरी की ओर राजा ने प्रस्थान किया।

तब सोरठ ने कहा—

गोर वे तो खांड नहीं जी कांई
खांड जस्यो गोर
एक कारण म्हैं देखियो जी कांई
बेटी परणे बाप।

यह सुन राजा ने नौकरों से कहा—'निकालो ! निकालो !! इसे।'

जाते समय सोरठ ने कहा—

मलणो ह्वै तो भलो दादा जी,
नीतर मलणो आगे अवतार।
नहीं पीयर नी सासरो जी कांई
नहीं मांय मुस्यार॥

वणजारे उसे ले गये और एक नवखंडी हवेली में उसे रख दी। वहाँ उसके लिए एक दासी की व्यवस्था कर दी।

एक दिन राजा का भानजा 'वीज्या' उधर से निकला। सोरठ की ओर अचानक उसकी दृष्टि गई। उसने घर आकर मामा (राजा) से कहा कि यदि मैं एक अत्यन्त

ही सुन्दर लड़की लाकर दूं तो तुम मुझे क्या दोगे ? राजा ने कहा—आधी गद्दी यानी आधा राज्य।

वीज्या सोरठ को प्राप्त करने के लिए जोगी की पोशाक धारण कर देवी के मंदिर में पहुँचा और सोरठ की प्राप्ति की प्रार्थना करने लगा। मंदिर में वीज्या के भजन इतनी मस्ती और भक्ति भरे लग रहे थे कि सुनने वालों की खासा भीड़ सी इकट्ठी हो गई। मंदिर के पास ही बावड़ी थी जहाँ सोरठ की दासी पानी भरने आई, उसने भी वीज्या के भजन सुने। हवेली आकर सोरठ से सारी बात कह सुनाई। सोरठ ने उस जोगी को अपने यहां बुलाने के लिए कहा। दासी गई जोगी को बुला लाई। जोगी ने अच्छे-अच्छे भजन सुनाए। ज्यों ही सोरठ उसे भिक्षा देने लगी कि उसने कहा—

अनधन लछमी म्हारे अन्त घणी ओ बाई जी
बोरा भरया रे भंडार।
थारा तो हि बड़ा रो हार देवो नी बाई जी,
दो दन पेरे म्हारी जोगड़ी।

सोरठ ने उसे खूब डाँटा और वहाँ से भगा दिया। जोगी (वीज्या) ने नई तरकीब सोची। एक दिन वह ऊँट पर सवार होकर सोरठ का मामा बनकर आया। दासी से कहलवाया कि सोरठ को सूचना दो कि उसका मामा आया है। सोरठ ने कहलवाया कि मेरा कोई मामा नहीं है। वीज्या बाहर से चिल्लाया—'चल ! मेरे साथ चल। नही तो तुम्हारी दासी लीलावती को पीटूंगा और टुकड़े-टुकड़े कर डालूंगा।' इस पर सोरठ बोली—'दासी को मत पीट, मैं ही तुम्हारे साथ चलने को तत्पर हूँ।'

× × ×

आगे-आगे वीज्या, उसके पीछे-पीछे सोरठ विलाप करती हुई धीरे-धीरे चल रही है। वीज्या तेज़ भागता हुआ हर्ष के मारे फूला मामा के पास पहुँचा और शुभ संवाद कह सुनाया। सोरठ रास्ते में ही सखियों के ठिकाने रुक गई। साध्वियों के दर्शन कर साध्वी बनने की भावना आई। साध्वियों ने कहा—'तुम्हें दीक्षा दिलाने वाला कौन है ?'

सोरठ ने उत्तर दिया—आज्ञा देने वाले भी आप हैं
मारने वाले भी आप है
और तारने वाले भी आप हैं।'

सोरठ ने दीक्षा धारण की। वीज्या महल में सोरठ के आने के स्वप्न देखता रह गया।

ऐतिहासिक उपन्यास

दिग्विजय

आनन्दप्रकाश जैन, जम्बूप्रसाद जैन

[यह उपन्यास भगवान् ऋषभदेव के पुत्र सम्राट् भरत और बाहुबलि के प्रसिद्ध युद्ध को लेकर चला है। पुरानी कथा, किन्तु ऐसा नयापन कि पाठक रस विभोर हो उठे। इस दिशा में आनन्दप्रकाश जैन की लेखनी से सभी हिन्दी पाठक अवगत हो चुके हैं। यह उनकी नवीनतम कृति है।] —सम्पादक

१

समृद्धि और वैभव की विशाल नगरी अयोध्या का दैनिक जीवन क्रम उत्साह और उत्सव से उमड़ा चलता था, इक्ष्वाकुवंश का सूर्य अपनी संपूर्ण कलाओं सहित अयोध्या के जन जीवन पर छाया हुआ था, क्या साधुसंतों का समागम, क्या आकाश को चूमने वाले भवनों का निर्माण, सभी में अयोध्या अनुपम थी।

कलाविदों ने अपनी कला से अयोध्या का शृंगार किया था नित्य ही एक न एक कला-प्रदर्शन होता था। युद्ध के दिनों में लोग सामूहिक रूप से शस्त्र संभाल लेते थे। शांति काल में गायनवादन और संतों की वाणी समान भाव से सुनी जाती थी। बल, विभूति और कला, किसी में कोई अयोध्या का सामना नहीं कर सकता था।

महाराज ऋषभदेव के स्वर्ग शासन में शेर और बकरी एक घाट पानी पीते थे, शौर्य का पुतला भरत, तेजस्विता का स्तूप बाहुबली, मानों किसी योद्धा की दो बाहों की तरह अयोध्या के जीवन संघर्ष का संचालन कर रहे थे। वे महाराज ऋषभदेव के सभी पुत्रों में अग्रणी थे।

समस्त भूमंडल पर एकछत्र राज्य की स्थापना महाबली भरत का दैनिक स्वप्न था। उसकी यह अभिलाषा उसकी अनवरत विजयों के साथ एकाकार हो कर बढ़ रही थी। वह जिधर अपने अश्व की बागडोर मोड़ देता था, राज्याधीश टूटे पतंगों की नाई उसके चरणों पर आ गिरते थे।

बाहुबली सौम्य, शांत और सुन्दर थे। इतने सुन्दर थे कि सारी अयोध्या उन्हें कामदेव के नाम से पुकारती थी। जीवन को विभिन्न रूपों में देखकर उसमें रस लेना उनकी प्रवृत्ति थी। स्वाभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा था। उनका मोह सृष्टि की स्वच्छदन्ता के प्रति था। प्रकृतियां इतनी भिन्न होते हुए भी दोनों भाइयों का स्नेह एक ऐसे अटूट और दृढ़ बंधन से बंधा था, जो दो सहोदरों में ही संभव हो सकता है।

अयोध्या में एक दिन आह्लाद और उत्सव का बाजार गरम हो गया। सूर्य का प्रखर प्रकाश गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से टकराता अयोध्या के राजमार्ग पर छा गया था। जहां देखो, जिधर देखो, मानव आकृतियां जयनाद करती दृष्टिगोचर हो रही थीं। छज्जे, अटारियां, छत और राजमार्ग सभी, लोगों से अटे पड़े थे। अश्वारोही सैनिक व्यवस्था करते हुए इधर उधर दौड़ रहे थे। धर्म की प्रतीक पीली ध्वजाएं चारों ओर दृष्टि की झिलमिली दे रही थीं। राजमार्ग पर फूलों का बिस्तरा बिछा पड़ा था।

कुछ देर में ही राजमहल की ओर से एक भव्य रथ चला आता दिखाई दिया। साथ में दोनों ओर उद्यत अंगरक्षकों का दल था। जनता ने अपनी उत्सुक दृष्टियां उस ओर घुमाईं और 'कुमार बाहुबली की जय' के निनाद से आकाश गूंज उठा। रथ तीव्र गति से दोनों ओर की जन पंक्तियों के बीच से अयोध्या के परकोटे के मुख्य द्वार की ओर दौड़ता हुआ चला गया।

दक्षिण के एक छोटे से राज्य पोदनपुर को जीत कर भरत सेनाओं सहित अयोध्या वापस आ रहा था। यह स्वागतोत्सव उसी की अगवानी करने के लिए हुआ था। बाहुबली मुख्य द्वार पर उसका स्वागत करने के लिए गए थे। अब प्रजा की उत्सुक निगाहें कोटद्वार की दिशा में लगी थीं। उनके हृदयों पर भरत का सिक्का था। उनकी निगाहों में उसके शौर्य और पराक्रम का आदर था। भरत उनके स्वप्नों का खिलौना था। भरत उनका प्रिय था,

उनका कुटुम्बी था, उनका राजकुमार था। बाहुबली प्रजा की एक आंख थी, तो भरत दूसरी आंख थी।

मुख्य द्वार के बाहर हाथियों की पंक्तियां शुभागमन में सजी खड़ी थीं। हर्ष की दुंदुभि ऊंची उठाये उद्घोषक खड़ा था। बाहुबली रथ से उतर कर घोड़े पर आ गए थे। बारबार सूर्य के ताप को हथेलियों से रोक कर वह दूर क्षितिज की ओर देख लेते थे, जहां अब धूल के गोले उठते दिखाई देने लगे थे।

पास ही अश्व पर आरुढ़ खड़े सुमति मंत्री की ओर देखकर बाहुबली ने उल्लसित स्वर में कहा, "मंत्री जी भैया आ गए!"

सुमति मंत्री ने प्रसन्न मुद्रा में कहा, "हाँ कुमार, अयोध्या का गौरव स्तंभ दिखाई दे रहा है।'

मानो स्वीकारोक्ति में दुंदुभी ने खिलखिला कर शोर मचाया। 'महाबली भरत की जय', 'युवराज भरत की जय' के नाद से वायुमंडल का रोमरोम नाच उठा। उत्तर में पलपल निकट आती विजय वाहिनी की ओर से दुंदुभि बजी और एक श्वेत अश्व उसकी पंक्तियों से निकल कर तेजी से मुख्य द्वार की ओर झपटा। कुछ पीछे और अश्व भी आते दिखाई दिए।

इधर से बाहुबली का अश्व वेग से उछला और तीव्र गति से आगे बढ़ा। पास आने पर दोनों भ्रातृयोगी अश्वारोही अपने-अपने अश्वों से कूद पड़े और एक दूसरे के गले से लिपट गए। यह था दो अभिन्न भाइयों का प्रेम मिलन जिसे देखकर अयोध्यावासियों के हृदय की तरंगे उछल-उछल पड़ रही थीं।

विशाल परकोटे का मुख्य द्वार भी हर्ष से शोर मचाता हुआ खुल गया। हाथियों ने अपनी-अपनी सूड़ें ऊपर उठा कर विजयी सेनानायक भरत का अभिवादन किया। अश्वों ने हिनहिना कर अपनी परिवर्तित चेतना प्रकट की।

दोनों भाई रथ पर चढ़कर खड़े हो गए, ताकि उत्सुक जनता उन्हें भलीभांति देख सके। सवारी असंख्य स्वागत कारिणी मेखला के साथ अयोध्या के विस्तीर्ण प्रवेश द्वार से भीतर घुसी। साथ ही अयोध्या का एक-एक जीता-जागता ध्वनियंत्र जाग उठा। 'अयोध्या के तिलक की जय' 'युवराज भरत की जय'।

इस स्फुरणदायक वातावरण से गुजरता हुआ रथ राज-महल की ओर चला। राजपथ पुष्पों की सुरभि से महक रहा था। इस राज्योचित अभिवादन को सहर्ष ग्रहण करते हुए भरत बाहुबली की मुसकराहट में अपनी मुसकराहट मिला देता था।

राजमहल के द्वार पर महाराज ऋषभदेव अपनी आँखें पसारे खड़े थे। अभी-अभी चर ने उन्हें दोनों कुमारों के पुन: अयोध्या प्रवेश का समाचार दिया था। रथारूढ़ भरत को देखते ही उनकी आंखों में स्नेह का स्फुलिंग चमक उठा भरत रथ से उतर कर उनके चरणों को छूने के लिए दौड़ा।

गद्‌गद् होकर महाराज ने भरत को अपनी सुदृढ़ बाहुओं से ऊँचे उठाया और छाती से लगा लिया। उनकी लम्बी-लम्बी अंगुलियां उसकी हारी थकी पीठ पर वात्सल्य की थपकियां देने लगीं। उन थपकियों में स्नेह की मृदुता थी, वंश का अभिमान था और मिलन का सुख था। भरत ने इस सुख का अनुभव किया और उसके अतिरेक से उसने पुकारा: "पिताजी!"

महाराज ने एक क्षण की अपनी पलकें झपकाई। 'पुत्र, तूने अयोध्या को गौरव दिया है। जो अपने देश का मान रखता है वह बड़ा हो जाता है। जब तक सूरज और चांद रहेंगे तेरी बड़ाई को धरती नहीं भूलेगी।"

बाहुबली पास ही खड़ा इस तमाशे को मुग्ध नयनों से निहार रहा था। उसने प्रफुल्ल होते हुए कहा, "भैया के साथ धरती को मेरा नाम भी तो याद रखना पड़ेगा न, पिताजी?"

अयोध्यापति ने कहा, "धरती सदा विजेताओं की ही याद रखती है। जब तुम विजय करोगे, तो तुम्हारा नाम भी धरती की छाती पर अंकित हो जाएगा। हम तुम्हें भी विजय का अवसर देंगे।"

एक बार फिर तुमुल जयघोष हुआ। दोनों पुत्रों के कंधों पर हाथ रख कर महाराज ऋषभदेव राजमहल में चले गए।

अभी इस उमड़े हुए उत्साह और उत्सव की धूल भली प्रकार बैठी भी नहीं थी कि अयोध्या के राजपथ से, जो अब लगभग अपनी सामान्य अवस्था पर आ गया था, एक अश्वारोही अपने अश्व को दौड़ाता हुआ राजमहल तक

आया और उसने महाराज के सामने उपस्थित होने की आज्ञा चाही। वह अयोध्या से लगते हुए एक छोटे से राज्य वैजयंती का राजदूत था।

भरत का अभिनंदन करने के लिए राज दरबार सुसज्जित किया गया था। भाट और चारण विरदावलियां गा रहे थे। प्रतिहारी ने बीच ही में वैजयंती के राजदूत के आने का समाचार सुनाया।

महाराज ने उसे उपस्थित करने की आज्ञा दी। कविताओं का पाठ रोक दिया गया। राजदूत ने महाराज के सामने आकर भूमि तक झुककर दंडवत् की। "राजाओं में श्रेष्ठ, इक्ष्वाकुवंश दीपक, महामंडलेश्वर, महाराज ऋषभ-देव की जय। यह दास वैजयंती की ओर से सैनिक शक्ति की सहायता की याचना करता है।"

"सैनिक सहायता !" महाराज ने आश्चर्य करते हुए पूछा। 'दूत, तुम किसी संकट की सूचना दे रहे हो ?"

"हां, देव", राजदूत ने निवेदन किया। "रतनपुर के मंडलेश्वर राजा वज्रबाहु ने वैजयंती पर अपने पंजे फैलाए हैं। वैजयंती नरेश अयोध्यापति की सुनीति में अपना असीम विश्वास प्रकट करते है, और इस बुरी घड़ी में अयोध्या की प्रबल सेनाओं की सहायता की मांग करते हैं।"

"महाराज वज्रबाहु ने आक्रमण किया है ?" महाराज ऋषभदेव ने पूछा। "कारण ?"

"वैजयंती की आन इसका कारण है, देव। महाराज पद्मसेन अपनी पुत्री का विवाह कोशांबी के युवराज से करना चाहते हैं। यह विवाह महाराज वज्रबाहु को पसन्द नहीं है। वह जबरदस्ती हमारी राजकुमारी का हरण करना चाहते हैं। हम मर मिटेंगे, देव, मगर ऐसा नहीं होने देंगे।"

ऐसे ही अवसरों पर भरत के धैर्य का बांध टूट पड़ता था। राजदूत की बात सुनकर वह विहंस उठा।

महाराज ऋषभदेव ने पुत्र के मुंह की ओर देख कर कहा, "कुछ कहना चाहते हो, भरत ?"

"हां, देव", भरत ने कहा।" मैं पहले भी कितनी ही बार निवेदन कर चुका हूं जिस दिन किसी बड़ी मछली का जी चाहता है छोटी मछली को दबोच लेती है। इन मछलियों के सिर पर एक मगर की जरूरत है। एक बार दिग्विजय कर डालिए। ये झगड़े हमेशा के लिये बन्द हो जाएंगे।"

इसी बीच बाहुबली बोल उठे, "भैया को तो सदा दिग्विजय के स्वप्न आते हैं।"

भरत ने उलाहने से बाहुबली की ओर देखा।

महाराज ऋषभदेव ने कहा, "भरत, अभी दिग्विजय का समय नहीं आया। यह वैजयन्ती का बढ़ाया हुआ हाथ थामने का समय है।"

"आज्ञा दीजिए, देव, "आज्ञाकारी भरत बोला। "भरत वैजयन्ती के सम्मान की रक्षा करेगा।"

महाराज ऋषभदेव ने पुत्र को प्रशंसा की दृष्टि से देखा। "अभी तो राह की धूल भी तुम्हारे शरीर से नहीं झरी, भरत हम तुम्हारे उत्साह से प्रसन्न हैं। किन्तु एक अवसर अपने छोटे भाई को भी तो दो।"

महाराज ऋषभदेव की बात सुनकर बाहुबली जैसे चौंक उठे। एक पूर्व स्मृति उनके मानस पटल पर चित्र की तरह खिंच गई। वाराणसी नगरी का महापुष्करिणी का मेला था। जगह-जगह के नन्हें-नन्हें बालक बालिकाओं, सजीली मूंछों वाले युवकों और श्वेत दाढ़ियों वाले वृद्धों का सम्मिलन था। महागंगा अपने प्रबल वेग के साथ बही चली जा रही थी। उस महा मेले में स्थान-स्थान के राजकुमार और राजकुमारियां आई हुई थीं। उनके साथ आए हुए रक्षकों की साज-सज्जा अनुपम थी। कुछ पुण्य लूटने के लिए आए थे, तो कुछ उस मेले का एक वर्ष में आने वाले आनन्द लूटने। उन्हीं में बाहुबली भी था। तब एक दिन उस मेले की भारी धकापेल में एक ओर से विकट शोर सुनाई दिया। एक लड़की डूब रही थी। उसके पीछे अपनी जान की परवाह न करके एक लड़का कूदा था। फिर हल्का सा स्फुरण लेकर बाहुबली स्वयं महागंगा में गोते लगा रहा था, और सबके बाद में सैकड़ों अच्छे-अच्छे तैराक रक्षक कूद पड़े थे। महागंगा का उद्याम वेग उस लड़की, उस लड़के और बाहुबली को उन रक्षकों की पहुंच के बाहर ले गया था। जीवन-मरण की बाजी थी। उससे भी अधिक दूसरे के जीवन को बचाने की बाजी थी। उस लड़के ने उस लड़की को पकड़ लिया। किन्तु एक छोटे से भंवर ने उन दोनों को एक साथ अपनी लपेट में लिया और पानी

के आवरण के भीतर छिपा लिया। साथ ही बाहुबली भी उसी लपेट के साथ अदृश्य हो गया और फिर तीनों कुछ समय बाद बहुत दूरी पर निकले। वह लड़का और वह लड़की अचेतन हो चुके थे। बाहुबली अतल पानी के तल से अपने बाहुओं का बल लगाकर उन्हें खींच रहा था। वह महागंगा के वेग से लड़ रहा था। कौन विजयी होगा यह अनिश्चित था। किनारा दूर था, रक्षक दूर थे, जीवन दूर था। केवल काल का मुंह उन तीनों को निगल लेने के लिए खुला हुआ अत्यंत निकट था। लेकिन बाहुबली जूझता ही रहा, जूझता ही रहा। फिर भी वह महागंगा के वेग को नहीं पछाड़ सका। किन्तु महागंगा भी उसके सामने हार मान गई। बाहुबली अपने साथ उस लड़के और उस लड़की को लिए जहाँ था वहीं अचल बनकर तैरता रहा। थोड़ी देर में रक्षक आ गए और वे तीनों हाथों हाथों में उठा लिए गए। इस मानव और जड़ की लड़ाई में मानव विजयी हुआ था, अचेतन हार गया था।

बाहर आकर उस लड़के को एक घंटे बाद होश आया सैकड़ों दास दासियों के मुंह पर स्याही सी फिर रही थी। बाहुबली को लोग कंधों पर उठाए हुए थे। जब उस लड़के को चेतना आई और वह बात चीत करने के लायक हुआ तो बाहुबली की ओर कृतज्ञता की दृष्टि से देखा था? उसने पूछा था 'तुम...?' बाहुबली ने उत्तर दिया था, मैं अयोध्या का राजकुमार बाहुबली, तुम ?, उसने उत्तर दिया था, 'मैं रतनपुर का राजकुमार वज्रबाहु। तुमने मेरी जान बचाई है। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। बाहुबली हंस पड़ा था। तुमने वीरता का मान रखा है। मै तुम्हें बधाई देता हूँ। और दोनों सदा के लिए मानवीय, मानवोचित, मित्रत्व के अटूट बंधन में बंध गए थे।

और वह लड़की कौन थी ? अब याद आया। वह थी वैजयन्ती की राजकुमारी। वह दुःख में भयंकर विलाप कर रही थी। अपनी पुत्री के प्राण जाते देख उसकी मोह विह्वल माता भी उसके पीछे महागंगा में कूद पड़ी थी। बेटी बच गई थी और मां ने अपने प्राण दे दिए थे। जैसे उसने अपने जीवन से काल देव का फाड़ा हुआ मुंह भर दिया हो। वैजयन्ती के महाराज एक टक कभी अपनी पुत्री की ओर देख लेते, कभी महागंगा की हहराती, उछलती चंचल और क्रूर लहरों को, जिन्होंने उनकी जीवन संगिनी को सदा के लिए उनसे छीन लिया था।

आज कितने दिनों के बाद उस टूटे हुए अध्याय का पुनः आरंभ हुआ है। किस प्रकार अयोध्याधिपति की महती राजसभा के पत्थर के स्तम्भों के ऊपर हथौड़े और छेनी से उभारे गये मनोरम चित्रों की पृष्ठभूमि पर बाहुबली के अतीत के वे छोटे से सजीव चित्र चलती-फिरती छायाओं की तरह उभर आये थे। उन कुछ क्षेत्रों में बहुत सारा बीता हुआ इतिहास सप्राण हो उठा था और बाहुबली की दृष्टि किसी ओर न जाकर भित्ति-चित्रों के ऊपर चित्रलिखित की नाईं अटक गई थी।

आश्चर्य से बाहुबली की ओर देखकर महाराज ऋषभदेव ने पूछा, "किस चिन्ता में हैं अयोध्या के छोटे राजकुमार ?"

बाहुबली फिर चौक उठे "देव, क्षमा करें, मेरी विनय है कि महाराज वज्रबाहु मेरे बचपन के मित्र हैं, मैं सोच रहा हूँ कि मित्र मित्र से किस प्रकार लड़ सकेगा।"

महाराज ऋषभदेव मुसकरा उठे, "जब दूसरों से लड़ा जाता है, तब वीरता की परीक्षा होती है। जब अपनों से लड़ने का प्रश्न आता है, तब धीरता की परीक्षा होती है। हमें विश्वास है कि बाहुबली में, हमारे बेटे में, वीरता और धीरता दोनों ही गुण हैं। अपने मित्र को अनीति से रोको। पुत्र, इस समय तुम्हारा यही कर्त्तव्य है।"

बाहुबली ने मस्तक नवाया, किन्तु उसकी आँखों ने अपनी जिस लम्बी-चौड़ी छाती को निहारा उसमें अपूर्व और अकथनीय संघर्ष की आँधी उठ रही थी। महाराज को यथाविधि प्रणाम करके बाहुबली ने राजसभा से बिदा ले ली।

वैजयंती के राजदूत की ओर तेजपूर्ण दृष्टि से देखकर महाराज ऋषभदेव ने ओजमिश्रित स्वर में कहा, "जाओ, राजदूत, वैजयंती नरेश से कहना कि वैजयंती के मान को हम अपना मान समझते हैं। उस मान के लिए हम अपने प्राण, अपना जोश, और अपनी वीरता वैयजंती के वीरों के साथ कांटे पर रख देंगे। और हमें यकीन है कि वह वज़न काफी भारी होगा।"

राजदूत ने हर्ष से अपना सिर नवाया और उसने इकहरे स्वर में जय घोष किया : "महामण्डलेश्वर, अयोध्यापति, महाराज ऋषभदेव की जय। कुमार भरत, कुमार बाहुबली की जय।"

महाराज ने आशीर्वाद का हाथ उठाया और सिर नीचा किए उसे ग्रहण करता हुआ वह राजसभा के मुखद्वार से बाहर निकल गया।

२

एक विशाल सेनानी बनकर बाहुबली ने वैजयंती की ओर कूच किया।

परिस्थिति के झोंके मनुष्य को क्या क्या नाच नचाते हैं, बाहुबली यही सोचते चले जा रहे थे एक ओर वह अपार सेना के सेनापति थे, एक अथाह बल अपने साथ लिए वह चल रहे थे, जिसका अर्थ था कि यदि उनके मित्र ने उनकी नीति अनीति की परवाह न की, तो वह अपने बल का, अपनी सेना का प्रयोग करेंगे यही सबसे पहला व्यवहार होगा, जो अपने मित्र के लिए करेगा। धिक्कार है ऐसी मित्रता पर, बाहुबली ने सोचा। क्या वज्रबाहु उनके समझाने से नीति को समझ जाएगा! यह प्रश्न बार बार उनके मस्तिष्क में आकर उन्हें विचलित कर रहा था।

वैजयन्ती अभी दूर थी, बाहुबली की सेनाएं बिना उचित विश्राम के ही निरन्तर कूच पर कूच करती जा रही थीं। दूर दूर तक अगाध वन दिखाई दे रहा था। हरियाली का नाम निशान नहीं था। बाहुबली के मन के आंदोलन से होड़ करता हुआ वनस्थली का झंझावात धूल और गुब्बार को अपने साथ उड़ाये लिये जा रहा था।

सूर्य के ताप की अपनी हथेलियों की ओट करते हुए बाहुबली ने एकबार वन को दूर तक देखा। उनके पीछे सांप की तरह बल खाती हुई सेनाओं की पंक्तियाँ चली आ रही थीं। सहसा उन्हें बहुत दूर पर कुछ आकृतियां दिखा दीं। क्या ये आकृतियाँ मनुष्यों की ही हो सकती हैं? उन्होंने अपने मुख्य अङ्गरक्षक वीरसिंह को अंगुली से दिखा कर पूछा, "देखते हो, वीरसिंह, मनुष्य ही तो लगते हैं?"

"हाँ, कुमार, मनुष्य ही मालूम होते हैं," वीरसिंह ने भलीभांति दृष्टि दौड़ा कर कहा।

"कौन हो सकते हैं? वीरसिंह, देखो तो आगे बढ़कर।"

वीरसिंह का अश्व तेजी से आगे को झपटा। कुछ ही देर में वह आंखों से ओझल होकर उन लोगों के पास जा पहुँचा। बीस पच्चीस अश्वारोहियों के बीच में चार-पांच पालकियां थीं। उसे देखते ही उन अश्वारोहियों ने अपनी अपनी म्यानों से तलवारें खींच ली। दल के नायक ने डांट कर पूछा, "कौन हो तुम?"

"यही मैं पूछना चाहता हूँ, कौन हो तुम लोग? और इन पालकियों में क्या है? कहाँ जा रहे हो? कहाँ से आये हो?" वीरसिंह ने उतने ही तेज स्वर में नायक से प्रश्न पर प्रश्न किया।

"युवक तेरे इतने सवालों का जवाब लोहे की जबान ही दे सकती हैं। भाग जा, नहीं तो वार सम्भाल, "नायक ने कहा।

"जो भी तुम लोग हो, तुम्हारा इरादा कुछ बुरा मालूम होता है। सुनो, मैं अयोध्या के राजकुमार महामान्य श्री बाहुबली का अङ्गरक्षक हूँ। हमारी सेनाएं वैजयन्ती की सहायता के लिये जा रही हैं, वह देखो। यदि तुमने मेरे प्रश्नों का उचित उत्तर नहीं दिया, तो तुम्हारी चमड़े की जबानें खींच ली जाएंगी और इन लोहे की जबानों के टुकड़े टुकड़े कर दिये जायेंगे 'बोलो, कौन हो तुम लोग?"

किसकी जबान खिचेगी और किसकी जबानों के टुकड़े टुकड़े होंगे इसका निर्णय होने के लिए वीरों की प्रथा के अनुसार तलवारें एक दूसरे की ओर झपटीं कि तभी बीच की कुछ अधिक सजी हुई पालकी में से एक तीव्र किंतु सुरीला स्वर सुनाई पड़ा;

"नायक, झगड़ा न करो, उनसे बता दो हम कौन हैं।"

पलक मारते ही सब तलवारें म्यानों में चली गईं, नायक ने अपने इस छोटे से दल का परिचय दिया;

वैजयंती का छोटा सा गढ़ चारों ओर से घिर गया था, शत्रु का घेरा दिन पर दिन संकुचित होता जा रहा था, अन्न और पानी का अभाव सामने अपना कराल गाल फाड़े खड़ा था, आता हुआ संकट अपने पंजे दिखा रहा था, कौशांबी और अयोध्या दोनों जगह सहायता का संदेश

भेजा गया था, वैजयंती की राजकुमारी वैजयंती की आन और मान की प्रतीक थी, वीरों के प्राण रहे या जाएं, किंतु वीरता की आन को बट्टा नहीं लगना चाहिए, किसी भी ओर से सहायता आई न देख कर सुरक्षा के विचार से वैजयंती नरेश ने राजनंदनी को वैजयंती से दूर करने का निश्चय किया, एक दूर प्रदेश में उसके मामा का छोटा सा दृढ़ पर्वत निवास था. कुछ विश्वसनीय व जान पर खेल जाने वाले वीर अंगरक्षकों के साथ रात के समय राजनंदिनी को चुपके से गुप्त राह के द्वारा वैजयंती से निकाल दिया गया था, साथ में थीं मुंहवाला सखी सहेलियां, अब वैजयंती यदि हार भी जाए, तो सुरक्षित थी।

जब तक वीरसिंह को पूरा समाचार ज्ञात हो बाहुबली भी अपना अश्व कुदाते हुए उसी स्थान पर पहुँच गए. उन्होंने भी राजनंदिनी के अंगरक्षकों के नायक से कुछ हाल सुन लिया और उनकी कुशाग्र बुद्धि ने क्षण मात्र में सारा रहस्य जान लिया।

राजकुमारी की पालकी बाहुबली के पार्श्व पर थी और उस पर झीना सा परदा पड़ा हुआ था. वहीं से उसने बाहुबली की मनोरम मूर्ति देखी, तो बस देखती ही रह गई। उच्छृङ्खल किंतु सधे हुए घोड़े पर बाहुबली देवकुमार से प्रतीत हो रहे थे और वह उसकी रास कसते हुए कह रहे थे।

"कहीं आने जाने की आवश्यकता नहीं है. वापस लौट चलो. जब तक अयोध्या का एक भी वीर जीवित रहेगा, कोई वैजयंती की इंट तक को नही छू सकेगा।"

ओह, कितना अमृत था उस देव वाणी में! बाध्य होकर कोई अपने घर, अपनी जन्मभूमि को त्यागता है, तो कितना दुःख होता है उसे राजनंदिनी वैजयंती में उत्पन्न हुई, वैजयंती में पली, और वैजयंती में बड़ी हुई. उसके कारण आज वैजयंती पर दुर्भाग्य की काली घटाएं घिर आई थीं, वैजयंती आज उसकी रक्षा करने में असमर्थ थी. कितने दारुण दुःख में डूबा हुआ था वह गृहत्याग. बाहुबली ने आकर तो मानों प्राण दान दिया था। सूखे खेतों में वर्षा का पानी झिलमिला उठा था।

एक नजर अपने त्रास दाता को देखने के लिए राजनंदिनी ने अपनी पालकी का परदा उठाया, बावली की उचटती निगाह उसकी ओर देखकर फिर गई, फिर जैसे कोई अपूर्व और अद्भुत वस्तु नजर में आकर निकल गई हो, बाहुबली ने एक बार एक क्षण के लिए फिर जानबूझ कर उसकी ओर दृष्टि डाली, निमिष मात्र में दोनों की नजरें मिलीं, राजनंदिनी की आंखों में बाहुबली की वीरोचित वेशभूषा और सौम्य रूप की प्रशंसा थी और बाहुबली की आंखों में राजनंदिनी की कोमलता और श्री को देखते रहने का चाव था, किन्तु उनका चंचल अश्व उन्हें लेकर आगे बढ़ गया।

राजनंदिनी के पास ही बैठी उसकी मुखरा सखी ने हँसकर कहा, 'ये निगाहें तो बिजलियां गिराकर ही रह गईं।'

'क्यों?' राजनंदिनी ने उलाहने से पूछा,

'और नहीं तो क्या,' सखी ने कहा, 'न अश्व ने टिकने दिया और न निगाहों के तेज ने, टिक जाते, तो दिन में ही चांद को जी भर न देख लेते।'

राजनंदिनी हंसी, 'जी भर कर ही क्या करते? तेरी तरह बैठकर बातें थोड़े ही बनाने लगते, जानती नही वह अयोध्या के राजकुमार हैं।'

तिरछी दृष्टि से देखकर मुखरा ने कहा, 'हां जी जानती क्यों नहीं वह अयोध्या के राजकुमार हैं, और मैं तो यह भी जानती हूं कि आप वैजयन्ती की राजकुमारी हैं·········बस इतनी ही सी तो बात है।'

"तू बड़ी वाचाल हो गई है,' राजकुमारी ने सलज्ज हंसी हंसते हुए कहा,

राजकुमारी की आज्ञा से पालकियां फिर उठीं और बाहुबली के अंगरक्षक वीरसिंह ने इस छोटे से दल को विस्तृत वाहिनी के बीच में ले जा कर छोड़ दिया।

राजनंदिनी को देखकर बाहुबली के मन में एक साथ कितने ही विचार आए। आक्रमण त्रस्त अपनी जन्मभूमि से अपनी मर्यादा बचाने के लिए मांगी हुई इस राजकन्या के प्रति उनके मन में दया का सागर उमड़ पड़ा। कन्या की इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह किसी से हो, यह कृत्य स्वयं में बलात्कार से अधिक गौरव नहीं रखता। उन्हें दुःख हुआ कि उनका अभिन्न मित्र ही इसमें आक्रमणकर्ता का रूप लिए खड़ा है।

दूसरी ओर उनके मन में राजनंदिनी के ऊपर डाली हुई उस दूसरी सचेतन दृष्टि ने बाहुबली से भयानक उथलपुथल मचा दी। इतना रूप और इतने निर्दोष अंग विन्यास! यह मानवी थी या स्वर्ग की देवी? कौन मानव है, जो इस प्रकार के आकर्षण से बच सकता है? यदि वज्रबाहु ही इसके वशीभूत हो गया, तो इसमें क्या आश्चर्य है?

अयोध्या की अजेय सेनाओं का आगमन सुनकर एक बार तो वज्रबाहु के हाथों के तोते उड़ गए, किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि उसका परम मित्र बाहुबली ही उस सेना का संचालन कर रहा है, तो उसके आश्चर्य का पारावार न रहा।

क्या बाहुबली उससे युद्ध करेगा? क्या राजनंदिनी की मनमोहिनी छवि ही उसे यहां खींच कर लाई है?

जब तक अयोध्या की सैनायें वैजयन्ती के गढ़ के बाहर नही पहुंच गई, वज्रबाहु के मन में ये दो प्रश्न चक्कर काटते ही रहे। जब उसने निश्चय किया कि उसे एक बार स्वयं अपने मित्र से भेंट करनी ही होगी।

यथाविधि बाहुबली के पास महाराज वज्रबाहु की भेंट की इच्छा की सूचना भेजी गई, सुनते ही बाहुबली के मन पर जैसे एक बोझ सा हट गया। उन्होंने सहर्ष इस भेंट के लिए स्वीकृति दे दी।

दोनों सेनाओं के बीच में एक तंबू तना और बाहुबली अपने मित्र के स्वागत में आंखें पसार कर बैठ गए, कुछ ही देर में वज्रबाहु के डेरे में आए, अपने विलग मित्र को सम्मुख देखते ही बाहुबली ने अपनी बाहें फैला दी। 'हम अपने प्रिय मित्र का स्वागत करते हैं।'

वज्रबाहु ने उन बढ़ी हुई बांहों को थामते हुए कहा, 'इतनी सेनाएं, ये सब क्या हमारे ही स्वागत के लिए आई हैं?'

बाहुबली की पलकें एक क्षण के लिए लज्जा से झुक गईं, फिर कर्तव्य का तेज लेकर वे ऊपर उठीं, "महाराज वज्रबाहु का मित्र अयोध्या का राजकुमार भी है, ये सेनाएं अयोध्या की सेनाएं हैं, महाराज वज्रबाहु के मित्र की नहीं, मैं मजबूर हूँ, बन्धु, मेरे हाथ बंधे हुए हैं।"

वज्रबाहु ने उपेक्षा से कहा, 'नहीं, मालूम होता है वैजयंती की राजकुमारी की रूपगरिमा अयोध्या तक भी जा पहुँची है, और अयोध्या के राजकुमार बाहुबली उस रूप गरिमा पर मुग्ध हो गए हैं।'

'नहीं, नहीं, यह बात नही, वज्रबाहु," बाहुबली ने जल्दी से इस आरोप का निराकरण करना चाहा।

वज्रबाहु ने अपने संशय की पुष्टि की: "क्यों, हो सकता है राजनंदिनी के बिना अयोध्या के राजमहल सूने ही रह जाएं।"

बाहुबली इस व्यंग्य से गंभीर हो गए, उन्होंने तनिक गुरु स्वर में कहा, "आप भूल रहे हैं, महाराज वज्रबाहु, क्या आपको बाहुबली की आंखों में रूप की प्यास दिखाई देती है? मैं फिर कहता हूँ कि आप भूल कर रहे हैं, महाराज वज्रबाहु, आपको भारी भ्रम हुआ है, बाहुबली कभी भी अपने मित्र का प्रतिद्वन्दी नहीं हो सकता।"

"यदि तुम मेरे प्रतिद्वन्दी नहीं हो, तो संसार की कोई शक्ति मुझसे राजनंदिनी को नहीं छीन सकती," और वज्रबाहु ने बाहुबली के थामे हाथ अपने गले में डाल लिए, उस अकाट्य मैत्री की निकटता उसकी आंखों में कांध गई।

बाहुबली ने मित्र की प्रसन्ता से प्रसन्न होते हुए कहा, "तुम्हें अपनी प्रेयसी मिले, मुझे इसकी खुशी होगी, किन्तु अनीति से मिले, इसका दुःख होगा, दुःख ही नहीं मेरा अपमान भी होगा, और तुम जानते हो, मित्र की नीति और कर्त्तव्य मित्रता से बड़े है।"

"तब हमारे मित्र को कुछ सोचना पड़ेगा। तुम्हें देखना होगा कि अनीति हमारी ओर से है या वैजयन्ती के उस बूढ़े नरेश की ओर से। वह कौसाम्बी के उस कायर युवराज से उस हीरे का गठ बंधन करना चाहते हैं। वह महलों को छोड़कर झोपड़ी के ऊपर कलश चढ़ाना चाहते हैं, "वज्रबाहु ने गंभीर बन कर कहा।

"पिता का अधिकार है जहां चाहे अपनी पुत्री का विवाह करे, "बाहुबली ने उत्तर में कहा।

वज्रबाहु ने कटुता मिश्रित स्वर में कहा, "काश कि वह अपना यह निर्णय अपनी पुत्री पर छोड़ देते। तब वह सोच सकती कि वह महलों रत्न बनें या झोपड़ी का कंकर।

इतना विश्वास ! तो क्या राजनन्दिनी भी वज्रबाहु की ओर उतनी ही आकर्षित है ? यदि यह भी वज्रबाहु को प्रेम की दृष्टि से देखती है, तो वैजन्ती नरेश क्यों उन की राह का कांटा बनना चाहते हैं ? क्यों राजनन्दिनी वज्रबाहु से पीछा छुड़ाकर इस प्रकार अपने मामा के यहां चली जाना चाहती थी ? हो सकता है यह केवल पिताका प्रभाव हो। तभी तो वह तुरन्त वापस लौट चलने के लिए तैयार हो गई। यदि यही बात है, तो समस्या का हल दूर नहीं है। समझौते की आशा निकट है।

वज्रबाहु के कन्धों पर अपनी बाहुओं को स्नेह से दबा कर बाहुबली ने कहा, "यदि तुम यही चाहते हो कि सारा निर्णय राजकुमारी पर छोड़ दिया जाए, तो यही होगा, बंधु किंतु तुम्हें अपनी सेनाओं का घेरा उठा लेना होगा, और मैं वैजयन्ती नरेश का हाथ तुम दोनों के बीच में से हटा दूंगा। किंतु···किंतु······

वज्रबाहु, बाहुबली की इस किंतु परन्तु को समझ गया। उसने बीच में ही बाहुबली को संकोच मुक्त करते हुए कहा, "किन्तु यदि राजकुमारी ने मुझे फिर स्वीकार न किया, तो मुझे आक्रमण का अधिकार न होगा, यही न ? मैं इस बन्धन को स्वीकार करता हूं। मुझे राजकुमारी पर विश्वास है।

वज्रबाहु को राजकुमारी की बुद्धि पर विश्वास था। बाहुबली ने इसे इस रूप में लिया कि उसे राजनंदिनी के हृदय पर, उसके प्रेम पर विश्वास है। और यात्रा के बीच में राजनन्दिनी की ओर से उसके हृदय में जो क्षणिक एक नन्हा सा स्फुलिंग जल उठा था वह अनुकूल हवा न पाकर जल के ऊपर बुलबुले की नाईं तिरोहित हो गया।

बाहुबबली की योग्यता पर यकीन करके वज्रबाहु ने अपना घेरा उठा लिया। अगले दिन सुबह स्वयं बाहुबली के संरक्षण में राजकुमारी राजनन्दिनी ने वैजयन्ती के गढ़ में प्रवेश किया। यह गृह प्रवेश कितना सुखद था कि यह केवल वही जान सकता है, जो बलात् अपने देश से निर्वासित होकर पुनः उसके द्वार पर आया हो।

समझौता हो गया। वैजन्ती नरेश ने अपनी पुत्री राज नन्दिनी का विवाह कौशाम्बी के युवराज से करने का विचार छोड़ दिया। उन्होंने आश्वासन दिया कि वह उचित समय पर विधिवत् राजनन्दिनी का विराट् स्वयम्बर करेंगे, जिसमें राजकुमारी की अपनी इच्छानुसार अपना वर आप चुन लेने की सुविधा होगी। वज्रबाहु ने यह वचन लेकर अपने मित्र से विदा ली और फिर कभी अपने आमन्त्रण पर बाहुबली से आने का वचन लेकर उसने अपनी सेना सहित अपनी राजधानी रतनपुर की ओर कूच बोल दिया।

एक बार वज्रबाहु ने राजनन्दिनी को बचाने के लिये महागंगा में अपने प्राण संकट काल में डाले थे। वैजयन्ती नरेश अपनी झूठी आन के अभिमान में आज इस तथ्य को भूल जा सकते हैं, किन्तु वज्रबाहु तो प्रयत्न करके भी उस दिन से आज तक राजनन्दिनी की छवि को नहीं भूल सकता था। उस पर एक मात्र वज्रबाहु का ही अधिकार है; वही है, जिस पर राजनन्दिनी अपने तन मन को न्यौछावर कर सकती है यही वज्रबाहु का विश्वास था। स्वयम्बर आये, तो वह देखेगा कि किस प्रकार राजनन्दिनी उसके उस परोपकार की भावना से ओत-प्रोत उपकार को भूल सकती है।

आज दूसरी बार बाहुबली ने राजनन्दिनी की रक्षा की थी। इतनी सुगमता से मामले को निबटा कर उन्हें अयोध्या वापस नहीं लौट जाने दिया जा सकता था। वज्रबाहु के कूच करते ही जब बाहुबली की सेनाएं भी कूच करने लगीं तो वैजन्ती नरेश का निमन्त्रण मिला। सेनाओं को विदा करके बाहुबली को कुछ दिनों वैजयन्ती का राज अतिथि बन कर रहना ही होगा यही उस निमन्त्रण का मूल उद्देश्य था, जिसे राज्योचित भाषा के आवरण में छिपा कर नियंत्रण में प्रकट किया गया था।

वृद्ध वैजयन्ती नरेश तो बाहुबली के रूप गुण को देखते ही मुग्ध हो गए थे। अवसर सम्मुख ही आया जानकर उनके मन में एक क्षीण सी भावना निरन्तर बलवती होती जा रही थी, यदि किसी प्रकार बाहुबली और राजनन्दिनी का संबंध हो जाए, तो साक्षात् कामदेव और रति की जोड़ी मिल जाए। किंतु कहां अयोध्या और कहां वैजयन्ती। बार बार यही विचार उनके मन में कौर के तिनके की तरह अटक जाता था।

असीम आदर सहित महाराज पद्मसेन अयोध्या के कुमार को अपने राजमहल में ले गये। वहां जिसने भी उन्हें देखा

वह ठक् से रह गया। इतना रूप ! क्या कभी यह रूप मनुष्य में भी स्वयं हो सकता है ? उसके साथ अपूर्व शारीरिक बल की मिलावट ने जैसे सोने में सुहागा भर दिया था। दास दासियां, सखी सहेलियां, सभी एक बार उन्हें देखकर दोबारा देखने का अवसर ढूंढ़ने लगीं।

मुखरा उछलती-कूदती राजनन्दिनी के पास पहुँची। "लो वह आ गए।"

"कौन आ गए ?" राजकुमारी ने अचकचा कर पूछा।

"अजी, वही, वन के देवता। अयोध्या के राजकुमार, हमारी भोली भाली राजकुमारी की भावनाओं के हार। क्या नाम भी बताऊँ।"

रोष प्रकट करती हुई राजकुमारी ने मुखरा का मुँह पकड़कर भींच् दिया और वह अपनी हँसी को जबरदस्ती नाक की राह निकालती रही। किंतु शीघ्र ही उसे इस मुसीबत से छुट्टी मिल गई। इतनी देर में तो राजनन्दिनी की चञ्चल भावनायें उसे कहीं की कहीं बहा ले गईं, और उनके हाथों की पकड़ कब छूट गई मालूम ही न हो पाया मुखरा छूटकर फिर द्वार पर पहुँच कर वापस मुड़ी और शीश नवाकर उसने अभिवादन के तौर पर कहा :

"राजकुमारी की बलिहारी जाऊँ, वह आ गए हैं।"

और जब तक चौंक कर राजनन्दिनी अपनी दृष्टि उस ओर करे मुखरा वहाँ से लोप हो गई थी और द्वार खाली था।

चाह और चाव ने उन 'वह' को देखने के लिए राज कुमारी शीघ्रता से उठी, अपने वस्त्रों का मनोनुकूल परिवर्तन किया और बाहर की ओर झपटी। किंतु द्वार पर ही वह किसी के कन्धों से टकरा गई। उच्छृंखल मुखरा को दण्ड देने के लिए ज्यों ही उसने ऊपर की ओर निहारा उसकी तसवीर बाहुबली की आंखों में खिच गई।

उस तस्वीर में लज्जा थी, भय था, क्रोध था, और था संकोच। पीछे पिता की वयोवृद्ध मूर्ति दृष्टिगोचर हो रही थी। नमस्कार करने के लिए राजनन्दिनी के हाथ उठे और साथ दृष्टि भी उठी और चन्द्र किरणों से आहत चकवीकी तरह उसके मन का कोना कोना विंध गया।

बाहुबली ने उस अलभ्य क्षण में न जाने क्या क्या दर्शन कर लिया। गौरवर्ण मुख पर कनपटी से गालों तक लाली छा गई थी। श्यामकुंतल केश वातायन से आते हुए वायु के झोंकों से थिरक-थिरक कर राजकुमारी के विस्तृत और उत्तप्त मस्तक पर थपकियां दे रहे थे। केले की गोभ सी सुडौल बाहें लज्जा से परिधानों की चंचलता का व्यस्तता से उपचार करती हुई नमस्कार की मुद्रा में जुड़ गई थीं। वह दैवी सौन्दर्य निश्चयतः इस पृथ्वी के ऊपर की वस्तु थी।

वह बाहुबली, जिन्हें देख कर स्त्रियां कामबाण से दग्ध हो जाती थीं आज स्वयं एक अल्हड़ नवयौवना के केशपाश में मानों एक क्षण के लिए उलझ से गए थे। उस क्षण में दोनों ने ही एक दूसरे की आँखों की मौन भाषा को पढ़ लिया और फिर तुरन्त अपनी-अपनी निगाह नीची कर ली।

इस अलभ्य मौन को महाराज ने तोड़ा, "कहीं राजकुमारों का अभिवादन ऐसे किया जाता है, बेटी ? जाओ, आरती का प्रबन्ध करो। आज हमारे महलों में इक्ष्वाकु वंश का सूर्य चमका है। मंगल गान हों, और हमारा राजमहल आज दीपावली मनाए।"

और यह सुनते ही राजनंदिनी के पैरों में मानों कल लग गई। पुत्री की विलीन होती हुई आकृति को देखते हुए वैजयंती नरेश मुसकराते हुए बाहुबली को साथ लेकर अपना राजमहल दिखाने के लिए आगे चले। उन्होंने कहा, "राजमाता के अकाल के गाल में चले जाने से सारी वैजयंती इस मातृहीन दीपक से जगमगा रही है।"

"बड़ा चंचल दीपक है !" बाहुबली ने मुसकराकर कहा, और इस बात को लेकर बहुत देर तक वैजयंती नरेश हंसते रहे।

मुखरा ने पहले ही आरती का प्रबंध करा लिया था। कुछ दूर आगे बढ़ते ही बाहुबली आरतियों से घिर गए। और इन आरतियों के प्रकाश में उन्होंने फिर एक चमकते हुए मुख को देखा। वह मुख वैजयंती की राजकुमारी राजनंदिनी का था। किंतु कुछ ही क्षणों में बाहुबली की मुखमुद्रा गंभीर हो गई। कुछ विचार आए और उनके मस्तिष्क में जमकर बैठ गए।

राजनन्दिनी वज्रबाहु की है। वह अमानत है। उसकी ओर मोह दृष्टि से देखने से कुछ हाथ नहीं लगेगा। केवल एक कलंक का टीका उनके माथे पर लग जाएगा। सोचते-सोचते उनकी दृष्टि उपेक्षा से भर उठी।

आरती समाप्त हो गई। विश्राम के लिये बाहुबली को साथ लेकर महाराज पद्मसेन उनके लिये नियत कक्ष में गए। कक्ष सुगन्धि से महक रहा था। झाड़फानूसों का प्रकाश एक कोमल शय्या पर बिखर रहा था। साफ और स्वच्छ वातावरण नीरवता को साक्षी करके विश्राम का आह्वान कर रहा था। चारों ओर की दीवारों पर लगे भित्ति चित्रों में अंकित वन पशु मानों इसी कारण जड़ हो गए थे। एक चित्र में कुलांच भरता हुआ हिरण और उसके पीछे भगती हुई हिरणी की मृदु आकृतियां अंकित थीं।

महाराज पद्मसेन ने कुछ समय के लिए बिदा लेने का उपक्रम करते हुए कहा, "कुमार विश्राम करे। परिचारिकाएं सेवा में हर समय उपस्थित रहेंगी।"

वैजयंती नरेश चले गए। बाहुबली निढाल से होकर शय्या के एक कोने पर बैठ गए। बार-बार उनका ध्यान उस हिरणों के चित्र की ओर जाता था। इन हिरणों से उनकी दशा कितनी मिलती-जुलती थी। वह भी तो राजनंदिनी से दूर-दूर भागे जा रहे थे। और···और क्या राजनंदिनी उस हिरणी की भाँति ही उनका पीछा कर रही थी। नहीं, नहीं, यह स्वयं उनके मन का धोखा है, उनके स्वयं के विचारों का प्रतिबिंब है। राजनंदिनी हृदय से वज्रबाहु के आधीन हो चुकी है।

उन्होंने सिर को एक साधारण सा झटका दिया और वास्तविक संसार में उतर आए। परिधान उतार कर आधारों पर टाँग दिए और शय्या पर अपने पैर फैला कर आँखें मूंद ली, लेकिन पलकों में तो एक ही तसवीर मानो बहुत गहरी होकर खुदी हुई थी, जो पलकें आँखों के ऊपर आते ही सामने आ गईं। यह निश्चयतः वैजयंती की राजकुमारी का पीछा करता हुआ चित्र था।

उन्होंने आँखें खोल दीं। उनके ठीक सामने की भित्ति पर लगा हुआ दर्पण उन्हें प्रतिबिंबित कर उठा, और उन्हें अनुभव हुआ कि उनके चेहरे पर आवश्यकता से अधिक थकावट के चिह्न थे। एक बार आंखें बन्द करके उन्होंने फिर दर्पण को देखने के लिए खोलीं। लेकिन इस बार वह चौंक गये। दर्पण में उनके चित्र के पीछे एक और चित्र था। वह स्पष्टतः राजनन्दिनी का चित्र था, जो द्वार की ओट से उनकी ओर देख रही थी। उन्होंने अचकचा कर द्वार की ओर देखा। किन्तु वहाँ कोई नहीं था। केवल एक लोप होते हुए आँचल का एक भाग दिखाई दिया था। हो सकता है यह उनका भ्रम हो, आज भ्रम ने उन्हें बहुत सताया था। वह अपनी मनोदशा पर स्वयं मुसकराये और आंखें मींच कर सो जाने का उपक्रम करने लगे।

थोड़ी देर में निद्रा की सुखद छाया ने उनकी दुविधा का अन्त कर दिया।

पास ही स्थित पक्ष में राजनन्दिनी मुखरा के साथ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वार्तालाप में व्यस्त की। राजकुमारी ने अपने मुंह को हाथों में छिपाते हुए कहा,

"मैं अपने को नहीं रोक सकी, क्या कहेंगे वह अपने मन में, उन्होंने दर्पण में मुझे देख लिया था।"

"कहेंगे क्या ? सोचेंगे दर्पण भी सजीव हो गए हैं, "मुखरा ने मुखरित किया।

"वह मुझे निर्लज्ज समझेंगे, "राजनंदिनी ने आशंका प्रकट की।

"पुरुष क्या कम निर्लज्ज्ज होते हैं ?" मुखरा ने प्रश्न किया। "कैसे वो घूर-घूर कर देख रहे थे आरती के समय।"

"किसे, तुझे ?' हंसी होंठों पर लाकर राजकुमारी ने कहा।

"मैंने उनका क्या छीन लिया है, जो मुझे देखेंगे। वह तो अपने चोर की ओर देख रहे थे। अयोध्या वालों से जा कर कहेंगे वैजयंती में मन चुरा लेने वाले चोर बसते है। फिर किसी दिन फ़ौजसपाटा लेकर अपने चोर को पकड़ने आएँगे और ले जाएँगे पकड़ कर, बस इतनी सी तो बात है", मुखरा ने अपनी दंतपंक्ति दिखाते हुए कहा।

"धत्, पगली", "राजकुमारी सहसा गंभीर होकर बोली, "उनके मुख के भाव तो पढ़े ही नहीं जाते न जाने ज़राजरा सी देर में क्या सोचने लगते हैं।"

"यही सोचने लगते होंगे कि जिसकी ओर देखा जा रहा है वह भी अपने को चोर समझता है या नहीं, प्रेम में अभियुक्त अपराध स्वीकार न करे, तो अभियोग नहीं चल सकता, राजकुमारी।"

"और यदि उन्हें ही अपने नुकसान का भान न हो, तो ?"

(क्रमशः)

नवागढ़ : एक महत्वपूर्ण मध्यकालीन जैनतीर्थ

— श्री नीरज जैन —

मध्य प्रदेश के टीकमगढ़ जिले में—टीकमगढ़ से पंद्रह मील दूर नावई नाम का एक छोटा सा ग्राम है। इस स्थान का नाम नवागढ़ भी है। ग्राम के दक्षिण-पूर्वी कोने पर एक बड़ा टीला पड़ा है जिस पर किसी समय विशाल जैन मंदिर रहा होगा। वर्तमान में तो वहाँ केवल एक भोंहरा (जमीन के नीचे मंदिर) है और ऊपर एक नवीन मंदिर तथा संग्रहालय है जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण और कतिपय दुर्लभ कलावशेष संगृहीत हैं।

यह टीला चबूतरानुमा है और उसके चारों ओर—विशेषकर उत्तर की ओर—लगे हुए विशाल चौरस शिलाखण्ड किसी मन्दिर के खंडहर होने का प्रमाण देते हैं।

चबूतरे के बीचों बीच केवल एक मनुष्य के उतरने योग्य (लगभग डेढ़ फुट) द्वार से नीचे उतरने की सीढ़ियाँ हैं, जहां आठ फुट लम्बा चौड़ा और ६ फुट ऊंचा भोंहरा है। इसकी छत का पटाव दो पत्थरों से किया गया है जिनमें एक विशाल कमल की आकृति बनाई गई है। द्वार के ऊपरी तोरण में तीर्थंकर प्रतिमा तथा दोनों पार्श्व में कलश वाहिनी यक्षी प्रतिमाएं हैं परन्तु ये तीनों पत्थर उल्टे लगे हैं।

भोंहरे में उत्तर मुख,कायोत्सर्ग आसन,मत्स्य चिह्नांकित भगवान अरहनाथ की मनोज्ञ, नासाग्रदृष्टि साढ़े पांच फुट ऊँची प्रतिमा अवस्थित है।

नीले पाषाण की सुन्दर ओपदार पालिश की हुई यह प्रतिमा सं० १२०२ विक्रमाब्द में स्थापित की गई थी। शांतिनाथ और कुंथनाथ की दो अन्य प्रतिमाएं, जो यहां रही होंगी, उनमें से शांतिनाथ की प्रतिमा का सिंहासन वाला हिस्सा प्राप्त हुआ है तथा संग्रहालय में सुरक्षित है। इस खण्ड पर संवत् सहित शिलालेख भी हैं।

प्रतिमा के हाथ की हथेलियाँ कमलाकार बनाई गई हैं, और अंगुलियों में वही वैचित्र्य है जो सं० १२०१ की मदनपुर की मूर्तियों में पाया गया है। शरीर सौष्ठव, अनुपात एवं ग्रीवा तथा मस्तक की रचना सुन्दर बन पड़ी है। गुच्छकों के माध्यम से चित्रित केशावलि में दोनों ओर पड़ी हुई गुलकें और भौहों के कमान इस मूर्ति की अपनी विशेषता है। वक्ष भाग पर श्रीवत्स भी दर्शनीय है।

सिंहासन के पार्श्व में शासन देवियां तथा इन्द्र अंकित किए गए हैं। ऊपर भामण्डल अति सादा तथा ऊपर से खंडित है। यह प्रतिमा किसी आपत्तिकाल में केवल सुरक्षा की दृष्टि से इस भोंहरे में रख दी गई ज्ञात होती है।

संग्रहालय

वैसे तो यह पूरा चबूतरा ही एक विशाल भू-गर्भित संग्रहालय कहा जाना चाहिए; क्योंकि यहां महत्त्व-पूर्ण सामग्री दबी हुई पड़ी होने के अनेक प्रमाण और महती संभावनाएं दिखाई देती हैं, परन्तु उनका उद्घाटन—श्रम और धन द्वारा ही साध्य होगा। यहां आस पास से उठाकर जो शिल्प खण्ड एकत्र किए गए हैं उनमें कई विशेष महत्त्व पूर्ण हैं जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

तोरण

कला-शिल्प की अपेक्षा से संभवतः इस तोरण का स्थान न केवल यहां के संग्रहालय में प्रथम होगा वरन् दो-चार अच्छे संग्रहालयों में भी सुन्दरता, वीतरागता और लालित्य का एक साथ इतना सुन्दर प्रतिनिधित्व करने वाले पाषाण दुर्लभ ही होंगे, यह किसी विशाल वेदी पर—मूल नायक की मूर्ति के ऊपर लगे हुए तोरण का भाग है जिसपर भगवान को कमल अर्पित करते हुए दो मस्त और सुसज्जित गजराज अंकित किए गए हैं, गजारूढ़ देव और देवांगनाएँ अपने दोनों हाथों में कलश और पुष्पमाल लेकर पूजार्थ जाते हुए चित्रित किए गए हैं। हाथियों के पीछे अति सुन्दर अलंकारों के बीच दोनों ओर पांच-पांच तीर्थंकरों का अंकन है। तोरण का अन्त ऊपर की ओर शिखर की तरह शिला खण्डों का अंकन करके चक्र, आमलक और कलश

के द्वारा बड़े लुभावने ढंग से किया गया है। नागर शैली के मंदिर-शिखर के सभी अवयव उसमें दर्शाए गए हैं।

युगादि देव

यह लगभग सात फुट ऊँची कायोत्सर्ग प्रतिमा मेरे अनुमान से इस स्थान की प्राचीनतम मूर्ति है। इस मूर्ति का शरीर विन्यास, इन्द्रादिक के खड़े होने का ढंग, उनका पहिनावा और तीर्थंकर के कांधे पर अंकित की गई जटायें इसे पूर्व मध्यकाल की कृति घोषित करती हैं।

लगभग इसीकाल की एक और सुन्दर मूर्ति तीर्थंकर पारसनाथ की ३½ फुट ऊंची पद्मासन प्रतिमा है। पीठिका के ऊपर बांई ओर नाग की पूंछ का अंकन करके नाग की कुण्डली प्रारम्भ की गई है जिससे आसन की रचना हुई है, और इन्हीं कुण्डलियों द्वारा सुन्दर पृष्ठ भाग बनाता हुवा यह नाग अपनी दर्शनीय फणावलि से मूर्ति को आवेष्ठित कर रहा था जो खंडित है।

यद्यपि शिलालेखांकित प्रतिमा यहां सं० १२०२ विक्रमाब्द से पूर्व की नही है परन्तु—उपरोक्त तोरण, वेदिका युगादि देव, पारसनाथ तथा एकाधिक अन्य कलावशेषों से सिद्ध होता है कि यहां नवमी शताब्दी से बारहवीं शती तक की निर्माण की हुई और भी सामग्री प्राप्त होनी चाहिए।

मानस्तम्भ

नवागढ़ के पास ही सोजना ग्राम की वापिका में इस क्षेत्र के चार मानस्तम्भ लगे हुए हैं जिनमें तीर्थंकर प्रतिमायें हैं तथा "सं० १२०२ गोला पूर्वान्वये" शब्द स्पष्ट अंकित हैं।

विनास का ताण्डव

इसी क्षेत्र में ७ फुट ऊंची पारसनाथ की एक फणावलि सहित पद्मासन प्रतिमा है जो समीप ही ऊमरी ग्राम से लाई गई थी। उक्त ग्राम में जाने पर मुझे अन्य बहुत सी उल्लेखनीय सामग्री प्राप्त हुई है जिसकी चर्चा यथास्थान करूंगा। यहां एक ही घटना का उल्लेख करके उसका चित्र दे रहा हूँ जिससे इस बात का अन्दाजा लगा लिया जा सके कि आज भी पुरातत्त्व के महत्त्व की सामग्री का विघटन और विनाश किस निर्दयता, उपेक्षा और बेदर्दी से हो रहा है।

ऊमरी ग्राम की गलियों का सर्वेक्षण करते समय एक चर्मकार के आंगन में एक चौरस पत्थर गड़ा हुआ दिखाई दिया जिसमें नीचे की ओर एक फूल की पंखुरी, मेरे साथी श्री पन्नालाल की दृष्टि में आई। चर्मकार इस पत्थर पर अपनी रांपी सुतारी पर धार लगाने का काम किया करता था। इसे उखाड़ कर देखने पर तो हम लोग धन्य हो गए।

यह पाषाण खण्ड और कुछ नहीं, एक विशाल तीर्थंकर प्रतिमा के शीर्ष भाग पर का छत्र था जिसमें कुम्भ अभिषेक करते हुए उद्घोषक अंकित है। उद्घोषक के ऊपर सुन्दर तोरण के बीच एक अन्य तीर्थंकर प्रतिमा दिखाई दे रही है। यह आकर्षक शिल्प खण्ड चर्मकार बन्धु के आंगन से उठाकर ऊमरी के जैन मन्दिर में मैंने रख दिया था, पर यह अकेला तो नहीं था न? इधर के दो ग्रामों का शायद ही कोई ऐसा अभागा घर हो। चबूतरे पर, दीवार में, स्नान गृह में या नाली में कहां क्या मिल जाय इसका कोई ठिकाना यहां नहीं है।

राग सोरठ

अन्तर उज्जवल करना रे भाई ॥टेक॥

कपट कृपान तजै नहिं तबलौं, करनी काज न सरनारे ॥१॥
जप तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे।
विषय कषाय कीच नहिं धोयो, यों ही पचि पचि मरना रे ॥२॥
बाहिर भेष क्रिया उर शुचिसौं, कीयें पार उतरना रे।
नाहीं है सब लोक रंजना, ऐसे वेदन वरना रे ॥३॥
कामादिक मन सौं मन मैला, भजन किए क्या तिरना रे।
भूधर नील वसन पर कैसें केसर रंग उछरना रे ॥४॥

नवागढ़ की जैन मूर्तियाँ
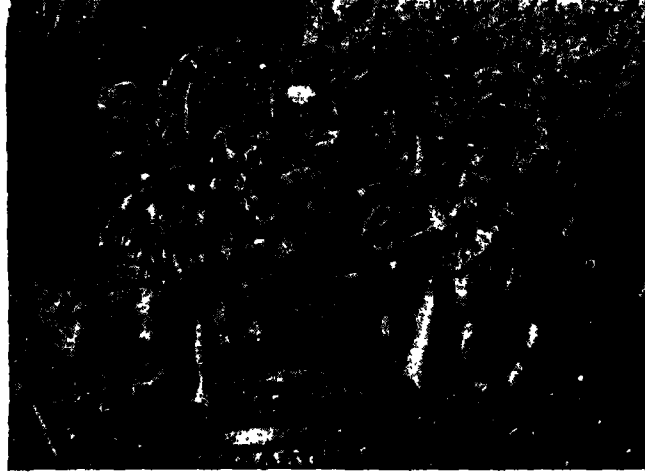
चर्मकार के आंगन से प्राप्त तीर्थंकर प्रतिमा का छत्र जिस पर सकलश गज और एक अन्य जिन बिम्ब स्पष्ट है। ऊमरी (टीकमगढ़)

युगादिदेव आदिनाथ, संग्रहालय नवागढ़

भोंयरे में विराजमान श्री अरहनाथ (नवागढ़ क्षेत्र)

झालरापाटन का प्राचीन वैभव

डा० कैलाशचन्द्र जैन, एम. ए. पी.एच. डी.

राजस्थान में झालरापाटन एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है। यह मन्दिरों का नगर कहा जाता है। प्राचीन समय में यहाँ पर मन्दिरों के झालर बजने से यह नगर झालरापाटन के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ[1]। इस नगर की उत्पत्ति प्रसिद्ध झाला जालिमसिंह से नहीं हुई जैसा कि गलती से समझा जाता है। इसके पहले यह नगर चन्द्रावती के नाम से प्रसिद्ध था। इस नगर की स्थापना के बारे में अनेक मत प्रचलित हैं[2]। यहां पर बहुत से पंच मार्क (आहत) तथा अन्य प्राचीन सिक्के मिले हैं[3]। जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसा से पूर्व भी इस स्थान पर संभवतया लोग रहते होंगे।

इस नगर का बहुत प्राचीन इतिहास तो अन्धकार में है किन्तु सातवीं सदी से बहुत संभव है मौर्य राजा यहाँ राज्य करते थे। ६८९ ईस्वी में इस स्थान का राजा दुर्गगण था, जो राजाओं का महाराजा कहलाता था, उसके राज्य में जनता सुखी थी, तथा विपदाओं से मुक्त थी[4]। यहाँ के सातवीं-आठवीं सदी के एक शिलालेख में शंकरगण के नाम का उल्लेख है[5]। शंकरगण उसी वंश का प्रतीत होता है जिस के कि कणसवा के ७३९ ई० के शिलालेख के दुर्गण और शिवगण थे[6]। ग्यारहवीं सदी के लेख में राजा श्री कुसुमदेव और उसके पिता श्रीराजा श्री बाल्हणदेव के नामों का उल्लेख है[7]।" एक स्तम्भ पर बारहवीं सदी के लेख में दहिया राउल भीवसीह और उसके पुत्र राउल ऊदा का उल्लेख है[8]। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्यारहवीं तथा बारहवीं सदी में इस स्थान पर दहिया राजा राज्य करते थे।

चन्द्रावती अपनी कला कृतियों के लिए विशेष प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि एक समय यहां पर १०८ मन्दिर थे। यहाँ के बिखरे हुए खण्डहरों से अब भी प्राचीन समय में मन्दिरों की अधिक संख्या जान पड़ती है। इन खंडहरों में अब भी चार-पाँच मन्दिर विद्यमान हैं, जो प्राचीन कलात्मक वैभव की याद दिलाते हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध मंदिर शीतलेश्वर महादेव का है। इस मन्दिर को बुरी तरह नष्ट किया गया; किन्तु फिर से इसकी मरम्मत हुई। इतना होने पर अब भी इसमें प्राचीन मंदिर के मौलिक हिस्से जैसे तोरण के स्तम्भ, दीवाल, तथा कुछ नीचे का अंग सुरक्षित हैं। जो दरवाजों पर पुरुषों और स्त्रियों के रूप में द्वारपालों की आकृतियाँ हैं, उनसे जीवन झलकता है। इस मन्दिर की स्थापत्य-कला कुछ रूप में एलोरा की गुफाओं से मिलती-जुलती है। कलात्मक नमूने के आधार पर यह कोटा के पास मुकंदरा द्वार की चौरी तथा एरण के स्तम्भों जैसा होने से सातवीं सदी का प्रतीत होता है जिसकी पुष्टि भी शिलालेखों से होती है।

फर्गुसन[9] शीतलेश्वर महादेव के मंदिर को सबसे प्राचीन और कलापूर्ण मंदिर समझता है। उसके अनुसार भारत के प्रसिद्ध कलात्मक उदाहरणों में यह एक उत्तम

---

१. एनल्स एंड एंटीक्विटीज़ आफ़ राजस्थान, द्वितीय जिल्द पृष्ठ ७८६

२. वही, पृ० ७८९, किसी हूण राजा ने इस नगर को बसाया बताया जाता है। ऐसा भी लोगों को विश्वास है कि किसी लकड़ी के काटने वाले ने इसको स्थापित किया। कुछ लोग ऐसा भी सोचते हैं कि राजा चन्द्रसेन ने निर्माण करवाया। यह नगर चन्द्रभागा नदी के दोनों किनारों पर बसा हुआ है।

३. आर्किलाजिकल सर्वे रिपोर्ट द्वितीय जिल्द।

४. इंडियन एन्टीक्वेरी जिल्द ५ पृ० १८०।

५. एनुअल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम, अजमेर सन् १९१२-१३, पृ० २

६. इंडियन एन्टीक्वेरी जिल्द १९ पृ० ५५।

७. एनुअल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम अजमेर सन् १९१२, १३ पृ० २

८. वही

९. हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर पृ० ४४९

नमूना है। इसकी छत बहुत ही सुन्दर सजी हुई है। यह बौद्ध विहारों के नमूनों पर बना हुआ है, किन्तु कुछ बातों में उनसे भिन्न भी है। बौद्ध विहारों की दीवालों पर चित्र चित्रित हैं परन्तु यहां पर प्रत्येक वस्तु पत्थरों पर अङ्कित है। इस मंदिर में एक पुरुष की मूर्ति है जिस के हाथों में तलवार या त्रिशूल है। कनिंघम[1] इसको विष्णु की गदाधर के रूप में मूर्ति मानता है। उसके अनुसार यह मंदिर प्रारम्भ में वैष्णव मंदिर था। वास्तव में पुरुष के हाथ गदा न होकर त्रिशूल है। यह मंदिर प्रारम्भ में वैष्णव न होकर शैव मंदिर जान पड़ता है। इस मंदिर के भीतर लिंग भी है तथा बाहर के हिस्सों पर महिषासुर मर्दिनी तथा अर्धनारी की मूर्तियां भी मिलती हैं। शिलालेखों से यह मंदिर शैव मंदिर जान पड़ता है।

इसके अतिरिक्त यहाँ पर अन्य मन्दिरों के भी प्राचीन अवशेष हैं। एक मंदिर कालिका देवी का है जिसमें सभामंडप तथा अन्य मंडप भी पाये जाते हैं। मंडप के चित्रों से इस मंदिर की प्राचीनता सिद्ध होती है। यह मंदिर पहले विष्णु का था; क्योंकि इसकी प्रतिमा इसमें पाई जाती है ऐसा मालूम होता है कि यह मंदिर भी शीतलेश्वर महादेव के समय का है क्योंकि दोनों मंदिरों की बनावट में साम्यता है। अन्य छोटा मंदिर वराह अवतार का है जिसमें अब भी वराह की मूर्ति पाई जाती है और उस पर नौवीं व दसवीं सदी का लेख है। सात सहेली के प्राचीन विष्णु के मंदिर का भी बाद में पुनरोद्धार हुआ, किन्तु उसके शिखर तथा मंडप प्राचीन दीख पड़ते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट प्रकट होता है कि चन्द्रावती में विष्णु तथा शिव की एक साथ पूजा होती थी। शांतिनाथ का जैन मंदिर भी प्राचीन मंदिर पर बना हुआ है। इस मंदिर की चंवरी तथा शिखर पुराने हैं किन्तु मंडप नया है।

इन पुरातत्व स्मारकों से स्पष्ट प्रकट होता है कि चन्द्रावती शैवधर्म, वैष्णवधर्म तथा जैनधर्म का एक बड़ा केन्द्र था। राजा और अनेक अधिकारी तथा साथ में व्यापारी बाहर से इस स्थान के देवी देवताओं की पूजा के लिए आते थे। ६८९ ई० में देव का भाई वोप्पक ने

१. आर्किलाजिकल सर्वे रिपोर्ट द्वितीय जिल्द

मौर्य राजा दुर्गगण के समय इस स्थान पर एक मंदिर बनवाया। वोप्पक एक बड़ा राज्य अधिकारी व सेनापति था, जिसने अपने स्वामी दुर्गगण तथा उसके सामंतों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में कूटनीति का परिचय दिया था। शीतलेश्वर महादेव के स्तम्भ पर का आठवीं शताब्दी का शिलालेख शंकरगण का इस मंदिर पर दर्शन के लिए आने का उल्लेख करता है। बहुत सम्भव है कि शंकरगण दुर्गगण का उत्तराधिकारी होवे और उसने इस मंदिर को कुछ दान भी दिया होगा। मोसुक का पुत्र मंचुक भी नौवीं सदी में इस स्थान की पूजा के लिए आया[1]।

ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में यात्री लोग चंद्रावती में तीर्थयात्रा के लिए बराबर आते रहते थे। १०६६ ई० में बनिया जाति के यात्री विक्रम श्री हर्षदेव और मधुसूदन ने शैव मंदिर को दान दिया[2]। एक स्तम्भ पर ग्यारहवीं सदी के लेख में राजा श्री कुसुमदेव और उसके पिता श्री बाल्हणदेव के नामों का उल्लेख है। बहुत संभव है कि इन्होंने इस मंदिर को कुछ दान दिया हो। बारहवीं शताब्दी में दहिया राजा रावल, भीवसीह और ऊदा का भी इस स्थान से संबंध रहा और उन्होंने इस मंदिर को कुछ भेंट दी होगी। कालिका माता के मंदिर के स्तम्भ पर भी ऐसे यात्रियों के नाम खुदे हैं जो यात्रा के लिए यहाँ आये थे[3]। इन शिलालेखों से यह पता चलता है कि सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक यह तीर्थ स्थान यात्रियों द्वारा पूजा गया था।

चन्द्रावती प्राचीन समय में जैनियों का भी एक बड़ा धार्मिक स्थान रहा है। यहाँ पर एक प्रसिद्ध शांतिनाथ का प्राचीन मंदिर था जिसको १०४६ ई० में शाह पापा हूमड़ ने बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा भावदेवसूरि ने की थी। सात सलाकी पहाड़ी के स्तम्भ का ११०९ ई० का

१. प्रोग्रेस रिपोर्ट आर्कियालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया, १९०५-०६ झालरा पाटन के शिलालेख सं.७
२. आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, दूसरी जिल्द।
३. प्रोग्रेस रिपोर्ट आर्कियालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया १९०५-०६, झालरापाटन का शिलालेख सं० ६.

शिलालेख श्रेष्ठी पापा की मृत्यु का उल्लेख करता है[1]। पापा वही व्यक्ति हो सकता है जिसने शांतिनाथ का जैन मंदिर बनाया था। ११११३ ई० का शिलालेख सेठी साढ़िल की मृत्यु का उल्लेख करता है[2]। साढ़िल पापा का भ्राता हो सकता है। इस मंदिर के दर्शन के लिए अनेक श्रावक तथा जैन आचार्य आया करते थे। १०४७ ई० का एक शिलालेख एक यात्री के नाम का उल्लेख करता है। इस स्थान पर जैन आचार्य भी रहा करते थे। यहाँ पर अनेक जैन आचार्यों की भी निषद्या या निषेधिकायें हैं। एक वि० सं० १०६६ की है जिस दिन आचार्य श्री भानदेव के शिष्य श्रीमंतदेव स्वर्गलोक पधारे थे। आचार्य का मुख अध्ययन स्थिति में है। पुस्तक खुली अवस्था में ठूणी पर रखी हुई है जो कि पढ़ने के लिए डेस्क का काम देती थी। पास के चबूतरे पर देवेन्द्र आचार्य का नाम खुदा हुआ है और उनका समय संवत् ११८० दिया हुआ है। अन्य पर कुमुदचन्द्र आम्नाय के भट्टारक कुमारसेन का नाम दिया हुआ है जिनका स्वर्गवास सं० १२८९ में यहाँ हुआ था[3]। सात सलाकी पहाड़ी के स्तम्भ का १००९ ई० का शिलालेख नेमिदेवाचार्य और बलदेवाचार्य का उल्लेख करता है। इसी स्तम्भ पर १२४२ ई० के शिलालेख में मूलसंघ और देवसंघ का उल्लेख है[4]।

शान्तिनाथ का यह मंदिर किसी समय बहुत ही सुंदर रहा होगा। वर्तमान मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ प्रतीत होता है। इस मंदिर में एक बड़ा शास्त्र भंडार भी है जिसमें एक हजार के लगभग हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी हैं।

यहाँ शान्तिनाथ मन्दिर की कुछ प्रतिमाओं के मूर्ति-लेख दिये जाते हैं। जो मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण के भट्टारक सकलकीर्ति और उनके शिष्यों द्वारा प्रतिष्ठित हैं।

नगर में और भी अनेक मंदिर विद्यमान हैं। और ऐलक पन्नालाल जी द्वारा स्थापित सरस्वती भवन भी है, जिसमें ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। सेठ लालचन्द सेठी जी, उज्जैन, जो विनोदीराम बालचन्द फर्म के मालिक हैं, उन्हीं की संरक्षकता में उक्त भवन चल रहा है।

१. संवत् १४९० वर्षे माघवदि १२ गुरौ भ० श्री सकलकीर्ति, (व) हूमड दोशी मेघा श्रेष्ठी अर्चति।

२. सं० १४९२ वर्षे वैशाखवदी १ सोमे श्री मूलसंघे भ० श्री पद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री सकलकीर्ति हूमड़ ज्ञातीय...... ..।

३. सं १५०४ वर्षे फागुन सुदी ११ ..श्री मूलसंघे भट्टारक श्री सकलकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री भुवनकीर्ति देवा हूमड़ ज्ञातीय श्रेष्ठि खेता भार्या लाखू तयोः पुत्राः...।

४. सं० १५३५ पौषवदी १३ बुधे श्री मूलसंघे भ० श्री सकलकीर्ति भ० श्री भुवनकीर्ति भ० श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हू० श्रेष्ठि पदमा भार्या भाऊ सुत आसा भा० कडू सुत कान्हा भा० कुंदेरी भ्रातृ धना भा० वइहनूं एते चतुर्विंशतिकां नित्यं प्रणमंति।

५. पार्श्वनाथ प्रतिमा—सं० १६२० वैशाखसुदी ९ बुधे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री पद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे सकलकीर्तिदेवास्तत्पट्टे श्रीभुवनकीर्तिदेवास्तत्पट्टे श्री ज्ञानभूषणदेवास्तत्पट्टे श्रीविजयकीर्तिदेवास्तत्पट्टे सुमतिकीर्तिगुरुपदेशात् हूँबडज्ञातीय वेदिरगोत्रे, संघवी देवा भा० देवाभदे तत्सुत संघवी परवत भार्या परमलदे तत्भ्रातृ सं० हीरा भा० कोडमदे तत्भ्रातृ सं० हरषा भा० करमादे सुत लहुआ भा० मिन्ना, भ्रातृ लाडण भा० ललितादे सुतं थापर सं० जेमल भा० जेताही भ्रा० डूंगर भा० धनादे भ्रा० जगमा सं० हीआ भा० बलादे एतैः सह संघवी जीवादो सागवाडा वासूव नित्यं प्रणमंति। (यह मूर्ति सागवाडा में प्रतिष्ठित हुई थी और झालरापाटन के शान्तिनाथ मंदिर में विराजमान है।)

इस मंदिर की मूलनामक प्रतिमा का लेख अभी तक प्रकाश में नहीं आया है, वह एक प्राचीन मूर्ति है। और

१. अनेकांत १२, पृ० १२५।

२. एनुअल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम अजमेर, १९१२-१३, पृ० ७।

३. वही।

४. एनल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज आफ राजस्थान, जिल्द २, पृ० ७९२।

५. एनुअल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम, अजमेर, १९१२-१३, पृ० ७।

जैन परिवारों के वैष्णव बनने सम्बन्धी वृत्तान्त

श्री अगरचन्द नाहटा

भारत में अनेक धर्म-सम्प्रदाय हैं। और उनमें परस्पर प्रेम की अपेक्षा विरोध की भावना ही अधिक रही है, इसलिए एक-दूसरे दोनों सम्प्रदाय के गुणों एवं विशेषताओं का वर्णन भिन्न सम्प्रदाय के ग्रन्थों में नहीं मिलता। उन की बुराइयाँ बतलाते हुये खण्डनात्मक प्रणाली को ही अधिक अपनाया गया, क्योंकि अन्य धर्म वालों को अपने धर्म की ओर आकृष्ट करने का यही सरल और ठीक उपाय समझा गया। आश्चर्य जब होता है कि जिन संत-सम्प्रदायों ने हिन्दू और मुसलमानों को एक बतलाया और उनके पारस्परिक भेद-भाव और विरोध की कड़े शब्दों में भर्त्सना की; उन्हीं संत-सम्प्रदायों में जैनधर्म का मखौल उड़ाया गया है। वास्तव में एक-दूसरे की मान्यताओं को तटस्थ और सही दृष्टि से नहीं देखने का ही यह परिणाम है। और जैसी दृष्टि होती है वैसी ही सृष्टि दिखाई देने लग जाती है। किसी भी महान् व्यक्ति या धर्म को हम जब दोष निकालने की दृष्टि से देखते हैं तो हमारा उनके गुण या विशेषताओं की ओर ध्यान न जाकर दोष ही उभर आते हैं, यावत् गुणों को भी दोष समझने व कहने लगते हैं। महाभारत का एक दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है कि युधिष्ठिर को कहा गया कि इस नगर में पापी या अवगुणी व्यक्ति कितने और कौन-कौन हैं? इसका पता लगा लाओ। और इसी तरह दुर्योधन से कहा गया कि नगर के धर्मी और गुणी व्यक्तियों की जानकारी प्राप्त कर आओ। तो दुर्योधन को सभी व्यक्तियों में दोष नजर आये और युधिष्ठिर को गुण। इस तरह दृष्टि भेद मनुष्य को वास्तविकता तक पहुँचने नहीं देता। राग और द्वेष जहाँ तक मनुष्य में हैं वहां तक उसका ज्ञान निर्मल और पूर्ण नहीं हो पाता: यह एक माना हुआ तथ्य है और इसीलिए तीर्थंकर जब तक पूर्ण वीतरागी नहीं हो जाते थे तब तक धर्मोपदेश नहीं देते।

दूसरे सम्प्रदाय वालों को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करने का यही प्रधान उपाय माना गया कि उस सम्प्रदाय की किसी-न-किसी बात को गलत बतलाया जाय और अपने सम्प्रदाय की अच्छाइयों का प्रचार किया जाय। इससे भिन्न सम्प्रदाय वाला व्यक्ति अपनी ओर आकर्षित होगा और परिवार के एक व्यक्ति को यदि अपनी ओर ठीक से आकर्षित किया जा सका तो थोड़ा-सा मौका मिलते ही सारे परिवार को अपने सम्प्रदाय का अनुयायी बनाया जा सकेगा। साधारण व्यक्ति सम्प्रदाय प्रचारकों की बातों के चक्कर में सहज ही भ्रमित हो जाता है इसी लिए प्रत्येक सम्प्रदाय वालों को अपने सम्प्रदाय के अनुयायियों को बनाये रखने के लिये बाड़ाबन्दी करनी पड़ी कि दूसरे सम्प्रदाय वाले के पास मत जाना; उनकी बातें नहीं सुनना; सम्प्रदाय के गुरुओं और प्रचारकों से दूर ही रहना; क्योंकि उनकी संगति से तुम्हारे विचार सहज ही में बदल सकते हैं, जिससे तुम अपने सम्प्रदाय को छोड़ न

बहुत सुंदर है, कहा जाता है कि वह सं० ११०३ में प्रतिष्ठित हुई थी।

झालरापाटन के चन्द्रप्रभ मंदिर में दशवें तीर्थंकर भगवान शीतलनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित है, उसका मूर्तिलेख निम्न प्रकार है—

सं० १५५२ वर्षे जेठवदी ८ शनिवासरे श्री काष्ठासंघे बागड़गच्छे (नंदीतटगच्छे) विद्यागणे भ० विमलसेनस्तत्पट्टे भ० श्री विजयसेनदेवास्तत्पट्टे आचार्य श्री विशालकीर्ति सहित हुंबड़ ज्ञाति परमेश्वर गोत्रे सा० गोगा भा० वावनदे, पुत्र पंच, सा० कान्ह, सा० करमसी, भा० गारी कनकदे, साह कालू भा० जीरी, सा० घेघर भा० आदे, सा० गोगा, भा० गोगादे, तेनेदं शीतलनाथस्य बिम्बं निर्माप्य प्रतिष्ठा कारापिता पुत्री २, बाई-माही, बाई पुतली।

इस तरह झालरापाटन भारतीय संस्कृति के साथ जैन संस्कृति का भी केन्द्र रहा है, आज भी वहां अनेक प्रतिष्ठित जैन व्यक्ति रहते हैं।

बैठो। गीता में भी कहा है—सधर्मे

"स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावहः।"

जिस प्रकार जैनाचार्यों ने अपने ज्ञान और चरित्र उपदेश एवं प्रभाव के बल से समय-समय पर लाखों अजैनों को जैन बनाया था इसी तरह अन्य धर्म सम्प्रदाय वालों ने भी कतिपय जैन-धर्मानुयायियों को अपने धर्म का अनुयायी बना लिया। पर ऐसे धर्म परिवर्तन करने वाले व्यक्तियों की जानकारी उन सम्प्रदायों के ग्रन्थों को देखे बिना नहीं मिल सकती। और जैन विद्वानों का अध्ययन बहुत ही सीमित होने से जैनेतर सम्प्रदायों के ग्रन्थों का अवलोकन कम ही हो पाता। 'अनेकान्त' के गत अंक में भगवत मुदित कृत रसिक अनन्य माल के नरवाहन जी की परिचयी में वर्णित सरावगी (जैनी) का विवरण प्रकाशित किया गया है। प्रस्तुत लेख में वल्लभ सम्प्रदाय के" दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" नामक ग्रन्थ में वर्णित २ वार्ता प्रसंगों को प्रकाशित किया जा रहा है। इनमें से पहले प्रसंग में यह बतलाया गया है कि एक वैष्णव कन्या का विवाह जैन धर्मी व्यक्ति से हो गया। उस घर में वैष्णव सम्प्रदायोक्त सुचिता न देख कर कन्या को दुःख हुआ। इस बाहरी सुचिता को महत्त्व देते हुए वार्ता में जैनधर्म को अनाचार व भ्रष्टाचार तक बतला दिया गया है। अन्त में वल्लभ सम्प्रदाय के श्री गुसांई जी उस गाँव में आते हैं और उनके दर्शन कर वह वैष्णव सम्प्रदायानुयायिनी स्त्री अपना दुःख गुसांई जी से निवेदन करती है और सासु से गुसांई जी को भेंट करने के लिए एक नारियल मांगती है। सासु ने बहू के साथ गुसाँई जी के दर्शन की इच्छा प्रकट की। और वहाँ जाने पर सासु भी गुसांई जी की भक्त हो गई। अन्ततः सारा परिवार वैष्णव हो गया। दूसरी वार्ता में एक सरावगी की बेटी और उसके पति के वैष्णव होने का वृतान्त है। व्रज भाषा की वे दोनों वार्ताएँ नीचे दी जा रही है। दो सौ वैष्णवन् की वार्ता तीन खण्डों में शुद्धाद्वैत एकेडमी, कांकरोली से प्रकाशित है।

(१) वार्ता

सो वह बनिया परम भगवदीय हतो। सो वाके एक बेटी कुंवरी हती। सो कन्या के निमित वह वर ढूंढन को गयो। परन्तु कोऊ वैष्णव मिल्यो नाहीं। तब एक जैन-धर्मी ज्ञाति को मिल्यो। तब वासों अपनी बेटी को विवाह करि दीनो। सो वह वैष्णव की बेटी अपने घर को गई। तब वह लरिकिनी वाके घर मे जैनधर्म अनाचार भ्रष्ट देखि कै मन में बोहोत दुःख करन लागी। घर में तो सब भ्रष्टाचार। और खाय बिना तो रह्यो न जाय। तातें उन लरिकिनी ने अपनी सास तें कह्यो, जो—तुम्हें मोकों परोसनो होइ तो एक बेर ही परोस देहु। मैं तो कछू फेरि माँगोंगी नाहीं। तब वाकी सास एक ही बेर वाकी पातरि में परोसे। तितनो ही वह लरिकिनी चरनामृत मिलाय के खाँहि। परन्तु दूसरी बेर न कछू खाय न कछू लेय। या भांति सों निर्वाह करे। सो ऐसे करत बहोत दिन भए। सो वह लरिकिनी मन में बहोत ही दुःख करे। और कहे, जो-या आपदा तें श्री ठाकुर जी कब छुटावेंगे। या भांति सों वोहोत ही खेद करे। सो श्री ठाकुर जी तो परम दयाल हैं, भक्तवत्सल हैं। सो वह लरिकिनी को दुःख देखि कै श्री नाथ जी ने श्री गुसांई जी सो कह्यो, जो—वह बनिया वैष्णव की बेटी अह गाम में है। सो वाको दुःख मोतें सह्यो जात नाहीं। तब श्री गुसांई जी उह लरिकिनी को दुःख जानि कै थोरे से दिन में अहगाम में पधारे। सो वा गाम के बाहिर तलाब हतो। सो वा तलाब के ऊपर श्रीं गुसांई जी ने डेरा किए। तब ता दिना वह बनिया वैष्णव की बेटी वा तलाब पर पानी भरन को गई हती। तब उहां वा लरिकिनी ने गुसांई जी के व्रजवासी देखे। तब उह लरिकिनी वा व्राजवासी के ढिंग ठाड़ी विचार किये। जो-ये व्रजवासी तो मेरे बाप के घर नित्य आवत हते। तब वह लरिकिनी वा व्रजवासी के ढिंग आय कै पूछयो, जो तुम कौन हो? और कहाँ तै आए हो? तब उस व्रजवासीन ने कही, जो श्री गुसांई जी श्री गोकुल तें पधारे हैं। सो हम सब व्रजवासी उनके साथ हैं। सो श्री गुसांई जी आज इहां उतरे हैं। सो आज तो इहां रहेंगे। और सवेरे श्री द्वारिका जी कों पधारेंगे। तब वा लरिकिनी ने वा व्रजवासी सों कही, जो—मैं तो फलाने वैष्णव की बेटी हों। और मेरे इहाँ तो मेरा पिता श्री गुसांई जी को सेवक है। सो मोकों श्री गुसांई जी के दरसन करावोगे? मैं तो वैष्णव की बेटी हों। और इहां सुसरारि में तो जैन धर्मी हैं। तातें मोकों जो इहाँ परम

दुःख है। सो श्री गुसांई जी के दरसन करेतें मेरो दुःख निवृत होइगो। तब वह लरिकिनी ने उन व्रजवासिन सों कहि कैं वह जल कौ घड़ा तो वा तलाब पर धरि दीनो और आप वा व्रजवासी के साथ जा कै श्री गुसांई जी के दूरि तें दरसन किये। दंडवत कीनी। तब वा व्रजवासी सों पूछे, जो—यह कौन है? तब श्री गुसांई जी वा व्रजवासी ने विनती कीनो, जो—महाराज! यह तो अमुके वैष्णव की बेटी है। तब वह लरिकिनी श्री गुसांई जी को दंडवत् करि कै पाछे वह तलाब पर आई कै जल कौ घड़ा भरि कै घर आई। सो घर में आई कै सोच करन लागी, जो—मेरे पिता के गुरु गुसांई जी इहाँ पधारे हैं। सो तुम मोकों एक नारियल देऊ तब वाकी सास ने कह्यो, जो—अरी बहू! तू कहे तो तेरे साथ आऊँ, श्री गुसाई जी के दरसन कों। तब बहू ने कह्यो, जो—भलो, तुम हू चलो। तुम्हारी इच्छा है तो तुम हू चलो। सो घर तें वे दोऊ जनीं एक-एक नारियल लै कै सास-बहू चली। सो उहाँ श्री गुसाई जी के पास गई। तब व्रजबासिन ने श्री गुसांई जी सों कही, जो महाराज! अमुके वैष्णव की बेटी आई है। तब श्री गुसाई जी ने कह्यो, जो—कहो भीतर आवें। तब ये दोऊ डेरा के भीतर जाँई कै श्री गुसांई जी को दंडवत किये। पाछे हाथ जोरि कै उहांई ठाढ़ी होंई रही। तब बहु ने अपनी विनती श्री गुसांई जी सो कही, जो माकों नाम दीजिए। मैं आप की सरनि आंउगी। तब श्री गुसांई जी आज्ञा किये, जो—नाम देईंगे। तव सास ने बहु के हाथ विनती करवाई, जो—मोहू को नाम दें तो भलो है। तब वा बहु ने श्री गुसांई जी सो फेरि बिनती करी, जो महाराज! मेरी सास हू नाम पायवे की बिनती करति है। तब श्री गुसांई जी ने कही, जो—भले! पाछे दोऊ जनी श्री गुसांई जी के आगे आय बैठीं। तब उन पर कृपा करि कैं दोऊन कों नाम दीनो। तब वे दोऊ नाम पाइ कै वैष्णव भई। पाछें श्री गुसांई जी कों नारियल भेंट धरि दंडवत करि कै प्रसन्न मन सों घर को गई। और उनके साथ वा गाम की लुगाई पांच-सात जनी और हू गई हतीं, श्री गुसांई जी के दरसन को। सो वेऊ सब ताही समै श्री गुसांई जी पास नाम पायो। सो वे नाम पाइ कै अपने-अपने पति के आगे आई कै सब सामाचार कहे, जो—अब तो हम वैष्णव भई हैं। श्री गुसांई जी पास नाम पायो है। तातें अब हमारो और तुम्हारो सब व्यवहार छूट्यो।

पाछें वा लरकिनी के सुसर ने अपनी स्त्री सों कह्यो, जो गुसांई जी मोहू कों नाम देइंगे। सो तू मोकों उहां ले चलि। सो वह अपने बेटान सहित अपनी स्त्री तथा बहु को साथ लेकै श्री गुसांई जी के पास जांइ कै नाम पाइवे की बिनती कियो। तब श्री गुसाई जी कृपा करिकै उन सजन को नाम दिये। पाछें बहुने निवेदन की विनती कीनी। तब श्री गुसांई जी वाकों निवेदन कराए। ता पाछें और सबन ने निवेदन की विनती कीनी। तब उनको एक व्रत कराई निवेदन कराये। तब बहुने फेर बिनती करिकै कह्यो, जो महाराज! अब कुछ सेवा पधराइ। दीजिये, तब श्री गुसांई जी वाकों नवनीतप्रिय जी के वस्तु की सेवा पधराये। तब वह बहू सेवा पधराइ, अपने घर आई सो बहु के पाछें सब कुटुम्ब ने नाम निवेदन पायो। ता पाछे गाम के और हू लोग वैष्णव भए, या भांति पाछे दूसरे दिन श्री गुसांई जी को सबन विनती कर उहाँ राखे। सो आपने घर श्री गुसांई जी को पधराय कै विनती करि कें भेट धरी। या प्रकार श्री गुसांई जी ने वा वैष्णव की बेटी की कानि तें उन सबन कों अंगीकार कीने। (६२)

(२)

अब श्री गुसांई जी की सेवकिनी एक सरावगी की बेटी, आगरे में रहती, तिनकी वार्ता कौ भाव कहत हैं—

सो ये आगरे में एक सरावगी के जन्मी। सो ये वर्ष नब की भई। तब मां बाप ने याकौ व्याह जाति लरिका सों कियो। सो याउ दैवी जीव हते। सो परम स्नेह सों रहते। पाछें बरस बीस कौ पुरुष भयो तब इनके मां-बाप मरे। तब ये दोऊ सुतंत्र घर में रहने लागे।

वार्ता प्रसंग—१

सो एक समय श्री गुसांई जी आगरे पधारे हते। सो रूप चंदलया के घर बिराजे हते, अटारी पर। तब पृथ्वी-पति के यहां सों काहु चोर कों सूरी कौ हुकम भयो हतो! तब तहां दस-पांच लुगाई जल भरिवे को जात हती। सो तामें एक सरावगी की बेटी हती। सो ताने उह सूरी पै धरयो देख्यो। तब देखिकै वाकों मूर्छा आई। सो

श्री गुसांई जी ने एक व्रजवासी कों आज्ञा दीनी, जो या लरिकिनी कों उठाय ल्यायो। तब आपुने वा पै जल छिरक्यो। तब वाकों चेत भयो। तब आपु आज्ञा किए, जो साकों जितनों रंग चढ़ावो तितनों रंग चढ़े। तब वा लरिकिनी ने कही, जो-कृपानाथ। आपके बिना ऐसो और कौन है, जो रँग चढ़ावे? तातें अब तो आप ही रंग चढ़ावो तो भलो है। तब श्री गुसांई जी वाको वचन सुनि बोहोत प्रसन्न भए। पाछें आपु कृपा करि वाकों नाम निवेदन करवाये। तब वा लरिकिनी ने कही, श्री कृपानाथ! अब मोकों कहा आज्ञा है? तब श्री गुसांई जी कहे, जो-तू सेवा करेगी? तब वाने कही, जो-राज! जैसे आज्ञा होइगी तैसे करूंगी। तब श्री गुसांई जी ने कृपा करिकै वाके माथे श्री ठाकुरजी पधराई दिए। और सेवा की रीति भांति सब बताइ दिए। तब उह ठाकुर जी को पधराई कै अपने घर को गई। सो अपने घर पर कोठा में जाइ बैठी। बाहर बुलावे तो आवे नाहीं। और बोले नाहीं। तब वाको धनी उहां आया। तब वाने कही, जो कहा-है? तब याने कही, जो मेरे पास मति आउ। मैं तो श्री गुसांई जी की सेवक होइ आऊ। तब काहू के मन में आई। तब वाने हू जाई कै श्री गुसांई जी के आगे बिनती करी। तब श्री गुसांई जी वाहू कों नाम सुनाए। तब घर आई कै कही, जौ-मो कों हू कृपा करि कै श्री गुसाई जी ने नाम सुनायो। सेवक किया है। तातें अब तुम कहो सो मैं करूं। तब वा स्त्री ने कही जो यह घर खासा करो। तब वाने कही वैसे ही घर खासा कियो। तब श्री ठाकुर उहां पधराए। सो मन्दिर की सेवा और रसोई की सेवा सब स्त्री करे। और ऊपर की टहल वाको धनी करे। सो ऐसे ही सदा करें।

सो उह सरावगी की बेटी श्री गुसांई जी को ऐसी परम कृपा-पात्र भगवदीय हती। तातें इनकी वार्ता कहां तांई कहिए। (२२६)

राग विलावल

सुमर सदा मन आतम राम, ॥टेक॥

स्वजन कुटुम्बी जन तूं पोषै तिनको होय सदैव गुलाम।
सो तो हैं स्वारथ के साथी, अन्तकाल नहिं आवत काम ॥१॥

जिमि मरीचिका में मृग भटकै, परत सो जब ग्रीषम अति घाम।
तैसे तू भवमाहीं भटकै, धरत न इक छिनहू विसराम ॥२॥

करत न गलानि अब भोगन में, धरत न वीतराग परिनाम।
फिरि किमि नरकमांहि दुख सहसी, जहां सुख लेश न आठों जाम ॥३॥

तातें आकुलता अब तजि कैं थिर ह्वै बैठो अपने धाम।
भागचंद वसि ज्ञान नगर में, तजि रागादिक ठग सब ग्राम ॥४॥

ज्ञात वंश

श्री पं० बेचरदास दोशी

अभी अनेकान्त (दिसम्बर १९६२) पत्र में ('शोधकण' के शीर्षक नीचे पृ० २२४) पर पढ़ने में आया कि "जैन भारती (ता० १७ नवम्बर १९६२ वर्ष १० अंक ४६) में तेरापंथी श्वेतांबर सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी के शिष्य मुनि नथमल जी का एक नोट प्रकाशित हुआ है जिसका सारांश यह है कि भगवान महावीर इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्री क्षत्रिय थे और नागवंशी थे। नागवंश की उत्पत्ति इक्ष्वाकु वंश से हुई है इत्यादि।"

इस नोट से मालूम होता है कि मुनि नथमलजी नात या नाय शब्द का संस्कृत रूप 'नाग' मानकर भगवान के नागवंश होने को प्रमाणित कर रहे हैं और औपपातिक सूत्र की श्री अभयदेवीय वृत्ति की साक्षी देकर 'नाय' का 'नाग' अर्थ समझने में उक्त वृत्ति को संवादरूप मानते हैं।

जैनआगम में नातपुत्त, नायपुत्त शब्द अनेक स्थल पर आते हैं और आचार्य हेमचन्द्र ने अपने स्तुति रूप श्लोक में "वन्दे श्री ज्ञातनन्दनम" ऐसा विशेष रूप से भगवान महावीर का निर्देश करके नात अथवा णाय का संस्कृत रूपांतर 'ज्ञात' स्पष्ट रूप से दिया है और जिस वृत्ति की साक्षी उक्त मुनि जी ने दी है वहां भी नात वा नाय शब्द का प्रथम रूपांतर 'ज्ञात' दिया है और द्वितीय रूपांतर "अथवा" करके 'नाग' दिया है इस वृत्ति के जिस स्थल में 'नात' वा 'नाय' शब्द का 'नाग' भी एक रूपांतर दिया है वहां भगवान के वंश की किसी प्रकार की चर्चा नहीं है परन्तु वहां जो प्रसंग है वह इस प्रकार है—"तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी बहवे समणा भगवन्तो अप्पगेइया उग्गपव्वइया भोगपव्वइया राइण्ण० णाय० कोरव्व० खत्तियपव्वइया भडा" इत्यादि। इसका तात्पर्य यह है कि "उस काल में उस समय में श्रमण भगवंत महावीर के अन्तेवासी-शिष्य रूप जो श्रमण भगवंत थे उसमें से कितनेक उग्रवंश के प्रव्रजित थे, भोगवंश के प्रव्रजित थे, इसी प्रकार राजन्यवंश के, णायवंश के, कोरव्य वंश के तथा क्षत्रिय वर्ण के प्रव्रजित थे तथा कितनेक भट वंश वगैरह के भी प्रव्रजित थे?" इस प्रसंग में भगवंत के वंश व कुल की कोई चर्चा नहीं है वा उस चर्चा का प्रसंग भी नहीं है मात्र यह बताना है कि जो कोई भगवंत के शिष्य थे उनमें किस किस वंश के वा जाति के लोग शामिल थे इस प्रसंग में भी वृत्तिकार ने 'नाय' का अर्थ सर्वप्रथम 'ज्ञात' बताया है और बाद में 'अथवा' करके 'नाग' भी बताया है अतः इस उल्लेख से यह निश्चय कभी भी नहीं हो सकता है कि 'नाय' शब्द केवल 'नाग' वंश को ही सूचित करता है और इस उल्लेख मात्र से यह भी निर्णय नहीं दिया जा सकता है कि भगवान का नागवंश है।

बौद्ध पिटकग्रंथों में सर्वत्र 'निग्गंठो नातपुत्तो' शब्द महावीर भगवंत के लिए आता है। वह उल्लेख किस प्रकार अप्रामाणिक हो सकता है? इसका खुलासा भी नथमल जी को सबसे प्रथम करना चाहिए, और जैन आगमों में जहां जहां भगवान के कुल वा वंश के रूप में नात व नाय वा णाय वा णात शब्द आया है। वहां कहीं भी उस शब्द का केवल 'नाग' अर्थ किसी वृत्ति कारने बताया हो यह भी मुनि जी को संवाद के लिए साधार बनाना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र सूरि जी ने अपने परिशिष्ट पर्व में भगवंत की स्तुति रूप में जो यह पद्य दिया है—

"कल्याणपादपारामे श्रुतगङ्गाहिमाचलम्।
विश्वाम्भोजरविं देवं वन्दे श्री ज्ञातनन्दनम्"॥

इसमें जो 'ज्ञातनन्दनम्' विशेषण नाम के रूप में कहकर भगवंत महावीर का निर्देश किया है उसको अप्रामाणिक करने के लिए पुष्ट प्रमाण देना चाहिए।

और दूसरी बात—प्राकृत शब्दों के अर्थ निर्णय के लिए कल्पित संस्कृत रूपांतरका आधार लेना कभी-कभी भ्रांतिजनक हो जाता है। जैसे हमारे आगमों में कई जगह "लेच्छइ लेच्छइपुत्ता" ऐसे शब्द आये हैं। यह शब्द प्रसिद्ध लिच्छवी वंश का सूचक है इसमें लेश भी शंका नहीं है।

परंतु जो लोग इस बात से अपरिचित हैं वे लोग जैन ग्रंथ के वृत्तिकार होकर भी अपनी कल्पित पद्धति से इस शब्द का अर्थ 'लिप्सुक' करते हैं और लिप्सुक माने "बनिया वगैरह" अर्थ बताते हैं यद्यपि 'लिप्सुक' शब्द का ठीक प्राकृत 'लिच्छुअ' होगा, 'लेच्छइ' नहीं—कभी नहीं—होगा फिर भी बराबर अर्थ का अवगमन न होने से किसी भी तरह तोड़ मरोड़ कर 'लिच्छुअ' और 'लेच्छइ' को एक मान कर अपना आशय व्यक्त करते हैं। ये वृत्तिकार जहां 'लेच्छइ लेच्छइपुत्ता' उल्लेख आया है, उस प्रसंग का बराबर सावधानी से विचार करने वा वाक्य के संदर्भ से तथा "उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता" वगैरह शब्दों के साहचर्य को देखकर विचार करते तो उनको मालूम होगा कि जैसे उग्र, भोग शब्द वंश सूचक है वैसे ही यह 'लेच्छइ' शब्द भी वंश सूचक है परन्तु वृत्तिकार को इस जगह यह ख्याल नहीं आया और कल्पना से संस्कृत 'लिप्सुक' शब्द स्मृति में आ गया, बस तब उनके मनका समाधान हो गया कि 'लेच्छइ' माने लिप्सुक परन्तु संदर्भ से यह अर्थ प्रस्तुत में सर्वथा असंगत है यह बात वृत्तिकारों के ख्याल में नहीं आई। आगमों की वृत्तियों में ऐसे अनेक स्थल हैं जहां वृत्तिकारों ने केवल अपने कल्पित संस्कृत रूप के आधार पर अर्थ करने में अनेक गोते खाये हैं और अपनी भ्रांत स्थिति का केवल प्रदर्शन किया है 'वुसीमओ'! 'भड़े' 'जोहे'! वज्जी! 'दंतवक्के! वीससेणे' वगैरह ऐसे अनेक शब्दों को उदाहरण के रूप में दिया जा सकता है परन्तु प्रस्तुत में ऐसा लिखना उचित नहीं।

तीसरी बात—लेच्छइ का अर्थ टीकाकार कहीं कहीं वंश विशेषरूप भी नहीं करते हैं ऐसा नहीं है। देखिए वियाहपण्णत्ति सूत्र में जहां महाशिला कंटक संग्राम की चर्चा आती है वहां मूल में लिखा है कि "गोयमा" वज्जी विदेह पुत्ते जइत्था, नव मल्लई नव लेच्छई कासी कोसलग्ग अट्ठारस वि गणरायाणो पराजइत्था" इस पाठ में 'लेच्छई' शब्द का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार ने लिखा हैं कि "लेच्छकिनश्च राजविशेषाः" मूल में ही 'गणरायाणो' विशेषण दिया है, अतः इधर वृत्तिकार को सावधान होकर विवेचन लिखना पड़ा, अन्यत्र ऐसा कोई विशेषण न होने से अपना कल्पित संस्कृत रूप देकर अर्थ बता दिया। परंतु अन्यत्र भी, वृत्तिकार पूर्वापर का अनुसंधान ख्याल में रखते तो कभी ऐसी मनः कल्पित परिस्थिति न आती। अस्तु, प्रस्तुत में आचार्य शीलांक सूरि तथा आचार्य अभयदेवसूरि को ही लक्ष्य में रखकर वृत्तिकार शब्द का प्रयोग हुआ है अन्य वृत्तिकारों को नहीं, यह ध्यान में रहे।

चौथी बात—नथमलजी मुनि ने लिखा है कि इतिहास में 'ज्ञात' वंश की प्रसिद्धि नहीं है किन्तु 'नाग' वंश की प्रसिद्धि है अतः नाय वा णाय का 'नाग' अर्थ करना चाहिए मुनिजी ऐसा मानते हों कि इतिहास प्रसिद्ध विचार वा वस्तु प्रामाणिक है और अन्यथा प्रकार के विचार वा वस्तु प्रामाणिक नहीं तो जैन परम्परा की अनेक हकीकतों को अप्रामाणिक मानने की स्थिति आ जायगी।

जैन परम्परा में जितनी-जितनी हकीकतें बताई गई हैं वे सभी क्या इतिहास प्रसिद्ध हैं? देखिए अरिष्टनेमि तीर्थंकर, पार्श्व तीर्थंकर, पार्श्व के पिता अश्वसेन, महावीर के पिता सिद्धार्थ वगैरह क्या ये सब इतिहास प्रसिद्ध हैं? यदि हैं तो मुनिजी को नम्रतापूर्वक सूचन है कि ये सब जिस इतिहास में प्रसिद्ध हों उसका साधार खुलासा देकर सारा हाल मुनिजी को बताना जरूरी होगा। जैन इतिहास में प्रसिद्ध है ऐसा कहकर मुनिजी संतोष नहीं दे सकेंगे; क्योंकि जैनइतिहास में तो ज्ञात वंश प्रसिद्ध ही है नाग वंश की इतनी प्रसिद्धि नहीं, जितनी ज्ञात वंश की। अतः इतिहास प्रसिद्धता का हेतु नहीं है किन्तु हेत्वाभासमात्र हैं।

पांचवी बात—प्राकृत भाषा अरबी, फारसी वगैरह अन्यान्य भाषाओं की तरह स्वतन्त्र भाषा है जैसे अरबी फारसी अवेस्ता वगैरह भाषाओं के शब्दों का अर्थ संस्कृत भाषाके कल्पित शब्द के अधीन नहीं है वैसे ही प्राकृत भाषा के शब्दों का अर्थ संस्कृत भाषा के स्वेच्छा कल्पित शब्दों के अधीन कभी भी नहीं है परन्तु एक समय ऐसा आया जब जैन संघ निस्तेज सा हुआ और केवल तप प्रधान होकर व्यक्तिगत मोक्ष की बात में ही डूबा रहा, तब महाभाष्यकार पतंजलि ने अपने पुरुषार्थ से जिस प्रकार अश्वमेधादि यज्ञों का पुनः प्रवर्तन शुरू किया उसी प्रकार संस्कृत भाषा का महाप्रभावशाली युग शुरू किया। तब से प्राकृत भाषा संस्कृत के अधीन सी हो गई और हमारे संघ ने इस अधी-

(पृष्ठ २९० पर)

साहित्य-समीक्षा

अर्हंत् प्रवचन

सम्पादक—पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, प्रकाशक—आत्मोदय ग्रन्थमाला, जयपुर, सितम्बर १९६२, पृष्ठ-संख्या—१९८, मूल्य ३·५० न० पै० ।

अर्हंत् प्रवचन एक 'संकलन' है । इसमें आचार्य कुन्द-कुन्द, स्वामी वट्टकेरि, स्वामी कार्त्तिकेय आदि के प्राचीन ग्रन्थों से महत्वपूर्ण गाथाओं को चुनकर रखा गया है । उन गाथाओं को १८ विषयों में विभक्त कर दिया है, एक-एक विषय का एक-एक अध्याय है । १९ वाँ अध्याय 'विविध' है, अर्थात् उसमें अनेक विषयों का सम्मिश्रण है । प्रत्येक गाथा के नीचे हिन्दी अनुवाद दिया गया है । उसकी विशे-षता है कि वह मूलगाथा को आसान हिन्दी में स्पष्ट कर देता है । साधारण पाठक सहज ही समझ सकते हैं ।

प्राकृत भाषा में लिखे गये ग्रंथों को पढ़ना-समझना, इनमें से उत्तम अंशों को छाँटना, क्रम में बाँटना, फिर उनका अनुवाद करके रखना अत्यधिक परिश्रम-साध्य है । पं० चैनसुखदास जी ने यह सब कुछ किया । समाज इन्हें भली भाँति जानती है । मैं उनके इस प्रयास का आदर करता हूँ ।

गाथाओं का चुनाव करते समय सम्पादक का मुख्य दृष्टिकोण यह ही रहा कि वे मानव के नित्य जीवन में उपयोगी हों । नित्य जीवन का तात्पर्य है—प्रतिदिन आने वाली समस्यायें, उनका चरित्रपरक समाधान, अन्य जीवों से उदारतापूर्ण सम्बन्ध, दूसरों की निन्दा से विरक्ति, कर्त्तव्य पालन, भगवान् की भक्ति आदि । 'मंगल' के बाद ही 'जीव अथवा आत्मा' शीर्षक से दूसरा अध्याय है । इसमें आत्मा की ९ विशेषतायें बताने वाली गाथायें रखी गई है । 'आत्मा' पर अध्ययन करने वाले विद्यार्थी इनकी विशेषता आंक सकते हैं । ११ वाँ अध्याय भक्ति से सम्बन्धित हैं । जैन आचार्यों ने मानव जीवन की शान्ति के लिये भक्ति की उपयोगिता स्वीकार की है । उन्होंने ज्ञान को तो महत्ता दी ही है, भक्ति को भी कम नहीं माना । दोनों का ऐसा समन्वय जैनश्रुत में देखने को मिलता है, अन्यत्र नहीं । जिस भाँति तुलसी ने विनय पत्रिका में लिखा कि ज्ञान उत्तम है, किन्तु वह भगवान् की भक्ति से प्राप्त हो सकता है, वैसे ही उनसे लगभग ८ शताब्दी पूर्व शिवकोटि ने भगवती आराधना में लिखा था, "विधिपूर्वक बोये हुए बीज की जैसे वर्षा से उत्पत्ति होती है, वैसे ही अर्हन्त इत्यादिकों की भक्ति से ज्ञान, चारित्र, दर्शन और तप का प्रादुर्भाव होता है ।" उन्होंने अपने इस मत को अनेक गाथाओं में पुष्ट किया है । उनका कथन है कि 'निर्वाण के बीज रत्नत्रय' की सिद्धि भक्ति-रहित मनुष्य को नहीं हो सकती । *जिन-भक्ति से मुक्ति मिलती है ।*

इन गाथाओं को चुनते समय एक-दूसरा दृष्टिकोण और था, जिसका स्वागत होना ही चाहिए, वह था व्यापकता का निर्वाह । व्यापकता का अर्थ है सांप्रदायिक संकीर्णता से निकल कर बाहर आ जाना । अर्हंत् प्रवचन की उपयोगिता मानव मात्र के लिये है, केवल जन कहलाने वाले के लिए ही नहीं । स्वयं सम्पादक के शब्दों में यह एक ऐसी तत्त्व मीमांसा है, जो सभी सम्प्रदायों को स्वीकार हैं । जैनधर्म में सबसे अधिक विश्वजनीन सत्य है । सम्पादक ने उसे ठीक-से समझा, प्रस्तुत किया । हम उसकी सफलता की कामना करते हैं ।

लोक विभाग:

रचयिता—श्री सिंहसूरर्षि, सम्पादक—पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, ग्रन्थमाला सम्पादक—डा० आ० ने० उपाध्ये । और डा० हीरालाल जैन, प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १९६२ ई०, पृष्ठ-संख्या—५२, २५६, मूल्य—१० रुपये :

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इस ग्रंथ में लोक के सभी विभागों का वर्णन है । वे विभाग ११ हैं—जम्बूद्वीप विभाग, लवण समुद्र विभाग, मानुष क्षेत्र विभाग, समुद्र विभाग, काल विभाग, ज्योतिर्लोक विभाग, भवनवासिलोक विभाग, अधोलोक विभाग, व्यन्तरलोक विभाग, स्वर्ग विभाग और मोक्ष विभाग । यह क्रम भगवान् महावीर ने अपने समवशरण में लोक का निरूपण करते हुए निर्धारित

किया था। गणधर और आचार्यों ने उसका पालन किया। इस ग्रंथ के रचयिता श्री सिंहसूरर्षि ने भी इसमें परिवर्तन नहीं किया, केवल भाषा बदली है। अर्थात् प्राकृत के स्थान पर संस्कृत की है। उनके समय तक एतद्विषयक जितने ग्रंथ उपलब्ध थे, वे सभी प्राकृत भाषा में थे। किंतु प्राकृत का प्रचलन समाप्त हो चुका था। अतः ग्रन्थ का संस्कृत भाषा में निबद्ध होना अनिवार्य था। समय की गति को देखते हुए श्री सिंहसूरर्षि ने ऐसा किया।

ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति से यह विदित नहीं होता कि सिंहसूरर्षि कौन थे, उनका समय क्या था? नाम से इतना भर अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कोई साधु थे—मुनि हो सकते हैं, भट्टारक भी। सम्पादक ने उन्हें भट्टारक माना है, किंतु इसका कोई प्रमाण नहीं है। यह ग्रंथ गणित से सम्बन्धित है गणित के जानकार भट्टारक होते थे और अन्य साधु भी। इस आधार पर उन्हें केवल भट्टारक सिद्ध नहीं किया जा सकता। कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि वे संस्कृत के उद्भट विद्वान और गणित के प्रकाण्ड पण्डित थे। यह ग्रन्थ उनके ज्ञान का प्रतीक है। उनके समय की भी रेखा नहीं खीची जा सकती। अनेक अनुमान लगाना फिर उनको स्वयं गलत बता देना, किसी आचार्य के काल क्रम के निर्धारण का श्रेष्ठ ढंग नहीं है।

श्री सिंहसूरर्षि ने जिस प्राकृत ग्रन्थ को आधार बनाया वह श्री सर्वनन्दिकृत 'लोयविभाग' था। उन्होंने इस ग्रंथ का निर्माण कांची नरेश श्री सिंहवर्मा के राज्य काल शक संवत् ३८० में किया था। यह ग्रंथ निश्चित रूप से सिंहसूरर्षि के सामने था। इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं है। उनके प्रस्तुत ग्रंथ की प्रशस्ति से ऐसा स्पष्ट ही है। सर्वनन्दि के ग्रंथ का नाम क्या था, यह शंका भी शंका के लिए ही है। जब ग्रंथकार ने केवल भाषा परिवर्तन की प्रतिज्ञा की है, तो यह कैसे हो सकता है कि उसने अपने ग्रन्थ का नाम दूसरा रख दिया हो। अनुवाद कर्ता नाम परिवर्तन नहीं करते। अतः निश्चित है कि प्राकृत के 'लोयविभाग' का ही संस्कृत में 'लोक विभाग' हुआ।

इस ग्रंथ का सम्पादन तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है। पहली प्रति भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना की है, दूसरी प्रति जैन सिद्धांत भवन आरा की है और तीसरी पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई की है। जहां तक सम्पादन का सम्बन्ध है, वह तो एक मंजा हुआ हाथ है। यह सत्य है कि ग्रंथ जीवराज ग्रंथमाला की गौरवशालिनी परम्परा के अनुरूप ही है। सम्पादन में और भी चमक आ जाती यदि दो-चार प्रतियां और उपलब्ध हो जाती।

हिंदी अनुवाद का अपना स्थान है। ऐसे ग्रंथ बिना प्रचलित भाषा में अनूदित हुए समझ में नहीं आते 'ऐसे' का तात्पर्य है, एक तो संस्कृत भाषा और दूसरे गणितानुयोग। अब संस्कृत का प्रचलन नहीं है। जो पढ़ते भी हैं, उन्हें उसकी पूर्ण जानकारी नहीं हो पाती। ऐसी दशा में उस ग्रन्थ की ख्याति राष्ट्र भाषा के अनुवाद के बिना सम्भव नहीं है।

ग्रंथ के साथ के साथ संलग्न प्रस्तावना एक छोटा-सा निबन्ध है। इसमें गन्थ के मूल विषय पर सभी दृष्टियों से विचार किया गया है। उसका तुलनात्मक अंश अत्यधिक महत्वपूर्ण है। लोकविभाग की तिलोयपण्णत्ती, हरिवंश पुराण आदिपुराण व त्रिलोकसार से तुलना की गई है। तुलना के अतिरिक्त हस्तलिखित प्रतियां, ग्रंथ परिचय, विषय का सारांश, ग्रंथकार, ग्रंथ का वैशिष्ट्य, ग्रंथ का वृत्त और भाषा, ग्रंथ रचना का काल आदि उपशीर्षकों पर भी विचार किया गया है, ग्रंथ अनुसंधान की दृष्टि उपयोगी है।

वीरवाणी (कवि बनारसीदास विशेषांक)

संपादक-मंडल—पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक—वीरवाणी, मणिहारों का रास्ता, जयपुर, पृष्ठसंख्या १०८, मूल्य—दो रुपये।

बनारसीदास-समारोह-समिति के संयोजक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने इस वर्ष, ४ फरवरी १९६३ को, जयपुर में, बनारसीदास के ३७७ वें जन्म-दिवस पर जयन्ती-समारोह मनाया। इसी अवसर पर उन्होंने बनारसीदास-विशेषांक निकालने का भी आयोजन किया। यह सब कुछ वे एक माह से कम समय में ही कर सके। यह उनकी लगनशीलता और अध्यवसाय का परिचायक है।

विशेषांक में ३८ निबन्ध हैं। उनसे बनारसीदास के जीवन, उनके कृतित्व और काल विशेष की पूर्ण जानकारी

उपलब्ध हो जाती है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, मुनि श्री कान्तिसागर, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री अगर चन्द नाहटा, डॉ० नेमि चन्द्र शास्त्री, डॉ० कामता प्रसाद जैन आदि के लेखों से विद्वान और साधारण पाठक दोनों ही को मनस्तृप्ति होती है। लेखों के सम्पादन में परिश्रम किया गया है। लेख के साथ ही दिये गये सारांश से पाठक को लेख समझने में सुविधा होती है।

बनारसीदास का मध्यकालीन हिन्दी साहित्य को एक महत्वपूर्ण योगदान है। उनकी मुक्तक रचनायें रस की पिचकारियां हैं। आध्यात्मिकता का जैसा भावोन्मेष वे कर सके, हिन्दी का अन्य कोई कवि नहीं। यद्यपि उन्होंने नाटक समयसार, अमृतचन्द्राचार्य के समयसारकलशों को आधार बनाकर लिखा, किन्तु यह सत्य है कि वह साहित्य का ग्रन्थ है, जबकि 'कलश' दर्शन से भरे हैं। उनकी अन्य कृतियों में भी भगवद्विषयक दाम्पत्य रति के उत्कृष्ट रूपकों का निर्माण हुआ है। पूज्यपाद ने भक्ति को, भगवान् में अनुराग को कहा था। बनारसीदास ने उसे अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया। एक ओर वे 'अध्यातमियाँ सम्प्रदाय' के सामर्थ्यवान् सदस्य थे तो दूसरी ओर जागरूक भक्त। उन्होंने ज्ञान और भक्ति का जैसा समन्वय किया, दूसरा न कर सका। उनमें कबीर-जैसी मस्ती थी तो तुलसी-जैसी मर्यादा भी। न वे मस्ती छोड़ सके और न मर्यादा। उन्होंने विरोधाभासों के विरोध को निकाल दिया था। वे एक असाधारण प्रतिभा और व्यक्तित्व के व्यक्ति थे। उनकी जन्म-तिथि पर प्रकाशित इस 'विशेषांक' का मैं स्वागत करता हूँ।

—डॉ० प्रेमसागर जैन

(पृष्ठ २८७ का शेष)

नता को स्वीकार कर लिया। इसके पहिले जैसे बौद्ध पिटकों की पाली भाषा स्वतंत्र थी (और यह भाषा तो अब तक स्वतंत्र ही है) वैसे ही हमारी ग्रंथस्थ प्राकृत भाषा स्वतन्त्र थी, और इसी कारण सूत्रों की निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि ग्रंथ प्राकृत में ही लिखे जाते थे और बिना संस्कृत की सहायता वे सब ग्रंथ बराबर समझे जाते थे अतः प्राकृत शब्दों का अर्थ समझने के लिए संस्कृत का कल्पित आधार आवश्यक नहीं है; परन्तु हमारी ज्ञान की कमजोरी हो जाने से यह परिस्थिति आई है और इसी कारण कई दफे निर्णय करने में भ्रांति ही बढ़ती है। वियाहपण्णत्ति शब्द है और इसी प्रकार विवाहपण्णत्ति भी एक पाठांतर शब्द है सच्चा नाम वियाहपण्णत्ति है। विवाहपण्णत्ति तो पाठांतर जैसा है फिर भी वृत्तिकार ने विबाध प्रज्ञप्ति, विवाह प्रज्ञप्ति और 'पण्णत्ति' का भी प्रज्ञाप्ति, प्रज्ञप्ति ऐसे कई संस्कृत रूपांतर देकर व्याख्याएं की हैं। अब कहिए कौन सा नाम स्वीकरणीय होगा? अतः कल्पित संस्कृत रूप के आधार पर मूल प्राकृत का अर्थ शोधन में भ्रांति और विवाद बढ़ने का संभव है अतः संदर्भ, परम्परा, अनुसंधान वगैरह को लक्ष्य में रखकर संस्कृत द्वारा भी प्राकृत शब्दों का अर्थ करने में जोखिम नहीं हैं तात्पर्य इतना है कि वंश वाचक नाय वा णाय वा नात वा णात का संस्कृत रूप 'नाग' कल्पने की जरूरत नहीं है। जैन परम्परा में ज्ञातवंश ही प्रसिद्ध है और यह ही 'नाय' वगैरह का अर्थ द्योतक है। जिन्होंने 'ज्ञातृ' शब्द की कल्पना की है वे भी अप्रामाणिक नहीं हैं। 'नायाधम्मकहा' नाम में 'नाया' शब्द का सम्बन्ध 'ज्ञातृ' मानने वालों ने ज्ञातृ के 'ज्ञाता' रूप के साथ लगाया है और यह शब्द भी 'ज्ञात' वंश का भी सूचक है हमारे श्वेताम्बरी वृत्तिकार ने 'नाया' को 'नाय' माना और समास में दीर्घाकरण किया है। मैं समझता हूँ कि दीर्घाकरण की अपेक्षा 'ज्ञाता' मानना विशेष संगत है क्योंकि 'नाया' यह विशेष नाम है। अस्तु

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवनदास जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता
५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी झांझरी, कलकत्ता
२५१) रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता
२५१) श्री स० सि धन्यकुमार जी जैन, कटनी
२५१) सेठ सोहनलाल जी जैन
मसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता
२५१) श्री सेठ मोतीलाल हीराचन्द गाँधी, उस्मानाबाद
२५०) श्री बंशीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता
२५०) श्री जुगमन्दिरदास जी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री सिंघई कुन्दनलाल जी, कटनी,
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार, कलकत्ता
१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनन्दीलाल, कलकत्ता
१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
१५०) श्री पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री प्रतापमल जी मदनलाल जी पांड्या, कलकत्ता
१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
१५०) श्री सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी, कलकत्ता
१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता
१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आत्माराम, पटना
१०१) श्री मारवाड़ी दि० जैन समाज, ब्यावर
१०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
१०१) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी बम्बई नं० २
१०१) श्री लाला शान्तिलाल कागजी, दरियागंज, दिल्ली

डाक्टर दशरथ ओझा का पत्र

अनेकान्त समय समय पर देखता रहा हूँ। यह पत्रिका आज हिन्दी की पत्रिकाओं में उत्तरोत्तर अपना प्रमुख स्थान बनाती जा रही है। जैन दर्शन और साहित्य के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन का आप स्तुत्य कार्य कर रहे है। आपकी पत्रिका किसी दिन सर्वोच्च स्थान प्राप्त करे, यही कामना है।

नाहटा जी ने बड़ी कृपा की। उन्होने सत क्षेत्री राम का रहस्य इतनी सुन्दरता से समझाया है कि मुझे बोधगम्य हो गया। मेरी उनको और आपको हार्दिक बधाई है। आपकी बड़ी कृपा होती यदि उनसे आप हमारे ग्रन्थ रास एवं रासान्वयी काव्य की समीक्षा में इसी प्रकार समय-समय पर लेख लिखाते रहते।

शेष मिलने पर।
दशरथ ओझा

अनेकान्त पर लोकमत

मिश्रीलाल जी पाटनी बैंकर्स डीडवानाओली लश्कर

'अनेकान्त पत्र मैंने पढा, इसमें पुरातत्त्व प्राचीन जैन साहित्य, जैन गुरु, जैन मन्दिर, मूर्तिलेख, और गुफालेख बहुत प्रकाशित होते है। जिनसे ऐतिहासिक खोज की जानकारी प्राप्त होती रहती है। जैन समाज से मेरा निवेदन है कि अनेकान्त को प्रत्येक जैन मन्दिर में अवश्य पढने के हेतु व भंडारो में रखने को मंगाना चाहिए। और आर्थिक सहायता प्रदान कर संस्था को बलवान बनाना चाहिए।'

श्री नीरज जी सतना

दिसम्बर का अंक मिला, प्रकाशन की साज-सज्जा के लिए बधाई स्वीकारें। मेरे लेख की सज्जा के लिए मैं आपको क्या लिखू, श्री डा० प्रेम सागर जी को मेरी ओर से धन्यवाद दें।

'शोधकण' की टिप्पणियों ने मुझे मार्ग दर्शन और उत्साह दिया है।'

वीर सेवा मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल्य-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थ में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डाक्टर कालीदास नाग, एम ए डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा ए एन. उपाध्ये एम ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज सजिल्द १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)

(३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का विश्लेषण करती हुई महत्त्व की गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठ की प्रस्तावना से सुशोभित। ... ... २)

(४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... १॥)

(५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोर की ७८ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(७) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥)

(८) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित ॥)

(९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)

(१०) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रंथों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्त्व की रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१२) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ।)

(१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र। १)

(१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡)। (१६) महावीर पूजा। ।)

(१७) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंशके १२२ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका महत्वपूर्ण संग्रह ५५ ग्रन्थकारोंके ऐतिहासिक ग्रन्थ परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। सम्पादक पं० परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १२)

(१८) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ... ५)

(१९) कसायपाहुड सुत्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्रीगुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साईज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज, और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)

(२०) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

प्रकाशक—प्रेमचन्द, वीर सेवा मन्दिर के लिए नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली में मुद्रित